Buddha Granthamala-3

HISTORY OF BUDDHIST CULTURE

By

Bhagchandra Jain Bhaskar

M A (Sanskrit, Pali, Ancient Indian History and Culture and Archaeology)

Sahityācharya, Ph. D, (Ceylon)

Head of the Department of Pali and Prakrit

NAGPUR UNIVERSITY

ALOK PRAKASHAN

NAGPUR

Publisher .

ALOK PRAKASHAN

Gandhi Chauk,

Sadar, Nagpur.

India

First Edition .

1972

Price . Student's Edition 20-00

Library Edition 25-00

Agent BHARATIYA VIDYA PRAKASHAN

P. B. No. 108 Kachaudigali,

VARANASI, India.

Subject INDIAN CULTURE

Printer :

S. K. SADHAK

Manav Mandir Mudranalaya

Narharpura, Varanasi

India.

मराठी साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित
एवं भारतीय इतिहास के चिन्तक
डॉ० वि० भि० कोलते
कुलगुरु
नागपुर विश्वविद्यालय
को

उपस्थापना

बौद्ध संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभेद्य अंग है। श्रमण संस्कृति का अंगभूत होकर उसने अपने उत्पत्ति काल से ही मानव की आध्यात्मिक चिन्तन शक्ति को ज्ञान और तर्क की भूमिका पर खड़े होकर विकसित किया है। श्रद्धा के सजग प्रहरी के रूप में निष्पक्ष विचार और अन्तःस्पर्शी तर्क का होना व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। आत्म तत्व की साधना भी ज्ञान और तर्क के बिना संभव नहीं। चारित्र की स्थिति इसके उपरान्त ही आती है। कालान्तर में दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वित रूप स्वतत्त्व के विकास में मूलकारण सिद्ध होता है। बौद्धधर्म अपने मूल रूप में इसी भूमिका पर खड़ा हुआ था।

बौद्ध संस्कृति का इतिहास एक अत्यन्त समृद्ध क्षेत्र है। उसे सुधारवादी आन्दोलन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र की परिस्खलित अवस्था को सुचिन्तित ढंग से सुव्यवस्थित करना बौद्ध धर्म का मूल कर्तव्य था। उस पर वैदिक सँस्कृति की अपेक्षा जैन संस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक है, ऐसी मेरी धारणा है। वस्तुतः ऐसी कोई विशेष बात नहीं दिखाई देती जो तत्कालीन जैनधर्म मे न रही हो। कथन - प्रकार में अथवा शब्दावली में अन्तर अवश्य हुआ है जो स्वाभाविक भी है। इस दृष्टि से जैनधर्म और बौद्धधर्म का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना अभी शेष है।

भारत के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि बौद्ध धर्म अपनी मातृभूमि से भी बाहर जाकर दिग् - दिगन्त तक विश्व को आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने में सर्वाधिक सक्षम हुआ है। इतनी अधिक सफलता भारत के किसी भी अन्य धर्म को नहीं मिल सकी। इसमें जो भी कारण हैं, उनमें उसका व्यावहारिक दृष्टिकोण अधिक प्रबल है। यह पक्ष बौद्धधर्म के लिए एक चुम्बकीय शक्ति के रूप में सिद्ध हुआ है।

'बौद्ध संस्कृति का इतिहास' नामक यह पुस्तक बौद्ध धर्म की सर्वाङ्गीण स्थिति को प्रस्तुत करने में किसी अंश तक सफल हो सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। इसके लिखने में मेरे समक्ष छात्र - समुदाय विशेष रूप से रहा है। उसी के उपयोग की दृष्टि से इसे तैयार किया गया है। यदि मैं अपने उद्देश्य में किसी भी सीमा तक सफल सिद्ध हुआ तो संतोष की बात होगी।

इस पुस्तक के लिखने में मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त मैंने आचाय सर्वश्री नरेन्द्रदेव, भरत सिंह उपाध्याय, बलदेव उपाध्याय, गोविन्द चन्द्र पाण्डे, राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों के ग्रन्थों का विशेष उपयोग किया है। तदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। साथ ही अन्य सहयोगी बन्धुओं के प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से यह पुस्तक पूरी हो सकी।

अन्त में श्री पूज्या प्रातः स्मरणीय मातेश्वरी तुलसा देवी जैन के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करूँ जिन्होंने अपने तन-मन-धन से सर्वस्व निछावर कर मुझे इस योग्य बनाया। साथ ही अपनी पत्नी पुष्पलता जैन, एम० ए० का भी आभारी हूँ जिसने पुस्तक की तैयारी में विविध प्रकार का हार्दिक सहयोग और अनुकूल परिवेश दिया।

प्रस्तुत पुस्तक का मुद्रण पृ० २०४ तक विद्या मुद्रण स्थली में और शेष भाग मानव मन्दिर मुद्रणालय में हुआ है। तदर्थ मैं दोनों प्रेस वालों का भी आभारी हूँ।

अहिंसावतरण,
वाराणसी
१० मई, १९७२

—भागचन्द्र भास्कर

विषय-सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(क) मूल ग्रन्थ

अमितगति श्रावकाचार—(वसुनन्दि), वाराणसी
अभिधर्मकोश और व्याख्या -(वसुबन्धु), वाराणसी ।
अभिधर्म विनिश्चय संग्रह—(असंग), सं० डॉ० प्रधान,
अष्टसहस्री—(विद्यानन्द), बम्बई
आचारांग सूत्र - सं० आचार्य तुलसी, कलकत्ता।
अंगुत्तर निकाय - सं० जगदीश काश्यप, नालन्दा
उत्तराध्ययन—सं० आचार्य तुलसी, कलकत्ता
चतुःशतक -(आर्यदेव), सं० विधुशेखर भट्टाचार्य, शान्तिनिकेतन, १९३७
ठाणाङ्ग -(अभयदेववृत्ति सहित), बम्बई, १९३७
तत्वसंग्रह (शान्त रक्षित), पञ्जिका सहित सं० कृष्णमाचार्य, बडोदा, १९२६
तत्वार्थ वार्तिक -(अकलंक), सं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, वाराणसी
दर्शनसार—(देवसेन)
न्यायकुमुदचन्द— प्रभाचन्द), बम्बई
न्यायावतार—(सिद्धसेन दिवाकर , बम्बई
न्यायविनिश्चय विवरण—(वादिराज सूरि), काशी
दिव्यावदान—सं० पी० एल० वैद्य, दरभंगा
दीघ निकाय—सं० जगदीश कश्यप, नालन्दा
धम्मपद - सं० जगदीश कश्यप, नालन्दा
थेरगाथा—सं० जगदीश कश्यप, नालन्दा
थेरीगाथा—सं० जगदीश कश्यप, नालन्दा
प्रमाणवर्तिक—(भाष्य) सं० दलसुख मालवणिया, पटना
बोधिचर्यावतार —(शान्तिदेव), सं० शान्ति भिक्षु शास्त्री, लखनऊ, १९५५
प्रमेयकमलमार्तण्ड -(प्रभाचन्द्र), सं० महेन्द्र कुमार, बम्बई
भगवती सूत्र सं० झवेरी और केसरी मल सूरत, जामनगर, १९४०
भावसंग्रह—(देवसेन)
मज्झिमनिकाय—सं० जगदीश काश्यप, नालन्दा
महावस्तु—सं० पी० एल० वैद्य, दरभंगा
माध्यमिक कारिका (नागार्जुन)
मिलिन्दपन्ह सं० जगदीश कश्यप, वाराणसी

ललित विस्तर—सं० पी० एल० वैद्य, दरभंगा
ललितविस्तर—(हरिभद्र), बम्बई
विनय पिटक—सं० जगदीश कश्यप, नालन्दा
विसुद्धिमग्ग—(बुद्धघोस), सं० धर्मानन्द कोशाम्बी
संयुत्तनिकाय—सं० जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५६
सद्धर्म पुण्डरीक—सं० पी० एल० वैद्य, दरभंगा
सुत्तनिपात - सं० जगदीश काश्यप, १९५६
सूत्रकृतांग—(शीलाकवृत्ति सहित), बम्बई, १९१७
समवांग—(अभयदेव वृत्ति सहित), अहमदाबाद, १९३८
सिद्धिविनिश्चय टीका—सं० महेन्द्र कुमार, काशी
सौन्दरानन्द —(अश्वघोष) सं० जानेस्टन, लन्दन, १९२८
सयुतनिकाय - सं० जगदीश कश्यप, नालन्दा, १९५८
शिक्षासमुच्चय—सं० पी० एल० वैद्य, दरभंगा

आधुनिक ग्रन्थ

उपाध्याय, बलदेव—बौद्धदर्शन मीमांसा, वाराणसी
उपाध्याय, भरतसिंह, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन तथा पालि साहित्य का इतिहास, प्रयाग
उपाध्याय, योगेन्द्रनाथ, तान्त्रिक बोद्ध साधना और साहित्य, काशी
जैन—भागचन्द्र भास्कर, जेनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, नागपुर
थामस, ई० ज० दी हिस्ट्री आफ बुद्धिष्ट थाट्, लन्दन, १९५३
दत्त, नलिनाक्ष, अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म
नगराजमुनि, आगम त्रिपिटक : एक अनुशीलन, बम्बई
नरेन्द्रदेव - बौद्ध-धर्म-दर्शन, पटना
पिचो, ए कम्परेटिव स्टेडी आफ दी पातिमोक्ष, शान्तिनिकेतन, १९५५
पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास।
लखनऊ, १९३३, स्टेडीज इन दी ओरिजन आफ बुद्धिज्म
मूर्ति, टी० व्ही०, सेन्ट्रल कन्सेपसन आफ बुद्धिज्म, १९५५
बरुआ, बी० एम०, ए हिस्ट्री आफ प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासिफी, कलकत्ता, १९२१
सरवात्सकी, थ० बुद्धिष्ट लाजिक, हिन्दी अनु० बौद्धन्याय, काशी
शास्त्री, अजयमित्र, अर्ली बुद्धिज्म, वाराणसी
शास्त्री, कैलाशचन्द्र, जैन न्याय, वाराणसी
त्रिपाठी, हवलदार, बौद्धधर्म और विहार, पटना

बुद्ध स्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोर्धा-

दुद्भुतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथै. ।

स्तोत्रै जंगत् त्रितयचित्तहरैरुदारै-

स्तोष्ये किलाहमपि त प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥

अध्याय १

भगवान बुद्ध और बौद्धधर्म का अविर्भाव

१—श्रमण संस्कृति और बौद्ध धर्म

भारतीय संस्कृति मूलत: दो संस्कृतियो का समन्वित रूप है - एक वैदिक संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति ब्रह्मन् की पृष्ठभूमि से उद्भूत हुई है जबकि श्रमण संस्कृति सम शब्द के विविध रूपो अथवा अर्थों पर आधारित है। प्रथम मे परतन्त्रता, ईश्वरावलम्बन और क्रियाकाण्ड की प्रवृत्ति देखी जाती है जबकि द्वितीय संस्कृति स्वातंत्र्य, स्वावलम्बन और आत्मा की सर्वोच्च शक्ति पर विश्वास करती है।

श्रमण शब्द श्रम धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है उद्योग करना, परिश्रम करना। पालि-प्राकृत भाषा मे इसी शब्द को सम कहा गया है जो शम् (शान्ति) अथवा सम् (समानता) धातु से निर्मित है। अतः श्रमण सस्कृति श्रम, शम और सम के मूल सिद्धान्तो पर आधारित परम्परा है। वहां ईश्वर मार्ग-द्रष्टा है, सृष्टिकर्ताधर्ता-हर्ता नही। अतः उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम व सत्कर्मो से ईश्वर स्वयं बन सकता है। वह ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नही, बल्कि उसके स्वयं का पुरुषार्थ उसे चरम स्थिति पर पहुंचा देता है। उसकी मूल साधना है आत्मचिन्तन अथवा भेदविज्ञान। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सभी को आत्मचिन्तन एवं मुक्ति प्राप्त करने का समान अधिकार है। कोई भी व्यक्ति मात्र गोत्र अथवा धनसे श्रेष्ठ नही, उसकी श्रेष्ठता तो उसके उत्तम कर्म, विद्या, धर्म व शील से है।[1] आत्मा अथवा चित्त स्वरूपतः निर्मल और निर्विकार है। हमारे कर्म उसके मूल स्वरूप को आवृत कर लेते हैं। आत्मा के इस विकार भाव को दूर करने के लिए शुद्ध भाव पूर्वक अहिंसात्मक साधना अपेक्षित है। इस प्रकार समानता और अहिंसा श्रमण संस्कृति की मूलभूत विशेषतायें हैं। भगवान बुद्ध इसी संस्कृति के पोषक थे।

---

१. कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा॥ विसुद्धिमग्ग

श्रमण संस्कृति का उद्भव और उसकी प्राचीनता एक विवादास्पद विषय है। इस सन्दर्भ मे यहां अधिक कहने की आवश्यकता नही। पर यह निश्चित है कि श्रमण सस्कृति वैदिक संस्कृति से बाद की नही। मोहिंजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन मे प्राप्त कुछ यौगिक मुद्राएँ, वैदिक साहित्य के व्रात्य तथा वातरशना मुनिगण, वेदो व पुराणों के ऋषभदेव तथा पालि साहित्य मे प्राप्त लगभग चौबीसो जैन तीर्थङ्करो के नामोल्लेख यह कहने को बाध्य करते हैं कि श्रमण संस्कृति वैदिक सस्कृति की अपेक्षा प्राचीनतर नही तो समकालीन तो अवश्य है।

व्यक्ति की तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती है, (१) भौतिक वादी प्रवृत्ति, (२) समानता और पुरुषार्थवादी प्रवृत्ति, एवं (३) किसी को सर्व सत्तावान् मान कर स्वयं को उसका दास मानने की प्रवृत्ति। प्रथम प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व चार्वाक् दर्शन करता है, द्वितीय का श्रमण दर्शन, और तृतीय प्रवृत्ति का परिचय वैदिक दर्शन से मिलता है। अतएव ये तीनो संस्कृतियाँ अपने आप में स्वतन्त्र और मौलिक है, समकालीन भी। क्षत्रियविरोध आदि जैसे तर्क श्रमण संस्कृति के उद्भावक नही माने जा सकते। यह अधिक सम्भव है कि किसी कारणवश श्रमण संस्कृति का कुछ ह्रास हो गया हो और अपनी मूल स्थिति में पहुचने के लिए वैदिक संस्कृति में समागत जातिवाद आदि जैसे कठोर दोषों का आश्रय लेकर क्षत्रिय वर्ग उसके विरोध में उठ खडा हुआ हो।[२]

पालि साहित्यमे श्रमणो के चार प्रकार बताये गये है—मग्गजिन, मग्गदेसिन, मग्गजीविन और मग्गदूसिन।[३] इनमें पारस्परिक मतभेद उत्पन्न होने के फलस्वरूप् अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए जिन्हे बुद्ध ने दिट्ठि' सज्ञा दी।[४] इन सभी विवादों का संकलन बासठ प्रकार की मिथ्या दृष्टियों (मिच्छादिट्ठि) में किया गया है। जैन साहित्य में इन्ही दृष्टियो को विस्तार से ३६३ श्रेणियों में विभक्तकर समझाने का प्रयत्न किया गया है।[५] ठाणाङ्ग में श्रमणों के पाच भेद निर्दिष्ट हैं—निगंठ (जैन), सक्क (बौद्ध), तावस गेरुय और परिव्वाजक।[६] सुत्तनिपात में इनके तीन भेद मिलते हैं—तित्थिय, आजीविक और निगण्ठ। इन्हे वादसील कहा गया है।[७] वर्तमान में इन

---

२. विशेष देखिये, मेरा प्रबन्ध "जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर" अध्याय प्रथम।

३. सुत्तनिपात, १.५.२

४. वही, ४.१२.

५. सूत्रकृताङ्ग १.१.११

६. ठाणांग, पृ. ३४९

७. सुत्तनिपात, २.१४.६

भेदों में जैन और बौद्ध दो परम्परायें जीवित अवस्था मे मिलती हैं।

२—बुद्ध के समकालीन तीर्थङ्कर

बुद्धकालीन धार्मिक स्थिति की जानकारी के लिए त्रिपिटक में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। ब्रह्मजालसुत्त मे तत्कालीन प्रचलित प्राय: सभी श्रमण ब्राह्मण सिद्धान्तो और सम्प्रदायों को 'द्वासट्ठि मिच्छादिट्ठिगतानि" के अन्तर्गत आकलन कर दिया गया है। इन सम्प्रदायोमे मुख्य सम्प्रदाय, बौद्ध सम्प्रदाय के अतिरिक्त, थे—पूरणकस्सप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बलि, पकुधकच्चायन, सञ्जयबेलट्ठिपुत्त तथा निगण्ठनातपुत्त। त्रिपिटक मे इन सभी आचार्यो को सङ्घी चेव गणी च, गणाचरियो च, ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयोनुपत्तो "कहा गया है। इस उल्लेख से ऐसा आभास होता है कि बुद्ध इन तीर्थङ्करों मे सबसे कम अवस्था वाले थे। सामञ्ञफलसुत्त मे उक्त सभी तीर्थङ्करो के सिद्धान्तो का वर्णन मिलता है परन्तु समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संकलयिता को उन सिद्धातों का समुचित ज्ञान नहीं था।[८] संक्षेप मे हम उनका वर्णन देखेंगे जिससे यह कथन और स्पष्ट हो जायगा।

क—पूरण कस्सप

इस तीर्थंकर के अनुसार हिंसा, परस्त्री गमन, चोरी आदि दुष्कर्मों मे कोई पाप नहीं। इसलिए इसका मत अक्रियावाद की श्रेणी मे आता है।[९] वरुआ ने इसे 'अधिच्चसमुप्पन्निकवाद' कहा है।[१०] सूयगडाङ्ग के टीकाकार आचार्य शीलभद्र इस मत को सांख्यमत के समकक्ष रखते हैं।[११] नलिनाक्षदत्तने भी यही स्वीकारा है।[१२] सच तो यह है कि यह दर्शन कुछ ऐसा वैचित्र्य लिये हुए है कि उसे

---

८. विस्तार से देखिये, मेरा प्रबन्ध "जेनिज्म इन बुद्धिष्ट लिटरेचर," प्रथम अध्याय,

९. दीघनिकाय, भाग १. पृ.५२

१०. प्री बुद्धिष्टिक फिलासिफी, पृ. २७९

११. सूत्रकृताङ्ग, १. १२ टीका.

१२. अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भाग १ पृ. ३५

प्राचीन भारतीय दर्शनो के साथ संगत नही किया जा सकता । संयुत्त एवं अंगुत्तर निकाय मे पूरणकस्सप को 'अहेतुवादिन्' कहा गया है ।[१३] यह अहेतुवाद सामञ्ञफलसुत्त मे मक्खलि गोसाल के साथ संयोजित किया गया है ।

बुद्धघोष ने पूरण की जीवनी का कुछ अंश उद्धृत किया है । उन्होने लिखा है कि किसी दास के घर इसने अपने जन्मसे सौ की संख्या को पूरा किया । अतः स्खलन होने पर भी उसे दण्डित नही किया जाता । फिर भी वह किसी कारण से असन्तुष्ट हो गया और वस्त्रादि त्यागकर नग्न विचरण करने लगा ।[१४] धम्मपद अट्ठकथा के अनुसार भगवान बुद्ध का प्रभाव असह्य हो जाने से पूरण ने नदी मे डूबकर प्राणान्त कर लिया था ।[१५]

ख—मक्खलि गोसाल

जैन साहित्य के अनुसार मक्खलि मूलतः पार्श्वनाथ और महावीर का अनुयायी था । मतभेद होने पर उसने अपना पृथक् संघ स्थापित कर लिया ।[१६] सामञ्ञफलसुत्त के अनुसार वह विना हेतु और प्रत्यय के सभी सत्वो की शुद्धि मानता था । इसलिए उसके सिद्धान्त की गणना नियतिवाद मे कर दी गई । मज्झिमनकाय[१७] मे इसे "अहेतुकदिट्ठि" अथवा "अकिरियादिट्ठि" तथा दर्शनसार मे "अज्ञानवाद" के नाम से अभिहित किया है । शीलाक ने "अक्रियावाद" के भेद-प्रभेदो मे इसकी गणना की है ।

बुद्ध गोसाल को अत्यन्त खतरनाक समझते रहे ।[१८] 'मक्खलि' नामकरण के सन्दर्भमे बुद्धघोष ने एक घटनाका उल्लेख किया है । उन्होंने लिखा है कि मक्खलि एक दास था । उसके मालिक ने एक तेल भरा बर्तन देकर कहा "गिर नही जाना" (मा खलि) फिर भी असावधानता वश वह गिर गया । फलतः उसका नाम 'मक्खलि' हो गया । गौशाला मे जन्म होने के कारण उसे गौसाल कहा

---

१३. संयुत्त. भाग ३. पृ. ६९; अंगुत्तर. भाग ५. पृ. १२६
१४. दीघ. अट्ठ. भा. १. पृ. १४२
१५. और भी देखिये, दिव्यावदान, प्रातिहार्यसूत्र
१६. भाव संग्रह, १७६-१७९.
१७. भा. १. पृ. ५१३. मिलिन्दपञ्ह, पृ. ४-५
१८. अंगुत्तर. भा. १.पृ.२८९

जाता रहा।[१९] उसे पाणिनि ने मस्करिन् और उवासगदसाओ ने मक्खलि-'पुत्त' कहा है।

गोसाल के अनुयायी आजीविक अथवा आजीवक कहलाते थे। उनका नियतिवाद प्रारब्ध कर्मो पर निर्भर था। पुरुषार्थ की वहाँ अपेक्षा नही थी। पतञ्जलि ने उन्ही को लक्ष्य कर लिखा है—मा कृत मा कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी······ मस्करी परिव्राजकः। इसके सिद्धान्तो के उल्लेख त्रिपिटक व जैन साहित्य मे मिलते है। इस सम्प्रदाय का अस्तित्व लगभग १२वी शती तक रहा है। बाद में सम्भवतः दिगम्बर जैनो मे अन्तर्भूत हो गया।

ग—अजितकसकंबलि

अजितकेसकम्बलि शुद्ध भौतिकवादी था। वह पुण्य, पाप, इहलोक, परलोक, माता-पिता आदि किसी को भी नही मानता था। प्राणि चार महाभूतो से मिलकर बना है। काल कवलित होने पर वे महाभूत विलीन हो जाते है। मृत्यु के बाद कोई नहीं रहता। इसलिए उसके मत को 'जडवाद' अथवा 'उच्छेदवाद' की संज्ञा दी गई है।[२०]

अजित के दर्शन की तुलना चार्वाक् से की जा सकती है। ब्रह्मजालसुत्त तथा सूयगडाग(१.११)मे इसकी गणना "तं जीवं तं सरीरं" (तज्जीवतच्छरीराकारकवादी) के रूप मे की गई है। चार्वाक् मात्र' प्रत्यक्षवादी थे। उन्हे "लोकायत" और 'आन्वीक्षिकी' भी कहा गया है। अभी तक इस सम्प्रदाय का कोई मूल ग्रन्थ नही मिला। मात्र वैदिक, जैन एवं बौद्ध ग्रन्थो मे प्राप्त उसके सिद्धान्तो से हम परिचित हो पाते है।

घ—पकुधकच्चायन

इसके अनुसार सात तत्व—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन अकृत, अनिर्मित, अवध्य और कूटस्थ है।[२१] अतएव इसे "अकृततावाद" कहा गया है। शीलांकाचार्य ने इसकी भी गणना "अक्रियावाद" में की है। ब्रह्मजालसुत्त भी इसे 'अक्रियावाद' अथवा 'उच्छेदबाद' कहता है। बुद्धघोष ने पकुध को उष्णजल का ही उपयोग करने वाला बताया है।[२२]

---

१९. दीघअट्ठ. भा. १.पृ. १६६
२०. दीघ. भाग १. पृ. ५५.
२१. दीघ. भा. १. पृ. ५६
२२. दीघ. अठ. भा. १.पृ.-१४४

ङ—निगण्ठ नातपुत्त

सामञ्ञफलसुत्त में निगण्ठ नातपुत्तको "चातुयामसंवरसंवुतो" कहा है। ये चार संवर थे—सब्बवारिवारितो, सब्बवारियुत्तो, सब्बवारिधुतो और सब्बवारिफुटो।[२३] त्रिपिटक तथा जैनागमो के पर्यवेक्षण से यह उद्धरण गलत सिद्ध हो जाता है। चातुयामसंवर के पुरस्कर्ता पार्श्वनाथ थे, महावीर नही। महावीर (निगण्ठनातपुत्त) ने तो उसमें एक और याम जोड़कर पञ्चयामों का निर्माण किया था। फिर भी इस उल्लेख का मूल्य कम नही है। पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध करने मे यह एक अकाट्य प्रमाण है। ठाणाग में उनके द्वारा निर्दिष्ट चातुर्याम इस प्रकार है—[२४]

१. सव्वातो पाणतिवायाओ वेरमणं (प्राणांतिपात से बिलकुल दूर रहना)
२. सव्वातो मुसावायाओ वेरमणं (मृषावाद से पूर्णतः दूर रहना),
३. सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं (चौर्य से पूर्णतः दूर रहना) और
४. सव्वातो बहिद्धादाणओ वेरमणं (परिग्रह से पूर्णतः दूर रहना)

भगवान् बुद्ध इन चातुर्यामों से प्रभावित रहे है। त्रिपिटक मैं वप्प निर्ग्रन्थ श्रावक के उल्लेख से स्पष्ट है कि चातुर्याम धर्म शाक्य देश तक प्रचलित हो चुका था। अलारकालाम तथा उद्दकरामपुत्र की शिक्षाओं से असन्तुष्ट होने के बाद बुद्ध राजगृह पहुँचे। वहाँ उन्हें निग्रन्थ श्रमणो का चातुर्याम धर्म अधिक अनुकूल दिखाई दिया। उनके द्वारा खोजे गये अष्टाङ्गिक मार्ग का समावेश चातुर्यामधर्म मे हो जाता है।[२५] दीघनिकाय से भी यह स्पष्ट हो जाता है। वहां कहा गया है कि प्राणिवध, चौर्य, मृषावाद, पंचभोग सेवन ये चारों भोग निकृष्ट है। शाक्य भिक्षुओ पर इनका आरोपण नही किया जा सकता।[२६] इन चारो भोगो का त्याग पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म पर अधारित है।

जैनागमों में भी ऐसे अनेक प्रसंग है जो चातुर्याम का समर्थन करते है। पर्श्वनाथ के अनुयायियो को वहा 'पासावच्चिज्ज' कहा गया है।[२७] आचारांग में

२३. दी. भा. १.पृ ५०
२४. सू. २६६
२५. कौशाम्बी, पार्श्वनाथ चातुर्याम, पृ. २४
२६. इमे चत्तारो सुखल्लिकानुयोगे अनुयुत्ता समणा सक्यपुत्तिया विहरन्ती' ति। ते वो 'माहेवं' तिस्सु वचनीया। पासादिकसुत्त, पृ. १३१
२७. सूय. २-७., भगवती. १-९, ठाणांग, ९,

भगवान् महावीर के माता-पिता भी उन्ही अनुयायियो मे से थे।[२८] उत्तराध्ययन का केशी -गौतम संवाद तो प्रसिद्ध ही है।[२९]

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के बीच लगभग २५०वर्ष का अन्तर था। इस बीच जैन संघ मे आचार शैथिल्य घर कर गया। भगवान् महावीर ने इसके मूल कारण पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया और पाया कि भगवान् पार्श्वनाथ ने बहिर्द्धा के अन्तर्गत परिग्रह और स्त्रीसेवन इन दोनो का अन्तर्भाव कर दिया है। महावीर ने उन दोनो को पृथक्कर व्रतों मे और भी स्पष्टता ला दी। इस प्रकार महावीर के अनुसार पञ्चयाम हो गये।[३०]

भ. पार्श्वनाथ के चातुर्याम और भ. महावीरके पंचयाम से त्रिपिटक भी अपरिचित नही रहा। भ. बुद्ध के प्रश्नो के उत्तर मे असिबन्धकपुत्तगामणि ने कहा कि निगण्ठनातपुत चार प्रकार के पापो की निन्दा करते है—पाण अतिपातेति (प्राणिवध), अदिन्नं आदियति (चौर्य), कामेसु मिच्छाचरति (मैथुन) और मुसा भणति (मृषावाद)[३१]। यहा ये चार प्रकार भूल से महावीरके कह दिये गये है। वस्तुतः है ये पार्श्वनाथ के। महावीर के अनुसार पापाश्रव के पांच कारण ये है।[३२]

१. पाणातिपाति होति। २. आदिन्नादायी होति, ३. अब्रह्मचारी होति, ४. मुसावादी होति, और ५. सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठायी होति।

यहाँ गणना के अनुसार पाँच कारण ठीक है, परन्तु क्रमहीनता के अतिरिक्त परिग्रह का स्पष्ट उल्लेख नही हो सका। परिग्रह के स्थान पर सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठान को स्थान दे दिया गया। इस उल्लेख से इतना तो स्पष्ट है ही कि बुद्ध चातुर्याम और पञ्चयाम इन दोनो प्रकार के धर्मो से परिचित थे। संभव है यह सब महावीर द्वारा किये गये परिवर्तन के आसपास से सम्बद्ध हो और अधिक परिचय न होने के कारण यह भूल हुई हो। अथवा यह भी संभव है कि चूँकि जैन मद्य मासादिक सेवन का अत्यन्त विरोध करते है इसलिए वही बात संगायन करते समय स्मृति–पथ मे बनी रही हो।

---

२८. महावीरस्स अम्मा पियरो पासावच्चिज्जा, आचा. २. १५-१५

२९. उत्तरा. २३वा अध्ययन.

३०. समवायांग, ५.२

३१. संयुत्त, भाग ४. पृ. ३१७-८

३२. अंगुत्तर, भाग ३. पृ. २७६–७

जैनधर्म पालि साहित्य का अत्यन्त ऋणी है। त्रिपिटक मे निगण्ठनातपुत्त के अनेक सिद्धान्तो का उल्लेख आता है जो जैनधर्म की तत्कालीन स्थिति का परिचय कराते हैं।[33]

च—संजय बेलट्ठिपुत्त

यह तीर्थङ्कर अज्ञानवाद अथवा अनिश्चिततावाद का प्रवर्तक था। इसके अनुसार परलोक, अयोनिज प्राणी, शुभाशुभ कर्मो के फल आदि के विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर संजय के अनुसार अस्ति, नास्ति अस्ति-नास्ति, एवं अवक्तव्य के रूप में दिया जा सकता है।[34]

कहा जाता है, सारिपुत्त और मोग्गल्लान बौद्धधर्म मे दीक्षित होने के पूर्व सजय के शिष्य थे।[35] मोग्गल्लान और संजय को जैन सहित्य मे जैन मुनि बताया गया है।[36] कुछेक विद्वानो ने जैन सिद्धान्त के स्याद्वाद का मूलाधार संजय के अज्ञानवाद को माना है, पर यह उनकी भूल है। संजय के सिद्धान्त मे अनिश्चितता बनी रहती है जबकि स्याद्वाद एक निश्चित दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। जैनो ने इसीलिए उसके सिद्धान्त की कटु आलोचना की है।[37] संजय के चतुष्कोटिविनिर्मुक्तता के सिद्धान्त के पूर्व भी जैनो मे स्याद्वाद के बीज दिखाई देते हैं।[38] ब्रह्मजालसुत्त मे संजय के सिद्धान्तको 'अमराविक्खेपवाद' कहा गया है।

अन्यमतमतांतर

उक्त छः शास्ताओं के अतिरिक्त कुछ छोटे-मोटे शास्ता और भी थे जो अपने मतों का प्रवर्तन समाज मे कर रहे थे। ब्रह्मजालसुत्त के ६२ दार्शनिक मत इस प्रसंग मे उल्लेखनीय हैं। इन्हे भी गंम्भीर, दुर्ज्ञेय आदि कहा गया है। ये मत इस प्रकार हैं—१. आदि सम्बन्धी १८मत (पुब्बन्तानुदिट्ठि अट्ठारसहि वत्थूहि)

---

३३. विशेष विवरण के लिए देखिये, लेखक का प्रबन्ध—
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर।

३४. दी. भाग १. पृ. ५१

३५. विनय. भा. १. पृ.४२, १७१; थेरगाथा, १७. २.

३६. अमितगति श्रावकाचार, ६

३७. अष्टसहस्री, पृ. १२६.

३८. देखिये, लेखक का लेख रयुडीमेन्टस आफ अनेकान्तवाद इन पालि लिटरेचर, नागपुर युनिवर्सिटी जरनल, १९६८

१. सस्मतवाद	—	४	)	
२. एकच्च सस्सतवाद	—	४	)	१८
३. अन्तानन्तवाद	—	४	)	
४. अमराविक्खेपवाद	—	४	)	
५. अधिच्चसमुप्पन्नवाद	—	२	)	

२. अन्तसम्बन्धी ४४ मत (अपरन्तानुदिट्ठि चतुचत्तारीसायवत्थूहि)

१. उद्धमाघातनिका सञ्ञीवादा	—	१६	)	
२. उद्धमाघातनिका असञ्ञीवादा	—	८	)	
३. उद्धमाघतनिका नेवसञ्ञीनासञ्ञीवादा	—	८	)	४४ + १८ = ६२
४. उच्छेदवाद	—	७	)	
५. दिट्ठधम्मनिब्बानवाद	—	५	)	

सूत्रकृताग मे बुद्धकालीन मतमतान्तरो की सख्या ३६३ बतायी गई है। इनके अतिरिक्त यज्ञ, भूत, प्रेत पशु आदिकी पुजा भी की जाती थी। परिव्राजक भी एक पृथक् अथवा सामान्य सम्प्रदाय था। और भी अनेक सम्प्रदाय थे, पर वे उत्तरकाल मे लुप्तप्राय हो चुके। ३६३ मत इस प्रकार है।

असियसयं किरियाणं अक्किरियाणं च होई चुलसीती।
अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा.॥ सू. नि. १. १२. ११६.

१.क्रियावाद—यह दर्शन जीव, आजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ मानता है। ये पदार्थ स्वत: और परत: के भेद से दो प्रकार के हैं। पुनः सभी पदार्थ नित्य और अनित्य होते है ९ × २ = १८ × २ = ३६। ये छत्तीस पदार्थ काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा के भेदसे ५ प्रकार के हैं—३६ × ५ = १८०. इस प्रकार कुल भेद ९ × २ × २ × ५—१८ हुए।

२. अक्रियावाद—इस दर्शन के अनुसार पुण्य और पाप का कोई स्थान नही। अत: कुल सात पदार्थ हुए। इनके दो भेद हैं स्वत. और परतः। पुन· काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा ये ६ भेद है। इस प्रकार अक्रियावाद के कुल ७ × २ × ६ = ८४ भेद हुए

कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मतश्चतुरशीतिः।
नास्तिकवादिगणमते न सन्ति भावा स्वपरसंस्थाः॥

सू. १. १२. १५. वृ. पृ. २०९।२

३. अज्ञानवाद–इस दर्शन मे नव पदार्थ स्वीकृत है। ये सभी पदार्थ सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य सदसदवक्तव्य के भेद से ७ प्रकार के है। इनके अतिरिक्त, १–सती भावोत्पति को वेत्ति किंवाऽनया ज्ञातया २. असती भोवोत्पति: को वेत्ति ? कि वानया ज्ञातया ?, ३–सद्सती भावोत्पत्ति: को वेत्ति किं वाऽनया ज्ञातया? ४. अवक्तव्या भावोत्पति: को वेत्ति कि वाऽनया ज्ञातया ? भेद भी है। इस प्रकार ६×७×४—६७ भेदे अज्ञानवाद के है।

> अज्ञानकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान्।
> भावोत्पत्तिः सदसद्द्वेधा ऽवाच्या च को वेत्ति ॥
>
> सू-१. १२. १-५-वृ.पृ.२०६।१

४. वैनयिकवाद—इस दर्शन मे विनयसे ही मुक्ति मिलती है। यह विनय आठ व्यक्तियो मे की जाती है—सुर, नृपति, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता। उनकी मन, वचन, काय और दान के भेद से चार-चार प्रकार की विनय होती है। अत: वैनयिकवाद के ८×४—३२ प्रकार हुए।

> वैनयिकमत विनयश्चेतोवक्कायदानत: कार्य.।
> सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा ॥ वही, वृ-२१०।१

३—बुद्ध का जीवन-वृत्तांत

बुद्ध का मूल व्यक्तित्व एक ऐतिहासिक महापुरुष का व्यक्तित्व था। उनके जीवन काल मे किसी ने भी उनकी जीवन घटनाओ का आलेखन नही किया। पालि त्रिपिटक मे जो भी घटनायें संकलित हुई है वे सुव्यवस्थित नहीं। अतएव बुद्ध का प्रामाणिक जीवनवृत्तान्त पाना सहज नहीं। उत्तर काल मे उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर लोकोत्तर व्यक्तित्व की सील जड़ दी गई और इस तरह रही-सही ऐतिहासिकता धूमिल काली चादर से आच्छादित हो गई। इसलिए बुद्ध की जीवन घटनाओ को सावधानता पूर्वक ग्रहण करना आवश्यक है।

बुद्ध के जीवन–वृत्तान्त के उपादान पालि त्रिपिटक में खोजे जा सकते हैं। इस दृष्टिसे दीघनिकाय के महापरिनिब्बाण और तेविज्ज सुत्त मज्झिम निकाय के बोधिराज कुमार, सेल और रट्ठपाल सुत्त, सयुत्त निकाय के धम्मचक्कपवत्तन, चुन्द और जरा सुत्त, अंगुत्तर निकाय का पजापति पब्बज्जासुत्त, खुद्दक निकाय मे सुत्तनिपात्त, धम्मपद, थेर-थेरी गाथा, निदान आदि, विनयपिटक मे चुल्लवग्ग और महावग्ग तथा अनुपिटक में महावंस

अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि अलौकिक तत्त्व पालि त्रिपिटक मे भी दिखाई देने लगते है, पर उस पर लिखी गई अट्ठकथाओ में ये तत्व और भी स्पष्ट हो जाते है। इसके बावजूद घटनाओ को क्रमबद्ध बनाने में उनका योगदान कम नही है। इसके अतिरिक्त उत्तर काल मे बुद्ध जीवनी पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इस दृष्टि से महावस्तु, ललित विस्तार, अभिनिष्क्रमणसूत्र, जातकट्ठकथा, बुद्धचरित तथा जिन चरित मुख्य है। इन ग्रन्थो मे ऐतिहासिक तत्व का स्थान कल्पना तत्व ने ले लिया। पालि त्रिपिटक मे महाभिनिष्क्रमण के पूर्व का जीवन-वृत्तान्त न के बराबर ही मिलता है। यही कारण है कि बाद के ग्रन्थों मे इस सन्दर्भ में मतैक्य नही दिखाता। यहाँ हम भ. बुद्ध का संक्षिप्त जीवन प्रस्तुत कर रहे है। अध्याय के अन्त मे परिशिष्ट के रूप मे कुछ विशेष रूप से दिया गया है।

जन्म और यौवन

बुद्ध के जन्म और परिनिर्वाण के विषय मे परम्परायें एकमत नही। इन परम्पराओ को साधारणतः दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वह श्रेणी जिस मे विद्वान बुद्ध का परिनिर्वाण ४८७ ई० पू० से लेकर ४७७ ई० पू० रखते है। चूंकि बुद्ध का परिनिर्वाण ८० वर्ष की अवस्था मे हुआ था, इसलिए उक्त परम्पराओ के अनुसार उनका जन्म ५६७ ई० पू० से ५५७ ई० पू० के बीच होना चाहीए। दूसरी श्रेणी मे श्रीलंका की परम्परा आती है जिसके अनुसार बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४ ई० पू० और जन्म ६२४ ई० पू० में हुआ। श्रीलंका की परम्परा अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक है।

बुद्ध का यह जन्म शाक्य गणतन्त्र कपिलवस्तु (वर्तमान तिलौरा कोट) के निकट लुम्बनी वन मे हुआ। यहां अशोक सम्राट का एक अभिलेख भी पाया जाता है जिसमे उत्कीर्ण है—हिद बुधे जाते साक्यमुनीति हिद भगवा जातेति। बुद्ध के पिता क्षत्रिय राजवंशी एवं गौतम[३९] गोत्री शुद्धादन[४०] थे और माता का नाम था माया अथवा महामाया जो कोलिय वश की राजकुमारी थी।[४१] बुद्ध का नाम गौतम अथवा सिद्धार्थ रखा गया– समणो खलु भो गौतमो सक्यकुल पब्बजितो। सिद्धार्थ जन्मतः महापुरुष लक्षणो से लाञ्छित थे। इन लाञ्छनो

---

३९. सुत्तनिपात, ३१-१८-१८-

४०. महा वग्ग (विनय) सुत्त. ३.१.१८-२० पृ. ८६,. सुद्धोदन के शुक्लोदन, शाक्योदन धोतौदन और अमितोदन इन ४ सहोदरो के भी नाम मिलते हैं (मज्झिम. चूलदुक्खक्खन्ध सुत्त अट्ठकथा) यहां तथागत के एक भाई का भी नाम मिलता है–नन्द।

४१. दीघ. भा. २, पृ.८ (ना०).

को देखकर ज्योतिर्विदो ने कह दिया था—इमेहि लक्खणेहि समन्नागतो अगार अज्झावसमानो राजा होति चक्कवत्ती, पब्बजमानो बुद्धो।[४२] सात दिन के बाद माया कालकवलित हो गई और पालन-पोषण का समूचा भार माता की बहन महाप्रजापति गौतमी ने वहन किया।

सिद्धार्थ की शिक्षा-दीक्षा के विषय में अधिक जानकारी नही मिलती। ललितविस्तर मे उनके गुरु का नाम विश्वामित्र दिया है। बालक ने उनसे पूछा कि ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुस्कर साकी, अङ्गलिपि आदि ६४ प्रकार की लिपियो मे मुझे आप कौन–सी लिपि सिखायेगे ? विश्वामित्र विस्मित हुए बालक की बात सुनकर और कहा कि वे उसे सर्व लोकपरायण बनाने का प्रयत्न करेंगे।[४३] तब बोधिसत्व ने १० हजार बालको के साथ पढना प्रारम्भ किया।[४४]

१. अ = अनित्य शब्द, २. आ = आत्मसपरहित शब्द, ३. इ = इन्द्रिय वैपुल्य शब्द, ४. ई = ईति बहुल शब्द, ५. उ=उपद्रव बहुल शब्द, ६. ऊ = ऊन सत्त्व जगत शब्द, ७. ए = एषणासमुत्थान शब्द, ८. ऐ = ऐर्‌यपथ श्रेयान् शब्द, ९. ओ = ओघोत्तर शब्द, १०. औ = ११. अं = अमोघोत्पत्ति शब्द, १२. अः = अस्तंगमन शब्द, १३ क = कर्म विपाकावतरण शब्द, १४. ख = खसम सर्वधर्म शब्द, १५. ग = गम्भीरधर्मप्रतीत्यसमुत्पादावतारणशब्द, १६. घ = घनपटला विद्या मोमान्धकारविधमनशब्द, १७. ङ = अङ्ग विशुद्धि शब्द, १८. च = चतुरार्य सत्य पथ शब्द, १९. छ = छन्द राग प्रहाण शब्द, २०. ज= जरामरणसमतिक्रमणशब्द, २१. झ = झषध्वजवरनिग्रहण शब्द,

---

४२. सुत्त. ३.७;

४३. ललित विस्तर, पृ. ८८

४४. ललित विस्तर, पृ. ८९

२२. ञ = ज्ञापन शब्द, २३. ट = पटोपच्छेदन शब्द, २४. ठ = ठप-नीय प्रश्न शब्द, २५. ड = डमरमारंनि ग्रहण शब्द; २६. ढ = मीढ-विषयशब्द, २७. ण = रेणुक्लेशशब्द, २८. त = तथातासंभेदकशब्द, २९. थ = थामबलवेगवैशारद्य शब्द, ३०. द = दानदमसंयमसौरभ्य-३१. ध = सप्तविधधन शब्द, ३२. न = नाम रुप परिज्ञान शब्द, ३३. प = परमार्थ शब्द, ३४. फ = फलप्राप्तिसाक्षात्क्रया शब्द, ३५. ब = बन्धनमोक्षशब्द, ३६. भ = भवति भवशब्द, ३७. म = मद-मानोपशमनशब्द, ३८. य = यथावद्धर्मप्रतिषेधशब्द, ३९. र = रत्य-रतिपरमार्थ रति शब्द, ४०. व = वरयान शब्द, ४१. श = शमथविप-श्यना शब्द, ४२. ष = षडायतन निग्रहषडभिज्ञज्ञानावाप्ति शब्द, ४३. स = सर्वज्ञज्ञानाभिसं बोधन शब्द, ४४. ह = हतक्लेशविराग शब्द, ४५. क्ष = क्षणपर्यन्ताभिलाषसर्वधर्मशब्द ।

काल दैवल आदि ऋषियो की भविष्य वाणियो से प्रेरित होकर शुद्धोदन ने गौतम का ध्यान विषयोपभोग की ओर केन्द्रित करने का प्रयत्न किया। दण्डपाणि की पुत्री यशोधरा (गोपा या भद्रकृत्या भी कहा गया है) का स्वयंवर हुआ जिसमे गौतमने १६ वर्ष की अवस्था मे देवदत्त आदि अन्य शाक्य युवकों को सरलता से पराजित कर उसका पाणिग्रहण किया। प्रतियोगिता के विषय थे—१ गज शव उत्क्षेपण, (२) लिपि ज्ञान, (३) गणित (४) धनुष चालन, (५) मल्लयुद्ध (६) ल लत कलायें, (७) काव्य निर्माण, (८) श.स्त्रज्ञान ।[४५]

यशाधरा के साथ इन्द्रियसुख भोगते हुए गातम अपना काल यापन करने लगे । । यशोधरा राहुल - माता भी बन गई। इस सब के बावजूद गौतम का मन विषय भोगो मे नही लग सका। वे आध्यात्मिक सुख का चिन्तन करने लगे। राहुल को उन्होने बन्धन माना। यह सुनकर जराजीर्ण, व्याधि-ग्रस्त, मृत और प्रव्रजित व्यक्तियोंको शुद्धोदन ने गौतम से दूर रखनेका प्रयत्न किया।[४६] आचार्य

४५. उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास' पृ० ३९

४६. जातकट्ठकथा, निदान कथा, पृ. ७२

कौशाम्बी ने इन कारणोको अपर्याप्त माना, महाभिनिष्क्रमण के लिए ।[४७] उनका समर्थन भरतसिह उपाध्याय[४८] और गोविन्दचन्द पाडे[४९] ने भी किया है। पर यह असम्भव नही। वस्तुतः यह तो चिन्तन का परिणाम है। कौन जाने, व्यक्ति का मन कब किस विषय पर चिन्तन करना प्रारंभ कर दे। यही चिन्तन वैराग्य का कारण बन जाता है। बिजली का चमकना, उल्का का गिरना, बबूलो का तिरोहित होना आदि कारण ऐसे ही हैं जिन पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चिन्तन किया गया और वे गृहनिष्क्रमण के कारण बन बैठे। इसका तात्पर्य यह नही कि उन मनीषियो ने ये कारण कभी देखे ही नही थे। देखे अवश्य थे, पर उस तरह का विचार उन पर नही किया गया था। अस्तु, महाभिनिष्क्रमण के कुछ अन्य कारणो का भी निर्देश मिलता है— (१) परस्पर विरोध मे शस्त्र धारण (२) गृह प्रपञ्च तथा (३) संसार की असारता।[५०]

गौतम को विषयासक्त बनाये रखने के लिए शुद्धोदन का प्रबन्ध अपनी चरम उन्नति पर था। सुन्दरियों की संख्या अहर्निश बढने लगी। एक दिन कृष्णा गौतमी ने उनके सौन्दर्य को देखकर प्रसन्नता पूर्वक कहा—

निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी यस्य यं इदिसो पति ॥[५१]

गौतम ने इस पद्य में निब्बुत' शब्द का अर्थ आत्मशान्ति लिया। उन्हे एक नया मार्ग दर्शन हुआ। गणिकाओ के सौन्दर्य में उन्हे दुर्गन्ध आने लगी। प्रसाद मे पहुँचकर चिदानन्दलीन हो गये। अन्तः कपाट आत्म चिन्तन से धीरे-धीरे खुलने लगे। उन्होने अन्तिम बार राहुल और यशोधरा की ओर देखा। छन्दक से अपना प्रिय अश्व मंगाया और प्रस्थान किया वन की ओर। गौतम की आयु उस समय २९ वर्ष की थी। अनोमा नदी के किनारे पहुँचकर उन्होंने राजवेष छोड़ा और प्रवजित होकर राजगृह की ओर चल पड़े। यह घटना ललित विस्तर, बुद्ध चरित आदि ग्रन्थो में काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। अरियपरियेसनसुत्त, महासच्चक सुत्त, और बोधिराजकुमार सुत्त मे भी इस गृहत्याग की घटना का वर्णन निम्न शब्दो मे दिया है—

---

४७. भगवान् बुद्ध, पृ. १०६,
४८ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ. २५८,
४९. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ, ४५,
५०. भगवान बुद्ध, पृ, १११, : सुत्तनिपात, ३, १,२०,
५१ जातकट्ठकथा (निदान कथा), पृ० ७५.

सो खो अहं भिक्खवे, अपरेन समयेन दहरो व समानो सुसुकालके सो भद्देन योब्बमेन समन्नागतेन पठमेन वयसा अकामकानं माता पितुन्नं अस्सुमुखानं रुदन्ताने केस्मस्सुं ओहारेत्वा कासावानि वत्थानि अच्छादेत्वा अगारस्मा अनगारिये पब्बजिं ![५२]

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध ने प्रवज्या अपने पारिवारिक सदस्यो के समक्ष ली। गुप्त महाभिनिष्क्रमण उत्तरकालीन ग्रन्थो के आधार पर प्रचलित हुआ है।

राजगृह के मार्ग मे पूर्वश्रुत आलार कालाम का आश्रम मिला।[५३] वहां उन्होने 'अकिंचन्यायतन' समाधि की शिक्षा ली। पर्येषणा करने पर गौतम को यह समझ मे आ गया कि "यह न निर्वेद के लिए है, न वैराग्य के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न सम्बोधि के लिए और न निर्वाण के लिए।[५४] सत्य की खोज मे आगे बढते हुए वे उद्दकरामपुत्त के पास पहुंचे। यहा उन्होने "नैव संज्ञा नासंज्ञायतन" नामक समाधि का अभ्यास किया। आलार कालाम के उपदेशो मे समाधि के सात अंग थे और उद्दक रामपुत्त समधि के आठ अंगो का अभ्यास करते थे। साख्य दर्शन में भी इनके सिद्धान्तो का कुछ सामञ्जस्य बैठता है।

राजगृह पहुंचकर विम्बिसार से भेंट हुई। राजगृह उस समय श्रमण सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र था। निगण्ठ नातपुत्त एवं मक्खलिगो साल के अनुयायियो का यहाँ अच्छा प्रभाव था। बोधिसत्त्व ने निश्चित ही कुछ समय इनके बीच रहकर बिताया। त्रिपिटक मे प्राप्त वर्णनो से भी यह स्पष्ट है। आचार्य देवसेन ने लिखा है कि बुद्ध ने पार्श्व नाथ सम्प्रदाय के मुनि पिहिताश्रव के पास जैन दीक्षा ली थी और उनका नाम बुद्ध कीर्ति था। परन्तु मांस भक्षण करने के बाद उन्होंने संघ से पृथक् होकर अपना अलग धर्म स्थापित किया।[५५]

ज्ञान की खोज में ही उन्होने उरुवेला आदि स्थानों का भी भ्रमण किया और कठोर तपश्चर्या की। उन्होने सोचा कि जैसे गीली लकडियों से अग्नि का उत्पादन नहीं किया जा सकता उसी प्रकार भोगो मे आसक्त रहते हुए तपश्चर्या के द्वारा सत्य-ज्ञान की प्राप्ति नही की जा सकती। फलतः बोधिसत्व ने

५२. मज्झिम निकाय, २.४.५ (बोधिराजकुमार सुत्त)।

५३. वही।

५४. ललितविस्तर में अलार कालाम का स्थान वैशाली बताया है।

५५. दर्शनसार, ६-६

आहार आदि छोड़कर उग्र तपश्चर्या की। हठयोग और उपोषण किया। अचेलक (नग्न) रहते हुए देह दमन किया। इस तरह महाभिनिस्क्रमण के बाद बोधि-प्राप्ति के लिए तत्कालीन प्रचलित प्रायः सभी पन्थों में वे दीक्षित हुए और छः वर्ष तक उनका अभ्यास करते रहे। अन्त मे बोधिसत्व को इन उग्र तपस्याओ से असन्तोष ही हाथ लगा। और तपस्या छोड़कर आहार ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। यह देख कौण्डिन्य आदि पांच ब्राह्मण परिव्राजको ने बुद्ध को पथभष्ट मानकर उनका साथ छोड़ दिया।

बोधिसत्व यथावत् समाधि मे लवलीन रहे। एक दिन सेनानिग्राम क कृषक कन्या सुजाता ने उन्हे वैसाख पूर्णिमा के पुनीत प्रभात काल मे पायस दान देकर अमरत्व पाया। सुजाता के लिए यद्यपि यह दान एक बलि कर्म का अंग था पर गौतम के लिए तो उसने जीवन दान का काम किया। उसी दिन सायंकाल मे श्रोत्रिय नामक असियारे ने उन्हे आठ मुट्ठी तृण दान दिया। इसके बाद गौतम सम्यक्सम्बेधि प्राप्त करने के दृढ संकल्प को लेकर बोधिवृक्ष (पीपल वृक्ष) के नीचे आसीन हो गये। बौद्ध ग्रन्थों मे इस स्थान को बज्रासन कहा है।[५६]

समाधि काल मे बोधिसत्व को मार से घोर संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष का उल्लेख उत्तर कालीन पालि साहित्य और बौद्ध संस्कृत साहित्य मे मिलता है। प्राचीनतम सन्दर्भो में अलभ्य होने के कारण यह विषय संशय-ग्रस्त हो गया। थामस ने इस घटना को मात्र कथात्मक विकास का (mythological development) परिणाम माना[५७]। ओल्डन वर्ग[५८] और सेनार्टने[५९] भी उसके विचारों का समर्थन किया। रिज डेविड्स के अनुसार यह अध्यात्मिक व्यापार का बाह्य इतिवृत्तके रूप में चित्रण है। (a subjective experience under the form of objective reality)।[६०]

वास्तविक बात यह है कि यह मार संघर्ष मानसिक द्वन्दो का प्रतीक है। संसार क्लेश से दूर होने के लिए सांसारिक वासनाओं से असक्ति छोड़ना अत्यावश्यक है। मानसिक सघर्ष का जन्म इसी अवस्था में होता है। पालि साहित्य में—

---

५६. बौद्धर्म और विहार, पृ. ५१

५७. दी लाइफ आफ दी बुद्ध, पृ. ७४

५८. बुद्ध, पृ. १०१, १०७

५९. दी लाइफ आफ दी बुद्ध, पृ. २३०

६०. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ४८

मार कही मृत्यु (मच्चु)[६१] और कहीं सांसारिक प्रलोभन[६२] (काम) के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। सुत्तनिपात (१. ६. १६८) का मच्चुपास तथा धम्मपद का मारबन्धन (३७) भी इस प्रसंग मे उल्लेखनीय है। अतएव संभव है कि मारधर्षण का कथात्मक विकास इसी विचारधारा पर आधारित रहा हो। जैन साहित्य मे भी इस प्रकार के उल्लेख कम नही है।

जिम दिन सुजाता का पायस-दान मिला उसी वैसाखी पूर्णिमा के दिन गौतम ने मार (सासारिक वासनाओं) को पराजित कर अनुत्तरभेदविज्ञान प्राप्त किया (महावस्तु, पृ.३७०)। रात्रि के प्रथम याम में पूर्वजन्म ज्ञान, मध्यम याम मे दिव्य चक्षुत्व और अन्तिम याम मे प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान लाभ किया। अब बोधिसत्व गौतम तथागत बुद्ध बन गये और संसार परिभ्रमण से सदैव के लिए मुक्त हो गये। यही उनकी सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता थी। यह सवितर्क, सविचार से प्रादुर्भूत प्रीति सुख रूप प्रथम ध्यान तथा वितर्क, प्रीति, और सुख के क्रमिक निरोध से प्राप्त द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान का परिणाम था (महा० पृ. ३६०–१०, ललित. २०[६३])। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद इसी बोधि-वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध एक सप्ताह भर मोक्ष-सुख का आनन्द लेते रहे।[६४] और इस समय वे प्रतीत्य समुत्पाद की अनुलोम-विलोम धारापर विचार-मन्थन करते रहे। सम्बोधि के बाद बुद्धघोष के अनुसार भगवान् ने सर्वप्रथम निम्नलिखित उद्‌गार व्यक्त किये—

अनेक जाति संसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं,
विसंङ्खारगतं चित्तं तण्हाणं खयमज्झगा॥[६५]

---

६१. संयुत, भा. १. पृ. १५६ सुत्तनिपात,३.२.८.

६२. हिस्ट्री आफ फिलासिफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, अ. १. पृ. १८६. ओरीजन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. ३८२. ललितविस्तर, मारधर्षणपरिवर्त : महावस्तु, पृ. ३६३–४.

६३. वेरंजक ब्राह्मणसुत्त (अंगुत्तर. ८.१.२.१)

६४. अथ खो भगवा बोधिरुक्खमूले सत्ताहं एकपल्लङ्केन निसीदि, विमुत्तिसुखं पटिसंवेदी, महावग्ग (महासन्धक १.१.१.) विनय के अनुसार यह समय चार सप्ताह का रहा। कही सात सप्ताह का भी उल्लेख आता है। ललित-विस्तर (पृ. २६६) में इस समाधि का नाम प्रीत्याहारव्यूह दिया है।

६५. धम्मपद. ११.८.६

महावग्ग और उदान में ये उद्गार इस प्रकार हैं—

यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा, आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स ।
अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा, यतो पजानाति सहेतुधम्मं ॥

ललितविस्तर (पृ. २५३) में कुछ और ही वचन इस प्रसंग मे उल्लिखित है-

छिन्नवर्त्मोपशान्तरजाः शुष्का आस्रवा न पुन' श्रवन्ति ।
छिन्ने वर्त्मनि वर्तत दु.खस्यैषोऽन्त उच्यते ॥[६६]

सम्बोधि-प्राप्ति के बाद भगवान् के मन मे "इस दुरनुबोध धर्म को समझने में संसारी जीव समर्थ होंगे" इस विषय मे सन्देह उत्पन्न हो गया—

किच्छेन मे अधिगतं हं' लं दानि पकासितुं ।
रागदोसपरेतेहि नायं धम्मो सुसंबुधो ॥
पटिसोतगामिं निपुणं गम्भीरं दुद्दसं अणुं ।
रागरत्ता न दक्खन्ति तमोखन्धेन आवटा ॥[६७]

ब्रह्मा ने भ. बुद्ध की इस विचारधारा को समझ लिया। उसने संसारी जीवों का पक्ष लिया और कहा कि आप धर्मप्रचार कीजिए, समझने वाले अवश्य मिलेंगे (ललित. पृ. २८६)।

उट्ठेहि वीर विजितसंगाम सत्थवाह अनण विचर लोके ।
देसेतु भगवा धम्मं, अञ्ञातारो भविस्सन्ती ति ॥[६८]

ब्रह्मयाचना के प्रतिफलस्वरूप बुद्ध ने अखिल लोक पर एक दृष्टि डाली और पाया कि जैसे तालाब मे कुछ कमल जल के अन्तर्गत रहते है, कुछ समोदक रहते है और कुछ अनुपलिप्त रहते है उसी प्रकार संसार में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी है और वे परलोक से भयभीत है।[६९] जीवो की इस स्थिति को

---

६६. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास पृ.५२

६७. महावग्ग १.१.५; यहाँ सम्बोधि के अनन्तर तपुस्स और भल्लिक के उपासक बनने का उल्लेख है और बाद में ब्रह्मयाचना का। परन्तु मज्झिमनिकाय मे यह उल्लेख नही। मात्र ब्रह्मयाचना का वर्णन वहाँ उपलब्ध है।

६८. ललितविस्तर, २८६–२९०.

६९. ललित विस्तर (पृ० २९२) मे ये तीनो प्रकार के कमल निम्न-लिखित तीन प्रकार के संसारियो की ओर इङ्गित करते हैं-मिथ्यात्व नियत-राशि, अनियतराशि और सम्यक्त्व नियतराशि। इनकी तुलना जैनधर्म में वर्णित जीवो के तीन प्रकारो से की जा सकती है—दूरानभव्य, अभव्य और भव्य।

देखकर बुद्ध ने धर्म देशना की स्वीकृति दी और कहा—

अपारुता तेसं अमतस्स द्वारा ये सोतवन्तो पमुञ्चन्तु सद्धं।
विहिंससञ्ञी पगुणं न भास धम्मं पणीतं मनुजेसु ब्रह्म॥

ब्रह्मयाचना के इस अध्याय पर विद्वानो मे मतैक्य नही। श्रीमती रिज डेविड्स ने इसे आध्यात्मिक विकास का प्रेरक माना।[७०] नलिनाक्षदत्त ने अतर्क्य निर्वाण के विषय मे मौन धारण व मात्र मार्गदेशना का सूचक कहा।[७१] गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने इसे महायान का आध्यात्मिक जन्म स्वीकारा।[७२] इन सबके अतिरिक्त यदि इसे सांसारिक प्राणियो की चेतना और शक्ति का अवबोध प्राप्त करने की मनःस्थिति का सूचक मान लिया जाय तो कही अधिक युक्ति-संगत है। क्योकि प्राणियो की प्रकृति भिन्न-भिन्न हुआ करती है और इसी भिन्नता को स्थूलतः यहाँ तीन वर्गों में विभाजित कर दिया गया है। इसी के आधार पर भ ने अपनी देशना दी है।

४. प्रथम धर्मदेशना

धर्मोपदेश करने का निश्चय करने के बाद प्रथम धर्मदेशना किसे दी जाय, इस सन्दर्भ मे बुद्ध ने आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त का स्मरण किया परन्तु इस समय तक वे काल कवलित हो चुके थे (ललित पृ. २९५)। उनके बाद उन्हे पञ्चवर्गीय भिक्षुओ का ध्यान आया जो उस समय ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ मे) ठहरे हुए थे। बुद्ध उनसे मिलने ऋषिपत्तन चल पडे। मार्ग मे उपक आजीविक मिला। उसने बुद्ध से कुछ प्रश्न किये जिन प्रश्नो का उत्तर भगवान् ने इस प्रकार दिया—

सब्बाभिभू लोकविदू हमस्मि सब्बेसु धम्मेसु अनूपलिप्तो।
सब्बं जहो तण्हक्खये विमुत्तो सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं॥ १॥
न मे आचरियो अत्थि सदिसो मे न विज्जति।
सदेवकस्मि नत्थि मे परिपुग्गल्लो इति॥ २॥[७३]

इसके बाद पञ्चवर्गीय भिक्षुओ से वाराणसी मे भ. की भेंट हुई। एक लम्बे विवाद के उपरान्त वे भिक्षु किसी तरह विश्वस्त हुए और उन्होने धर्मदेशना ग्रहण की। इसी को धर्मचक्रप्रवर्तन कहा गया है। इसका उल्लेख भारहुत, सारनाथ

ललित पृ. २९३.
७०. ओरिजनल गास्पिल इन बुद्धिज्म, पृ० १६
७१. अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भाग १, पृ० १००.
७२. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ०५३
७३. महावग्ग, १, १, ६.

और नागार्जुनीकोंडा के शिलालेखों में के हुआ है।[७४]

५. **संघनिर्माण**-पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने बुद्धदेशनासे अर्हत्व प्राप्त कर लिया। यही से बौद्ध भिक्षु संघ का निर्माण प्रारम्भ हुआ। वाराणसी में यश नामक श्रेष्ठि-पुत्र भी अपने ५४ मित्रों के साथ बौद्ध भिक्षु बन गया। बुद्ध ने इन सभी भिक्षुओं को धर्मप्रचार के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं मे भेजा और स्वयं उरुवेला की ओर गये। मार्ग में उन्होंने तीस भद्रवर्गीय कुमारों को दीक्षित किया। उरुवेला मे पहुँचकर अपने प्रातिहार्य के बल पर उरुवेला काश्यय, नदी काश्यप और गया काश्यप को पराजित किया। फलत: अपने शिष्यों के साथ उन्होंने बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण किया। तदनन्तर राजगृह मे बिम्बिसार को उपदेश दिया। उसने भिक्षु-संघ को वेणुवन भेंट किया। तदनन्तर कपिलवस्तु गये और वहा अन्य शाक्यो के साथ राहुल कुमार को भी प्रजित किया। कपिल-वस्तु से बुद्ध पुनः राजगृह आये। यहा पर श्रमण संजय के संघ मे सारिपुत्र और मौद्गल्यायन थे जिन्होंने बौद्ध भिक्षु अश्वजित से गौतम के उपदेशों का सार सुनकर धर्म परिवर्तन कर लिया। ये दोनो बाद मे अग्रश्रावक कहलाये। उपदेशमयी गाथा यह थी—

ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमनो॥[७५]

क्रमशः संघ बढता गया। अनुरुद्ध, भद्दिय, उपालि, आनन्द आदि जैसे कर्मठ व्यक्तित्व भी इस संघ में प्रविष्ट हुए। महिलाओं को भी आनन्द की कृपा से भिक्षु-संघ में प्रवेश मिल गया। बुद्ध की अन्तिम अवस्था तक संघपर्याप्त समृद्ध हो चुका था। उनके सिद्धान्तो ने जनमानस के सन्तप्त हृदयों में अनुपम शान्तिस्रोत प्रवाहित कर दिया था। भगवान् बुद्ध की महाकरुणा का यह फल था। नियमित रूप से दिन को पाँच भागो मे विभक्त कर उन्होंने धर्मप्रचार किया।[७६] गाँवो-गाँवो में जाकर एक नये धार्मिक और दार्शनिक अन्दोलन का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन को अधिकाधिक जनता के समीप लाने के लिए बुद्ध ने भिक्षुओ

---

७४. अर्ली बुद्धिज्म, पृ. ८. परवर्ती बौद्धधर्म के अनुसार बुद्ध ने तीन धर्म-चक्रप्रवर्तन किये थे। प्रथम सारनाथ में, द्वितीय गृध्रकूटपर्वत पर, और तृतीय धान्यकटक में। तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन बौद्ध तन्त्रशास्त्र के उद्गम के रूप में था।

७५. महावग्ग. १.४.२; E', IX, p. 291ff

७६. पंचविधानि बुद्धकिच्चानि पुरेभत्तकिच्चं, पच्छाभत्तकिच्चं, पुरिमयामकिच्चं, मज्झिमयामकिच्चं, पच्छिमयामकिच्चं, सुमंगलविलासिनी।

को सम्बोधित करते हुए कहा—भिक्षुओ! जितने भी मानुष और दिव्य बन्धन है, मैं उन सभी से विमुक्त हूँ। तुम भी सभी दिव्य और मानुष भोगो से विमुक्त हो जाओ। भिक्षुओ! बहुजन, हितार्थ बहुजन सुखार्थ, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओ! आदि मे कल्याण कारक, मध्य मे कल्याण कारक, अन्त मे कल्याण कारक इस धर्म का उपदेश करो। अर्थ सहित, व्यञ्जन सहित, केवल परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"[७७]

धर्मप्रचार के सन्दर्भ में महाप्रजापती गौतमी ने संघ मे मातृगाम (स्त्रियो) के प्रवेश का प्रश्न उपस्थित किया। प्रथमतः भगवान् सहमत नही हुए। परन्तु आनन्द की तर्कात्मक वाणी के फलस्वरूप उन्हे अपने विचार परिवर्तित करने पडे। अनेक महिलाओं को उपसम्पदा प्राप्त हुई। भिक्षुणिओं मे खेमा, पराचारा, सोणा, गौतमी, उत्पलवर्णा मुख्य थीं। बुद्ध के अनुगामियो में गृहस्थ पुरुष और महिला वर्ग भी था। इस प्रकार उनके संघ के चार आयाम हुए—भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिकायें।

६. वर्षावास—

महात्मा बुद्ध २९ वर्ष की अवस्था में सन्यासी हुए और लगभग ६ वर्ष के बाद बोधि प्राप्त की।[७८] ८० वर्ष की अवस्था मे उनका परिनिर्वाण हुआ। इस बीच उनके वर्षावास और विहारस्थल निम्न प्रकार से रहे—

१. वाराणसी, ऋषिपत्तन (वर्षावास),
२. गया, राजगृह (वर्षावास),
३. राजगृह (वर्षावास),
४. कपिलवस्तु, राजगृह (वर्षावास),
५. वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली (वर्षावास),
६. राजगृह, मंकुलपर्वत (वर्षावास),
७. त्रायस्त्रिंश लोक (वर्षावास),
८. श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली, सुंसुमारगिरि-चुनार (वर्षावास),
९. कौशाम्बी (वर्षवास),
१०. पारिलेम्पक वन (वर्षावास),

---

७७. संयुत्त. ४. १. ४.   ७८. महावस्तु, भा. २, पृ. ४०८

११. श्रावस्ती, नाला-नालन्दा (वर्षावास),

१२. कुरु कल्माषदम्य, मथुरा, वेरञ्ज (वर्षावास),

१३. प्रयाग, काशी, वैशाली, चालियपर्वत (वर्षावास),

१४. वैशाली, श्रावस्ती, साकेत, श्रापण श्रावस्ती (वर्षावास),

१५. कुसीनारा, कोसल, कपिलवस्तु, राजगृह, चम्पा,
कपिलवस्तु (वर्षावास),

१६. अलवी-कानपुर (वर्षावास),

१७. कौशाम्बी, राजगृह (वर्षावास),

१८-१९. चालिय पर्वत,

२०. चम्पा, सुम्हदेश (हजारीबाग जिला), राजगृह (वर्षावास),

२१. वैशाली, राजगृह, श्रावस्ती (वर्षावास),

२२—४५ वर्षावास श्रावस्ती मे हुए। इस बीच बुद्ध कोसल, कुरु, राजगृह, नालन्दा, सामगाम (शाल्मादेश), पावा, वैशाली, कुसीनारा आदि स्थानों पर विहार करते रहे।

४६. वैशाली (वर्षावास)। यह वर्षावास युक्ति-संगत प्रतीत नही होता। २९ वर्ष की अवस्था मे बुद्ध ने महाभिनिष्क्रमण किया, ३५ वर्ष की अवस्था मे उन्हे बोधिलाभ हुआ और ८० वर्ष की अवस्था मे वर्षावास से पूर्व वैशाखी पूर्णिमा को उनका परिनिर्वाण हुआ। इसलिए अंगुत्तर निकाय (२.४५) का यह कथन कि बुद्ध का ४६वाँ वर्षावास वैशाली मे हुआ, भ्रांतिपूर्ण प्रतीत होता है।

७—परिनिर्वाण

भगवान् बुद्ध लगभग ८० वर्ष की अवस्था तक धर्म प्रचारार्थ विहार करते रहे। महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार परिनिर्वाण के समय बुद्ध वैशाली के समीप वेलुवग्राम मे वर्षावास कर रहे थे। उस समय वे अत्यन्त रोगग्रस्त हो गये। आनन्द चिन्तातुर हुए। वेलुवग्राम से बुद्ध किसी प्रकार पावा पहुँचे। वहाँ चुन्द कम्मारपुत्त (स्वर्णकार) के घर 'सुक्कर मद्दव' (शूकर का मांस) के खाने से उन्हे मरणान्तक वेदना हुई। रक्तातिसार से वे पीड़ित हो गये। फिर भी उन्होने कुशीनगर की ओर प्रस्थान किया। बीच मे ही हिरण्यवती नदी पारकर शालवन में पहुँचते ही वे और अधिक अस्वस्थ हो गये। यह उनका अन्तिम समय था। आनन्द ने समय का उपयोग कर धर्म की भावी रीति-नीति के सन्दर्भ में अनेक प्रश्न पूछे जिनका समाधान भगवान् ने अपने सुलझे हुए ढंग से किया।

भगवान् के अन्तिम शब्द थे—

अलं आवुसो, मा सोचित्थ, मा परिदेवित्थ। ननु एतं आवुसो भगवता परिवच्चेव अक्खातं सब्बेहि' व पियेहि मनापेहि नानाभावो विनाभावो अञ्ञथाभावो, तं कुते'त्थ लब्भा ? यं तं जातं भूतं संखतं पलोकधम्मं तं वत मा पलुज्जी ति नेतं ठानं विज्जति। देवता आवुसो उज्झायन्ती ति। कथंभूता पन भन्ते आयस्मा अनुरुद्धो देवता मनसिकरोती ति ? सन्ता'वुसो आनन्द देवता पठविया पठविसञ्ञिनियो केसे पकिरिय कन्दन्ति—अतिखिप्पं भगवा परिनिब्बुतो...अन्तरहितो ति। या पन देवता वीतरागा ता सता संपजाना अधिवासेन्ति—अनिच्चा संखारा, तं कुते'त्थ लब्भा ति।[७९]

इसके बाद भगवान् बुद्ध ने ध्यान की क्रमिक अवस्थाओं की अनुभूति लेते हुए "वयधम्मा सरवारा अप्पमादेन सम्पादेथ" कह कर परिनिर्वाण में प्रवेश किया।

८. परिनिर्वाण काल—भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि आज भी विवादग्रस्त बनी हुई है। इस सन्दर्भ में विद्वानों में साधारणतः दो परम्परायें हैं—

१. एक परम्परा वह है जो ४८७–४७७ ई० पू० बुद्ध का परिनिर्वाण मानती है। और

२. द्वितीय परम्परा वह है जो ५४३–५४४ ई०पू० को बुद्ध का परिनिर्वाण काल मानने का आग्रह करती है।

प्रथम परम्परा—बुद्ध के परिनिर्वाण को ४८७–४७७ ई०पू० के बीच ठहराने वाली प्रथम परम्पराको मानने वालो मे कारपेन्टियर[८०], मेक्समूलर[८१] और जनरल ए०कनिंघम[८२] मुख्य हैं जो ओल्डनवर्ग[८३] ने ४८१ ई.पू. और स्मिथ[८४] ने

७९. महापरिनिब्बाणसुत्त

८०. IA, १९१४, पृ.१२६

८१. इन्ट्रोडक्शन टू दी धम्मपद, SBE पृ. X ii–X lii.

८२. बुक आफ इण्डियन एराज, पृ. ३४

८३. विनय पिटक, SBE. भाग XIII, पृ.२

८४. दे बुद्धिज्म, ii, पृ.६३

४८६ ई०पू०, कर्नने ४८८ ई० पू० और मुनि नगराज[८५]ने ५०२ई०पू० इस घटना को घटित बताया है। सिल्वेन लेवी[८६] ने चीनी लेखो के आधार पर ४८३ ई० बताया है। इसके सिद्धान्त के पोषक विद्वानों ने चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण ३२१ ई०पू० स्वीकार किया है। प्रथम परम्परा मे अन्य मतो की अपेक्षा यह मत अधिक मान्य प्रतीत होता है।

द्वितीय परम्परा—इस परम्परा मे सिहल और वर्मा की परम्परा आती है जो बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४–५४३ ई०पू० में हुआ मानते है। इसके अतिरिक्त उत्तर भारतीय परम्परायें कुछ और ही है। कनिघम ने लिखा है कि ह्यूनसांग (६३०–६४५ A.D.) के समय उत्तर भारत मे बुद्ध के परिनिर्वाण के विषय मे अनेक परम्परायें थी। इन परम्पराओ में २५०, ३५०, ५५०, ६५० और ८५० ई०पू० मे बुद्ध का परिनिर्वाण मानने वाली परम्परायें मुख्य हैं।[८७] फाह्यान भी ७७०–७१६ ई. पू. मानता है। ऐसी कुछ और भी परम्परायें हैं जो ६५६–६३३ ई.पू. तथा ११५६ ई० अथवा ११८० ई० को बुद्ध का परिनिर्वाण काल ठहराती है।

इन परम्पराओं मे सिंहल और वर्मा की परम्परा को छोड़कर अन्य कोई भी परम्परा विश्वसनीय नही है। महावंस के अनुसार पराक्रमबाहु प्रथम भ. बुद्ध के परिनिर्वाण के १६९६ वर्ष बाद राज्याभिषिक्त हुआ है। सिंहल परम्परा पराक्रमबाहु प्रथम का राज्याभिषेक काल ११५३ ई० मानती है। अतएव बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४ ई.पू. (१६९७–११५३) होना चाहिए।[८८] इस परम्परा का समर्थन दक्षिण भारतीय शिलालेखो से भी होता है। अनुराधापुर में प्राप्त शिलालेख भी इस परम्परा का समर्थन करता है।[८९]

यह भी यहाँ उल्लेखनीय है कि विक्रमसिंह[९०] व सेनारत्ने[९१] जैसे कुछ

---

८५. भगवान महावीर और बुद्ध की समसामयिकता, अनेकान्त, १९६३

८६. JAS. १९००, पृ.३१६

८७. ह्यूनसांग, , ३३५.

८८. गायगर, महावंस भूमिका पृ.XXIX

८९. UCR. भाग १८, नं० ३–४ पृ.१३१

९०. एपिग्राफिया जेलनिका भाग१, पृ.७९–८०, १२२–१२४, १५५–१५७

९१. डेट आफ बुद्धाज़ डेथ एण्ड सीलोन क्रोनॉलाजी, JRAS. भाग २३, नं० ६७, १९१४, पृ. १४३

विद्वानो ने ४८३ ई. पू. को ही सिंहल परम्परा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनके तर्कों का उत्तर Hultzsch ने भलीभाँति दे दिया है।[९२] अभयसिंघे ने भ. महावीर के प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम को भ. बुद्ध मानकर उनका परिनिर्वाण ५४४ ई.पू. में बताया है।[९३] यह स्पष्टतः उनकी भूल है। इन्द्रभूति गौतम गणधर और महात्मा गौतमबुद्ध दोनों व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् है।

उक्त दोनो परम्पराओं में सिंहल और बर्मा की परम्परा पर विश्वास अधिक ठहरता है। त्रिपिटक व जैनागमो में आये हुए उल्लेखो के आधार पर भी बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४–५४३ ई.पू. निश्चित किया जा सकता है। और चूंकि वे अस्सी वर्ष की अवस्था तक (अठीतितरो मे वयो वत्तति) धर्मदेशना करते रहे इसलिए उनका जन्म ६२४–६२३ ई. पू. माना जाना युक्ति संगत है।

भ. महावीर का परिनिर्वाण भी विवादग्रस्त है। पर अब अधिकांश विद्वान इस घटना का काल ५२७ ई. पू. मानने को सहमत हो गये है। इस प्रकार महावीर बुद्ध से लगभग १६ वर्ष बाद परिनिर्वृत हुए। इस सन्दर्भ मे त्रिपिटक में महावीर के निर्वाण का उल्लेख या तो प्रक्षिप्त होना चाहिए अथवा उसे गोशाल का निर्वाण-प्रसंग माना जाना चाहिए। मुनि नगराज जी का मत है कि बुद्ध का परिनिर्वाण ५०२ ई. पू. होना चाहिए[९४]। पर उसे युक्तिसंगत नही माना जा सकता। उन्होने सम्बद्ध उल्लेखों का जो भी विश्लेषण किया है वह बिलकुल समीचीन नही कहा जा सकता। अभी उस पर और भी चिन्तन आवश्यक है।

---

९२. वही, पृ. २५३

९३. JA. भाग. ११ पृ. २४६

९४. आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन, पृ. ४७–१२८

परिवर्त - २

सम्प्रदाय, साहित्य और आचार्य

प्रथम संगीति

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त उनके प्रधान शिष्यों के समक्ष यह समस्या उठ खडी हुई कि बौद्धधर्म किस प्रकार जीवित रखा जाय। आनन्द के पूछने पर भी बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी किसी को नही बनाया। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए 'धम्मदायाद' होने की इच्छा अवश्य व्यक्त की थी। बुद्ध के न होने पर इस 'धम्म' की व्याख्या अपने अपने अनुकूल न होने लगे, यह शंका पैदा हो गई थी। "अलं आवुसो! मा सोचित्थ! मा परिदेवित्थ! सुमुत्ता मयं तेन महा समणेन। उपद्दुता च होम। इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पतीति। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम"। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम।"[1] जैसे कथन सुभद्र जैसे स्वच्छन्दतावादी भिक्षुओ द्वारा व्यक्त किये जाने लगे थे। इस स्थिति का परिज्ञान कर धर्म और विनय के संगायन के लिए एक संगीति बुलाने का निश्चय हुआ।

राजगृह से अधिक उपयुक्त स्थान और क्या हो सकता था। बैसाख पूर्णिमा को बुद्ध-परिनिर्वाण हुआ था। उसके बाद चतुर्थ माह मे अर्थात् श्रावण माह मे ५०० भिक्षु वैभार गिरि पर स्थित सप्तपर्णी गुफा में एकत्रित हुए।[2] आनन्द उसी समय अर्हत् अवस्था प्राप्त कर संगीति मे सम्मिलित हुए और सुत्तपिटक के मुख्य संगायक बने। गवांपति और पुराण की घटनाओं—मत-भेदो से यह अधिक सम्भावित है कि इस संगीति के निर्णय एकमत से नही हुए होगे। संघभेद का प्रारम्भिक सूत्र यही से प्रारम्भ हो जाता है।

प्रथम संगीति का उल्लेख चुल्लवग्ग, दीपवंस, महावंस, सुमंगलविलासिनी, महाबोधिवंस, महावस्तु, मञ्जुश्रीमूलकल्प, तारानाथ का बौद्धधर्म का इतिहास, तथा चीनी संस्कृत ग्रन्थो—महीशासक, धर्मगुप्त, महासाङ्घिक, सर्वास्तिवादिन्, काश्यपसंगीतिसूत्र, अशोवकावदान, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, परिनिर्वाणसूत्र और ह्यूनसाग के रिकार्ड—मे मिलता है।

---

१. महापरिनिब्बाणसुत्त, दी. २. ३.

२. महावंस, २-२

जहाँ तक इस संगीति की प्राचीनता का प्रश्न है सर्वप्रथम १८८७ मे रूसी विद्वान् मिनयेफ (Minayeff) ने एतत्सम्बन्धी प्रमाणो का परीक्षण कर इस घटना को ऐतिहासिक घटना के रूप मे स्वीकार किया[1]। ओल्देन वर्ग ने १८९८ मे इसका खण्डन किया और कहा कि प्रथम संगीति मात्र कल्पनाजाल है क्योंकि महापरिनिव्वाणसुत्त मे सुभद्र प्रकरण का कोई उल्लेख नहीं।[2] राकहिल ने तिब्बती सूत्रो से प्रथम संगीति की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न किया।[3] परन्तु रिज डेबिड्स[4] फ्रेके,[5] सुकुमारदत्त[6] आदि विद्वानो ने ओल्देन-वर्ग के मत का ही समर्थन किया।

ये सभी मत सुभद्र का उल्लेख महापरिनिव्वाणसुत्त मे न होने पर आधारित है। वस्तुतः महापरिनिव्वाणसुत्त का सम्बन्ध बुद्ध के परिनिर्वाण की घटना के वर्णन करने से है, न कि बौद्धसंघ के इतिहास का दिग्दर्शन करने से। यद्यपि विनय सघ से सम्बद्ध है अत: उसका उल्लेख होना चाहिए परन्तु हम उसे मापदण्ड बनाकर नही बैठ सकते। अन्यथा दीपवंस और तिब्बती दुल्वा मे निर्दिष्ट प्रथम सगीति का वर्णन सुभद्र का उल्लेख न होने के कारण अस्वीकार्य हो जायगा। फिनाट (Finot)ने चुल्लवग्ग के ग्यारहवें और बारहवें अध्याय को प्रक्षिप्तांश बताया और यह कहा कि महापरिनिव्वाणसुत्त और चुल्लवग्ग के ये दोनो अध्याय परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए। इसके समर्थन मे उन्होने मूल सर्वास्तिवादियो के विनय 'संयुक्त वस्तु' का उल्लेख किया जहाँ परिनिर्वाण और संगीति, दोनो का उल्लेख उपलब्ध है।[7] ओबरमिलर,[8] पूसें,[9] प्रिलुस्कि[10] और याकोवी[11] ने

---

१. दी रिसर्चेज सर ले बौद्धिज्मे, १८८७, रसियन से फ्रेन्च मे अनूदित, १९२४।

२. बुद्धिस्तिस्केस्तुदिथन, ZDMG., १८९८, पृ. ६१३-६२४। प्रस्तावना (विनयपिटक), भाग १, पृ.२५–२९।

३. दी लाइफ आफ़ दी बुद्ध, पृ. ७

४. दी बुद्धिस्ट सुत्ताज्, प्रस्तावना, SBE. भाग. ४०. पृ. १३।

५. J.p.T.S, १९०८, पृ. १-८०।

६. दी बुद्ध एण्ड फाइव आफटर सेन्चुरीज्-पृ.१०२

७. दत्त, एन., अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भाग १, पृ. ३३७; IHQ Viii, पृ० २४१-६.

८. IHQ भाग. ८, पृ.७८१-४।

९. ले माउसिन, वि. पृ. २१३,२२३; इण्डियन एण्टिक्वेरी मे उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित, १९०८।

१०. ले कौंसीय द राजगृह।

११. ZDMG. भा. ३४, सन् १८८०, पृ. १८४।

भी इसका समर्थन किया।

उक्त प्रमाणो के आधार पर प्रथम संगोति की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का साहस हम मे नही है। और फिर गवांपति एवं पुराण के कथनो मे बुद्ध-वचनो की ऐतिहासिकता स्वयंसिद्ध है।[१२]

प्रस्तुत संगीति मे धम्म और विनय तथा सुमंगलविलासिनी (निदान-कथा) के अनुसार अभिधम्म का भी संगायन हुआ था, यह स्वीकार करना सम्भव नही। पूसे ने इस संगीति को पातिमोक्ख[१३] असेम्बली कहा और नलिनाक्ष दत्त ने इसे क्षुद्रक विनय नियमों (खुद्दकानुखुद्दकानि सिक्खापदानि) को विनिश्चित करने के लिए आहूत परिषद् माना। दीपवंस और स्पष्ट वर्णन प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार आनन्द, उपालि और कुछ अन्य शिष्यो ने इस संगीति को सम्पन्न किया और धम्म और विनय का संगायन किया। यहाँ धम्म और विनय का सम्बन्ध कुछ थोड़े से मूलसुत्तो से होना चाहिए, न कि समूचे पालि त्रिपिटक से।

द्वितीय संगीति

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष बाद (वस्ससतपरिनिब्बुते भगवति) द्वितीय संगीति वैशाली मे हुई। इसे 'सप्तसतिका' भी कहा गया है। इसके आयोजन की पृष्ठभूमि मे कुछ भिक्षुओ द्वारा विनय-विपरीत आचरण-मार्ग का अभ्यास था। यश ने देखा कि तथाकथित बौद्ध भिक्षु सिंगिलोणकप्प, द्वंगुल-कप्प, गामान्तरकप्प, आवासकप्प, अनुमतिकप्प, अचिण्णकप्प, अमथितकप्प, जलोगीयान, अदसक निसिदन और जातरूपरजतग्रहण इन दस वस्तुओ को स्वीकार करने लगे है। यह नियमविरुद्ध आचरण संघ को दूषित कर देगा। इस प्रकार के अपने विचार व्यक्त करने पर उसे परिसारणीयकम्म का दण्ड दिया गया। यक्ष के प्रयत्न से रेवत थेर की अध्यक्षता में यह संगीति बुलायी गई। यहां भिक्षुओ मे दो दल स्पष्टत: दिखाई देने लगे—एक पाचीनक जो दस-वस्तुओ के ग्रहण करने के पक्ष मे थे और दूसरा पावेय्यक जो इनके विपरीत था। संगीति ने दस वस्तुओ को ग्रहण करना विनय विपरीत माना। फलस्वरूप एक पृथक् ही महासंगीति का निर्माण हो गया।[१५] विनीतदेव के अनुसार इस

१२. उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ८७—८८

१३. देखिये; अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भा. १, पृ. ३३६।

१४. अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, भा. १ पृ. ३३६.

१५. दीपवंस, ५-३० मे महासंगीति नाम है और महावंस, पृ. ३-४ मे इसे महासांघिक कहा गया है।

संगीति का मूल कारण महादेव (१३७ बुद्धाब्द) द्वारा मान्य पाँच वस्तुएँ थी—अर्हंतों मे भी राग हो सकता है, उनमें अज्ञान बने रहने की सम्भावना है, वे संशयापन्न भी हो सकते है, दूसरे के द्वारा वे ज्ञान प्राप्त भी कर सकते है और अचानक मात्र शब्दोच्चारण से मार्ग की प्राप्ति हो सकती है। सम्भव है, ये शङ्काएँ सामान्यतः तथाकथित अर्हंतों के सन्दर्भ मे उठायी गई है[१६]।

द्वितीय संगीति का उल्लेख हमे चुल्लवग्ग–विनयपिटक दीपवंस, महावंस, समन्तपासादिका, ह्यूनसाङ्ग के पश्चिमी देशो के रिकार्ड्स, तिब्बती दुल्वा आदि में मिलता है। थोडा-बहुत अन्तर होने के बावजूद ये सभी उल्लेख चुल्लवग्ग पर आधारित है।

इस संगीति की ऐतिहासिकता अब निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो चुकी है। कर्न ने पहले बुद्धिस्टिक स्टडीज में इसे कल्पनाजन्य माना पर बाद मे मेन्युल-आफ़ बुद्धिज्म मे उनका सन्देह दूर हो गया। ओल्डेनवर्ग ने इसे सर्वाधिक सत्य घटना कहा (विनय पिटक, भूमिका, पृ. २९)। इस समय तक बौद्ध संघ के पास विनय का कोई प्रारूप अवश्य रहा होगा जिसके आधार पर इस संगीति मे निर्णय लिये गये।

तृतीय संगीति

बुद्ध के समय तक आतें-आते बौद्धधर्म अपेक्षाकृत सरल हो गया था। अनेक भिक्षु भिक्षु के नाम से उपदेश देने लगे थे और मठाधीश बन गये थे। इस स्थिति मे विनय नियमों में शैथिल्य आना और उपोसथ एवं पारणा न होना स्वाभाविक था। अशोक ने यह आचारगत शिथिलता दूर करने का यथाशक्य प्रयास किया। तृतीय संगीति इसी भूमिका के साथ पाटलिपुत्र मे मोग्गलिपुत्ततिस्स थेर की अध्यक्षता मे हुई थी। इसका उल्लेख दीपवंस, महावंस, समन्तपासादिका, तिब्बती दुल्वा और कुछ चीनी साहित्य में मिलता है। परन्तु चुल्लवग्ग और अशोक के शिलालेख इस विषय में मौन हैं।

मिनयेफ, कीथ, फ्रन्के आदि विद्वानो ने इस संगीति की ऐतिहासिकता के विषय में सन्देह व्यक्त किया है क्योंकि चुल्लवग्ग जैसे प्राचीन ग्रन्थ में इसका उल्लेख भी नही। पर यह विचार अब किसी को मान्य नही। सम्भव है स्थविरवादा भिक्षुओ ने इसे अपनी ही संगीति मानकर उल्लेख करना आवश्यक न समझा हो। जहाँ तक अशोक के शिलालेखो में इसका उल्लेख न होने का प्रश्न है यह सही नहीं। अशोक ने संघ से कुछ भिक्षुओ के निष्कासन की बात

१६. पाउसन, "फाइव प्वांट्स आफ महादेव एण्ड दी कथावत्थु", JRAS, १९१०, पृ. ४१३-२२; अर्ली बुद्धिज्म पृ., ११-२.

अपने शिलालेख में की है।[१७] मोग्गलिपुत्त तिस्स को अधिक महत्व देने के लिए भी संभवतः अशोक ने इस विषय में स्वयं को बाहर रखा हो। संगीति का मुख्य उद्देश्य तत्काल में प्रचलित १७ सम्प्रदायो का निराकरण और स्थविरवाद का प्रस्थापन था। मोग्गलिपुत्ततिस्स ने कथावत्थु की रचना कर यह काम पूरा किया। सम्भवत. अभिधम्मपिटक का संकलन इसी संगीति का परिणाम रहा हो। विदेशो मे बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भिक्षुओ को भेजे जाने का निश्चय करना इस सगीति की बड़ी भारी देन बौद्ध संस्कृति को सिद्ध हुई है।

अन्य संगीतियां

इन तीन संगीतियो के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न समय पर कुछ और संगीतियाँ हुई। ई०सन्१०० मे चतुर्थ संगीति कनिष्क ने बुलाई थी। सिहल परम्परानुसार श्री लंका मे तीन संगीतियाँ हुई—प्रथम सगीति अरिट्ठ थेर की अध्यक्षता मे देवानंपियतिस्स के काल (२४७-२०७ ई. पू.) मे हुई। द्वितीय संगीति महाथेर रक्खित के तत्वावधान मे वट्टगामिनि अभय (१०१—७७ ई.पू.) के काल मे हुई और तृतीय संगीति महाथेर हिक्कडुवे सिरि सुमंगल के सभापतित्व में १८६५ ई० मे हुई। इसी प्रकार थाइलेण्ड और वर्मा की भी कुछ अपनी परम्परायें हैं। पञ्चम संगीति जो माण्डले (श्रीलंका) मे हुई उसका विशेष महत्व इसलिए है कि स्थायित्व की दृष्टि से समूचा पालि त्रिपिटक संगमरमर पत्थर पर उकेरा गया। और छठवी संगीति अभी १९५४ में रंगून मे हुई थी। इन सभी का उद्देश्य पालि त्रिपिटक का संरक्षण करना था।

संघ प्रकार

बुद्ध ने प्राचीन परम्परानुसार अपने संघ का निर्माण किया और उसके चार भेद किये—उपासक, उपासिकायें, भिक्षु और भिक्षुणियां। यद्यपि उन्होंने विशेष ध्यान भिक्षु और भिक्षुणियो के बनाने मे लगाया पर उपासकों को भी वे उद्बोधित करते हुए दिखाई देते हैं। तपस्सु और मल्लिक ऐसे ही उपासकों मे अग्रण्य थे। बुद्ध मूलतः अपने धर्म को साधारण जन तक पहुँचाने के पक्ष में नहीं थे परन्तु ब्रह्मयाचना के परिणामस्वरूप वे इसके लिए तैयार हो गये। इसी प्रकार वे पांसुकूलचीवर, रुक्खमूल सेनासन, पूतिमुत्तभेसज और पिण्डियालोप भोजन जैसे नियमो के निर्माण तथा बुद्ध विहारादि को आवास रूप में स्वीकार करने

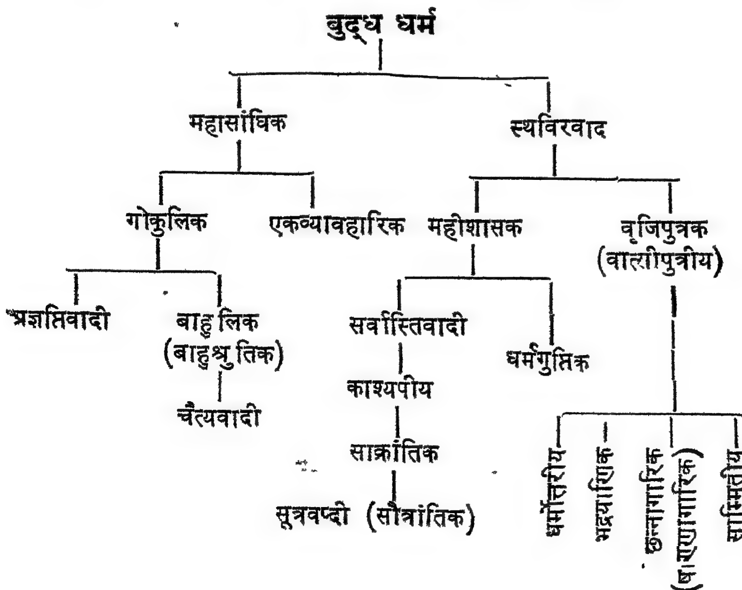
---

१७. कार्पस इन्सक्रिप्सन इण्डिकेरम्, भाग १, ऑक्सफ़ोर्ड, १९२५. पृ, १६०

के लिए तैयार नही थे। परन्तु जैसे जैसे संघ के चतुर्विधप्रकारों में वृद्धि होती गई, आवश्यकता तदनुरूप बढ़ती गई। फलतः वेणुवन जैसे उद्यानो को ग्रहण किया गया और लोग, विहार, प्रासाद, गुहा उद्यान आदि को निवास एवं ध्यान योग्य माना गया। इस सन्दर्भ मे देवदत्त का आग्रह कठोर चर्या के निर्धारण के लिए न चल सका। आनन्द के प्रयत्नों से भिक्षुणी संघ की भी स्थापना हो गई। पर कौशाम्बी भिक्खुओ की नियमो के प्रति आपत्ति और अनापत्ति तथा देवदत्त की नियमो के प्रति अवहेलना संघभेद का प्रमुख कारण बनी।

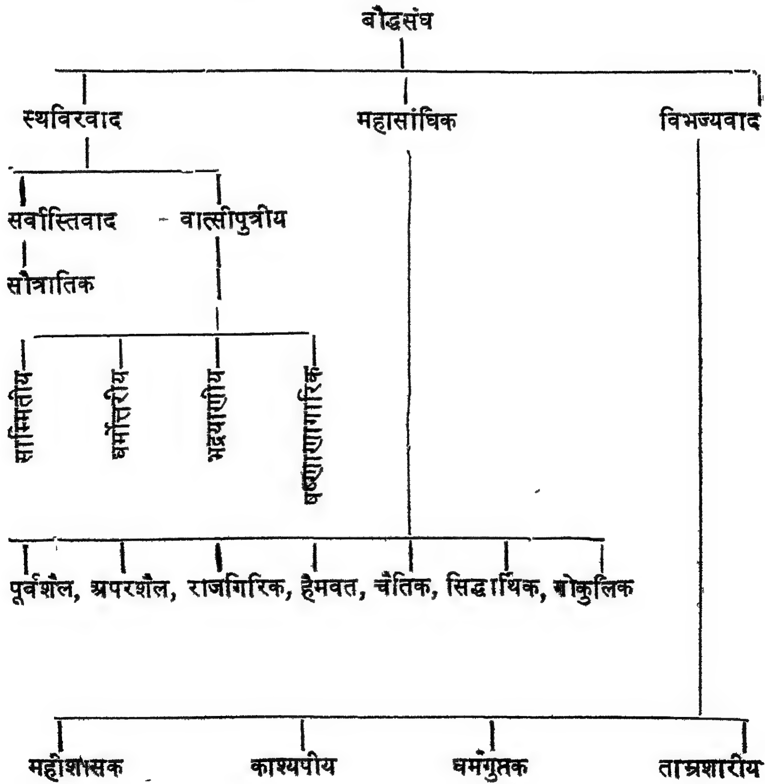
सम्प्रदाय

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद हुई तृतीय संगीतिमें उनके द्वारा प्रवेदित मूल बौद्धधर्म के खोजने का प्रयत्न हुआ और जो खोजा गया-निर्धारित किया गया उसे थेरवाद की संज्ञा प्रदान कर दी गई। शेष १७ सम्प्रदायो को थेरवाद या स्थविरवाद परम्परा के विपरीत उठे हुए भ्रष्ट सम्प्रदाय मानकर उनका खण्डन किया गया। वस्तुतः यह संघभेद द्वितीय संगीति से अधिक स्पष्ट हो गया था और तृतीय संगीति तक आते-आते उनका लगभग पृथक् अस्तित्व ही सिद्ध हो गया। उनमे महामांघिक सम्प्रदाय थेरवाद के विरुद्ध उदित सम्प्रदायों में प्रधान था। कथावत्थु की अट्ठकथा और महावंस (५-४-१०) में तत्कालनी



अठारह सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार दिये गये है[१८]।

इसके अतिरिक्त महावंस और दीपवंस मे कुछ और सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है—हेमवत, राजगिरिय, सिद्धत्थक, पुव्वसेलिय, अपरसेलिय और वाजिरिय। कथावत्थु अट्ठकथा मे उत्तरापथक, हेतुवादी, एवं वेतुल्लक का भी नाम आता है। निकाय संग्रह के अनुसार तृतीय संगीति के फलस्वरूप पृथक् किये गये सम्प्रदाय महासाधिक सम्प्रदाय के नेतृत्व मे एक हो गये और धीरे-धीरे इन सम्प्रदायों मे विभक्त हो गये। इनमे वेतुल्यक, अन्धक, और अन्य महासांधिक और जुड् गये।



१८. सांकृत्यायन, राहुल, पुरातत्व निबन्धावली, पृ. ६८

अष्टादशनिकाय[१९] (वसुमित्र प्रणीत) मे भी ये ही नाम है। मात्र अन्तर यह है कि उक्त तालिका में बाहुलिक नाम दिया है जबकि यहाँ लोकुत्तरवादी लिखा है। शारिपुत्रपरिपृच्छासूत्र के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण से द्वितीय शताब्दी मे महासांघिक सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई, एवं उनसे एकव्यावहारिक, लोकोत्तर-वादी, कौक्कुलिक, बहुश्रुतिक एवं प्रज्ञप्तवादी सम्प्रदाय निकले। निर्वाण से तृतीय शताब्दी मे वात्सीपुत्रीय एवं सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय उदित हुए। वात्सीपुत्रीयो से धर्मोपक, भद्रयानिक, सम्मतीय, एवं षण्णागरिक सम्प्रदायो का जन्म हुआ। सर्वास्तिवाद से महीशासक, धर्मगुप्तक एवं सुवर्षक निकाय निकले। स्थविरो से ही काश्यपीय एवं सूत्रवादी उत्पन्न हुए। संक्रान्तिको की उत्पत्ति स्थविरवाद के क्रोड से ही निर्वाणकी चतुर्थ शताब्दी मे हुई।[२०]

भव्य की द्वितीय सूची मे महासांघिक सम्प्रदाय की उत्तरकालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

भव्य की प्रथम सूची काश्मीरक सर्वास्तिवादियो की परम्परा को और तृतीय सूची, सम्मतीय परम्परा को सूचित करती है। इन तीनों सूचियों मे पर्याप्त मतभेद दिखाई देते है। महाव्युत्पत्ति मे एक अन्य प्रकार का ही विभाजन मिलता है—[२१]

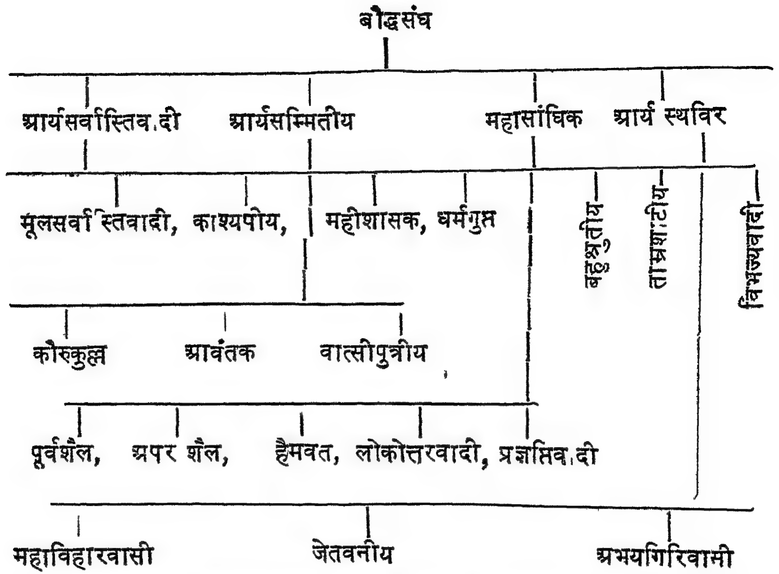
दीपवंस-महावंस के अनुसार मूलनिकाय थेरवाद से महासांघिक की उत्पत्ति हुई। महासांघिक से एकव्यावहारिक, गोकुलिक, प्रज्ञप्तिवादिन्, बाहुलिक, और चैत्यवादी हुए, और थेरवाद से महिंसासक, वात्सोपुत्रीय (वज्जिपुत्तक), सर्वास्ति-वादी, काश्यपीय, सांक्रांति, सौत्रातिक, धम्मगुप्तिक, धर्मोत्तरीय, छन्नागारिक, भद्र-यानिक और सम्मितीय निकायों की उत्पत्ति हुई।

---

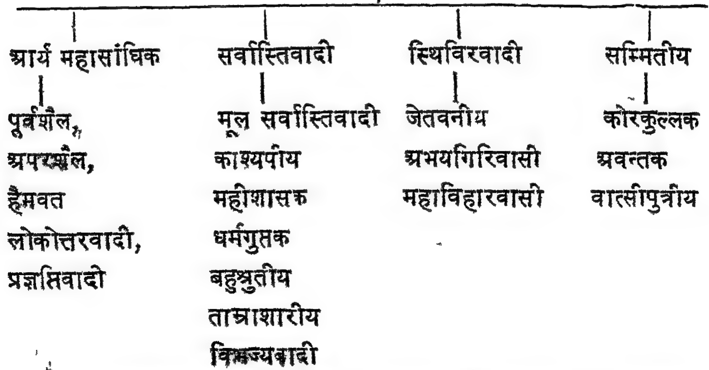
१९. राहुल साकृत्यायन, अभिधर्मकोश, भूमिका, पृ.५, विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, भूमिका, पृ-१-२. बौद्धधर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १ पृ. ५५१,

२०. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास; पृ. १७७

२१. महाव्युत्पत्ति (वेशिहारा द्वारा सम्पादित) पृ. २३४- बौद्धधर्म के विकास का इतिहास. पृ-१८०



विनीतदेव ने संघ–सम्प्रदायभेद के सन्दर्भ मे सर्वास्तिवादी परम्परा का उल्लेख किया है—[२२]



डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने बौद्ध निकायों की वंशावली को कालक्रम का निर्देशन करते हुए उपसंहार किया है। साधारणतः उनका उपसंहार तर्कसंगत माना जा सकता है। वह इस प्रकार है—[२३]

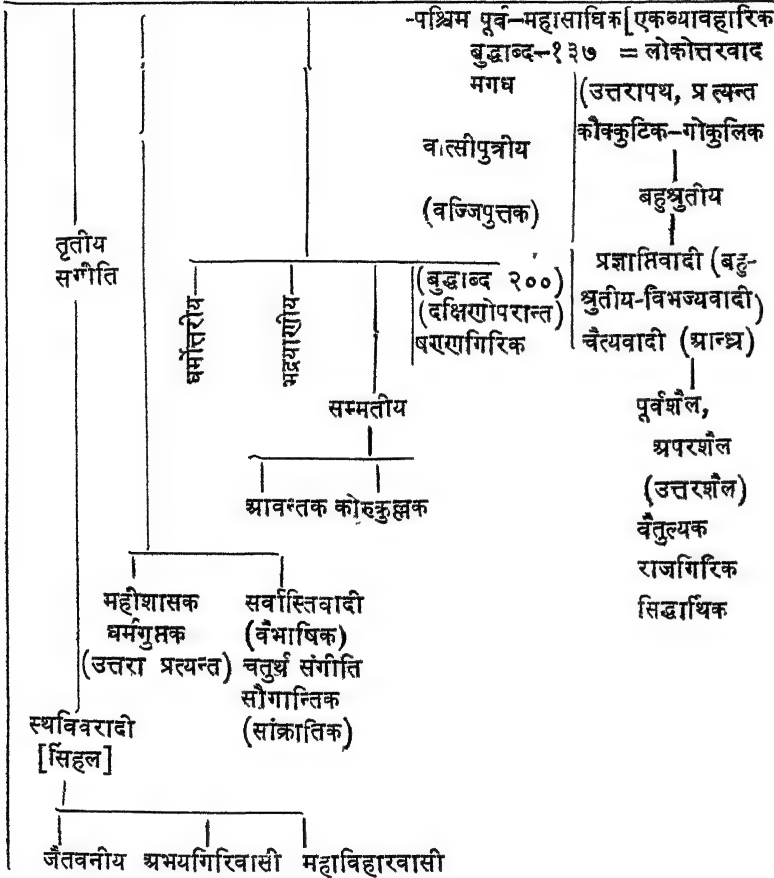
२२. बारो, पृ. २०

२३. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. १८८.

बुद्धशासन (देवदत्त का प्रयत्न)

(परिनिर्वाण, राजगृह की संगीति, गवाम्पति एवं पुराणका मतभेद, वैशाली की संगीति

स्थविरो की पश्चिमी शाखा-बुद्धाब्द१००



काश्यपीय
(हैमवत ?)

इस प्रकार बौद्ध संघ के प्रमुख निकाय चार थे-महासांघिक, वात्सीपुत्रीय, स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी। शिलालेखों मे थेरवाद (विभज्जवाद), महीशासक, श्रावस्तीवाद, काश्यपीय, सौत्रान्तिक, धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक, वात्सीपुत्रीय, सम्मतीय, हैमवत, महासांघिक, बहुश्रुतीय, चैत्यवाद, राजगिरीय,

सिद्धत्थक, पूर्वशैल और अपरशैल निकायो का उल्लेख आता है। इनमे स्थविरवाद और महासंघ निकाय अधिक महत्वपूर्ण है[२४]।

स्थविरवाद—बौद्धधर्म का यह मूल सम्प्रदाय है। बुद्ध परिनिर्वाण के लगभग २०० वर्ष बाद इस सम्प्रदाय से पुद्गलवादी वज्जिपुत्तक (वात्सीपुत्रीय) नाम की शाखा स्थापित हुई जिससे कालान्तर मे धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, षण्णागरिक एवं सम्मितीय नामक अन्य प्रशाखाओ ने जन्म लिया। इनमे सम्मितीय प्रशाखा अधिक विश्रुत हुई। इस सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र कौशाम्बी, मथुरा एवं अवन्ती थे।

महासंघ—स्थविरवाद से सर्वप्रथम पृथक् होने वाला यह सम्प्रदाय माना जाता है। वैशाली संगीति के फलस्वरूप इसका जन्म हुआ। वैशाली और पाटलिपुत्र मे इसके प्रारम्भिक केन्द्र थे। बाद मे आन्ध्र मे इसका पल्लवन हुआ। कालान्तर मे इस सम्प्रदाय से कौक्कुटिक, चैत्यवादी आदि सम्प्रदाय खडे हुए। चैत्ययवादियो से पूर्वशैल, अपरशैल, वैतुल्यक राजगिरिक और सिद्धार्थिक शाखायें जन्मीं। चैत्य के सन्दर्भ मे मतभेद इस विभाजन का कारण रहा होगा। महासंघ को एक व्यावहारिक अथवा लोकोत्तरवाद भी कहते हैं। बुद्ध की लोकोत्तरता बोधिसत्व की कल्पना और धर्मदेव के अनुसार अर्टन्दु का स्वरूप महासंघ के प्रधान सिद्धात हैं। त्रिपिटक के अतिरिक्त संयुक्तपिटक और धारिणीपिटक को भी ये सम्प्रदाय मानते है। महावस्तु इनका प्रधान ग्रन्थ है। यही सम्प्रदाय महायान का जन्मदाता है। मगध और आन्ध्र इसके विशेष महत्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं।

वात्सीपुत्रीय—स्थविरवाद का यह तृतीय मुख्य सम्प्रदाय था जो बुद्ध परिनर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष बाद आवर्भूत हुआ। बाद मे इसी से सम्मितीय निकले। और सम्मितीयो म से आवन्तक और कुरुकुल्लक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय से ही धर्मोत्तरीय भद्रयाणीय और षण्णगरिक परम्पराओं का उद्भव हुआ। कथावस्तु मे इन सब सम्प्रदायों के दार्शनिक मतभेद मिलते हैं।

सर्वास्तिवाद—स्थविरवाद की यह चतुर्थ शाखा थी जिसकी उत्पत्ति वात्सीपुत्रीयों के बाद हुई। परम्परानुसार कनिष्क के काल मे सर्वास्तिवादियो की संगीति हुई थी जिसमे अभिधर्म महाभाषा का प्रणयन किया गया। विभाषा के अनुयायी ही वैभाषिक कहलाये। कालान्तर मे वैभाषिक भी दो भेदो में विभक्त हो गये—काश्मीर वैभाषिक और पाश्चात्य वैभाषिक। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय अभिधर्म पिटक को विशेष रूप से मानता था।

---

२४. शास्त्री, अजय मित्र, अर्ली बुद्धिज्म, पृ. ६६

सुत्तपिटक को मानने वाला सम्प्रदाय सौत्रान्तिक कहलाया । प्राचीन शास्त्रों मे हीनयानी सम्प्रदायो मे वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायो की ही चर्चा आती है। काश्मीर और मथुरा के वैभषिको मे भेद प्रदर्शित करने के लिए काश्मीरी वैभाषिकों को मूल सर्वास्तिवादी भी कहा गया ।

महायान

महासाघिक सम्प्रदाय से संक्रमित होता हुआ बौद्धधर्म महायान की सीमा तक पहुँचा । भगवान् बुद्ध के रूपान्वित भौतिक काय को महासाघिकों ने विशुद्ध माना और उनके व्यक्तित्व को लोकोत्तर स्वीकार किया । भक्ति के प्रवाह के साथ–साथ बुद्ध की अलौकिकता, महापुरुषलक्षणों की विशेष रूपता बुद्ध सख्या, प्रतिमा लक्षण, बोधिसत्व की माहात्म्य बुद्धि, पारमिता, प्राप्ति त्रिकाय सिद्धान्त, लौकिक धर्मो मे प्रज्ञप्तिमात्रत्व आदि तत्वो मे विकास होने लगा । संकोर्णता के दायरे से हटकर महायान ने सर्वाधिक विस्तृत दृष्टिकाण अपनाया । फलतः वे स्वय महायानी कहलाने लगे और दूसरे को हीनयानी नाम दे दिया । गाविन्द चन्द्र पाण्डेय ने महायान के इतिहास को तीनयुगो मे निर्धारित किया है—(१) बीजकाल–तथागत की सम्बोधि से वैतुल्यको तक, (२) सूत्रकाल–ई०पू० प्रथम शताब्दी से ई. तृतीय शताब्दी तक, और (३) शास्त्रकाल–नागार्जुन से परवर्ती ।[२५]

महायान की दो शाखायें हुई—माध्यमिक (शून्यवाद) और योगाचार (विज्ञानवाद) । मध्यमिक शाखा के पुरस्कर्ता है शून्यवादी आचार्य नागार्जुन और योगाचार के प्रवर्तक है अचार्य मैत्रेयनाथ । वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग के द्वारा संस्थापित तान्त्रिक योगाचार शाखा ने भी इसके विकास मे पर्याप्त योगदान दिया ।

तान्त्रिक महायान–

कालान्तर मे प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो के आधार पर ही बौद्ध धर्म में और भी विकास हुआ । आटानाटीयसुत्त का अवलम्बन कर तांत्रिक प्रवृत्तियाँ बढने लगी । महासांघिको मे ही धारणीपिटक की कल्पना ने और धान्यकटक मे तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन की मान्यता ने इन प्रवृत्तियों को आगे आने मे और भी सहायता दी । मैत्रेय और असंग को विचारधारा ने उन्हे पल्लवित किया । बौद्धधर्म की यह स्थिति चतुर्थ शती तक रही । तात्वरत्नावली (अद्वयवज्रसग्रह) के अनुसार महायान की दो शाखायें हुई—पारमितानय और मन्त्रनय । बाद मे मन्त्रनय से वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान सम्प्रदायों का विकास हुआ । कुछ

२५. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ६२२ ,

लोग तन्त्रयान से नागार्जुन का सम्बन्ध जोड़ते है। गुरु-शिष्य-परम्परा से यह तान्त्रिक साधना धर्मकीर्ति तक चली आयी। अतः लगभग सातवीं शती तक यह तन्त्र-साधना अपने रूप मे बनी रही। पारमिताओ की प्राप्ति के लिए मन्त्रो और धारणियों का उपयोग इस समय किया जाता था। डॉ० विनयतोष के अनुसार तन्त्रयान को बढाने मे आर्यदेव का भी हाथ था।[२६] डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने तान्त्रिक बौद्धधर्म से तन्त्रयान, मन्त्रयान, भद्रयान आदियानो का भी सम्बन्ध जोडा है। काजी दवा समदुप ने मन्त्रतन से क्रियातन्त्रयान, चर्या-तन्त्रयान और योगतन्त्रयान तथा योगतन्त्रयान से महायोगतन्त्रयान, अनुत्तरयोग-तन्त्रयान और अतियोगतन्त्रयानो का उद्भव बताया।[२७]

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार उत्तरवर्ती महायान बौद्धधर्म मन्त्रयान के विकास का ही परिणाम है। उन्होने इसे मन्त्रयान काल' के नाम से अभिहित किया है। उनके अनुसार विकासक्रम इस प्रकार है—[२८]

सूत्ररूप में मन्त्र – ई० पू० ४००–१०० ई०पू०	)	
धारिणी मन्त्र – ई० पू० १००–४०० ई०	)	
यन्त्र-मन्त्र – ई० ४००–७००	)	नरम
वज्रयान– ई० ८००–१२००	)	गरम

मन्त्रयान में मन्त्रों और धारणियो के माध्यम से निर्वाण पाने का निर्धारण है। परन्तु बज्रयान मे इसके अतिरिक्त यन्त्र, मास, मद्य और मैथुन का भी परिगणन किया है। बौद्धधर्म का यह विकृत रूप अत्यन्त घिनौना सिद्ध हुआ। उसका शाश्वत उपदेश था—प्राणतिपात करना, चोरी करना, परस्त्रीसेवन करना, असत्य बोलना।[२९] वहाँ साधना के निमित्त शक्ति की आवश्यकता बतायी गई। चामत्कारिक सिद्धियों के लिए मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, आकर्षण, शक्तिक आदि कर्मों का विधान किया गया। गुह्यसमाजतन्त्र वज्रयान का प्रमुख ग्रन्थ है।

इसके बाद सहजयान और कालचक्रयान जैसे कुछ और वीभत्स सम्प्रदाय खड़े हुए। इनमें निर्वाण प्राप्ति को और भी सहज बना दिया गया। योग के नाम पर इन सम्प्रदायों मे दुराचरण असीमित हो गया। भारतीय संस्कृति इस कुत्सित आचार-विचार को सहन न कर सकी और फलतः बौद्धधर्म को समाप्त-प्राय हो जाना पड़ा।

२६. जर्नल आफ रायलएशियाटिक सोहनइरी आफ बंगाल, १९१८ ई० भाग१. पार्ट २, पृ० १७५-१८४
२७. तान्त्रिक बौद्धसाधना और साहित्य, पृ० १०४
२८. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १११
२९. उपाध्याय, नगेन्द्रनाथ, तान्त्रिक बौद्धसाधना और साहित्य, पृ०१११आदि।

परिवर्त ३

बौद्ध साहित्य और आचार्य

पालि साहित्य

वर्तमान बौद्ध साहित्य पालि, प्राकृत, संस्कृत, तिब्बतन, चायनीज, सिंहली, बर्मी आदि भाषाओ मे उपलब्ध होता है। परन्तु भगवान् बुद्ध के प्राथमिक और प्रमाणिक उपदेश मगध प्रदेश की तात्कालिक जनभाषा मागधी में ही प्राप्त होते हैं। इसी मागधी को कालान्तर मे पालि कहा जाने लगा। यही पालि भाषा प्राकृत भाषा की प्राथमिक सीढी है। हिन्दी, मराठी आदि आधुनिक आर्य भाषाएं संस्कृत की अपेक्षा पालि अथवा प्राकृत भाषा के निकट अधिक हैं।

पालि साहित्य का विकास भगवान् बुद्ध के समय से लेकर आधुनिक काल तक होता आया है। इस समूचे साहित्य में पिटक साहित्य का विशेष महत्व है। इसका संगायन राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र मे हुई संगीतियो में श्रुति परम्परा के आधार पर किया गया था। इसी संगायन के आधार पर ई. पू. २९-१७[1] में श्रीलंका के राजा वट्टगामणि, अभय ने उसे लिपिबद्ध कराया। इस बीच निश्चित ही पिटक के मूल रूप में कुछ न कुछ परिवर्तन—परिवर्धन हुआ होगा। इसलिये कतिपय विद्वानो ने उसकी सार्वांशिक प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त किया है। जो भी हो, लिपिबद्ध होने के बाद तो उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ होगा।

पिटक साहित्य मूलतः थेरवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता[2] है। वह तीन भागो मे विभक्त है—सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। पिटक का तात्पर्य है पिटारी या परम्परा और सुत्त का तात्पर्य है सूत्र या धागा। अर्थात् सुत्तपिटक का तात्पर्य है कि जैसे सूत का गोला फेंकने पर दूसरे के हाथ मेवह उलझता हुआ चला जाता है उसी प्रकार महात्मा बुद्ध का धर्मोपदेश श्रुति-परम्परा से उनके शिष्य-प्रशिष्यो के साथ चला आया है। बुद्धघोष ने भी 'पिटकं पिटकत्थविदु परियत्तिभाजनत्थतो आहू' कहकर इसी आशय की पुष्टि की है।[3] आचार्य असग ने सुत्त का अर्थ 'सूचनात् सूत्रम्' के रूप में किया है। यह

---

१. दीपवंस, २०. २०-२१; महावंस, ३३. १००-१०१

२. तेपिटक संगहित साट्ठकथं सब्बं थेरवाद

३. पिटक पिटकत्थविदु परियत्तिभाजनत्थतो आहु।
तेन संधानेत्वा तयो पि विनयादयो भेदा ॥ अट्ठसालिनी, पृ०१८.

व्याख्या भी बुद्धघोष के कथन का समर्थन करती है। मंस्कृत मे 'सूत्र' शब्द से तात्पर्य मंक्षिप्त कथन से है। परन्तु यह व्याख्या सुत्तपिटक के सन्दर्भ मे उपयुक्त नही। क्योकि वहाँ कथन का विस्नार भी मिलता है और उसकी पुनरुक्ति भी। यहाँ 'सुत्त' का अर्थ 'सूक्त' अर्थात् 'अच्छी तरह से कहा गया' ग्रहण किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

सुत्तपिटक का विषय भगवान् के उपदेशो का सग्रह करना मात्र है। यहा भगवान् कही स्वयं उपदेश देत है, कही सारिपुत्र, मौद्गल्यायन या आनन्द जैसे वरिष्ठ शिष्यो को उपदेश देने का आदेश देते है और कही उपदिष्ट विषय का अनुमोदन करते है। इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्ति से लेकर निर्वाण–प्राप्ति तक के ४५ वर्षो के श्रमणकाल की जीवनचर्या का चित्रण सुत्तपिटक मे मिलता है। इसी सन्दर्भ मे तत्कालीन भारतीय सस्कृति का विवरण भी उपस्थित किया गया है।

सुत्तपिटक सुत्तो मे विभक्त है। इसमे गद्य और पद्य दोनों मिलते हैं। इसलिये इस पालि साहित्य का चम्पू काव्य कहा जा सकता है। प्रायः प्रत्येक सुत्त यह स्पष्ट करता जाता है कि उपदेश कहाँ और किसके द्वारा किया गया है। उपदेश समाप्त होने के बाद श्रोता अथवा प्रश्नकर्ता अपने कृतज्ञतापूर्ण उद्गार व्यक्त करता है और साथ ही भगवान् बुद्ध की शरण मे और उनके धर्म तथा संघ की शरण मे जाने का भी संकल्प करता है।

भगवान् बुद्ध परम मनोवैज्ञानिक थे। वे उपदेश देने के प्रसंग में अपने श्रोता अथवा शिष्य की शक्ति का अवश्य ध्यान रखते थे। सुत्तपिटक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध सबसे पहले दान, शील व सदाचार सम्बन्धी उपदेश देत थे और उसके बाद ही उपमा, उदाहरणपूर्वक चतुरार्यसत्य, प्रतीत्य-समुत्पाद व आत्मा आदि जैसे गम्भीर विषयों का विवेचन करते, बुद्धेतर मतावलम्बी से संलाप करते समय पहले उसके सिद्धान्त को प्रस्तुत करते, बाद मे उसकी समालोचना करते और फिर श्रोता की अभ्यर्थना पर उसे धर्मोपदेश देते। यह उनका उपदेश कौशल्य था।

इस प्रकार सुत्तपिटक मे जहां पुनरुक्ति, संवाद और उपमायें मिलती है वहाँ संख्यात्मक परिगणन, इतिहास व संस्कृति तथा नाटकीय गतिशीलता का भी प्रयोग दिखाई देता है।

सुत्तपिटक पाँच भागो मे विभक्त है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। सर्वास्तिवादी सुत्तपिटक में निकाय

के स्थान पर आगम शब्द का प्रयोग मिलता है। दीघनिकाय तीन भागों मे विभक्त है—सीलक्खन्ध, महावग्ग और पाथेय या पाटिकवग्ग। इन तीनो भागो मे कुल मिलाकर ३४ सुत्त है। दीघनिकाय मे अपेक्षाकृत लम्बे सुत्तों का चयन किया गया है परन्तु वहा कालक्रम का ध्यान नही रखा गया। सीलक्खन्ध मे शील, समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी उपदेश है। महावग्ग और पथिकवग्ग मे भगवान् बुद्ध की जीवनचर्या तथा उनके सिद्धान्तो का विश्लेषण है।

दीघनिकाय का ब्रह्मजालसुत्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसमे बुद्धकालीन बासठ प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है। इन सिद्धान्तो को वहा मिच्छादिट्ठि की संज्ञा दी गई है। जैनागमो मे प्रायः इन्ही सिद्धान्तो की संख्या ३६३ बताई गई है। इसी सुत्त मे प्रसङ्गवश तात्कालिक सामाजिक जीवन का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। जीवनयापन के साधन, आमोद-प्रमोद के प्रकार, सौन्दर्य सामग्री, युद्ध के प्रकार आदि विषयो का अच्छा वर्णन मिलता है। सामञ्ञफलसुत्त मे बुद्धकालीन छह तीर्थंकरो के अनुसार पाप-पुण्य का रूप प्रस्तुत किया गया है। ये छह तीर्थंकर है— पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजितकेस कम्बलि, पकुधकच्चायन, निगण्ठनातपुत्त और संजय-बेलट्ठिपुत्त। अम्बट्ठसुत्त मे जातिवाद के विरुद्ध भगवान् ने मन्तव्य रखा है। वहां कहा गया है कि जातिवाद, गोत्रवाद, मानववाद और आवाह विवाह के बन्धन छोडकर ही अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा का साक्षात्कार किया जाता है।

खत्तियो सेट्ठो जनेतस्मि ये गोत्तपटिसारिनो।
विज्जाचरणसम्पन्नो सो सेट्ठो देवमानुसे॥

सोणदंड और कूटदन्त आदि सुत्तो मे ब्राह्मण वर्ग के आचार-विचार की आलोचना की गई है। सीहनाद, पाटिक, महापरिनिब्बाण, संगीति आदि सुत्तो मे निगण्ठ नातपुत्त के सिद्धान्तो की पर्यालोचना मिलती है। पोट्ठपाद, केवट्ट आदि सुत्त पञ्चस्कन्ध के विवेचन की दृष्टि से और महापरिनिब्बाण, महापदान आदि सुत्त भगवान् बुद्ध की जीवन घटनाओ की दृष्टि से उपयोगी है। महा-गोविन्दसुत्त राजनैतिक भूगोल की दिशा मे अधिक महत्वपूर्ण है।

मज्झिम निकाय में मध्यम आकार के सुत्त संग्रहीत हैं। यह निकाय सांस्कृतिक सामग्री से भरपूर है। बौद्ध सिद्धान्तों की दृष्टि से तो इसे महापंडित राहुल साकृत्यायन के शब्दों में "बुद्धवचनामृत" कहा जा सकता है। इस निकाय मे १५ वग्ग है, जिनमे कुल मिलाकर १५२ सुत्त है। इनमे वैदिक व जैन सिद्धान्तों की पर्यालोचना करते हुए बौद्ध सिद्धान्तों को अधिकाधिक स्पष्ट करने

का प्रयास किया गया है। इन्ही प्रसङ्गो मे भौगोलिक, ऐतिहासिक व सास्कृतिक सामग्री भी प्रस्तुत की गई है।

संयुत्त निकाय मे छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तो का संकलन है। ये ५ वर्गो में विभक्त हैं—सगाथवग्ग, निदानवग्ग, खन्धवग्ग, सडायतनवग्ग और महावग्ग। इनमे कुल ५६ संयुत्त हैं। यहाँ कोसलराज प्रसेनजित् का मगधराज अजातशत्रु के साथ युद्ध, विवाह व भेंट आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त लिच्छवि, कोलिय आदि राजाओ के भी प्रसङ्ग मिलते है। वैशाली, राजगृह, साकेत, चम्पा आदि नगरो तथा मगध, कोसल, काशी आदि प्रदेशो का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है।

अंगुत्तर निकाय संख्यात्मक शैली मे संकलित है। इसमे ११ निपात है और १६९ वग्ग है। हर निपात किसी एक ही संख्या विशेष से सम्बन्धित रहता है। जैसे एकक या दुकनिपात में उन्ही वस्तुओ का विवेचन किया जायगा जो एक या दो संख्या से ही सम्बन्धित होगी। सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से तो यह निकाय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शैली की दृष्टि से इस निकाय की तुलना जैनों के ठाणांग नामक आगम से की जा सकती है।

खुद्दक निकाय छोटे-छोटे ग्रन्थो की सामुदायिक संज्ञा है। भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से यहाँ विविधरूपता दिखाई देती है। इस निकाय मे बुद्धघोष के अनुसार १५ ग्रन्थ सम्मिलित है—खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसंभिदामग्ग, अपदान, बुद्धवस और चरियापिटक। सुमङ्गलविलासिनी की निदानकथा मे बुद्धघोष ने एक अन्य परम्परा का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार खुद्दकनिकाय अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकार और पारस्परिक विरोधी परम्पराएँ मिलती है जिनमे कुछ परम्पराएँ खुद्दकनिकाय के कतिपय अंशो को प्रामाणिक नही मानती।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि खुद्दकनिकाय प्रथम चार निकायो के बाद का संग्रह है। भाषा, शैली और भावो की दृष्टि से भी वह बाद का ही सिद्ध होता है। विवेकवाद की अपेक्षा यहाँ काव्यात्मक तत्व अधिक हैं।

खुद्दकनिकाय के कुछ ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जैसे धम्मपद नैतिक उपदेशों का इतना सुन्दर संग्रह है कि उसे बौद्धो की गीता कहकर पुकारा गया है। शायद इसीलिये प्रत्येक बौद्ध भिक्षु को इसे कण्ठस्थ करना अनिवार्य बताया गया है। थेर गाथा एवं थेरीगाथा क्रमशः बौद्धकालीन भिक्षु एवं भिक्षुणियो के जीवन की अनुभूतियो के पद्यबद्ध संस्मरण हैं। जातक भगवान् बुद्ध की बोधिसत्व अवस्था सम्बन्धी जन्मकथाओ का संकलन है।

इस प्रकार सुत्तपिटक पालि साहित्य का एक महत्वपूर्ण सामुदायिक ग्रन्थ है जिसमे बुद्धकालीन धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक और भाषावैज्ञानिक अगाध सामग्री बिखरी पडी हुई है। इसके ग्रन्थो का अभी तक हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओ मे अनुवाद तो अवश्य हुआ है परन्तु विशेष अध्ययन की दृष्टि से अभी भी ये अछूते से ही है। यदि सास्कृतिक परिवेश में इनका अध्ययन गम्भीरतापूर्वक किया जाय तो निःसन्देह उस क्षेत्र मे कुछ नये मानदड उपस्थित किये जा सकते है।

विनय पिटक

सुत्तपिटक के समान ही विनयपिटक प्रथम-द्वितीय संगीतियो का परिणाम है। बौद्ध भिक्षुओ के लिए यह एक संविधान है। महाकारुणिक ने इसे निर्वाण साक्षात्कार के लिए एकायन मार्ग माना है। इसे धम्म और विनय का एक समन्वित रूप कहा जा सकता है। प्रारम्भ मे विनय की अधिक आवश्यकता प्रतीत नही की गई। परन्तु सघ का जैसे-जैसे विकास हुआ, स्वच्छन्दवादी भिक्षुओ के आचरण को संयमित करने के लिए विनय का यथारीति निर्धारण किया जाने लगा। सरभंग पूर्वकाल मे सरकण्डो की कुटी निर्मित कर रहता था पर गौतम द्वारा नियमो का विधान किये जाने पर उसने यह काम बन्द कर दिया।[४] विनय के विकास का यह साक्षात् उदाहरण है। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद तो यही विनय भिक्षु वर्ग को दायाद बन गया।

विनय पिटक का अभिधेय भिक्षु-भिक्षुणियो के नैतिक और आचारगत विधाओ की संरचना करना है। प्रव्रज्या, प्रोषध, वर्षावास, प्रवारणा, उपोसथ, भोजन, चीवर, उपसम्पदा, विहारनिर्माण, प्रशासन, आदि विषयों पर प्रामाणिक विवचन यहाँ उपलब्ध होता है।

विनयपिटक को तीन भागो मे विभक्त किया गया है—सुत्तविभंग- (पाराजिक और पाचित्तिय), खन्धक (महावग्ग और चुल्लवग्ग), और परिवार। सुत्तविभंग में अपराध और उनके प्रायश्चित्त-प्रकारों का वर्णन है। अपराधो की संख्या २२७ बतायी गई है—चार पाराजिक, (मैथुन, चोरी, आत्महत्या और लाभेच्छा), तेरह संघादिसेस (वीर्यनाश, स्त्री का स्पर्श-वार्तालाप; आकर्षण-विवाह करना, विहारनिर्माण, संघभेदादि), दो अनियतधम्म, तीसनिसग्गिय पाचित्तिय धम्म (अपराध की स्वीकृति पूर्वक प्रायश्चित और वस्तु-परित्याग), बानवे पाचि-

---

४ न मेटहं कप्पते अज्ज सरे हत्थेहि भञ्जितुं।
सिक्खापदा नो पञ्ञत्ता, गौतमेन यसस्सिना ॥ थेरगाथा, ४८८-९३.

त्तिय धम्म (प्रायश्चित), चार पटिदेसनिय धम्म (प्रतिदेसना), पचहत्तर सेखिय-धम्म (बाह्यशिष्टाचार) और सात अधिकरणसमथधम्म (संघगत विवाद शान्ति के उपाय)।

खन्धक के महावग्ग मे बुद्ध की यात्रा, शिष्यउपाध्याय के कर्तव्य, उपसम्पदा, प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा, भैषज्य, स्वेदकर्म, आहार, चीवर, उपानह आदि का वर्णन है और चुल्लवग्ग तर्जनीयकर्म, नियस्सकर्म, प्रव्राजनीयकर्म, प्रतिसारणीयकर्म, उत्क्षेपणीयकर्म, पारिवासिक कर्म, शुक्रत्यागदण्ड, विनय, वस्त्र, बाह्यालकार, विहार, आवास, प्रशासन, प्रातिमोक्ष और प्रथम-द्वितीय संगीति का मनोरम विवेचन प्रस्तुत करता है।

परिवार विनयपिटक का अन्तिम भाग है जिसे इन्डेक्स कहा जा सकता है। १६ परिच्छेदो मे सम्पूर्ण विनय पिटक की सामग्री समास रूप मे संकलित करनेका यहाँ सफल प्रयास दिखाई देता है। भाषा और शैली से इसे प्रक्षिप्त माना जाना चाहिए। प्रथम परिच्छेद मे लिखित "विनयं दीपे पकासेतु पिटकं तम्बपण्णिया" से भी यह स्पष्ट है कि परिवार का लेखन श्रीलङ्का में उत्तरकाल मे हुआ होगा।

उक्त समूचे विनय से यह स्पष्ट है कि भगवान् का उद्देश्य भिक्षु को एक आदर्श साधक बनाना था और उस साधक की साधना मानवीय तत्त्व की प्रतिष्ठा मे जुटी हुई थी। बुद्ध को यह भी परिज्ञान था कि समयानुसार परिस्थितियो मे परिवर्तन आएगा और भिक्खुवर्ग को उनसे संघर्ष कर जीवन-पथ का निर्माण करना पड़ेगा। शायद इसीलिए उन्होने साधक को 'क्षुद्रानुक्षुद्र' नियम छोड देने का भी आदेश दे दिया था। इसका तात्पर्य यह नही कि भिक्षु असंयमित जीवन व्यतीत करे। उसका मानसिक और व्यावहारिक संयम तो सदैव जागृत रहना ही चाहिए। साधु की मर्यादा उसका आभूषण है।

विनयपिटक मात्र विनय का संग्रह नही। उसमे तत्कालीन भारतीय संस्कृति के अनेक मनोरंजन पहलू भी उपलब्ध होते हैं। विनय के विकास के साथ-साथ साधु-जीवन की विकृत स्थिति का परिचय तो मिलता ही है साथ ही इसमे बौद्धेतर सम्प्रदायो के विनय नियम, आभूषण, केश, कघी, दर्पण, वस्त्र, विहार निर्माण, विविध रंग, उपानह आदि का भी सुन्दर वर्णन दिया गया है। इस प्रकार विनय पिटक जहाँ बौद्ध संस्कृति का उद्घाटन करता है वहाँ वह तत्सम्बन्धित भारतीय संस्कृति के अनेक अध्यायो को भी प्रस्तुत करता चलता है।

अभिधम्मपिटक

अभिधम्मपिटक बौद्धपिटक का तृतीय मणि है जो जनसाधारण के लिए नही किन्तु एक विशिष्ट बुद्धिवादी वर्ग के लिए संग्राह्य है। परम्परानुसार अभिधम्म

के प्रमुख ज्ञाता सारिपुत्र थे। शायद इसीलिए उन्हें प्रधान शिष्य के रूप मे भी स्वीकार किया गया है। धर्म और विनय का सगायन तो प्रथम-द्वितीय संगीति मे हो चुका था परन्तु अभिधम्म तृतीय संगीति का ही परिणाम है, यह सुनिश्चित है। अतः इसका रचनाकाल अशोक के समय से लेकर २९ ई०पू० में वट्टगामणि के समय तक निर्धारित किया जाना चाहिए। बुद्धघोष ने निदान कथा मे अभिधम्म की परम्परा का उल्लेख किया है।[५]

अभिधम्म सात ग्रन्थो का समुदाय है—धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपुञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। मिलिन्दपञ्ह मे भी यही वर्गीकरण मिलता है। डॉ० लाहा के अनुसार इनका कालक्रम इस प्रकार होना चाहिए—पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग, धम्मसंगणि, धातुकथा, यमक, पट्ठान और कथावत्थु। पर डॉ० भरत सिंह उपाध्याय इसमे कुछ परिवर्तन करने के पक्ष मे हैं। वे धम्मसंगणि को विभंग के पूर्व निर्मित ग्रन्थ मानते है।[६] यह तर्कसंगत भी लगता है। चूँकि विभंग का विस्तृत विवेचन धम्मसगणि मे मिलता है। अतः उसे पूर्ववर्ती ग्रन्थ ही माना जाना चाहिए।

पुग्गलपञ्ञत्ति मे पुद्गल अर्थात् व्यक्ति के विषय मे विविध रूप से प्रज्ञप्ति प्रस्तुत की गई है। एक से लेकर दस प्रकार तक के व्यक्तियो का वर्गीकरण किया गया है। यह वर्णन अंगुत्तर निकाय से सम्बद्ध-सा प्रतीत होता है अतः पुग्गलपञ्ञत्ति का सम्बन्ध अभिधम्म पिटक-से अधिक दिखाई नही देता।

विभंग में धर्मों का विभाजन खन्ध आदि अठारह विशेष आधारो पर आधारित है—खन्ध, आयतन, धातु, सच्च, इन्द्रिय, पच्चयाकार, सतिपट्ठान, सम्मप्पधान, इद्धिपाद, बोज्झग, मग्ग, झान, अप्पमञ्ञ, सिक्खापद, पटिसम्भिदा, ञाण, खुद्दकवत्थु और धम्महदय। प्रायः इन सभी विभागो का प्रस्तुतीकरण सुत्तपिटक अभिधम्म और पञ्हपुच्छक (प्रश्नात्मक) शैली के आधार पर किया गया है।

धम्मसगणि अभिधम्मपिटक का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ कहा जा सकता है। उसमे भौतिक और मानसिक जगत् का सुन्दर विश्लेषण सन्निहित है। यह विश्लेषण तिको और दुको के १२२ वर्गों मे वर्गीकृत है। यहाँ मूलतः चित के ८९ प्रकारो को कुशल, अकुशल और अव्याकृत इन तीन प्रकारो मे गुम्फित किया है। शैली नैतिक और मनोवैज्ञानिक है। पारिभाषिक शब्दो का आधिक्य हो जाने के कारण यह गणनात्मक पद्धति एक साधारण विद्यार्थी को हृदय-

५. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, भाग १, पृ०२६

६. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ३८१

ग्राह्य अवश्य नही हो पाती पर भावो अथवा कर्मो का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है वह मनोहारी अवश्य है। मातृकायें इसकी देन है।

धातुकथा विभग का विसरलीकरण है। उसमे विभंग के स्कन्ध, आयतन और धातु इन तीन विभंगो को लेकर ११४ धर्मों का विवेचन किया गया है— ५ स्कन्ध, १२ आयतन १८ धातुएं, ४ सत्य, २२ इन्द्रिया, प्रतीत्य समुत्पाद, ४ स्मृति प्रस्थान, ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ४ ध्यान, ४ अपरिमाण, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ अष्टाङ्गिकमार्ग के अंग—स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त, अधिमोक्ष और मनस्कार। ये धर्म किस विभग मे संगहित, असंगहित, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त आदि रूप से गर्भित है। इसका विवरण १४ अध्यायों मे किया गया है। शैली प्रश्नात्मक है।

यमक अभिधम्म पिटक का एक पारिभाषिक शब्दकोश है। जैसा शब्द से स्पष्ट है, इस ग्रन्थ मे प्रश्नो को युगल रूप से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ—क्या समस्त कुशल धर्म कुशल मूल हैं? क्या समस्त कुशल-मूल कुशल-धर्म है? इस प्रकार के प्रश्नों को १० अध्यायों मे नियोजित किया गया हैं—मूल, गन्ध, आयतन, धातु, मज्ज, संसार, अनुसय, चित्त, धम्म इन्द्रिय और यमक। ये अध्याय प्राय: तीन बातो पर विचार करते हैं—पचन्ति पवन्ति और परिञ्ञा। यह भी प्रश्नात्मक शैली मे रचा गया है।

पट्ठान अभिधम्म पिटक का दुर्वेध कवच है। बौद्धदर्शन का मूल सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद इसका विवेच्य विषय है। पट्ठान शायद प्रत्यय के अर्थ मे यहां प्रयुक्त हुआ है। ये प्रत्यय २४ है—हेतु, आरंभण, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात, अञ्ञमञ्ञ, निस्सय, उपनिस्सय, पुरेजात, पच्छाजात, असेवन, कम्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, झान, मग्ग, सम्पयुक्त, विप्पमुक्त, अत्थि, नत्थि, विगत और अविगत। बृहदाकार होने के कारण इसे महाप्रकरण भी कहा गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है।

कथावत्थु—अशोक के संरक्षण में और मोग्गलिपुत्त तिस्स स्थविर के नेतृत्व में पाटलिपुत्र मे हुई तृतीय संगीति का परिणाम है। इसमे तत्कालीन प्रचलित बौद्धधर्म के अठारह सम्प्रदायों के सिद्धान्तो का विवेचन मिलता है। भद्रयानिक, महीशासक, वात्सीपुत्रीय, सर्वास्तिवादी, सम्मितिय, वज्जिपुत्तक, महासांघिक, गोकुलिक, अन्धक, अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थिक वैपुल्य, उत्तरापथक और हेतुवादियों के सिद्धान्तो को यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में रखकर स्थविरवादी दृष्टिकोण से उनपर विचार किया गया है। कथावत्थु के मूलभाग मे इन सम्प्रदायों का नामोल्लेख नहीं मिलता। इस कमी की पूर्ति उसकी अट्ठकथा ने कर दी है। बाईस अध्यायों में विभक्त २१६ मतवादो के

आधार पर डा० भरतसिह उपाध्याय ने बौद्धधर्म के ऐतिहासिक विकास को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार यह क्रमिक विकास इस प्रकार हो सकता है—वज्जिपुत्तक, महिंसासक, महासांघिक, गोकुलिक, सब्बत्थिवादी, सम्मितिय, भद्रयानिक, कस्सपिक, हेतुवादी, उत्तरापथक, अन्धक, पुब्बसेलिय, अपरसेलिय, राजगिरिक, सिद्धत्थिक, वेतुल्यक, महाशून्यतावादी और वेतुल्यक।[७]

त्रिपिटक का विकास—

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवेदित उपदेशो के सकलन का प्रथम प्रयास राजगृह की प्रथम संगीति मे किया गया था। संभव है, इसमे मूलभूत सिद्धान्तो पर किसी तरह भिक्षु एकमत हो गये है। परन्तु बुद्ध-परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष बाद संघभेद स्पष्ट हो गया। द्वितीय संगीति मे सुत्तपिटक और विनयपिटक का संगायन हुआ होगा। अभिधम्मपिटक तो निश्चित ही अशोक के काल का है। कुछ भाग उसके पश्चात् भी प्रक्षिप्ताश रूप मे यदि जोड़ दिया गया हो तो कोई असम्भव नही। सिहली परम्परा के अनुसार वज्जिपुत्तको ने द्वितीय संगीति मे अभिधम्मपिटक के साथ-साथ पटिसंविदा, निद्देस, पञ्चमनिकाय का कुछ अश और परिवार को अमान्य घोषित कर दिया था।[८] यह तथ्य है कि ये सभी ग्रन्थ उत्तरकालीन है। अशोक के शिलालेखो मे भी पिटक के कुछ भागो का उल्लेख मिलता है। भाब्रू अभिलेख मे सात धम्मपलियायो की गणना उपलब्ध होती है—विनय समुकसे, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मानेयसुत्त, उपतिसपसने और लाघुलोवाद। सॉची और भरहुत के अभिलेखो मे भिक्षुओ के विशेषण के रूप मे सुत्तन्तिक, पेटकी, धम्मकथिक, पञ्चनेकायिक, भाणक आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है। भरहुत स्तूप मे वितु, मिग, हंस, विडल आदि जातक कथाओ के नाम भी मिलते है। ये सभी भाग पिटक मे किसी न किसी रूप मे संकलित हे। अतः यह कहा जा सकता है कि लगभग ई०पू० तृतीय शताब्दी में सुत्तपिटक और विनय पिटक के कुछ अंश स्थिर हो चुके होगे और अभिधम्म पिटक निर्माण-पथ पर रहा होगा। ई० पू० प्रथम सदी में तो समूचा त्रिपिटक सिहल मे वट्टगामणि के शासन-काल मे लिपिबद्ध हो चुका था। परम्परानुसार कुछ अट्ठकथायें भी तबतक संकलित हो चुकी थी। अतः यह कहा जा सकता है कि इस समय तक त्रिपिटक उसी रूप मे लिपिबद्ध हुआ था जिस रूप मे आज उपलब्ध है। यद्यपि कुछ परस्पर-विरोधी और कालक्रम-

७. ज्ञानातिलोक; गाइड थ्रू दि अभिधम्मपिटक, पृ. ३८.
८. कीथ, ए०बी०, बुद्धिस्ट फिलॉसॉफी, पृ० २३

विरहित प्रसंग यहाँ दिखाई देते हैं पर इसका तात्पर्य यह नही कि समूचा त्रिपिटक ही व्यर्थ है। यह सम्भव है कि ई०पू० प्रथम शती तक उसमे परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे हो, जो स्वाभाविक है। पर एक बार लिपिबद्ध होने के बाद उसमे परिवर्तन का अवकाश नही मिलता। अत: जो त्रिपिटक आज हमारे पास है वह अधिकाश रूप मे ई०पू० प्रथम सदी का तो निश्चित ही है।

यह समूचा त्रिपिटक थेरवाद परम्परा मे नव अङ्गो मे भी विभाजित था— सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल[9]। थेरगाथा मे एक अन्य प्रकार से भी पिटक के विभाजत का सकेत किया गया है। वहाँ बताया गया है कि आनन्द ने ८२००हजार उपदेश भगवान् बुद्ध से सीखे और दो हजार उपदेश संघ से सीखे।[10] सम्भव है, यह गणना भ. बुद्ध के समस्त उपदेशो की सख्या की ओर इङ्गित करती हो।

त्रिपिटक के विकास के सन्दर्भ मे अनेक विद्वानो ने अपने अभिमत प्रस्थापित किये है। उनमे डॉ० विमलाचरण ला का मत उल्लेखनीय है। उन्होने त्रिपिटक को निम्नलिखित कालक्रम मे व्यवस्थित किया है।[11]

१. प्रथम युग	—	४८३ ई॰पू० से ३८३ ई०पू०
२. द्वितीय युग	—	३८३ ई०पू० से २६५ ई०पू०
३. तृतीय युग	—	२६५ ई०पू० से २३० ई०पू०
४. चतुर्थ युग	—	२३० ई०पू० से ८० ई०पू०
५. पञ्चम युग	—	८० ई०पू० से २० ई०पू०

यह कालक्रम त्रिपिटक के लिपिबद्ध होने तक के साहित्य का है। डॉ० रायज डेविड्स ने यह विकास इस प्रकार दिखाया है—[12]

१. समस्त त्रिपिटक में समान रूप से पाये जाने वाले बुद्धवचन
२. त्रिपिटक के दो-तीन ग्रन्थो में ही पाये जाने वाले बुद्धवचन
३. सील, पारायण, अट्ठकवग्ग, पातिमोक्ख
४. दीघ, मज्झिम, अङ्गुत्तर और संयुत्त निकाय,
५. सुत्तनिपात, थेरगाथा, थेरीगाथा, उदान, खुद्दकपाठ,

---

९ मज्झिमनिकाय, अलगद्दूपम सुत्तन्त, मिलिन्दपञ्ह, बहिरकथा; दीपवंस ४.१५।

१०. थेरगाथा, १७.३-१०२७।

११. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, भाग १, पृ० १२-१३

१२. बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० १२९-२

६. सुत्तविभग, खन्धक
७. जातक, धम्मपद
८. निद्देस, इतिवुत्तक, पटिसम्भिदा
९. पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरियापिटक, बुद्धवंस
१०. अभिधम्मपिटक के ग्रंथ जिनमे पुग्गलपञ्ञत्ति प्रथम और कथावत्थु अन्तिम है।

डॉ० विमलाचरण ला ने इस कालक्रम को कुछ परिवर्तित कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है[1]—

१. समस्त त्रिपिटक मे समान रूप से पाये जानेवाले बुद्धवचन
२. दो तीन ग्रथो मे ही पाये जानेवाले बुद्धवचन
३. सील, पारायण, अट्ठकवग्ग, सिक्खापद
४. दीघनिकाय (प्रथमस्कन्ध), मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय पातिमोक्ख जिसमे १५२ नियम है।
५. दीघनिकाय (द्वितीय और तृतीय स्कन्ध) थेरगाथा, थेरीगाथा, ५०० जातको का सग्रह, सुत्तविभंग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग,
६. महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख, (२२७ नियमो का पूर्ण होना) विमानवत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु
७. चुल्लनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान
८. बुद्धवंस, चरियापिटक, अपदान
९. परिवार-पाठ
१०. खुद्दकपाठ

उपर्युक्त दोनो विद्वानों द्वारा निर्धारित कालक्रम सम्पूर्णत: समीचीन अथवा असमीचीन नही कहा जा सकता। तथ्य यह है कि यह विकासक्रम यदि भाषा के साथ-साथ सस्कृति और बुद्ध के वर्षावासो मे दिये गये उपदेशों के आधार पर रखा जाता तो अधिक उपादेय था। ऐसा न होने के कारण ही यहाँ कुछ कमियाँ रह गई है। म० राहुल जी ने बुद्धचर्या मे इस प्रकार का प्रयत्न किया था पर वह अधूरा ही रह गया।

त्रिपिटक का प्रभाव बौद्धेतर सम्प्रदायों के साहित्य पर भी दिखाई देता है। उदाहरणत: श्वेताम्बर जैनो द्वारा मान्य साहित्य की भाषा और शैली

१. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, भाग १, पृ०१

पालि त्रिपिटक से मिलती जुलती है। उत्तराध्ययन (९.४४) की यह गाथा—

मासे मासे उ जो बालो कुसग्गेणं तु भुजए।
ण सो सुग्रक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसि॥

धम्मपद की गाथा क्र० ७० के अत्यन्त समीप है—

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलस॥

इसी प्रकार धम्मपद की गाथायें १०३, ४०५, ४०९ उत्तराध्ययन की गाथाओं ९.३४, २५.२२, २५.२४, मे देखी जा सकती हैं। धम्मपद की अन्य गाथायें ४९, ६६, ३६२ दशवैकालिक की १.२, ४.१, १०.१२ गाथाओं मे खोजी जा सकती है। इसी तरह सद्धर्मपुण्डरीक और सूत्रकृताग का पुण्डरीक अध्ययन, अवदानसतक और विपाकसूत्र, अंगुत्तरनिकाय और ठाणाङ्ग, जातक और उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ परस्पर सम्बद्ध अथवा प्रभावित प्रतीत होते है। त्रिपिटक के समान श्वेताम्बर जैन आगम भी अपने आगम को गणिपिटक कहते है। विनय आदि को देखते हुए यह भी असंभव नही कि जैनामगो से बौद्धागम प्रभावित न हुए है। जहाँ तक शैली का प्रश्न है, जैनागमो की अपेक्षा बौद्धागमो की शैली निःसन्देह मधुर, हृदयहारी प्रभावक और प्राचीनतर है।

अनुपिटक साहित्य

पालि त्रिपिटक के आधार पर कुछ ग्रन्थ प्रथम शती ई. पू. से लेकर ४०० ई० तक रचे गये, जिनका विशेष महत्व होने के कारण उन्हे अनुपिटक की संज्ञा दे दी गई। ऐसे ग्रन्थों मे नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस और मिलिन्दपञ्ह प्रमुख माने जाते है। नेत्तिपकरण का आधार अभिधम्मपिटक है इसलिए वह अभिधम्म को हृदयंगम करने के लिए नेत्ति (मार्गदर्शक) कहा जा सकता है। उद्देस के अनन्तर निद्देस देने की परम्परा यहां भी मिलती है। पेटकोपदेस नेत्तिपकरण की शैली पर ही लिखा गया है। उसमे नेत्ति से अवशिष्ट दुरूह विषयों पर विवेचन है अतः उसे नेत्ति का पूरक ग्रन्थ कहा जा सकता है। इन दोनों ग्रन्थों के लेखक महाकच्चान माने जाते है। मिलिन्दपञ्ह प्रायः प्रथम शताब्दी ई. पू. की रचना कही जाती है। मेनान्डर का शासनकाल प्रायः यही था। इसमें मेनान्डर और नागसेन के बीच हुए संवाद-विवाद को संयोजित किया गया है। बुद्धघोष के अनुसार इसके लेखक भदन्त नागसेन थे, परन्तु रायज डेविड्स ने इसे माणव कृत बताया जो कल्पना-प्रसूत होना चाहिए। मिलिन्द-

पन्ह के प्रथम तीन अध्याय मौलिक लगते है और शेष अंश प्रक्षिप्त प्रतीत होता है।

पिटकेतर साहित्य

(१)**अट्टकथा साहित्य**—पिटक के अतिरिक्त अट्ठकथा, टीका, टिप्पणी, महानिद्देस और पकरण साहित्य भी मिलता है। अट्ठकथा की आवश्यकता चूलनिद्देस से स्पष्ट है। गन्धवंस मे 'पोराणाचरिया' और 'अट्ठकथाचरिया' का उल्लेख है। बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओ मे कुछ प्राचीन अट्ठकथाओ के नामों की ओर संकेत किया है—महा अट्ठकथा, महापच्चरिया, कुरुन्दी, अन्ध अट्ठकथा, संखेप अट्ठकथा, आगमट्ठकथा, आचरियानं समानट्ठकथा, जातकट्ठकथा प्रभृति। प्रायः ये सभी अट्ठकथाये मूलतः सिंहली में थी। भिक्षुओ ने उन्हे पालि में अनुदित किया। बुद्धघोष ऐसे अनुवादको एवं लेखकों मे प्रमुख है। उनकी निम्नलिखित अट्ठकथायें उपलब्ध है—

१. समन्तपासादिका—विनयपिटक की अट्ठकथा
२. कंखावितरणी—पातिमोक्ख की अट्ठकथा
३. सुमंगलविलासिनी—दीघनिकाय की अट्ठकथा
४. पपञ्चसूदनी—मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा
५. सारत्थपकासिनी—सयुत्त निकाय की अट्ठकथा
६. मनोरथपूरणी—अगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा
७. परमत्थजोतिका—खुद्दकपाठ और सुत्तनिपात की अट्ठकथा
८. अट्ठसालिनी—धम्मसंगणि की अट्ठकथा
९. सम्मोहविनोदनी—विभंग की अट्ठकथा
१०-१४. पञ्चपकरणट्ठकथा - धम्मसंगणि और विभंग को छोड़कर शेष पाँच अभिधम्म-ग्रन्थो की अट्ठकथायें।
१५. जातकट्ठवण्णना—जातक की अट्ठकथा
१६ धम्मपदट्ठकथा—धम्मपद की अट्ठकथा

इनके अतिरिक्त बुद्धघोष की एक और रचना मिलती है—विसुद्धिमग्ग। इसे स्थविरवादका कोष कहा जा सकता है। सम्भव है इसे सर्वप्रथम लिखा गया हो। उनके ग्रन्थों का अनुमानित काल-क्रम उक्त लिखित ही प्रायः मान्य हो गया है। बुद्धघोष मूलतः ब्राह्मण थे। इनका काल पंचम शताब्दी माना जा सकता है। इसी समय वे बौद्धधर्म मे दीक्षित होकर श्रीलंका पहुँचे और वहाँ पर उक्त साहित्य सृजन किया। इनके पूर्व बुद्धदत्त हुए जिन्होने बुद्धवंस पर

'मधुरत्थ विलासिनी' नामक अट्ठकथा लिखी। तीसरे मुख्य अट्ठकथाकार थे धम्मपाल, जिन्होंने खुद्दकनिकाय के कुछ भाग पर अट्ठकथायें लिखी थी।

(२) **टीका साहित्य**—टीका अट्ठकथा का संक्षिप्त रूप है। शायद आनन्द ने अभिधम्ममूलटीका लिखकर टीका साहित्य का श्रीगणेश किया था। तदनन्तर उनका अनुकरण धम्मपाल ने परमत्थमञ्जूसा (विसुद्धिमग्ग की महाटीका), लीनत्थवण्णना (नेत्तियकरण-अट्ठकथा की टीका), लीनत्थपकासिनी (प्रथम चार निकायो पर लिखी गई अट्ठकथाओ की टीका) जातकट्ठकथा टीका और मधुरत्थविलासिनी की टीका लिखकर किया। इसी काल की वजिरबुद्धि की समन्तपासादिका पर वजिरबुद्धि नाम की टीका भी मिलती है।

श्री लंका के राजा पराक्रमबाहु (११५३-११८६) पकामिनी राज्यकाल में सारिपुत्त ने सारत्थदीपिनी (समन्त टीका) पथमसारत्थमंजूसा (सुमंगल.टीका), दुतियसारत्थमंजूसा (पपञ्च टीका), ततिय सारत्थमंजूसा (सारत्थ . टीका), चातुत्थ सारत्थ के (मनोरथ टीका), पथम परमत्थयकासिनी (अट्ठसा. टीका), दुतिय परमत्थपकासिनी (संमोह. टीका), ततिय परमत्थपकासिनी (पंचपक. टीका) नामक टीकायें लिखी। इनके अतिरिक्त सारिपुत्त के शिष्यो ने भी अनेक टीकाये लिखी है। इन शिष्यो मे सगह रक्खित, महासेन, बुद्धनाग, वचिसार और सुमंगल प्रमुख है। सद्धम्मजोतिपाल (१२वी सती) ने विनयसमुत्थान-दीपनी, पातिमोक्खविसोधनी' विनयगुल्हट्ठदीपनी, सीमालंकारसंगहटीका, मातिकट्ठ-दीपनी, पट्ठानगणनानय, नामचारदीप, अभिधम्मट्ठसंगहसखेपटीका और गन्धसार नामक टीकाओ की रचना की। १५वी शती मे वर्मा मे अभिधम्मपिटक का अध्ययन अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। फलतः वहाँ पर आरियवंश की मणि-सारमंजूसा, मणिदीप एवं जातकविसोधनी, सद्धम्मपाल की नेत्तिभावनी और सद्धम्मलकार की पट्ठनदोपनी नाम की टीकायें अधिक प्रसिद्ध हुईं।

(३) **टिप्पणियां या अनुटीकायें**—टीका पर जो टीका लिखी जाती है उसे टिप्पणी अथवा अनुटीका कहते है। अनुटीकाओ मे अभिधम्मत्थकथा पर धम्मपाल द्वारा लिखी गई अनुटीका सर्वाधिक प्राचीन है। इसके बाद सारिपुत्त ने लीनत्थपकासिनी, सारत्थपकासिनी और सारत्थमंजूसा तथा महानाम (१६ वी शती) ने मधुसारत्थदीपनी अनुटीकाओ का निर्माण किया। १७वी शती मे वर्मा मे तिलकगुरु और महाकस्सप द्वारा अनेक अनुटीकायें लिखी गईं।

(४) **पकरण**—पकरण सिद्धान्ततः किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नहीं होते। परन्तु पालि भाषा मे निबद्ध पकरण कुछ अंश तक इसके अपवादात्मक

हैं। इन्हें संगह, वंस, व्याकरण, काव्य और कोश के रूप मे विभक्त कर सकते हैं।

(i) संगह—संग्रह ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनो मे मिलते है। **बुद्धघोष** का विसुद्धिमग्ग तो थेरवाद बौद्धधर्म का कोष ही मानना चाहिए। इसमे सील, समाधि और पञ्ञा का विवेचन मूल त्रिपटक के आधार पर किया गया है। इसके बाद बुद्धदत्त के विनय, विनच्छय, उत्तरविनिच्छय और अभिधम्मावतार, वजिरबुद्धि का विनयगन्धि, धम्मसिरी की खुद्दकसिक्खा और मूलसिक्खा अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अभिधम्म दर्शन पर भी श्रीलंका और बर्मा मे अनेक संग्रह निकल चुके है।

(ii) **वंस**—वस साहित्य दूसर शब्दो मे इतिहास साहित्य है। दीपवंस महासेन-काल (३२५–३५२ ई०) तक का श्रीलंका का इतिहास प्रस्तुत करता है। इसका लेखक अज्ञात है। महानाम का 'महावंस' (छठी सती ई०) दीपवंस पर व्याख्यात्मक ग्रन्थ है। इसका मूल रूप ३७ वें परिच्छेद की ५०वी गाथा तक ही दिखाई देता हैं। आगे के परिच्छेद 'चूलवंस' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके बाद भी प्रक्षिप्ताश उसमे जुडते ही गये। इनके अतिरिक्त अनागतवंस, बोधिवस, दाढावस, थूपवस, बुद्धघोसुप्पत्ति और सद्धम्मसगह गन्धवस, सासनवंस आदि ग्रन्थ है जिन्हे वंस साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

(iii) व्याकरण—पालि व्याकरण के तीन स्कूल है—कच्चायन, मोग्गलायन और सद्दनीति। गायगर के अनुसार कच्चायन बुद्धघोष के उत्तरवर्ती आचार्य है। उन्होने कच्चायन व्याकरण लिखा है। मोग्गलायन का मोग्गलायन व्याकरण और मोग्गलायन पञ्जिका तथा अग्गवंस का सद्दनीति व्याकरण (१२ वी शती) अपने अपने स्कूल का प्रतिनिधित्व करते हैं। कच्चायन व्याकरण के आधार पर विमलबुद्धि (११वी शती) की मुखमत्तदीपनी, छपद (१२वी शती) का न्यासप्रदीप, एवं सुत्तनिद्देस, संघरक्खित (१२वी शती) की सम्बन्धचिन्ता, बुद्धप्रिय की रूपसिद्धि, धम्मकित्ति का बालावतार, थातोन का कच्चायनभेद आदि व्याकरणो का निर्माण हुआ है। मोग्गलान व्याकरण के पीछे पियदस्सी का पदसाधन, वनरतन मेधंकर की पयोगसिद्धि, धातुपाठ आदि व्याकरणग्रन्थ लिखे गये। सद्दनीति व्याकरण सम्प्रदाय मे वाचत्थदीपनी को छोड़कर अन्य ग्रन्थ अज्ञात है। इनके अतिरिक्त पगान का वच्चवाचक, मगल का गन्धट्ठि, अरियवंस का गन्धाभरण, आदि और भी अनेक पालि व्याकरण उपलब्ध है।

(iv) **काव्य**—संस्कृत भाषा के समान पालि भाषा मे भी काव्यो का निर्माण हुआ है। **बुद्धरक्खित** (१२वी शती) का जिनालंकार जो बुद्ध की—

सम्बोधि प्राप्ति तक का वर्णन करता है, मेधंकर का जिनचरित, वेदेहथेर का समन्तकूटवण्णना व रसवाहिनी (१३वी शती) तथा बुद्धपिय का पज्जमधु पालि साहित्य के प्रधान काव्य है। अलंकार, छन्दशास्त्र तथा पालि अभिलेख इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते है। संघरक्खित का सुबोधालंकार और उन्ही का वुत्तोदय इसके सुन्दर उदाहरण है। तेलकटाहगाथा सद्धम्मोपायन, पञ्चमति-दीपन, और लोकदीपस्वर भी रमणीय काव्य है।

(४) **कोश**—मोग्गलायन (१२वी शती) का अभिधानप्पदीपिका नामक ग्रन्थ सम्भवतः प्राचीनतम पालि कोश है। इस कोश के तीन विभाग हैं—सग्ग-कण्ड, भूकण्ड और सामञ्ञकण्ड। अनेकार्थक शब्दों का भी इसमें संग्रह मिलता है। अमरकोश इसका आधारभूत ग्रन्थ रहा होगा। इसके बाद मे बर्मी भिक्षु सद्धम्मकित्ति ने (१५वी शती) एकाक्खरकोस की रचना की। यहाँ एकाक्षरात्मक शब्दों का संग्रह किया गया है।

अभी हमने पालि साहित्य की एक अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा आपके समक्ष प्रस्तुत की है। उससे इतनी तो जानकारी होती ही है कि पालि भाषा मे निबद्ध साहित्य मात्र त्रिपिटक नही, प्रत्युत संस्कृत भाषा मे रचित साहित्य जैसा उसमें वैविध्य भी उपलब्ध होता है। आज भी पालि भाषा साहित्य-सृजन से बाहर नही हुई। शोधको और लेखको के लिए इस साहित्य मे प्रचुर सामग्री मिल सकती है।

मध्यकालीन आर्यभाषाओ का अध्ययन पूर्ण करने के लिए पालि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अत्यावश्यक है। उसने न केवल आधुनिक भारतीय भाषाओ को प्रभावित किया है, प्रत्युत सिंहल, बर्मा, थाईलेन्ड, चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशो की भाषाओ के विकास मे भी उसका पर्याप्त योगदान है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करनेवालो को इसमे दर्शन की भी विपुल सामग्री मिलती है। स्थविरवाद और अन्य बौद्ध सम्प्रदायो के अतिरिक्त वैदिक और जैन दर्शनो का भी इसमे प्रसंगतः पर्याप्त विवेचन हुआ है जो उनके इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन ऐतिहासिक और सास्कृतिक सामग्री के लिए तो पालि साहित्य एक अजस्र स्रोत है। अट्ठकथायें जो अभी तक समूचे रूप मे नागरी लिपि मे अप्रकाशित है, बिलकुल अछूती सी पड़ी है। प्राचीन इतिहास के कालक्रम को निश्चित करने में पालि साहित्य सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुआ है। जैन सांस्कृतिक इतिहास के विकास की जानकारी के लिए तो पालि साहित्य सदैव अविस्मरणीय रहेगा।[1]

---

१. इसके लिए देखिये, लेखक का ग्रन्थ "जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर"।

संस्कृत बौद्ध साहित्य

सर्वास्तिवाद—पालि साहित्य मात्र स्थविरवाद की परम्परा में उपलब्ध है परन्तु संस्कृत भाषा का उपयोग उत्तरकालीन प्राय: सभी बौद्ध सम्प्रदायो ने किया है। सर्वास्तिवाद उनमे अग्रगण्य है। आर्य कात्यायनीपुत्र रचित 'ज्ञानप्रस्थान-शास्त्र' सम्भवत: बौद्ध संस्कृत साहित्य का आद्य ग्रन्थहोगा। कनिष्क के अधिनायकत्व में वसुमित्र की अध्यक्षता में कश्मीर में ५०० भिक्षुओ की एक संगीति हुई थी जिसमे इस पर 'विभाषा' नाम की टीका लिखी गई। फलत: इसके अनुयायी वैभाषिक कहलाये। वसुमित्र ने कश्मीरी वैभाषिकों के अनुसार 'अभिधर्मकोश' लिखा। विभाषा में वसुमित्र के अतिरिक्त पार्श्व, घोषक, बुद्धदेव, धर्मत्रात, भदन्त, कुशवर्मा, घोषवर्मा, द्रव, धरदत्त, धरनन्दी, धार्मिक, सुभूति, पूर्णास, वक्कुल, वामक, श्रमदत्त, संघवसु और बुद्धरक्षित आदि आचार्यों के नाम भी मिलते है। तारानाथ के अनुसार वैभाषिक सम्प्रदाय के धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र, और बुद्धदेव प्रधान आचार्य थे। इन सभी ने संयुक्त रूप से महाविभाषा की रचना की थी।[1] धर्मत्रात का उदानवर्ग, घोषक का अभिधर्मामृत, वसुमित्र का प्रकरणपाद और धर्मश्री का अभिधर्मसार सर्वास्तिवाद के प्राचीन ग्रंथ कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त अभिधर्म पर लिखित निम्नोक्त ग्रन्थो को षट्पादशास्त्र भी कहा जाता है—(१)शारिपुत्र (महाकौष्ठिल) विरचित अभिधर्मसंगीतिपर्याय पादशास्त्र, (२) मौद्गल्यायन विरचित अभिधर्मस्कन्धपादशास्त्र, (३) स्थविर देवशर्मा-रचित अभिधर्म विज्ञानकायपादशास्त्र, (४) कात्यायनी पुत्र विरचित अभिधर्मप्रज्ञप्तिपादशास्त्र, (५) वसुमित्र विरचित अभिधर्मधातुकायपादशास्त्र, और (६) वसुमित्र द्वारा ही विरचित अभिधर्मप्रकरणपादशास्त्र। स्थविरवाद द्वारा मान्य अभिधम्म ग्रन्थों मे इनकी क्रमश: इस प्रकार तुलना की जा सकती हैं—यमक, धम्मसगणि, विभंग, पुग्गलपञ्ञत्ति, धातुकथा, और कथावत्थुप्पकरण।

उक्त ग्रन्थो से स्पष्ट है कि सर्वास्तिवाद में अभिधर्म का बहुत अधिक महत्व था। सर्वास्तिवादी अभिधर्म साहित्य में वसुमित्र का 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' सर्वप्रधान माना जाता है। उक्त षट्पादशास्त्र इसी के 'पाद' कहे जाते है। इनका मूल विषय है—लोकुत्तरधम्म, ञान, पुग्गल, अहिरिकानोत्तप्प, रूप, अनत्थ,

१. तारानाथ, पृ० ६७, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० २६३।

चेतना और पेमगारव का विवेचन करना। स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद के बीच अभिधर्म ही विशेष रूप से विवादग्रस्त विषय था।

सुत्तपिटक के निकाय के स्थान में सर्वास्तिवादियो ने **आगम** शब्द का प्रयोग किया है यहाँ भी स्थविरवाद के समान पाँचों निकाय माने गये है। अन्तर यह है कि स्थविरवादीय अंगुत्तर निकाय मे पन्द्रह ग्रन्थ हैं जबकि सर्वास्तिवादियो ने धर्मपद, उदान, सूत्रनिपात, विमानवस्तु और बुद्धवंस को ही अपने क्षुद्रकागम की सीमा में रखा है। विनयपिटक मे भी साधारणतः समानता दिखाई देती है। प्रातिमोक्ष सूत्र, सप्तधर्म, अष्टधर्म, क्षुद्रक-परिवर्त, एकोत्तरधर्म, उपालिपरिपृच्छा, भिक्षुणीविनय एवं कुशलपरिवर्त सर्वास्तिवादी विनय के प्रधान विभाग है। पाराजिक, प्रायश्चित्तिक एवं अवदान के रूप मे भी इसका विभाजन मिलता है। सर्वास्तिवादी त्रिपिटक अपने शुद्ध रूप मे उपलब्ध नही होता। पिशेल, रॉकहिल, पूसे, स्टेन, सेनार्ट, लूडर्स, फ्रैंक आदि विद्वानो के सहयोग से इसका कुछ भाग प्रकाशित हुआ है। अधिकांश अंग तिब्बती और चीनी भाषाओ में मिलता है। जो भी मिलता है, उसके आधार पर यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि सर्वास्तिवादियो ने थेरवादी त्रिपिटक को कुछ परिवर्तनों के साथ संस्कृत में अनुदित कर लिया था।

जैसा अभी हमने देखा, ई० की १–२ शताब्दी में सम्राट् कनिष्क ने सर्वास्तिवाद को प्रश्रय दिया। इसी समय सर्वास्तिवादियो की एक संगीति भी हुई जिसमें उन्होने अभिधर्म महाविभाषा की रचना की। इसके अनुयायी वैभाषिक कहलाये। इन वैभाषिकों के दो सम्प्रदाय थे—काश्मीर वैभाषिक और पाश्चात्य वैभाषिक। वैभाषिक के अतिरिक्त एक और शाखा का जन्म हुआ जिसे सौत्रान्तिक कहा गया। सूत्रागम (सुत्तपिटक) को मानने के कारण इस सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक माना गया (ये सूत्र प्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकाः, अभिधर्म कोश)।

सर्वास्तिवाद से उद्भूत सौत्रान्तिक के समान एक संक्रान्तिवाद का भी उदय हुआ जो स्कन्धों का संक्रमण जन्म-जन्मान्तर तक माना करता था। सौत्रान्तिक मत के प्रवर्तकों के सम्बन्ध मे विद्वानो में मतैक्य नहीं। वसुमित्र आनन्द को, भव्य और तिब्बती परम्परा उत्तर को तथा श्वागचांग कुमारलब्ध को सौत्रान्तिक शाखा का प्रवर्तक मानते है। कुमारलब्ध के दो शिष्य थे—श्रीलब्ध और हरिवर्मा। श्रीलब्ध का विभाषाशास्त्र अद्यावधि अनुपलब्ध है। हरिवर्मा का सत्यसिद्धिशास्त्र सर्वधर्मशून्यता का पोषक है। धर्मत्रात और बुद्धदेव भी इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हुए है। वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' पर

'स्फुटार्था' नामक टीका के लेखक यशोमित्र की भी सौत्रान्तिक आचार्यो में गणना की जाती है।

वैभाषिक सम्प्रदाय मे, जैसा हम पीछे देख चुके है, अभिधर्मविभाषाशास्त्र के अतिरिक्त वसुबन्धु का अभिधर्मकोश बहुत लोकप्रिय हुआ। बाण की कादम्बरी इस लोकप्रियता की साक्षी देती है—शुकैरपि शाक्यशासन कुसलैः कोश समुपदिशद्भिः। द्वितीय बुद्ध कहे जाने वाले वसुबन्धु का समय निर्विवाद नही। तकाकुसु उन्हे पंचम शताब्दी का मानते है और फ्राडवाल्नर के अनुसार वे चतुर्थ शताव्दी मे हुए। इस विवाद को दूर करने के लिए वसुबन्धु नाम के दो आचार्यो की बात सामने आई। पर यह ठीक नही।

वसुबन्धु का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) मे हुआ था। उन्होने 'सांख्यसप्तति' के खण्डन मे 'परमार्थ सप्तति' की रचना की। इसके अतिरिक्त अभिधर्म कोश उनको अमर बनाने वाला अनुपमेय ग्रन्थ है। इसमे आठ कोशों मे समाहित ६०० कारिकाओ मे धातु, इन्द्रिय, लोकधातु, कर्म, अनुशय, आर्यपुद्गल, ज्ञान एवं ध्यान पर विवेचन किया गया है। वसुबन्धु द्वारा लिखित ग्रन्थ मे तर्कशास्त्र और वादविधि का भी नाम लिया जाता है। वसुबन्धु के अतिरिक्त मनोरथ और संघभद्र भी इसी काल में हुए हैं। संघभद्र के 'अभिधर्म न्यायानुमार' और 'अभिधर्म समय प्रदीपिका' नाम के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते है जिनमे वैभाषिक सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया गया है।

सर्वास्तिवाद के उक्त दोनो सम्प्रदाय के आचार्यो में संक्रमण होता रहा। अतः कौन किस शास्त्र का अनुयायो है, यह कहना कठिन हो जाता है। अश्वघोष, आर्यशूर, दिङ्नाग आदि आचार्यो के विषय में यही समस्या है। सर्वास्तिवाद के प्रधान आचार्य के रूप में राहुलभद्र को भी माना जाता है। उनकी भाषा संस्कृत थी। उनके चिह्न उत्पल, पद्म, मणि और पर्ण थे। उनके नाम प्रायः मति, श्री, प्रभा, कीर्ति और भद्र में समाप्त होते थे। उनकी सघाटी में वैशिष्ट्य का उल्लेख मिलता है। उनके वस्त्र काले अथवा गाढे लाल रंग के होते थे। इ-चिं के अनुसार उनकी संघाटी का निचला भाग एक सीधी रेखा में कटा होता था। वे भिक्षा को सीधे हाथ में ले लेते थे।[1]

इनके अतिरिक्त महासांघिक, लोकोत्तरवाद, एकव्यावहारिक , कौक्कुटिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवाद, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय वैतुल्यक तथा वात्सीपुत्रीय,

---

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. २६७

सम्मतीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय एवं षण्णागरिक शाखाओ का साहित्य भी मिलता है, पर बहुत कम। कथावस्थु आदि कतिपय प्राचीन ग्रन्थो में उनके सिद्धान्तो को पूर्वपक्ष के रूप में अवश्य प्रस्तुत किया गया है।

उक्त सम्प्रदायो में लोकोत्तरवादियों का एक अनुपमेय ग्रन्थ मिलता है— **महावस्तु**। इसमें बुद्ध के जीवन को लोकोत्तरात्मक रूप देने का यथाशक्य प्रयन्न किया गया है। लोकोत्तरवादी महासाधिको का यह विनय-ग्रन्थ माना जाता है। इसके अनुसार बुद्ध प्रकृतिचर्या, प्रणिधानचर्या, अनुलोमचर्या और अनिवर्तनचर्या के अनुकरण से बुद्धत्व-प्राप्ति करते है। मिश्र संस्कृत मे लिखित इस ग्रन्थ का समय-निर्धारण कठिन है। इसके प्राचीन अंश ई. पू. लगभग द्वितीय शताब्दी के जान पड़ते है और हूण आदियो के उल्लेख से इसके कुछ भाग लगभग चतुर्थ शताब्दी के लगते है। प्राचीन भारतीय दर्शन और संस्कृति की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। प्राकृत का प्रभाव अधिक होने से इसका भाषावैज्ञानिक महत्त्व भी कम नही। हीनयान और महायान के बीच सेतु के रूप मे भी महावस्तु का अध्ययन अपेक्षित है।

इस काल में पिटक-परम्परा में मतभेद हो गया था। सर्वास्तिवादी वैभाषिक अभिधर्म पिटक को मानते थे। कौक्कुटिक भी सूत्रपिटक और विनयपिटक की देसना को उपाय मात्र स्वीकार करते थे। वेहासाधिक परम्परागत त्रिपिटक के अतिरिक्त बोधिसत्त्वपिटक और संयुक्तपिटक को भी अङ्गीकार करते थे। धर्मगुप्तकों ने उक्त पाँच पिटको के साथ ही धारणीपिटक और मन्त्रपिटक को और जोड़ दिया था। पूर्वशैलीय और अपरशैलीय सम्प्रदायो की प्रज्ञापारमिता प्राकृत भाषा में निबद्ध थी। हीनयानी संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के और भी ग्रन्थ उपलब्ध होते है जो निश्चित ही एक अमूल्य निधि के रूप में स्वीकार्य है।

महायान का साहित्य

बौद्धधर्म के इतिहास से यह स्पष्ट है कि महायान का जन्म व्यक्ति की स्वाभाविक प्रक्रिया से निष्पन्न हुआ है। भाषाविज्ञान की तरह आध्यात्मिक चिन्तन में भी सरलीकरण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। भगवान बुद्ध के चुम्बकीय व्यक्तित्व को एक ओर लोकोत्तर बनाने का उपक्रम प्रारम्भ हुआ तो दूसरी ओर उनके प्रति व्यक्त श्रद्धा और भक्ति के माध्यम से निर्वाण प्राप्ति को अत्यन्त सुगम बना दिया। फलतः जनसाधारण और अधिक आकृष्ट होने लगा। इसी बीच विदेशी आक्रमण हुए और भारतीय संस्कृति से उनका परिचय हुआ। बौद्धधर्म के इस नवीन रूप ने उन्हें आकर्षित किया। परिणामस्वरूप तथा-कथित महायान बौद्धधर्म भारतीय सीमा का अतिक्रमण कर देशान्तरों में सक्रमित हो गया। वहां भी पहुंचकर उसने तत्तद्देशीय संस्कृति को आत्मसात करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। यही कारण है कि महायान का विस्तार सम्प्रदाय और साहित्य के रूप में कहीं अधिक हुआ।

हीनयान और महायान शब्दों के पीछे जुगुप्सा का भाव भले ही भरा हो पर अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण महायान अधिक लोकप्रिय धर्म बना इसमें कोई सन्देह नहीं। उसकी उदारता और सहजता उसे यहां तक ले आयी कि एक समय सन्देह व्यक्त किया जाने लगा कि यह धर्म वास्तविक बौद्धधर्म है या नहीं। वस्तुतः बौद्धधर्म के मूल रूप में ही यह निर्देश है कि बुद्ध ने प्रथमतः यह अनुभव किया कि उनके अनुभूत धर्म को साधारण जन समुदाय ग्रहण नहीं कर पायेगा पर ब्रह्मयाचना के फलस्वरूप उन्होंने 'आशयानुभय' अथवा 'उपदेश कौशल' के आधार पर शिष्यों की योग्यतानुसार उन्हें अपना चिन्तन दिया। महायान का जन्म भी शायद यहीं से प्रारम्भ होता है। कालान्तर में वह विकृत रूप में भी हमारे समक्ष उपस्थित हुआ। इसका तात्पर्य यह नहीं कि महायान का सम्बन्ध मूल बौद्धधर्म से बिलकुल नहीं और हीनयान ही एक-मात्र यथार्थ बुद्ध प्रवेदित धर्म है। तथ्य यह है कि हीनयान विकास का प्राथमिक रूप है और महायान उन्हीं सोपानों पर चरण विखेरता हुआ आगे आने वाला विकसित रूप है। इस प्रकार विकासात्मक सीढ़ी से उसे पहचाना जाना चाहिए।

महायानी संस्कृत साहित्य का क्षेत्र विविध और विस्तृत है। अत' क्रमिक अध्ययन की दृष्टि से उसे हम तीन भागो में विभाजित कर सकते है—(१) सूत्र ग्रन्थ, (२) अवदान साहित्य और (३) दार्शनिक साहित्य।

(१) **सूत्र [1]ग्रन्थ**—महायानी सूत्र–साहित्य की परम्परा बहुत लम्बी है। नांन्जियो की सूची मे सूत्र काण्ड (सूत्रपिटक) के अन्तर्गत ५४१ महायान सूत्रो का उल्लेख मिलता है। इन सूत्रो को सात प्रकारो मे वर्गीकृत किया गया है—(१) प्रज्ञापारमिता, (२) रत्नकूट जिसमे सुखावती व्यूह भी है, (३) महासन्निपात (चन्द्रगर्भ आदि), (४) अवतंसक, (५) परिनिर्वाण, (६) विविध अनुदित सूत्र—सद्धर्मपुण्डरीक आदि और (७) सकृद् अनुदित सूत्र महावैरोचन आदि। यहां दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त से भिन्न ब्रह्मजालसूत्र और अभिधर्म पिटक के अन्तर्गत नागार्जुन आदि आचार्यो के ग्रन्थो का भी उल्लेख आता है।

शिक्षा समुच्चय में ६८ सूत्र-ग्रन्थो की सूची उपलब्ध है—अक्षयमति, अङ्गुलिमालिक, अध्याशयसंचोदन, अनन्तमुखनिर्हारधारणी, अपूर्वसमुद्गतपरिवर्त, अपरराजावादक, अवलोकना, अवलोकितेश्वरविमोक्ष, आकाशगर्भ, आर्यसत्यकपरिवर्त, उग्रपरिपृच्छा, उदयनवत्सराज परिपृच्छा, उपायकौशल्य, उपालिपरिपृच्छा, कर्मावरणविशुद्धि, कामाववादक, काश्यपपरिवर्त, क्षितिगर्भ, गगनगज, गण्डव्यूह, गोचरपरिशुद्ध, चतुर्धर्मक, चन्द्रप्रदीप, चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा, चुन्दाधारणी, जम्भलस्तोत्र, ज्ञानवतापरिवर्त, ज्ञानवैपुल्य, तथागतकोश, तथागतगुह्य, तथागतबिम्बपरिवर्त, त्रिसमयराज, त्रिस्कन्धक, दशधर्म, दशभूमिक, दिव्यावदान, धर्म संगीति, नारायण परिपृच्छा, नियतानियतावतारमुद्रा, निर्वाण, पितापुत्रसमागम, पुष्पकूटधारणी, प्रज्ञापारमिता–अष्टसाहस्रिका, प्रव्रज्यान्तराय, प्रशान्तविनिश्चयप्रातिहार्य, प्रातिमोक्ष, बृहत्सागरनागराजपरिपृच्छा, बोधिचर्यावतार, बोधिसत्वपिटक, बोधिसत्वप्रातिमोक्ष, बुद्धपरिपृच्छा, भगवती, भद्रकल्पिक, भद्रचरीप्रणिधानराज, भिक्षुप्रकीर्णक, भैषज्यगुरुवैदूर्यप्रभ, मञ्जुश्रीबुद्धक्षेत्रगुणव्यूहालंकार, मञ्जुश्रीविक्रीडित, महाकरुणापुण्डरीक, महामेघ, महावस्तु, मारीचि, मालासिंहनाद, मैत्रेयीविमोक्ष, रत्नकरण्ड, रत्नकूट, रत्नचूड, रत्नमेघ, रत्नराशि, रत्नोल्का, राजाववादक, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, लङ्कावतार, ललितविस्तर, लोकनाथव्याकरण, लोकोत्तरपरिवर्त, वज्रच्छेदिका वज्रध्वजपरिणामना, वज्रनोपासिकाविमोक्ष, विनयधरपिटक, विमलकीर्ति निर्देश, वीरदत्तपरिपृच्छा, शालिस्तम्भ, शूरङ्गम,

---

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ३२८–३३२.

श्रद्धाबलाधानावतारमुद्रा, श्रावकविनय, श्रीमालासिंहनाद, सद्धर्मपुण्डरीक, सद्धर्म-स्मृत्युपस्थान, सप्तमैथुनसंयुक्त, समाधिराज (चन्द्रप्रदीप), सर्वधर्म वैपुल्यसंग्रह, सर्व-धर्माप्रवृत्तिनिर्देश, सर्ववज्रधरमन्त्र, सागरमतिपरिपृच्छा, सिंहपरिपृच्छा, सुवर्ण-प्रभासोत्तम और हस्तिकक्ष्यसूत्र ।

महाव्युत्पत्ति मे १०५ सूत्रो के नामोद्धरण मिलते है जिनमे कुछेक हीनयानी ग्रन्थो को छोडकर शेष महायानी सूत्रो से सम्बद्ध है । उपर्युक्त शिक्षा समुच्चय मे समागत सूची मे उद्धृत ग्रन्थो के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थो का और उल्लेख महाव्युत्पत्ति मे मिलता है—शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पंचविंशति-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, सप्तशतिकाप्रज्ञा०, पंचशतिकाप्रज्ञा०, त्रिशतिकाप्रज्ञा०, घनव्यूह, सुविक्रान्तविक्रामी, रत्नकेतु, तथागतमहाकरुणानिर्देश, द्रुमकिन्नरराज-परिपृच्छा, सूर्यगर्भ, बुद्धभूमि, तथागतचिन्त्यगुह्यनिर्देश, सागरनागराजपरिपृच्छा, अजातशत्रु-कौकृत्य-विनोदन, संधिनिर्मोचन, बुद्धसंगीति, महायानप्रसादप्रभावन, महायानोपदेश, आर्यब्रह्मविशेषचिन्तापरिपृच्छा, परमार्थसंवृत्तिसत्यनिर्देश, मंजु-श्रीविहार, महापरिनिर्वाण, अवैवर्तचक्र, कर्मविभंग, तथागतोत्पत्तिसंभवनिर्देश, भवसंक्रान्ति, परमार्थधर्मविजय, बोधिपक्षनिर्देश, सर्ववैदल्यसग्रह, संघाटसूत्र, तथा-गतज्ञानमुद्रासमाधि, वज्रमेरुशिखर कूटागारधारणी, अनवतप्तनागराजपरिपृच्छा, सर्वबुद्धविषयावतारज्ञानालोकालंकार, व्यासपरिपृच्छा, सुबाहुपरिपृच्छा, महासा-हस्रप्रमर्दन, महास्मृत्युपस्थान, मैत्रीव्याकरण, अर्थविनिश्चय, महाबलसूत्र, विकुर्वा-णराजपरिपृच्छा एवं ध्वजाग्रकेयूर ।

इन ग्रन्थों में विशेषतः ये नव सूत्र प्रचलित है—अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, गण्डव्यूह, दशभूमीश्वर, समाधिराज, लंकावतार, सद्धर्मपुण्डरीक, तथागतगुह्यक, ललितविस्तर तथा सुवर्णप्रभास । इन्हे **वैपुल्यसूत्र** भी कहा जाता है । इनमे सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर आदि सूत्रो मे बुद्ध, बोधिसत्व, बुद्धयान आदि का माहात्म्य प्रदर्शित है और प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रा मे शून्यता तथा महाकरुणा का प्रतिपादन है । प्रज्ञापारमिता सूत्रो मे अष्टसाहस्रिका प्राचीनतम सूत्र होगा । उसकी भाषा और शैली भी इस कथन का समर्थक है । यहां मात्र रूपकाय और धर्मकाय का उल्लेख मिलता है । संभोगकाय बाद मे जोड़ा गया है । नागार्जुन का शून्यवाद प्रज्ञापारमिताओ पर ही आधारित है । विज्ञानवादी आचार्यों ने भी अपने सिद्धान्तो की प्रस्थापना मे इनका उपयोग किया है । ये सभी सूत्र प्रायः द्वितीय से चतुर्थ सती के मध्य विरचित है । लंकावतार योगाचार सिद्धान्तों का समर्थक है । सद्धर्मपुण्डरीक महायान और हीनयान के बीच एक सेतु विशेष है । ललितविस्तर बुद्ध की भक्ति-मिश्रित परम्परा का पोषक है ।

इन्हे 'महायान सूत्र' भी कहा गया है। पूर्वशैलीय परम्परा में प्राकृत भाषा में निबद्ध प्रज्ञापारमिता का उल्लेख है। चीनी त्रिपिटक मे विभिन्न पारमिताओं का संनिवेश किया गया है। कंजूर मे शतसाहस्त्रिका, पंचविंशति साहस्त्रिका अष्टादश साहस्त्रिका, दशसाहस्त्रिका, अष्टसाहस्त्रिका, अष्टशतिका, सप्तशतिका, पंचशतिका, वजच्छेदिका, अल्पाक्षरा एवं एकाक्षरी पारमिता का संग्रह है[1]।

(२) **अवदान साहित्य**—अवदान (पालि 'अपदान') का तात्पर्य है लोककथाओ के माध्यम से धार्मिक सिद्धान्तो को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य। इस विस्तृत सीमा मे पारमिताओ का अभ्यास भी समाहित हो जाता है। पालि साहित्य मे जो स्थान जातक कथाओ का है वही स्थान बौद्ध संस्कृत साहित्य मे अवदान साहित्य का है। उनका मुख्य उद्देश्य है कर्म और उसके फल की व्याख्या करना। कथाओ का विभाजन प्राय: तीन प्रकार से मिलता है—अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न। हीनयान और महायान के सम्मिश्रित रूपो को प्रस्तुत करना अवदान साहित्य की विशेषता है।

अवदान साहित्य मे प्राचीनतम ग्रन्थ सम्भवत. अवदानशतक होगा जिसका अनुवाद चीनी भाषा मे २२३–२५३ई० के मध्य हुआ। दस अध्यायो मे विभक्त अवदानशतक मे कुछ कथायें हीनयान से सम्बद्ध है और कुछ कथायें महायान की व्याख्या करती है। दिव्यावदान भी इसी प्रकार महत्वपूर्ण अवदान ग्रन्थ माना जाता है। भाषा, शैली और विषय की असम्बद्धता उसे उत्तरवर्ती सिद्ध करती है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध मूल सर्वास्तिवादियों के विनयपिटक से रहा है। इनके अतिरिक्त कल्पद्रुमावदान, अशोकावदान, द्वाविंशत्यवदान, बोधिसत्वावदान, भद्रकल्यावदान, विचित्रकर्णिकावदान, अवदानकल्पलता आदि अवदान भी उपलब्ध होते है जिनमें अधिकांश अवदान अवदानशतक पर आधारित हैं।

बुनियो नंजियों ने कुछ महायानी विनय सूत्रो का उल्लेख किया है—बोधिचर्यानिर्देश, बोधिसत्व प्रातिमोक्षसूत्र, भिक्षुविनय, आकाशगर्भसूत्र, उपालिपरिपृच्छा, उग्रदत्तपरिपृच्छा, रत्नमेघसूत्र, और रत्नराशिसूत्र। इन सूत्रों के देखने यह स्पष्ट हो जाता है कि हीनयानी और महायानी विनय मे बहुत अधिक अन्तर नही। महायान सिद्धान्तों का सुन्दर संग्रह नागार्जुन (?) के धर्मसंग्रह (सप्तमशती) में मिलता है। महाव्युत्पत्ति (नवी शती) भी इसी दिशा का ग्रन्थ है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

---

१. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, अध्याय ८

(३) दार्शनिक साहित्य

योगाचार और विज्ञानवाद—महायान के दार्शनिक साहित्य की भूमिका में प्रज्ञापारमिता सूत्रो का अमूल्य योगदान है। संक्षेप मे कहा जाय तो उन्हे हम प्रस्थापक ग्रन्थ कह सकते है। इन सूत्रों के अनुसार बोधिसत्व को समस्त धर्मो मे नैरात्म्य अथवा धर्मशून्यता को देखना चाहिए। इस सिद्धान्त ने शून्यवाद तथा योगाचार और विज्ञानवाद की भूमिका खड़ी कर दी। इससे एक ओर जहाँ यह बात स्पष्ट होती है कि सकल धर्मो का स्वरूप शून्यतात्मक है वहाँ दूसरी ओर यह भी ध्वनित होता है कि इसमे चित्त का प्राधान्य है। प्रथम विकल्प से शून्यवाद की सिद्धि की गई और द्वितीय विकल्प से योगाचार तथा विज्ञानवाद का जन्म हुआ।

योगाचार योग और आचार शब्द का मिश्रित रूप है। शमथ और विपश्यना को प्राप्त कराने वाले मार्ग को योग कहते है। और उस योग के मार्ग का आचरण 'यागाचार' है[1]। और विज्ञानवाद वह है जो सकल मैधातुक को चित्तमात्र अथवा विज्ञानमात्र प्रदर्शित करे। इनके पूर्व सौत्रान्तिको ने 'सूक्ष्म विज्ञान' और प्रज्ञप्तिवादियो ने 'मूल विज्ञान' की कल्पना कर ली थी। इसके बाद तिब्बती सूत्रो का योगदान है जिनका समय ई. पू प्रथम शताब्दी से ई. तृतीय शताब्दी तक निर्धारित किया जाता है। तिब्बती जं-यं शद्-प-के सिद्धान्त के अनुसार योगाचार के तीन मूल सूत्र हैं—सन्धि निर्मोचन, लंकावतार तथा घनव्यूह। सन्धिनिर्मोचन के अनुसार भगवान् बुद्ध तीन धर्म-चक्रो के प्रवर्तक थे—(१) चतुस्सत्य धर्मचक्रप्रवर्तन जो हीनयान मे प्रचलित है, (२) अलक्षणत्व धर्मचक्रप्रवर्तन जिसे प्रज्ञापारमिताओं मे अभिव्यक्त किया गया है, और (३) परमार्थविनिश्चय धर्मचक्रप्रवर्तन जो उक्त सूत्रो मे सन्निहित है तथा योगाचार का प्रतिपादक है। तिब्बती सूत्रो के बाद शास्त्रीय युग मे योगाचार विज्ञानवाद का प्रवेश हुआ जिसे मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु आदि आचार्यों ने पुष्पित और फलित किया। इनके बाद और भी भेद-प्रभेद दिखाई देते हैं।

मैत्रेयनाथ और असंग-योगाचार-विज्ञानवाद के प्रस्थापक के रूप में मैत्रेय नाथ का स्मरण किया जाता है। श्वा च्वांग के अनुसार मैत्रेय ने योगाचारशास्त्र,

---

१. शमथविपश्यनायुगनद्धवाही मार्गो योग इति योग लक्षणम्। शमथ इति समाधिरुच्यते। विपश्यना सम्यग्दर्शन लक्षणा। यथा युगनद्धौबलीवर्दौ वह वस्तथा यो मार्गः सम्यग्दर्शनवाही स योगः। तेनाचरतीति योगाचार उच्यते। ब्रह्मसूत्र, २. २. २८ पर भाष्य।

महायान सूत्रालकार, मध्यन्त विभगशास्त्र आदि ग्रन्थ असंग को तुषित लोक मे दिये। अतः ये रचनायें असंग के गुरु मैत्रेयनाथ की होनी चाहिए। तारानाथ और बु-दोन परम्परा के अनुसार मैत्रेय ने असंग को निम्नलिखित पांच ग्रन्थ दिये—अभिसमयालंकार, सूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्मधर्मताविभंग तथा महायानोत्तरतन्त्र। मैत्रेयनाथ और असंग का समय तृतीय-चतुर्थ शताब्दी माना जाता है।

मैत्रेय के ग्रन्थ प्रज्ञापारमिताओ पर आधारित है। अभिसमयालंकार के देखने से यह लगता है कि मैत्रेय माध्यमिक मत पर भी किञ्चित् दृष्टि रखने थे शायद इसीलिए उसे योगाचार-माध्यमिक-स्वातन्त्रिक कहा गया है।[1] महायान सूत्रालंकार २१ अधिकारो मे विभक्त है—महायानसिद्धि, शरणगमन, गोत्र, चित्तोत्पाद, प्रतिभक्ति, तत्व, प्रभाव, परिपाक, बोधि, अधिमुक्ति, धर्मपर्येष्टि, देशना, प्रतिपत्ति, अवदनाशासन, सोपायकर्म, पारमिता, पूजा-सेवा-प्रमाण, बोधिपक्ष, गुण और चर्याधिकार। उत्तरतन्त्र माध्यमिक-प्रासगिक ग्रन्थ है। इसमे बुद्ध, धर्म, संघ, गोत्र, बोधि आदि का विवेचन किया गया है। असंग, हरिभद्र, वसुबन्धु तथा विमुक्तिसेन ने इस पर टीकायें लिखी है। अभिसमय का तात्पर्य है तत्व का संदर्शन करना—साक्षात्कार करना। यही इसका योगाचारानुसार प्रतिपाद्य विषय है। इसके अतिरिक्त असग को प्रज्ञापारमिता साधना,[2], गुह्यसमाज[3], मध्यान्तानुगमशास्त्र[4] आदि ग्रन्थो का भी प्रणेता माना गया है।

असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे। मूलतः वे कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणकुलीन परिवार के थे। पुरुषपुर उनका मूल निवासस्थान था। उनके दो सहोदर और थे—वसुबन्धु और विरिंचिवत्स। ये सभी प्रारम्भ मे सर्वास्तिवादी थे, बाद मे असग के प्रयत्न से वे महायान में दीक्षित हो गये। कहा जाता है कि असंग ने कुक्कुटपाद पर्वत पर कठोर तपस्या कर मैत्रेयनाथ का दर्शन प्राप्त किया था

---

१. ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१, पृ. ८३, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ४०७.
२. साधनमाला, भाग १, पृ. ३२१
३. गुह्यसमाजतन्त्र भूमिका—डॉ० भट्टाचार्य, पृ. XXXIV
४. तुची, जी. अनिमद्वेरसाइन्स इण्डिके, II J.A.-B. भाग, २६, १९३०, पृ. १२९.

और उनके पांच ग्रन्थ भी मिले थे। बाद मे असग ने अभिधर्मसमुच्चय लिखा। तत्त्वविनिश्चय, उत्तरतन्त्र और संधिनिर्मचनसूत्रों पर टीकायें भी लिखी। असंग की अन्य रचनाओ मे महायानसम्परिग्रह, अभिधर्मसमुच्चय एवं योगाचार भूमिशास्त्र योगा- चार–विज्ञ नवाद की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। महायान संग्रह का चीनी अनुवाद बुद्ध-शान्त ने ई. ५३१ मे तथा परमार्थ ने ई. ५३३ मे प्रस्तुत किया था। योगाचारभूमिशास्त्र के ५ विभाग है—बहुभूमिकवस्तु, विनिश्चयसंग्रह, वस्तुसग्रह, पर्यायसंग्रहह तथा विवरणसग्रह। अभिधर्म की दृष्टि से यह ग्रन्थ मननोय है।

वसुबन्धु—वसुबन्धु असंग के अनुज थे। उनका समय ई० को पंचम शताब्दी (ई० ४२०–५००) मानी जाती है। एक अन्य परम्परा उन्हे ई० ३५० का भी बताती है। समय की तरह वसुबन्धु के दीक्षा गुरु के विषय में भी मतैक्य नही। बुदोन, परमार्थ और श्वाच्वाग की परम्परायें क्रमशः संघ-भद्र, बुद्धमित्र और मनोरथ को असंग का दीक्षा गुरु बताती हैं। कहा जाता है कि बुद्धमित्र को साख्याचार्य विन्ध्यवास ने शास्त्रार्थ मे पराजित किया था। इस पराजय का प्रतिकार करने के लिए असंग ने परमार्थसप्तति नामक ग्रन्थ लिखा। जैसा हम जानने है, प्रारम्भ मे बसुबन्ध सौत्रान्तिक वैभाषिक मतानुयायी थे, परन्तु बाद मे असंग के अनुरोध से वे महायानी परम्परा मे योगाचार-विज्ञान-वाद मे दीक्षित हो गये। अभिधर्मकोष उनकी प्रथम परम्परा का ग्रन्थ है और मध्यान्त विभागसूत्रभाष्य, त्रिस्वभावनिर्देश, विज्ञप्तिमात्रताविंशतिका, त्रिंशिका पंचस्कन्ध प्रकरण, व्याख्यायुक्ति, कर्मसिद्धिप्रकरण, सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश, वज्रच्छे-दिका, प्रज्ञापारमिताशास्त्र तथा आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या आदि ग्रन्थ द्वितीय परम्परा से सम्बद्ध है।

वसुबन्धु के सभी ग्रन्थ सर्वास्तिवादी सिद्धान्तो से अप्रभावित नहीं रहे। फिर भी वे विज्ञानवाद के प्रस्थापक आचार्य कहे जा सकते है। विज्ञप्तिमात्रता, धर्मधातु और शून्यता समानार्थक शब्द है। धर्मो का विज्ञान-संसर्ग अभिधर्म का विज्ञानवाद है। यह विज्ञप्तिमात्रता नित्य है। अवतंसक, लंकावतार आदि सूत्रो मे विज्ञानवाद के बीज मिलते है जिन्हे मैत्रेय, असग ने पुष्पित किया है पर उन्हे फलित करने का श्रेय निश्चित ही वसुबन्ध को दिया जायगा।

वसुबधु के प्रधान शिष्य चार थे—स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ तथा दिङ्नाग। स्थिरमति ने त्रिंशिकाभाष्य, मध्यान्त विभंगसूत्रभाष्य टीका, अभिधर्मकोषव्याख्या, अभिधर्मसमुच्चय, काश्यपपरिवर्त व्याख्या तथा वसुबन्धु

की अन्य रचनाओ पर व्याख्याये लिखी है। स्थिरमति के शिष्यो मे पूर्णवर्धन, जिनमित्र तथा शीलेन्द्रबोधि के नाम उल्लेखनीय है। विमुक्तिसेन की अभिसमयालंकार पर व्याख्या प्रसिद्ध है। स्थिरमति माध्यमिक और विज्ञानवाद के मध्यगामी पथिक थे।

दिङ्नाग—वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग मध्यकालीन भारतीय तर्कशास्त्र के पिता कहे जाते है। वे दक्षिण के काजीपुरम् के समीपवर्ती सिंहवक्त्र ग्राम मे एक ब्राह्मण परिवार मे जन्मे थे। उनका समय ई. ४४५ से ५७५ के बीच रखा जा सकता है। उनके प्रमुख ग्रन्थ ये है—अभिधर्मकोषमर्मप्रदीप, अष्टसहस्रिका-पिण्डार्थ, त्रिकाल परीक्षा, आलम्बन परीक्षा, हेतुचक्रसमर्थन, न्यायमुख, प्रमाण-समुच्चय आदि। इनमे प्रमाणसमुच्चय सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त दार्शनिक ग्रन्थ माना गया है। दिङ्नाग के योगदान को हम निम्न विशेषताओ मे देख सकते है।

(१) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का त्रिविध भेद।

(२) सभी (प्रमाणो का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष एवं अनुमान) मे किया जाना।

(३) पञ्च अवयवो प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय तथा निगमन मे अन्तिम दो अवयवो को निरर्थक सिद्ध करना। उन्होने अनुमान को अधिक महत्व दिया।

ईश्वरसेन और **शंकरस्वामी**—दिङ्नाग के शिष्यो मे ईश्वरसेन और शंकर स्वामी प्रधान शिष्य थे। शंकर स्वामी ने हेतुविद्या न्यायशास्त्र और न्याय-प्रवेशतर्कशास्त्र नामक दो ग्रन्थो की रचना की। चीनी भाषा मे उनका अनुवाद भी हुआ है।

धर्मपाल—वसुबन्धु के शिष्य थे। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—आलम्बन प्रत्यय-ध्यान शास्त्रव्याख्या, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिव्याख्या, और शतशास्त्रव्याख्या। उनका समय सप्तम शती है।

धर्मकीर्ति—बौद्धन्याय को समालोकित करने का श्रेय धर्मकीर्ति को है। उनकी अगाध विद्वत्ता और तीक्ष्ण तर्कशीलता स्पृहणीय है। उनका जन्म दक्षिणवर्ती त्रिमलय मे हुआ था। पिता का नाम कोरुनन्द था।[१] वे धर्मपाल के शिष्य थे। धर्मपाल ई० ६४२ तक रहे अतः धर्मकीर्ति का समय सप्तम शताब्दी माना जाना चाहिए। डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने यह समय ई० ६२६–

---

१. सिद्धिविनिश्चय टीका, भाग १, पृ. ५४; दर्शन दिग्दर्शन, पृ. ७४१.

६८५ तक रखा है।[१] धर्मकीर्ति के प्रधान ग्रंथ हैं—प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति महित), न्यायबिंदु, प्रमाणविनिश्चय, संतानातरसिद्धि, वादन्याय, हेतुबिन्दु, सम्बंधपरीक्षा एवं चोदना प्रकरण । इन ग्रंथो मे प्रमाणवार्तिक अधिक अध्ययन का विषय बना । इस पर देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, धर्मोत्तर, आनंदवर्धन ज्ञानश्री, प्रज्ञाकरगुप्त आदि आचार्यों ने टीकायें लिखी हैं।

धर्मकीर्त्ति का प्रभाव जैनाचार्य अकलंक पर अधिक पड़ा । उन्होने धर्मकीर्त्ति के ग्रन्थो का उद्धरण देते हुए उनका तर्कपूर्वक खण्डन किया । उद्योतकर आदि आचार्यो की भी आलोचना के वे पात्र बने । विज्ञप्ति मात्रता को उन्होने और भी व्यवस्थित किया । प्रमाण लक्षण में अभ्रान्त पद का सन्निवेश किया। स्वसंवेदन का समर्थन किया।[२] बौद्धदर्शन मे उनका यह योगदान नितान्त मौलिक था ।

प्रज्ञाकरगुप्त—आचार्य प्रज्ञाकरगुप्त का समय अष्टम शताब्दी का प्रथम चरण माना जाना चाहिए । विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द, वादिराज, वादिदेव सूरि आदि जैनाचार्यो ने प्रज्ञाकरगुप्त को उद्धृत किया है । वे धर्मकीर्ति के उत्तरवर्ती काल के समकालीन आचार्य थे। अकलंक ने भी उनके ग्रन्थों का आलोडन किया था । प्रमाणवार्तिकालङ्कार प्रज्ञाकरगुप्त का प्रधान ग्रन्थ है। विनीतदेव प्रज्ञाकरगुप्त के शिष्य माने जाते है। बुदोन परम्परानुसार विनीतदेव के ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—समयभेदोपरचनाचक्र, न्यायबिन्दुटीका, हेतुबिन्दुटीका, वादन्याय व्याख्या, सम्बन्धपरीक्षा टीका, आलम्बनपरीक्षा टीका और सन्तानान्तरसिद्धिटीका। यमारि (नवमी शताब्दी) की प्रमाणवार्तिकालंकारटीका भी यहा उल्लेखनीय है।

इनके अतिरिक्त कुछ आचार्य और उनके ग्रन्थ और उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ देवेन्द्रबुद्धि अथवा देवेन्द्रमति (सप्तम-अष्टम शताब्दी) की प्रमाणवार्तिकटीका, शंकरानन्द की प्रतिबन्धसिद्धि, अपोहसिद्धि, सम्बन्धपरीक्षानुसार और प्रमाणवार्तिकटीका, जिनेन्द्र बुद्धि अथवा जितेन्द्रबोधि की प्रमाणसमुच्चयटीका, कल्याणरक्षित (अष्टम–नवम शताब्दी) की अन्यापोहसिद्धि, ईश्वरभङ्गकारिका, सर्वज्ञसिद्धिकारिका, श्रुतिपरीक्षाकारिका और बाह्यार्थ सिद्धिकारिका, रविगुप्त (अष्टम शताब्दी) की प्रमाणवार्तिकवृत्ति, अर्चट (धर्माकरदत्त) (अष्टम शताब्दी प्रथम चरण) की हेतुबिन्दुटीका, क्षणभङ्गसिद्धि, और प्रमाण-

---

१. सिद्धिविनिश्चय टीका, भाग १, भूमिका पृ. २७.

२. वही, पृ. २७-८

द्वैतसिद्धि, शान्तभद्र (७२५ ई.) की न्यायबिन्दुटीका, दुर्वेकभिक्षु की न्यायबिन्दुटीका टिप्पण, कर्णकगोमिन् (अष्टम सदी का प्रथम चरण) की प्रमाणवार्तिक वृत्ति, धर्मोत्तर (सप्तम सदी का अन्तिम चरण) की प्रमाण परीक्षा, अपोहप्रकरण, परलोकसिद्धि और क्षणभङ्गसिद्धि, हरिभद्र (दशम सदी) का अभिसमयालङ्कारालोक, प्रज्ञापारमिताटीका आदि। इन ग्रन्थो और उनके प्रणेताओ के योगदान ने विज्ञानवादीय शाखा को अत्यन्त समृद्ध किया है। दार्शनिक सिद्धान्तो के विकास की दृष्टि से भी ये बहुत महत्वपूर्ण है। जैन और जैनेतर आचार्यो पर भी इनका प्रभाव दिखाई देता है। उसका अध्ययन अपेक्षित है।

शून्यवाद अथवा माध्यमिक साहित्य

माध्यमिक सम्प्रदाय की विशेषता है कि वह हीनयान द्वारा मान्य सत् और असत् के बाद एक अनिर्वचनीय तत्व को भी स्वीकार करते है। उनके अनुसार समस्त पदार्थ जगत् स्वभावतः शून्य है। जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह माया के अतिरिक्त और कुछ नही। इस सिद्धान्त को बौद्ध साहित्य मे पुद्गलनैरात्म्य, धर्मनैरात्म्य अथवा स्वभावशून्यता कहा जाता है। प्रज्ञापारमितासूत्रो का यही अभिधेय है। इसे बोधिसत्व सिद्धान्त भी कहा जाता था।

नागार्जुन—नागार्जुन शून्यवाद-माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रस्थापक और व्यवस्थापक आचार्य थे। उनका जन्म-स्थान कुमारजीव (ई० ४०५) के अनुसार विदर्भ और सुआन-च्वाग के अनुसार दक्षिण कोल था। चीनी परम्परा, महामेघसूत्र और बुदोन परम्परा मे नागार्जुन का जन्म क्रमशः बुद्ध परिनिर्वाण के ७००, ४०० और ४०० वर्ष बाद हुआ। आचार्य जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न थे। दाक्षिणात्य ब्राह्मण होने के कारण वे वेदो के मार्मिक अध्येता तो थे ही, साथ ही कालान्तर मे बौद्धभिक्षु बनने पर उन्होने तीन माह मे ही समूचा त्रिपिटक हृदयस्थ कर लिया था। एक कुशल चिकित्सक और रसायनशास्त्रज्ञ होने के कारण बौद्धधर्म के मर्म को समझने मे उन्हे द्रविड-प्राणायाम नही करना पड़ा। विद्याधारी होने से उन्हे महायान सूत्र उपलब्ध हुआ। उनकी शायद यही शून्यवाद की प्रस्थापना की भूमिका होगी।

नागार्जुन का कार्यक्षेत्र दक्षिण भारत अधिक रहा है। धान्यकटक-श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंड, गुन्टुर) उनकी प्रचार-भूमि रही है। इनके समय के विषय में विद्वानो मे मतैक्य नही। तारानाथ के अनुसार वे कनिष्क के समकालीन थे। तिब्बती परम्परा इनका समय २१२–४८२ ई० मानती है। परन्तु उनकी

समसामयिकता यज्ञश्री गौतमीपुत्र (१६६–१९६ ई०) के साथ अधिक युक्तिसंगत है। सातवाहन राजाओं का भी नागार्जुन के साहित्य मे उल्लेख मिलता है। अतः उनका समय द्वितीय-तृतीय शताब्दी माना जा सकता है। प्रभावाधिक्य और लोकप्रियता होने के कारण ही शायद नागार्जुन का जीवनकाल विविध परम्पराओं मे ३०० और ६०० वर्षों तक रहा हो। समस्त परम्पराओं के देखने से यह स्पष्ट है कि नागार्जुन का जीवन महायान के 'आन्तरैक्य' वैशिष्ट्य से आपूर है। तान्त्रिक आचार्यों के रूप मे भी वे प्रसिद्ध है। सत्य है कि वे बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी आचार्य थे।

नागार्जुन एक कुशल लेखक और विद्वज्जनप्रेमी व्यक्ति थे। आर्यदेव को शिष्यत्व प्रदान करने के लिए उनकी परीक्षा का प्रकार बेजोड था। नागार्जुन के लगभग २० ग्रन्थो मे उस व्यक्तित्व की विद्वत्ता और गहन तर्कप्रवीणता द्रष्टव्य है। चीनी अनुवाद मे उनके २० ग्रन्थ सुरक्षित है। बुनियो नाजियो ने कुछ ग्रन्थों का उल्लेख किया है—माध्यमिक कारिका (माध्यमिक शास्त्र), दश-भूमिविभाषाशास्त्र, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, उपायकौशल्य, प्रमाणविध्वंसन, विग्रहव्यावर्तनी, चतुःस्तव, युक्तिषष्टिका, शून्यता सप्तति, प्रतीत्यसमुत्पाद हृदय, महायानविंशक और सुहृल्लेख। प्रायः इन सभी ग्रन्थो पर चीनी अनुवाद उपलब्ध होता है। ये सभी रचनायें शून्यतावाद की प्रतिष्ठापना मे अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है। इनमें मुख्य रचनाये है—महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, माध्यमिक-कारिका और विग्रहव्यावर्तनी। यहाँ संवृतिसत्य और परमार्थसत्य के आधार पर जगत को शून्यात्मक बताने का सफल प्रयत्न किया है।

नागार्जुन का नाम चौरासी सिद्धों में गिना जाता है। महा० राहुल सांकृत्यायन ने उन्हें सोलहवा सिद्ध कहा है और काञ्ची का ब्राह्मण तथा सरह-पाद का शिष्य बताया है। ब्लू एनल्स मे उन्हे दक्षिण मे गुह्यसमाज का संस्थापक माना गया है (२, पृ. ७५३)। कुमारजीव ने चीनी भाषा मे ई० ४०५ मे नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद किया है। अतएव नागार्जुन का समय इसके पूर्व ही माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से चौरासी सिद्धो मे उल्लिखित नागार्जुन कोई और ही होगे।

आर्यदेव और उनके ग्रन्थ

आचार्य आर्यदेव शून्यवाद के अन्यतम आचार्य है। उनके विषय मे देश देशान्तरो मे अनेक परम्परायें प्रसिद्ध हैं। बुदोन परम्परा के अनुसार आर्यदेव का जन्म सिंहल मे हुआ था। चन्द्रकीर्ति की भी यही मान्यता है। तत्कालीन

राजा के सान्निध्य मे आर्यदेव तरुण हुए, प्रव्रजित हुए और वही से दक्षिण भारत मे आकर नागार्जुन से दीक्षा ग्रहण की। इस प्रसंग मे एक घटना उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि नागार्जुन न शिष्यत्व दीक्षा देने के पूर्व आर्यदेव की परीक्षा लेनी चाही। उन्होने आर्यदेव के समक्ष आपूर जलपात्र भेजा। आर्यदेव ने उसने सूचिका (सुई) डालकर उसे वापिस कर दिया। आपूर जलपात्र नागार्जुन के ज्ञानोदधि का प्रतीक है और सूचिका-भेद आर्यदेव द्वारा उसमे किये गये अवगाहन का द्योतक है। यह प्रतीकात्मक पद्धति दोनो आचार्यो के व्यक्तित्व का सदर्शन है।

इसी प्रकार एक अन्य घटना विश्रुत है। दक्षिण मे आर्यदेव के समय मे महेश्वर की एक रमणीक स्वर्ण-प्रतिमा थी। उसके विषय मे यह जनश्रुति थी कि उसके समक्ष अभिव्यक्त कामना फलदायी होती थी। इस जनश्रुति को मात्र वञ्चक सिद्ध करने के उद्देश्य से उन्होने उसका एक नेत्र भग कर दिया और अहंकाराभाव की अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्वतः अपना नेत्र भी विनष्ट कर लिया। इसी घटना से सम्बद्ध एक अन्य परम्परा भी प्रसिद्ध है। बुदोन के अनुसार आर्यदेव नालन्दा गये। वहा मातृचेट नामक माहेश्वर से शास्त्राथ किया और सद्धर्म की रक्षा की। श्रीपर्वत से नालन्दा जाते हुए आर्यदेव ने वृक्ष-देवता को अपना एक नेत्र समर्पित कर दिया। एक नत्र न होने कारण उन्हे 'काणदेव' कहा जाता था।

कहा जाता है कि नेत्र-विहीन होने पर भी वे सहस्रनेत्रवान् से अधिक ज्ञानी थे। श्वा-च्वाग के अनुसार परवर्ती बौद्धधर्म मे नागार्जुन, अश्वघोष, आर्यदेव और कुमारलब्ध अथवा कुमारलात ऐमे चार प्रतिभाशील आचार्य हुए है जिन्हे "संसार को आलोकित करने वाले चार सूर्य" कहा जा सकता है। आर्यदेव निश्चित ही कुशल तार्किक और प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे। चतुःशतक आदि ग्रन्थो मे उनकी विद्वत्ता का दर्शन होता ही है।

आर्यदेव नागार्जुन के प्रधान शिष्य थे। पीछे हम आचार्य नागार्जुन का समय चतुर्थ शताब्दी के पूर्व निश्चित कर चुके है। आर्यदेव नागार्जुन के साक्षात् शिष्य थे। अतः उनका समय भी लगभग यही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ और प्रमाण इसके पक्ष मे प्रस्तुत किये जा सकते है।

१—तारानाथ, सुम्पा, ब्लू एनल्स एवं चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति ने चौरासी सिद्धो का विवरण प्रस्तुत किया है। उसमें नागार्जुन को सोलहवा और आर्यदेव (कर्णरिपा) को अठारहवां सिद्ध बताया है। साधारणतः इन सिद्धों का काल ८ से १२वी शताब्दी माना जाता है। परन्तु इस प्रकार समय का निर्धारण

सम्भव नही। यह अधिक सम्भव है कि परवर्ती बौद्ध साहित्य और दर्शन के विकास मे जिन आचार्यों का योगदान अधिकाधिक हुआ होगा उनकी गणना सिद्धो में कर ली गई होगी। अतएव चौरासी सिद्धो की रचना एक समूचे विकास का परिणाम है, एक काल का नही। नागार्जुन और आर्यदेव की जीवनियो का अनुवाद कुमारजीव ने ई० ४०५ में किया है। अतएव इनका समय तृतीय शताब्दी का द्वितीय-तृतीय चरण होना चाहिए।

२—आर्यदेव के चतु शतक को देखने से यह स्पष्ट है कि उसकी भाषा और शैली उपरोक्त काल से उत्तरवर्ती नही। भाषा की सरलता और सहजता ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो की विशेषता है। यह विशेषता वहा द्रष्टव्य है।

३—साख्य, जैनादि दर्शनो की खण्डन परम्परा में आर्यदेव का योगदान भी उक्त काल के बाद का नही दिखाई देता है।

इन सभी कारणो से आर्यदेव को तृतीय शताब्दी का दार्शनिक माना जाना चाहिए। डॉ० लालमणि जोशी ने उनको आठवी शताब्दी का दार्शनिक स्वीकार किया है।[1] परन्तु उक्त तर्कों के आधार पर उनका मत तर्क संगत नही लगता। और न ही चौरासी सिद्धों के आर्यदेव और चतु.शतक के लेखक आर्यदेव के बीच अपृथगत्व दिखाई देता है।

आर्यदेव के नाम पर अनेक ग्रन्थो का उल्लेख आया है—माध्यमिक चतुश्शतिका, माध्यमिक हस्तबालप्रकरण, स्खलितप्रमथन युक्तिहेतुसिद्धि तथा ज्ञानसारसमुच्चय। डॉ० हरप्रसादशास्त्री ने नेपाल से आर्यदेव के एक अन्य ग्रन्थ की खोज की है। चूंकि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे लेखक का नामोल्लेख नही है फिर भी उन्होने उसे आर्यदेव का ग्रन्थ माना है। उनके मतानुसार, ऐसा लगता है, वे शून्यवादी आर्यदेव एव तान्त्रिक आर्यदेव को अपृथक् मानते हैं। परन्तु यह उचित नही। नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव को तान्त्रिक आर्यदेव से नितांत भिन्न होना चाहिए। शून्यवादी आर्यदेव के चतु.शतक, चित्तविशुद्धिप्रकरण तथा हस्तबालप्रकरण नाम के ग्रन्थ उपलब्ध होते है। अन्तिम दो ग्रन्थो के विषय मे मतैक्य नही, परन्तु हमारे मत से उनका लेखक नागार्जुन का शिष्य आर्यदेव ही होना चाहिए। चतु:शतक को बोधिसत्व योगाचारशास्त्र भी कहा गया है। जो इस बात का सूचक है कि यह ग्रन्थ बोधिसत्व सिद्धान्त और शून्यतावाद के बीच समन्वय-प्रस्थापन की मृदु भूमिका रहो है।

---

१. स्टडीज इन दी बुद्धिस्ट कल्चर आफ इन्डिया, पृ०३३६

२. बौद्धगानओ दोहा

(१) **चतुःशतक**—जैसा ग्रन्थनाम से स्पष्ट है, इसमे चार सौ कारिकाये है जो सोलह प्रकरणो मे विभाजित की गई है। प्रत्येक प्रकरण पच्चीस कारिकाओ का है। ग्रन्थ के दो भाग है। स्वमतस्थापन एवं परमतखण्डन। दोनो भागो मे आठ-आठ प्रकरण संनियोजित है। इन प्रकरणो परचन्द्रकीर्त्ति की व्याख्या भी उपलब्ध है। व्याख्या सहित अष्टम प्रकरण से सोलहवे प्रकरण तक के भाग का सम्पादन महा० डॉ० विधुशेखर भट्टाचार्य ने द्वितीय भाग के रूप मे किया था जो १९३१ मे विश्व भारती से प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व डॉ० परशुराम वैद्य एवं महा० हरप्रसाद शास्त्री ने भी इसी ग्रन्थ पर कार्य किया था। चतु.शतक के सोलह प्रकरणो के नाम एव विषय इस प्रकार है—१. नित्यग्राहप्रहाणोपाय-सन्दर्शन, २. सुखग्राहप्रहाणोपाय; ३. शुचिग्राहप्रहाणोपाय, ४. आत्मग्राह अथवा अहकारप्रहाणोपाय; ५. बोधिसत्वचर्या, ६. क्लेशप्रहाणोपाय, ७. मनुमेष्टिनभोग-विनिवेषप्रहोणोपाय, ८. शिष्यचर्या; ९. नित्यार्थप्रतिषेधभावनासन्दर्शन, १०. आत्म-प्रतिषेध भावना, ११. कालप्रतिषेधभावना, १२. दृष्टिप्रतिषेधभावना, १३. इन्द्रि-यार्थप्रतिषेधभावना; १४. अन्तग्राहप्रतिषेधभावना, १५. सस्कृतार्थप्रतिषेधभावना, एवं १६. गुरुशिष्यविनिश्चय भावना सदर्शन। उत्तर भाग पर धर्मपाल ने भी व्याख्या लखी थी। उसके अनुसार चतु शतक के विषय को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—धर्मशासन एव विग्रहशतक। धर्मदास ने प्रत्येक कारिका के साथ दृष्टान्तो का संयोजन किया था।

(२) हस्तवालप्रकरण अथवा मुष्टिप्रकरण

बुनियो नान्जियो की सूची Catalogue of the chinese Translation of the Buddhist Tripitaka) में एक प्रति का उल्लेख है जिसका नाम है मुष्टिप्रकरण (?) शास्त्र (तालान्तरक शास्त्र)। इसका अंग्रेजी मे अनुवाद "Shastra on the explanation of the first" नामक शीर्षक से किया गया है। इसे चीनी साहित्य मे दिग्नाग (Gina) का कार्य बताया गया है और तिब्बती साहित्य मे आर्यदेव का। Sir M.A. stein के द्वारा Tun-huang से लायी गई प्रतियो मे इस ग्रन्थ की भी तीन प्रतियाँ थी जिन्हे आर्यदेव द्वारा रचित बताया गया है। चीनी प्रतिया परमार्थ (५५७–५६९ ई०) और ईत्सिग (७०३ ई०) के समय की है। दोनों प्रतियो के अध्ययन से लगता है कि चीनी प्रतियो में उल्लिखित दिङ्नाग शायद व्याख्याकार रहा

होगा ।[1] इस ग्रन्थ मे कुल छः कारिकायें हैं । प्रथम पाच कारिकाओ मे संसार के मायावी स्वरूप का वर्णन और अन्तिम कारिका मे परमार्थ का निरूपण है ।

(३) चित्तविशुद्धिप्रकरण

इस ग्रन्थ मे वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध किया गया है और तान्त्रिक बातो की प्रस्थापना की गई है । इसमे वार और राशियो के भी नाम मिलते है । इन आधारो पर कुछ विद्वान उसे आर्यदेव का ग्रन्थ नही मानते । परन्तु यह ठीक नही । चतुःशतक मे भी ये बाते किसी सीमा तक प्राप्त होती है । अतः यह ग्रन्थ चतुःशतक के लेखक आर्यदेव का ही होना चाहिए । बुस्तोन ने इसे "चित्तावरणविशोधन" नाम से उल्लिखित किया है ।[2]

प्रासंगिक और स्वातन्त्रिक शाखायें

नागार्जुन और आर्यदेव के प्रबल तर्को मे शून्यवाद की स्थापना हो चुकी थी फिर भी इसका विषय जनसाधारण को हृदयग्राह्य नही था । लगभग पञ्चम-षष्ठ शताब्दी मे माध्यमिक सम्प्रदाय में मतभेद हुआ और फलतः प्रासङ्गिक और स्वातन्त्रिक शाखाओ का जन्म हुआ । बुद्धपालित और भावविवेक इन दोनो शाखाओ के क्रमशः संस्थापक माने गये है ।

प्रासङ्गिक मत के अनुसार सभी पदार्थ स्वभावतः शून्य है । वहाँ दृष्टान्त का कोई तात्पर्य नही, तथा अनुमान का कोई अर्थ नही । अतः स्वभावशून्यता के सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है । चन्द्रकीर्ति संवृत्ति सत्य को लोकसंवृति और अलोकसंवृति के भेद से दो प्रकार का मानते हैं । प्रासगिकमत की दृष्टि में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार संवृतिसत्य है परन्तु सापेक्षता के कारण वह स्वभावशून्य है । इस सिद्धान्त के विरोध मे अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये जिनके समाधान के लिए स्वातन्त्रिक शाखा को स्थापना हुई । यह शाखा विज्ञानवाद से प्रभावित थी । इसमे परमार्थ पर विशेष ध्यान दिया गया । उसके दो भेद माने गये—पर्याय परमार्थ (अभिसंस्कृत) और अपर्याय परमार्थ (अनभिसस्कृत) । सवृति के भी तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति के भेद से दो भेद कर दिये गये । ज्ञान भी परोक्ष और अपरोक्ष है । अपरोक्षज्ञान के माध्यम से ही परमार्थ का

---

१. थामस, एफ. डब्ल्यू. दी हेन्ड ट्रीटाईज, ए वर्क आफ आर्यदेव JRAS. (१९१८), पृ. २६७ ।

२. शास्त्री, हरप्रसाद, JASB. (१८९८) पृ १७५

साक्षात्कार करना सम्भव होता है। थ्यून-श्वाग ने स्वातन्त्रिको पर साख्य का प्रभाव माना और तिब्बती आचार्यो ने उन्हे माध्यमिक सौत्रान्तिक कह दिया।[१]

बुद्धपालित के विषय मे हमे अधिक ज्ञात नही। उन्होने लगभग पञ्चम शताब्दी मे नागार्जुन की माध्यमिक कारिका पर एक वृत्ति लिखी थी जो तिब्बती साहित्य मे उपलब्ध है। उन्होने चन्द्रकीर्ति के सप्तम शती की प्रथम-द्वितीय चरण मे माध्यमिक कारिका पर 'प्रसन्नपदा' नाम की वृत्ति लिखी। उनके माध्यमिकावतार और चतुःशतक वृत्ति ग्रन्थ भी उपलब्ध है। बुद्धपालित ने भावविवेक को खण्डित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। नागार्जुन के ये सफल व्याख्याकार सिद्ध हुए। **चन्द्रकीर्ति** धर्मपाल के शिष्य थे तथा भव्य और कमलसिद्धि के सान्निध्य मे उन्होन नागार्जुन का अध्ययन किया था। बुदोन परम्परा उन्हे दक्षिणवासी तथा अलौकिक शक्तियो का पुञ्ज मानती है। चित्रलिखित गाय का दोहन और विना स्पर्श किये पाषाण को स्वर्ण बना देना उनकी शक्तियों के विशेष रूप है। नागार्जुन, आर्यदेव, बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति प्रासंगिक सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य थे। इस सम्प्रदाय को "लोकप्रसिद्धि वर्गाचारि माध्यमिक" भी कहा गया है।

स्वातन्त्रिक शाखा के प्रधान आचार्य है **भव्य** अथवा **भावविवेक**। उन्होने बुद्धपालित के सिद्धातों का सूक्ष्म तर्कों से खण्डनकरने का प्रयत्न किया। ये धर्मपाल के समसामयिक और शीलभद्र के आचार्य हैं। अतः उनका समय छठी शताब्दी माना जा सकता है। महायान करतल रत्नशास्त्र, माध्यमिक हृदयकारिका, मध्यमार्थ संग्रह, तथा माध्यमिक कारिकाओ पर प्रज्ञाप्रदीप नाम की उनकी वृत्ति मिलती है। भावविवेक के बाद ज्ञानगर्भ ने माध्यमिक सत्यद्वय अथवा सत्यद्वयविभंग नामक ग्रन्थ लिखा। बुदोन परम्परा भावविवेक को योगाचार माध्यमिक सम्प्रदाय का आचार्य मानती है। तदनन्तर अवलोकित ने माध्यमिकशास्त्र पर भव्य द्वारा लिखित टीका पर प्रज्ञाप्रदीपटीका नामक अनुटीका लिखी। ज्ञानगर्भ और अवलोकित का समय आठवी शताब्दी होना चाहिए।

शांतिदेव—शून्यतावाद के अन्यतम मूर्धन्य समर्थक आचार्य शान्तिदेव का समय सप्तम शताब्दी माना जाता है। तारानाथ के अनुसार सौराष्ट्र मे उनका जन्म हुआ था। वे श्रीहर्ष के पुत्र शील के समसामयिक थे। धर्मपाल के वे शिष्य थे। बुदोन परम्परा मे भिक्षु होने के पूर्व उन्हे शातिवर्मन् कहा जाता

१. जोशी, लालमणि, स्टडीज इन दी बुद्धिस्ट कल्चर आफ इण्डिया, पृ. २२१।

था। सौराष्ट्र के कल्याणवर्मन् के वे सुपुत्र थे। दक्षिण भारत भी उनका कार्य-क्षेत्र रहा है। मञ्जुश्री उनके आराध्यदेव थे। बुदोन और सुम्पाखान्यो परम्परायें शान्तिदेव को एवं भू-शू-कू को एक ही व्यक्तित्व मानती है। उन्होने शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार ग्रन्थो का निर्माण किया। कुछ तन्त्रग्रंथ भी उनके नाम पर है। डॉ० हरप्रसाद शास्त्री भी भू-शू-कू को शान्तिदेव ही मानते है। शान्तिदेव का शिक्षा समुच्चय और बोधिचर्यावतार माध्यमिक सम्प्रदाय के अमूल्य ग्रन्थ है।

प्रज्ञाकरमति (सातवी-आठवी शताब्दी) ने शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार पर पञ्जिका लिखी। शिक्षा समुच्चय मे उल्लिखित ग्रन्थो के अतिरिक्त इसमे अनेक ग्रन्थो और आचार्यो के नामों का उल्लेख है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण है। शील भद्र (सातवी शताब्दी) ने आर्यबुद्धभूमी व्याख्यान नामक ग्रन्थ लिखा जो तिब्बती भाषा मे सुरक्षित है। सिहराश्म (षट्शास्त्र और प्रज्ञामूलशास्त्र के रचयिता) जयसेन, प्रज्ञागुप्त, भर्तृहरि (?) चन्द्र, चन्द्रगोमिन आदि आचार्यो का भी योगदान अविस्मरणीय है।

शान्तरक्षित का समय अष्टम शताब्दी माना जाता है। वे नालन्दा विद्यापीठ के अधिष्ठाता और बौद्धदर्शन के प्रमुख व्याख्याता रहे। उनका तत्वसग्रह नाम का संस्कृत मे लिखित ग्रन्थ सर्वत्र विश्रुत है। वेदान्त, साख्य, जैन, वैशेषिक आदि सभी दर्शनो की समालोचना इस ग्रन्थ मे की गई है। बौद्धदर्शन का यह महनीय ग्रन्थ है। तारानाथ के अनुसार शान्तरक्षित के अन्य ग्रन्थ है— मध्यमिकालङ्कारकारिकावृत्ति, वादन्यायवृत्तिविपञ्चितार्थ, हेतुचक्रडमारु, तत्व-सिद्धि आदि।

शान्तरक्षित की कृपा से कमलशील को तिब्बत पहुँचने का निमन्त्रण मिला। वहा उन्होंने नागार्जुन-दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। कहा जाता है कि उनके व्यक्तित्व से ईर्ष्या करने वाले कुछ लोगो ने उनकी जीवन लीला को समाप्त कर दिया। उनके प्रमुख ग्रन्थ है—तत्वसंग्रह पञ्जिका, न्यायबिन्दुपूर्वपक्षसंक्षेप, माध्यमिकालोक और भावनाक्रम। उन्हे आर्यसप्तशतिका प्रज्ञापारमिता टीका, आर्यवज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-टीका, प्रज्ञापारमिता हृदयनामटीका, दाकिनीवज्रगुह्यगीतिनाम महोपदेश एवं महामुद्रोपदेश वज्रगुह्यगीति नामक ग्रन्थो के भी लेखक के रूप मे तिब्बती परम्परा मे स्मरण किया जाते है। शान्तरक्षित और कमलशील के ग्रन्थो में माध्यमिक योगाचार के और तत्व उपलब्ध होते है। इस दृष्टि से शान्तरक्षित का महत्व और अधिक सिद्ध हो जाता है।

तान्त्रिक बौद्ध साहित्य

तन्त्र शब्द की निष्पत्ति तन् धातु से विस्तार अर्थ मे हुई है। कालान्तर मे इसी शब्द का प्रयोग बुनने के अर्थ में होने लगा। प्रतीकात्मक रूप से पुस्तक अथवा सग्रह के अर्थ मे भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। बाद मे इस शब्द का प्रवेश आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी हुआ। अध्यात्म मानवीय और ईश्वरीय शक्ति से सम्बद्ध रहता है। मानव ईश्वरीय कृपा-प्राप्ति के उद्देश्य से इष्टदेव की विविध उपासना करता है। शक्ति विशेष को समन्वित करने के लिए उपासना की पद्धतियो मे क्रमिक विकास होता जाता है। इस सन्दर्भ मे ज्ञान की अपेक्षा क्रिया का महत्व अधिक बढ जाता है।

शक्ति की उपासना व्यक्ति की दुर्बलता की अनुभूति पर निर्भर करती है। उपासना दुर्बलताजन्य भावो को उद्दीप्त करने का मात्र आयास है। सब कुछ होते हुए भी व्यक्ति स्वयं को ईश्वर विशेष से हीन समझता है। फलत: उसकी उपासनाकर वह अपनी विपत्तियो का दूर करने का प्रयत्न करता है। तन्त्र का जन्म यही होता है। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन मे मातृशक्ति का दर्शन, वैदिक साहित्य मे ऋचायें और स्तोत्र, गीता-मनुस्मृति का जप-तप तथा योग एवं उपनिषद्, संहिता आदि की मन्त्रात्मक प्रवृति, जैन एवं बौद्ध संस्कृति के विविध स्तोत्र और मन्त्रप्रकार मानवीय प्रकृति को प्रस्तुत करने के उत्तम उदाहरण है। उपासना का सम्बन्ध कर्मों की निर्जरा करने से है। अतः तन्त्र का उपयोग कर्म के कठोर जाल से मुक्त होने के लिए किया गया। इस प्रक्रिया के मुख्य लक्षण है—ज्ञान और कर्म का समुच्चय, शक्ति की उपासना, प्रतीकप्राचुर्य, गोपनीयता, अलौकिक सिद्धि चमत्कार, गुरु का महत्व, मुद्रा-मण्डल-यन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग, सासारिक भोगों का सम्मान एवं उनका अध्यात्मिक उपयोग[1]।

बौद्धधर्म मे तन्त्र की यह समूची पृष्ठभूमि उपलब्ध होती है। वहा मूलरूप में चेतसिक क्रियाओं का अभियोग स्मृति और साधना के सन्दर्भ मे दिखाई देता है। तन्त्र का विकास होने पर उसे प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध करने की दिशा मे प्रयत्न प्रारम्भ हुए। फलतः सेकोद्देशटीका (पृ. ३-४) मे कालचक्र-

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ४५७.

तन्त्र की व्याख्या के प्रसंग मे मन्त्रयान को दीपकर बुद्ध द्वारा सञ्चालित माना। बाद मे शाक्य मुनि गौतम बुद्ध ने उसे स्वीकार कर धान्यकटक पर्वत पर मन्त्र-यान का उपदेश दिया। तिब्बती परम्परा भी इसे स्वीकार करती है। उसमे भगवान् बुद्ध के तीन धर्मचक्रप्रवर्तनो का उल्लेख हुआ है—ऋषिपत्तन, गृध्रकूट और धान्यपिटक। इसी प्रकार की अन्य परम्पराये भी मिलती है। यथा—साधनमाला मे यह कहा गया है कि जागुलि का साधन बुद्ध द्वारा किया गया,तथा वज्रसरस्वती का साधन बुद्ध के अनुसार कराया गया। ये सभी परम्परायें इतिहास संगत नही मानी जा सकती। भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार के साधन कभी नही अपनाये। आटानाटीयसुत्त जैसे कुछ सुत्त अवश्य त्रिपिटक मे उप-लब्ध होते है परन्तु उन्हे या तो प्रक्षिप्त माना जाना चाहिए अथवा अधिक से अधिक हम उन सुत्तो मे तन्त्रयान के बीज पाने का उपक्रम कर सकते हैं।

तन्त्रयान का वास्तविक प्रारम्भ महासांघिक सम्प्रदाय से हुआ है। उसमे एक पृथक् रूप से निबद्ध 'धारणीपिटक' इस बात का प्रमाण है कि तन्त्र-परम्परा महासाधिक सम्प्रदाय मे अधिक लोकप्रिय थी। ललितविस्तार, समाधिराज, लंकावतार आदि सूत्रो मे भी यह परम्परा दिखाई देती है। आन्ध्रक, वैतुल्यक आदि शाखाओ मे 'मिथुन' को अध्यात्म से सम्बद्ध किया गया है। करण्डव्यूह मे एक धारणी बुद्ध के विषय मे भी निबद्ध की गई है। अष्टसाहस्रिक प्रज्ञापारामिता, प्रज्ञापारमिताहृदय, प्रज्ञापारमिता एकाक्षरी आदि ग्रन्थ भी इस दृष्टि से महत्व-पूर्ण है!

प्रज्ञापारिमता एक देवी का रूप माना गया। नाग, यक्ष, गन्धर्व आदि के समान प्रज्ञा की भी उपासना की जाने लगी। नागार्जुन के धर्मसग्रह में पांच बुद्ध, चार देविया, अठारह लोकपाल और छः योगिनियो के नाम मिलते है। सुखावती व्यूह मे अमिताभ और अमितायु का उल्लेख मिलता है। करण्डव्यूह में उन्हे महेश्वर कहा है। स्वर्णप्रभाम मे चार ध्यानीबुद्ध और श्रीमहादेवी एवं सरस्वती के उल्लेख आये हैं। मैत्रेयनाथ का महायानसूत्रालंकार भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

महायन के तत्वो का विकास **वज्रयान** मे हुआ। महायान के धारणी तन्त्रयान मे मन्त्र बन गये। अवलोकितेश्वर एक महिमाशाली देवता के रूप मे उपस्थित हुए। मैत्रेय और असंग के 'परावृत्ति' सिद्धान्त ने तन्त्रयान की भूमिका का कार्य किया। तन्त्रयान के मुख्य तत्व हैं - कुण्डलिनीयोग, मंत्र, यन्त्र, षट्कर्म, सिद्धिया, पंचमकार अधिकारभेद, हठयोग, गुरुशिष्ययोग आदि। नागार्जुन तिब्बती परम्परा के अनुसार तन्त्रयान के प्रतिष्ठापक थे। ये नागार्जुन माध्यमिक

आचार्य नागार्जुन से भिन्न होना चाहिए। इसी तरह आर्यदेव को भी इससे सम्बद्ध नही किया जा सकता। क्योकि वज्रयान के ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प और गुह्यसामजतन्त्र मे तन्त्र साधना का प्रारम्भिक रूप तो रहा है पर उसका विकसित रूप सप्तम शताब्दी के बाद ही मिलता है। आर्यदेव को सप्तम-अष्टम शताब्दी का आचार्य नही माना जा सकता। जैसा कि पहले हम देख चुके है, चौरासी सिद्धो मे शून्यवादी आर्यदेव का सम्मिलन उनकी पूर्व लोक प्रियता का कारण रहा होगा।

वज्रयान के तान्त्रिक ग्रन्थो को चार वर्गो मे विभक्त किया जाता है—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतंत्र और अनुत्तर योगतंत्र। आदि कर्मप्रदीप, अष्टमी व्रतविधान, साधनमाला, साधनसमुच्चय आदि ग्रन्थ वज्रयान के प्रधान ग्रंथ है। यहां गुह्यसाधना का महत्व अधिक बढा। तत्वरत्नावली, अद्वयवज्रसंग्रह भी इसी कोटि के ग्रंथ है। वज्रयान से **सहजयान** की उत्पत्ति हुई।

तारानाथ के अनुसार सरह और कम्पल ने हेवज्रतंत्र और अनुत्तरयोगतंत्र लिखे। ये दोनों तंत्र गुह्यसमाज के थे। इंद्रभूति की ज्ञानसिद्धि और पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि भी गुह्य समाज से सम्बद्ध ग्रंथ है। सरह के ग्रंथो मे बुद्धकपाल-तंत्र पञ्जिका, बुद्धकपालसाधन, बुद्धकपालमण्डलविधि, त्रैलोक्यवशंकरालोकेश्वर-साधन, दोहाकोशगीति, दोहाकोशनामचर्यागीति, काव्यकोशामृतवज्रगीति आदि प्रमुख है। सिद्ध नागार्जुन के व्रजतारासाधन और एकजटासाधन ग्रंथ मिलते है। उनके अन्य ग्रंथ है—मंत्रालंकारसाधन, कक्षपुटपिण्डीकृतसाधन, गुह्यसमाज-मण्डलविधि, सेकचतुरप्रकरण, स्वभावसिद्धयुपदेश, वज्रयानस्थूलपत्ति, प्रज्ञापारमि-ताहृदयसाधन, लोकेश्वरसाधन, नीलाम्बरोपसिद्धि, वज्रपाणिमण्डलविधि, हयग्रीव-साधन, धर्मधातुस्तोत्र, कालत्रयत्रयस्तोत्र, सत्वाराधनस्तव, प्रज्ञापारमितास्तोत्र, नरकोद्धार समाधिभाषाटीका आदि। इसी प्रकार अन्य सिद्धो का भी विपुल साहित्य मिलता है।[१] वह अधिकांश रूप मे तिब्बती भाषा मे सुरक्षित है।

सहजयान के बाद **कालचक्रयान** का उद्भव हुआ। यह समय लगभग दसवी शताब्दी माना जा सकता है। कालचक्रतंत्र और उसकी टीका विमलप्रभा काल-चक्रयान के प्रमुख ग्रंथ है। मञ्जुश्री और सुचंद्र इसके विशिष्ट आचार्य है।

हमने तांत्रिक साधना का यह अत्यंत संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया है। उसका साहित्य संस्कृत और अपभ्रंश मे अधिक है। नागरी रूपांतर अभी कम हो सका है। फिर भी, जो जानकारी उपलब्ध है उससे बौद्ध-तंत्र-साहित्य निश्चित ही प्रभावक सिद्ध होता है।

---

१. स्टेडीज इन बुद्धिष्ट कल्चर आफ इण्डिया, पृ. २०५-६

परिवर्त ४

बौद्धदर्शन तथा उसका विकासक्रम

१. विकासक्रम

भगवान् बुद्ध अपने धर्म की स्थापना करने के उपरान्त आचार और विचार से उस कोमल पौधे को अविरत सिञ्चित करते रहे। उन्होने अपने जीवनकाल मे ही उस पौधे को वृक्षाकार में बढने ही देख लिया। तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे बौद्धधर्म की स्थापना ने निश्चित ही जनसमुदाय को एक नया दृष्टिकोण दिया। फलतः उसे लोकप्रिय बनने मे अधिक देर नही लगी। वैदिक, जैन एवं जैनेतर विचार - धाराओ का आलम्बन लेकर सम्यक्सम्बुद्ध आगे बढे और खण्डन—मण्डन की परम्परा मे उन्होने अपना विशेष योगदान दिया।

गति और विकास जीवन का लक्षण है। जिन धर्मो मे गति और विकास बना रहा, वे धर्म तो बचे रहे और जिन धर्मो ने तत्कालीन आवश्यकताओ के अनुरूप स्वयं को इस परिवर्तन से दूर रखा वे कालान्तर मे नामशेष हो गये। बौद्धधर्म एवं दर्शन का विकास, जैसा हम अभी देख चुके है, जीवन के इस चिरन्तन तथ्य को अपने अंक मे समेटे हुए चलता रहा। हीनयान और महायान जैसी शाखायें इसी विकास के ज्वलन्त परिणाम है।

'यान' शब्द मार्ग और वाहन का पर्यायार्थक है। मार्ग और वाहन प्रगति के प्रतीक है। प्रतीकात्मक रूप मे यान शब्द का उपयोग वैदिक, जैन एवं बौद्ध परम्पराओ मे देखा जाता है। ब्रह्मयान और धर्मयान जैसे शब्द संयुक्त निकाय में प्रयुक्त है। सम्भवतः उन्ही का आश्रय लेकर उत्तरवर्ती बौद्धधर्म की शाखाओ ने स्वयं को मूल धर्म से विभक्त करने के लिए उद्देश्य के आधार पर हीनयान एवं महायान की संज्ञा दी हो। महायानी आचार्यो ने अपनी परम्परा को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से समीक्षा की परिभाषा मे मूल बौद्धधर्म और उसकी शाखाओ को हीनयान की संज्ञा दी तथा स्वयं को महायानी कहना-कहलाना स्वीकार किया। अन्य संज्ञाओं की अपेक्षा ये दो नाम अधिक प्रचलित हुए है। एकयान, अग्रयान, बोधिसत्वयान तथा बुद्धयान महायान के पर्यायवाची शब्द है और श्रावकयान तथा प्रत्येकबुद्धयान हीनयान के नामान्तर है। तीन यान होते

हुए भी वास्तविक यान एक ही है और वह है महायान सद्धर्मपुण्डरीक । भगवान् बुद्ध उपाय कौशल के माध्यम से उपदेश दिया करते थे, हीन सत्वो को दिया गया उपदेश हीनयान कहलाता और महसत्वो को दिया गया उपदेश महायान कहलाता

हीनयान और महायान दर्शन मे कुछ मूलभूत अन्तर है :—

(i) असग ने आशय, उपदेश, प्रयोग,उपस्तम्भ एवं काल के रूप मे उक्त दोनों सम्प्रदायो मे यह भेद व्यवस्थित किया है।

(ii) हीनयान मे पुद्गलनैरात्म्य के चिन्तन के माध्यम से क्लेशावरण का विनाश किया जाता है परन्तु महायान मे धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण का विनाश होता है।

(iii) हीनयान का उपदेश प्रथमतः पञ्चवर्गीय भिक्षुओ के सम्मुख दिया गया और महायान का उपदेश अनन्त बोधिसत्वो के समक्ष गृध्रकूट पर्वत पर दिया गया।

(iv) महायान मे बोधिसत्व समस्त संसार के निर्वाण प्राप्त होने के बाद ही स्वयं निर्वाण प्राप्ति स्वीकार करते है, पर यह विचार हीनयान मे नही।

(v) महायान के अनुसार बुद्धदेशना दो प्रकार की है—गुह्य एवं व्यक्त।

(vi) महायानी साहित्य मे कल्पना का आधिक्य अधिक है।

(vii) महायानी बुद्ध अधिक लोकोत्तर है।

(viii) बुद्ध ने साधारण और सरल उपदेश हीनयानियो को तथा कठिन उपदेश महायानियो को दिया है।

(x) परमार्थतः यानो मे भेद नही। एकात्मक होकर वे एक यान मे ही समाहित हो जाता है।

(x) परावृत्ति योग महायान की विशेषता है।

(xi) महायान में दो प्रकार के सत्यो का आधार अधिक लिया गया है—सवृतिसत्य और परमार्थसत्य।

(xii) मूलत. दो काय थे—रूपकाय (भौतिक शरीर) तथा धर्मकाय (अध्यात्मिक शरीर)। महायान मे सम्भोग अथवा निर्माणकाय (अवतारवाद) पर अधिक जोर दिया गया।

(xiii) स्थविरवाद का आदर्श अर्हत्व प्राप्ति था पर महायानी आदर्श बोधिसत्व हो गया। तथा अष्टाङ्गिकमार्ग के स्थान पर बोधिसत्वचर्या का विकास हुआ।

हीनयान और महायान के बीच यह सामान्य अन्तर हमने देखा। अब हम बौद्धदर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का विकासात्मक आधार पर अध्ययन करेंगे। और यह देखेंगे कि आर्यदेव का उस विकास मे क्या योगदान रहा। यहा हम यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि बौद्धेतर, विशेषत: जैन, साहित्य मे बौद्ध सिद्धान्तों को किस रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ विभिन्न धर्मो की समालोचना करते हुए मानव को नैतिक भूमिका पर प्रस्तुत करने से हुआ है। यहा कुशल-अकुशल कर्मों की व्याख्या तथा सांक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों का प्रस्तुतीकरण किया गया। धर्म की इस कुशल-अकुशलमयी कर्मों की व्याख्या के सन्दर्भ मे अनात्मवाद को उपस्थित किया गया। इसके बाद सब कुछ क्षणिक है, कुछ भी स्थायी नही, यह सिद्धान्त रखा गया। तदनन्तर क्षणभङ्गुर तत्वो को प्रतीत्य-समुत्पन्न मानकर संस्कृत धर्मो के साथ हेतु-प्रत्ययजन्य प्रतीत्यसमुत्पन्न माना गया। बौद्धदर्शन की दृष्टि मे संसार मे रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पृष्टव्य स्वरूप आयतन और वेदना, संज्ञा व संस्कार स्वरूप विज्ञान ये दो मूलतत्त्व है जिनमे मूलत: आत्मा जैसा कोई स्थायी क्रियाशील तत्त्व विद्यमान नही। शेरवात्स्की के अनुसार यह सम्पूर्ण मतवाद चार आर्यसत्यो मे विभाजित है (१) जीवन एक अशान्त संघर्ष है, (२) उसकी उत्पत्ति पाप पूर्ण वासनाओ से होती है, (३) चिरन्तन शान्ति ही चरम अभीष्ट है, और (४) एक ऐसा मार्ग है जहां जीवन के निर्माण में सहायक समस्त संस्कार क्रमश: लुप्त हो जाते है। धर्मचक्र के प्रथम प्रवर्तन का यही उद्देश्य है[१]। अर्हत् - प्राप्ति एवं व्यक्तिगत निर्वाण की उपलब्धि को इस काल मे चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया।

द्वितीयकाल मे बौद्धधर्म बहुत्त्ववाद से हटकर मौलिक एकतत्त्ववाद की ओर परिवर्तित हुआ। आरम्भिक वादों को सनात्मवाद अथवा नि:स्वभाववाद (पुद्गलशून्यता) नाम दिया गया जबकि बौद्ध दर्शन को नैरात्म्यवाद से सम्पृक्त किया गया। पुरातन बौद्ध दर्शन मे सभी धर्म परस्पर अपेक्ष्य और वास्तविक हैं जबकि नवीन बौद्ध दर्शन में समस्त धर्म परस्पर अपेक्ष्य न होने के कारण अवास्तविक है। यहाँ वास्तविक हेतुवाद का सर्वथा निराकरण किया गया है। अनुभूत वास्तविकता का सर्वथा प्रतिवाद न कर उसे आर्यसत्य के स्थान पर संवृतिसत्य और परमार्थसत्य के रूप में विभाजित कर दिया गया।

---

१. बौद्धन्याय, पृ० ६, प्रस्तावना

इसके बाद आरम्भिक बौद्ध दर्शन मे जिन धर्मों को केवल निर्वाण में प्रसुप्त और साधारण जीवन में सक्रिय माना गया था, यहाँ चिरप्रसुप्त और उनकी सक्रियता को मात्र भ्रमात्मक प्रतीति माना गया।

हीनयान के आदर्श को स्वार्थपरक बताकर वैयक्तिक मुक्ति के स्थान पर अखिल प्राणि जगत की मुक्ति की परिकल्पना, पारमिता व महाकरुणा के अभ्यासपूर्वक धर्मकाय की स्थापना की पृष्ठभूमि में अमला प्रज्ञा के स्थान पर प्रज्ञापारमिता के रूप मे ज्ञानकाय का समीकरण, बुद्ध के मानवीय व्यक्तित्व के स्थान पर उनके सम्भोग काय के रूप मे ईश्वर कल्पना, परन्तुजगत्स्रष्टा के रूप मे नही, एकत्ववाद की प्रतिस्थापना, तांत्रिक संस्कारो का ग्रहण व मूर्ति-पूजा का प्रचलन, तथा शून्यवाद का स्थापन ये विशेषतायें इस काल की रही।

बौद्धदर्शन के **तृतीयकाल** की विशेषता-न्यायशास्त्र में गहन अभिरुचि से स्पष्ट हुई। फलस्वरूप इसमे स्वसंवेदना की वैधता की स्वीकृति, प्रत्येक अस्तित्व की मानसिक कल्पनात्मक स्वीकृति और बौद्धधर्म का आदर्शवादी रूप, ईश्वर-बुद्धि के स्थान पर आलय-विज्ञान को एवं ईश्वरेच्छा के स्थान पर अनादिवासना को स्थापित किया गया[1]।

जैन साहित्य में बौद्धर्शन के उक्त तीनो कालो के रूप दिखाई दे जाते है। जैनाचार्यो ने बौद्ध दर्शन की शाखाओ को स्थूलतः चार भागो में विभाजित किया है—वैभाषिक और सौत्रान्तिक तथा योगाचार और माध्यमिक। प्रथम दो शाखायें हीनयान से सम्बद्ध है और बाद की दो शाखायें महायानी हैं।

वैभाषिक के अनुसार जैसा अभ्यन्तर ज्ञान प्रतीत होता है, वैसा ही बाह्य पदार्थ भी सत् है, क्योकि बाह्य पदार्थ की शुद्धि के बिना ज्ञान मात्र से खान-पान, ग्रहण-त्याग इत्यादि व्यवहार नही हो सकता **सौत्रान्तिकों** का मत है कि बाह्य पदार्थ है अवश्य परन्तु वे अतीन्द्रिय हैं। **वैभाषिक** खण्डन करते है कि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्षज्ञानगम्य नही क्योकि क्षणिक होने के कारण उनका इन्द्रिय - सम्पर्क होते ही प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति होने के पूर्व ही वे नष्ट हो जाते है। इस स्थिति मे वे प्रत्यक्ष-ज्ञानगम्य नहीं हो सकते। वे तो ज्ञान के संवेदन पर कल्पनीय अथवा अनुमेय होते हैं। **योगाचार** के अनुसार बाह्यपदार्थ जैसी कोई वस्तु

---

१. वही, पृ. ६–१७

नही, क्योंकि उपलब्धि के समकाल में ही वे दृष्टिगोचार होते है। उपलब्धि बिना कोई भी पदार्थ नही दिखाई देता। अतः विज्ञान मात्र ही सत् है और दृष्ट अर्थ उसका आकार मात्र है। योगाचार मत ज्ञान को साकार मानता है। माध्यमिक सम्प्रदायी यह मानते है कि एक मात्र शुद्ध, स्वच्छ, निराकर ज्ञान ही सत् है और सभी दृश्यमान् साकार ज्ञान एवं बाह्य पदार्थ असत् है। क्योकि उनके सत् होने मे अनेक विरोध, और अनुपपत्तिया है—

अर्थो ज्ञान समन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते,
प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सूत्रान्तिकैराश्रितः ।।
योगाचारमतानुगैरभिहिता साकारबुद्धिः परा,
मन्यन्ते वत् मध्यमाः कृतधियः स्वच्छा परां संविदम् ।।

बौद्धदर्शन के विकास का चतुर्थकाल है तान्त्रिक साधना का बढाव। इस काल मे बौद्ध विचारो का उतना अधिक विकास नही हुआ जितना अधिक बौद्ध आचार का। तान्त्रिक विचार धारा अपनी चरम स्थिति पर इसी काल मे पहुंची। बोद्धधर्म का यह चरम विकास एक भ्रष्ट रूप मे सामने आया और यही रूप उसके ह्रास का प्रमुख कारण बन गया। अतएव बौद्धधर्म के ह्रास को पृथक् काल निर्धारित नकर इसी मे उसे गर्भित मान लिया गया।

२ बौद्धदर्शन के प्रमुखतत्त्व और उनकी व्याख्या

१. अव्याकृततावाद

बुद्ध कालीन समाज धार्मिक क्रान्ति के कगारों पर था। प्रचीन परम्पराओं से उन्मुक्त होकर चिन्तन करने का उसने बीड़ा उठा लिया था। बुद्ध और महावीर का पथदर्शन यज्ञवाद की आधारशिला से विद्रोह करने की ओर विशेष था जिसे समाज ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

---

१. ललित विस्तरा, पृ. २२३

बुद्धकालीन समाज की एक विशेष प्रवृत्ति थी कि वह तीर्थंकर, धर्मप्रवर्तक अथवा धर्मोपदेशक से आत्मा, ईश्वर और लोक के सन्दर्भ मे प्रश्न पूछकर स्पष्ट उत्तर चाहता था। भगवान् बुद्ध को ऐसे अनेक प्रसंगो का सामना करना पड़ा। विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक रूप से उन प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत कर उन प्रसंगो मे और अधिक उलझना ही था। और फिर ऐसे प्रश्नो का उपयोग भी कोई विशेष अधिक नही था। अतएव भगवान् बुद्ध ने उनका कोई उत्तर न देना ही उचित समझा[1] और कहा कि तर्क की कसौटी पर कसकर ही मेरे वचनो का मूल्याङ्कन किया जाय[2]।

ऐसे उक्त प्रश्नो को भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत कहा है। इन अव्याकृत प्रश्नो की संख्या मूलतः दस है—

(१) सस्सतो लोको, (२) असस्सतो लोको, (३) अन्तवा लोको, (४) अनन्तवा लोको, (५) तं जीव तं सरीरं, (६) अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं, (७) होति तथागतो परं मरणा, (८) न होती तथागतो परं मरणा, (९) होति च न च होति तथागतो परं मरणा; और (१०) नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा[3]। महायानी साहित्य मे इनकी संख्या चौदह बतायी गई है। वहां लोक के सन्दर्भ मे चार के स्थान पर आठ प्रश्न उपस्थित किये गये है[4]। शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद और उच्छेदवाद से बचने के लिए ही अव्याकृत प्रश्नो की स्थापना की गई थी[5]।

एक अन्य प्रकार से भी बुद्ध ने प्रश्नो को समाधानित करने का मार्ग खोजा और वह मार्ग चार प्रकार का बताया—(१) एकंस व्याकरणीय,

---

१. न हेतं, पोट्ठपाद, अत्थसंहितं, न धम्म संहितं, नादि ब्रह्मचरियकं, न निब्बिदाय न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न न सम्बोधाय, न निब्बानाय संवत्तति तस्मा तं मया अव्याकतं दी. ९.३.१६

२. तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥ ज्ञानसारसमुच्चय, ३१

३. दी. ९ ३. १६

४. दि बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ. १३६.

५. मज्झिमनिकाय, अलगद्दूपमसुत्त

(२) पटिपुच्छा वाकरणीय, (३) ठापनीय, और (४) विभज्ज वाकरणीय[1]। इस आधार पर उन्होने विभजवादिन् भी अपने आपको कह दिया इसी प्रकार बुद्ध ने अनेकांशिक आधार पर भी प्रश्नो का उत्तर दिया है (अनेकंसिका पि मया धम्मा देसिता पञ्ञत्ता)[2]। सम्भव है, उत्तर देने के दो प्रकार रहे हो--एकांशिक और अनैकांशिक । अन्तिम तीन भेद अनैकांशिक के होगे ।

भगवान् बुद्ध का यह बौद्धिक चिन्तन दार्शनिक क्षेत्र मे नितान्त व्यावहारिक था । आचार क्षेत्र में इसी चिन्तन को उन्होने **'मज्झिम पटिपदा'** के रूप मे प्रयुक्त किया । विचार और आचार क्षेत्र मे उक्त दोनो सिद्धान्तो ने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की । समूचा बौद्ध साहित्य इसका प्रमाण है। उसमे परमार्थं तत्त्व को वाचाऽवाच्यम्' और अनक्षर धर्मश्रुति कहा गया है । चन्द्रकीर्ति ने इसी परमार्थ को 'आर्याणां तूष्णीभावः' लिखा है[3] और लकावतार ने तो तथागत को सदैव मौन बता दिया है।

तथागत का अव्याकृततावाद निःसन्देह विवादग्रस्त दार्शनिक प्रश्नों से दूर रहकर अध्यात्मिक चिरन्तन शान्ति की प्राप्ति की दृष्टि मे महत्वपूर्ण था। परन्तु उत्तर काल मे उनका मौन भंग कर दिया गया और मूल बौद्ध सिद्धान्तो को समयानुकूल विकसित, परिवर्तित एवं परिवर्धित स्वरूप मे उपस्थित किया गया ।

---

२. आर्यसत्य

आर्यसत्य बौद्ध चिन्तन की मूल भूमिका है। इसी की प्राप्ति हो जाने पर ही गौतम को बुद्ध और सम्यक् सम्बुद्ध कहा गया।[4] आर्यसत्यो की ज्ञान-प्राप्ति के बाद साधक अष्टम जन्म ग्रहण नही करता । उस

---

१. एकसवचनं एकं विभज्जवचनापरे।
ततियं पटिपुच्छेय्य, चतुत्थं पन ठापये ॥ अंगुत्तर, ४.५२

२. दी, ९.४.१९ ३. माध्यमिक वृत्ति, पृ. ५६

४. विसुद्धिमग्ग, १६. २१, ७, २६

साधक को संघ का उत्तम रत्न (रतनं पणीतं) कहा गया है। दर्शन प्राप्ति के साथ-साथ उसके तीन संयोजन (बन्धन) नष्ट हो जाते है— सत्काय दृष्टि (नित्य आत्मा का विश्वास), विचिकित्सा (संशय) तथा शीलव्रतपरामर्श (विविध प्रकार के व्रतों के कर्म काण्ड से चित्तशुद्धि की प्राप्ति मे विश्वास)। वह चार दुर्गतियो और छः घोर पापों से निर्मुक्त हो जाता है[1]।

आर्यसत्यो की संख्या भ० बुद्ध ने चार बताई है—दुःखसत्य, दुःख समुदयसत्य, दुःखनिरोध सत्य और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा सत्य। ये सत्य किसी से प्रच्छन्न नही है। नामरूप दुःखात्मक है। समूचा सांसारिक जीवन दुःखमय है। जन्म से मरण तक कही भी सुख नही। सम्पत्ति आदि का जो सुख है भी, वह मात्र सुखाभास है[2]। वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य मे लगभग समान रूप से दुःख के सन्दर्भ मे विचार किया गया है। दुःख-समुदय मे दुःख की उत्पत्ति के कारण बताये गये है। मुख्य कारण है तृष्णा। उसके तीन भेद है—कामतृष्णा, भवतृष्णा, और विभवतृष्णा। इसके अन्तर्गत प्रतीत्य-समुत्पाद अथवा निदान को परिगणित किया गया है। विभज्य-वादी परम्परा मे भवतृष्णा को समुदय और शेष अन्य तृष्णाओ को सास्रव हेतु माना गया है। दुःखनिरोधसत्य मे तृष्णा का पूर्णतः नाश और निर्वाण की प्राप्ति का उल्लेख है। विभज्यवादी मात्र तृष्णा के क्षय को निरोधसत्य मानते है और शेष त्रयो को केवल निरोधात्मक स्वीकार करते है। चतुर्थ सत्य मे दुःख निरोध अथवा निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट है। इसके अन्तर्गत शमथ और विपश्यना तथा बोधिपाक्षिक धर्मों का परिगणन होता है। आर्यसत्य के विकास का यह द्वितीत चरण है।

३. बोधिपाक्षिक धर्म—भ. बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय भिक्षुओ से निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए बोधिपक्षीय धर्मो का पालन करना अवश्यक बताया था। ये धर्म संख्या मे सैंतीस है[3]।

१. चार स्मृति स्थान—साधक को काय, वेदना, चित्त और धर्म मे अनुपश्यना करनी चाहिए। पालि साहित्य मे कहा गया है कि भिक्षु को "सतो सम्पजानो समाहितो" होना चाहिए[4]। इसका तात्पर्य है कि भिक्षु अपने प्रत्येक कार्य में सजग रहे।

---

१. सुत्तनिपात, २.१.८–१०. २. वही, ३-८. धम्मचक्कपवत्तन सुत्त, (संयुत्त.)
३. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त। ४. इतिवुत्तक, जागरियसुत्त।

२. चार सम्यक् प्रधान—सत्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। (i) अनुत्पन्न अकुशल धर्मो की अनुत्पत्ति के लिए सम्यक् प्रयत्न करना, (ii) उत्पन्न अकुशल धर्मो के विनाश के लिए प्रयत्न करना, (iii) अनुत्पन्न कुशल धर्मो की प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर प्रयत्न करना, और (v) उत्पन्न कुशल धर्मो की स्थिति के लिए प्रयत्न करना।

३. चार ऋद्धिपाद—छन्द, वीर्य, चित्त और विमर्श।

४. पांच इन्द्रियां—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, और प्रज्ञा। इन्हे आध्यात्मिक विकास की सोपान मानी जा सकती है।

५. पांच बल—उक्त पांचो ही बल है। अंगुत्तर निकाय मे स्मृति, ह्री, अपत्राप्य, वीर्य और प्रज्ञा को पंचबल कहा गया है। श्रद्धा एवं समाधि को जोड़कर सात बल भी उल्लिखित है।

६. सात बोध्यंग—स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि, तथा उपेक्षा सम्बोधि प्राप्तिमे सहायक है। पांच नीवरणो[१] के प्रतिकार के लिए इनकी विशेप उपयोगिता है।

७. आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाणी, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि। ये आठो सम्यक् मार्ग प्रज्ञा, शील और समाधि स्कन्धो मे विभाजित है। प्रथम तीन प्रज्ञा स्कन्ध मे, चतुर्थ और पञ्चम शील स्कन्ध मे तथा शेष समाधि स्कन्ध मे अन्तर्भूत है।

संयुत्त निकाय मे इन बोधिपक्षीय धर्मो का उक्त क्रम नही मिलता। वहा अष्टाङ्गिक मार्ग का उल्लेख सर्व प्रथम किया गया है। श्रीमती रिज डेविड्स ने अष्टाङ्गिक मार्ग को बुद्ध की मूल देशना का अंग माना है[२]। परन्तु डॉ. पाण्डेय ने अंगुत्तर निकाय के अष्टक निपात मे तथा दीघनिकाय के संगीत सुत्त मे उनका उल्लेख न होने से इस मान्यता पर प्रश्न चिन्ह खडा कर दिया है[३]। किन्तु इतने से ही अष्टाङ्गिक मार्ग को मूल देशना से वहिर्भूत नही किया जा सकता। तथ्य यह है कि चूंकि उसका अन्तर्भाव आर्यसत्य के अन्तर्गत हुआ है अतः उक्त स्थानो पर उसका

---

१. कामच्छंन्द, अभिध्या व्यायाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, एवं विचि-कित्सा।

२. शाक्य, पृ. ८९.

३. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ११७

परिगणन आवश्यक नही था। धम्मपद में इसी को निर्वाण प्राप्ति का मर्गा कहा है, अन्य को नही[1]। इस स्थिति मे अष्टाङ्गिक मार्ग को धर्मदेशना का मूल भाग स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। पालि साहित्य में प्राय: अष्टाङ्गिक मार्ग के क्रम पर विशेष ध्यान नही दिया गया। सम्भव है इसका कारण उसकी अधिकाधिक लोकप्रियता और उपयोगिता रही हो।

३. अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद

निरात्मवाद बुद्ध का एक सफल क्रान्तिकारी प्रयोग है। जिस युग में आत्मा आदि के अस्तित्व अथवा नास्तित्व के सन्दर्भ मे व्यक्तित्व को परखा जाता था उस युग में ऐसे ज्वलन्त प्रश्नो पर मौन हो जाना अथवा अनत्त कहकर उसका विश्लेषण करना निश्चित ही एक नया चिन्तन था। तीर्थिक आत्मवाद को लेकर परस्पर अवगुण्ठित और विवाद ग्रस्त होरहे थे। तथा सारा जन समुदाय भी उनके इस बौद्धिक कलह से संत्रस्त और विपथगामी हो रहा था[2]। इस कटुता जन्य परिस्थिति का सूक्ष्मान्वेक्षण कर बुद्ध ने आत्मा की सर्वप्रथम यह व्याख्या की कि चूंकि यह समूचा जगत अनित्य, भयावह और दुःखकारी है अतएव इसे अनात्म (अपना नहीं है) मानो। ज्ञान-प्राप्ति का यही साधन है[3]। अज्झत्तचिन्ती, अज्झत्तं सु., अनुयुञ्जथ, अत्तकाम, अत्तानं गवेसे पयाथ, अन्धकारेण ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ, अत्तदीपा विहरथ आदि उपदेशो मे बुद्ध ने यही उपदेश दिया है। इसके बाद अत्तभाव की परवर्ती व्याख्या अहं भाव भी है जिसका परित्याग निर्वाणोन्मुख भिक्खु के लिए अपरिहार्य बताया गया है। इन उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने संसार से वैराग्य जागृत करने के लिए दुक्खसमुदयनिरोध की भावना से अनात्मवाद की स्थापना की थी। इसीलिए दुःखसमुदय का मूल कारण तृष्णा का निरोध हो जाने से प्रतिसंख्या ज्ञान की उत्पत्ति बतायी है। ५ स्कन्ध, १२ आयतन, और १८ धातु इन ३६ धर्मो

---

१. ऐसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया ········· २०. २–३
२. दीघनिकाय-ब्रह्मजाल सुत्त, सामञ्ञफलसुत्त आदि, सूयगडंग, प्रथम अध्याय।
३. अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो मनसिकरोतो ञाणं उप्पज्जति पटिसम्भिदामग्ग, २. १००-१०१.
४. उदान, ४.१

को तथागत ने अनात्मा माना और उनसे आसक्ति तथामोहाच्छन्नता को दूर करने का आदेश दिया है[1] । अनात्मवाद के विकास का यह **प्रथम चरण** है ।

जन समुदाय को आत्मवाद की ओर से विमुखकर भगवान् बुद्ध का उसे व्यावहारिक दृष्टिकोण की ओर आकर्षित करने का यह सफल प्रयत्न था । मूलतः विवादास्पद और अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व के प्रति व्यक्ति के इस आत्मास्तित्ववाद को उसके दुराग्रह का प्रतीक बनाया गया । जनता को शीघ्र आकर्षित करने का भी यह श्लाघ्य उपाय था कि मूलभूत समस्या के अनुमान गम्य ग्राह्य पक्ष को तटस्थ भाव से अवलोकन कराया जाय एवं अदृश्य पदार्थ की ओर परम्परागत बंधी दृष्टि को झकझोरकर अपनी ओर उसे खीच लिया जाय । इसी दृष्टि से भगवान् बुद्ध ने आत्मवाद की जड़ो को हिलाकर उससे ममत्व बुद्धि को हटाने का सचिन्तित अभिमत व्यक्त किया । बुद्ध ने इसके परिपोषण के लिए यहा तक कह दिया कि "'जो यह मानता है कि यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता है, अनुभवगम्य है, दुष्कर्मों का फलभोक्ता है, नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, यह उसका बालधर्म है (अयं भिक्खवे, केवलो परिपूरो बालधम्मो)[2] । अपने विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अनेक आकर्षक उपमायें भी प्रस्तुत की है । उदाहरणार्थ—हे पोट्ठपाद ! जो व्यक्ति जनपद कल्याणी को तो चाहता है पर उसके रूप, रंग, वर्ण कद, निवास, नाम आदि को नही जानता, उसका आचरण जिस प्रकार प्रभाव रहित और उपहासास्पद है उसी प्रकार आत्मा के गुण धर्म से अपरिचित यज्ञ यागादि करने वाले व्यक्ति का कथन भी निन्दास्पद होता है । अतः परिपूर्ण जानकारी के बिना किसी पदार्थ के विषय मे कहना उचित नही[3] ।

इन उपमाओ आदि के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध ने आत्मा के स्वरूप से परिचित होने के बाद ही उसके विषय मे अपना मत व्यक्त करने का उपदेश दिया था । यह कथन इससे और प्रमाणित हो जाता है जब वे तथागत (आत्मा) के अस्तित्व, अनस्तित्व, जन्म-मरण आदि को अनैकांशिक धर्म कहते है ।

---

१. मज्झिमनिकाम, ३.५.६   २. मज्झिमनिकाय, १.१,२

३. दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त

साथ ही यह भी कहते है कि यह मान्यता न सार्थक है, न धर्म उपयोगी है, न निर्वेद के लिए है और न वैराग्य के लिए है। अपरिचित स्थिति के ये सब परिणाम है। बुद्ध द्वारा पुनर्जन्म और कर्म की स्थिति स्वीकार किये जाने से आत्मा की असत् स्थिति स्वतः कमजोर हो जाती है। अनात्मवाद के विकास का यह **द्वितीय चरण** है।

उक्त कथनों से यह तथ्य निकलता है कि भगवान् बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व को मूलतः अस्वीकार नही किया था प्रत्युत अनासक्त भाव को उद्दीप्त करने के निमित्त अनत्त अथवा अनात्म शब्द का प्रयोग किया था। इस लक्ष्य मे और दृढता लाने के लिए उन्होने अव्याकृतता एवं मज्झिमा पटिपदा के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को न तो स्वीकार किया था और न ही उसका प्रतिषेध किया था[1]। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद से दूर रहकर आत्मा का यह चिन्तन श्रमण संस्कृति की परम्परा के विपरीत नही था।

इसके बाद का विकास रहा आत्मा के अस्तित्व को व्यावहारिक दृष्टिकोण से तो स्वीकार करना परन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से उसका निषेध करना। पोट्ठपाद से बुद्ध ने यही विचार व्यक्त किया[2]। अनत्तलक्खण सुत्त[3] मे आत्मा को पञ्चस्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) स्वरूप माना। सयुत्तनिकाय मे पञ्चस्कन्धों के समवायात्मक रूप को सम्मुतिसच्च की दृष्टि से आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया परन्तु परमत्थसच्च से उसको अस्तित्वहीन माना[4]। अर्थात् प्रज्ञप्ति सत् से उसका अस्तित्व है और द्रव्यसत् से उसका नास्तित्व है। इस सन्दर्भ मे मिलिन्दपञ्ह मे ग्रीक राजा मिलिन्द (मेनान्डर) और नागसेन का संवाद भी द्रष्टव्य है। यहां नागसेन ने अनात्मवाद को पुद्गल नैरात्म्य के रूप मे प्रस्तुत किया है—परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति। वात्सीपुत्रीय भी इसी प्रकार पुद्गलवादी है। उनकी दृष्टि से आत्मा पुद्गल स्कन्धो से न भिन्न है,

---

१. संयुत्त. (रो.) भा. ४, पृ. ४००; सुत्तनिपात का अट्ठकवग्ग.

२. दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त.   ३. विनय पिटक, महावग्ग

४. यथा हि अंगसंभारा होति सद्दो रथो इति।
एव खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति॥ मिलिन्दपञ्ह,
पञ्चम लक्खणसुत्त.

और न अभिन्न है। यदि भिन्न अथवा अभिन्न होता तो शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का प्रसंग उपस्थित होता। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सका। पुद्गलवादी आत्मवाद की स्वीकृति को धर्मीशून्य धर्म के साथ संगत नही कर सके। अनात्मवाद के विकास का यह **तृतीय चरण** है।

बौद्धधर्म मे आत्मा के स्थान पर 'सन्तान' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यह सन्तान चित्त चैतसिक धर्मों से उत्पन्न होकर 'प्राप्ति' नामक संस्कार विशेष से परस्पर सम्बद्ध हो जाता है। नागसेन ने एवं महाकवि अश्वघोष[1] ने इसे 'दीपशिखा' के उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। पुनर्जन्म के प्रश्न का समधान भी इस दृष्टान्त से किया गया है। अनात्मवाद के स्थान पर निरात्मवाद शब्द का जन्म भी इसी काल कीदेन है। इस सिद्धान्त के विकास का यह **चतुर्थ चरण** है।

पञ्चस्कन्ध वाद अथवा सन्ततिवाद की स्थापना करने पर अनेक प्रश्न चिन्ह खड़े हुए। स्थिर आत्मा के अभाव मे कर्मफल का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्मान्तरग्राहित्व, जातिस्मरण आदि का होना क्या, कहा और कैसे बनेगा? ये गूढ एवं स्वाभाविक प्रश्न बौद्धधर्म के अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद को और भी जटिल बना देते है। प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यम प्रतिपदा के माध्यम से इन प्रश्नो का समाधान खोजने का प्रयत्न अवश्य हुआ है परन्तु उसमे सन्तोषप्रद सफलता दिखाई नही देती।

फलतः विज्ञानवाद की उत्पत्ति हुई और उसने अलयविज्ञान की स्थापनाकर चिन्तसन्तति को ही ससार का कारण मान लिया। आत्मा के स्थान पर चित्त की स्थापना करने से निरात्मवाद के विपरीत उपस्थित प्रश्नो को समाधानित करने का पुनः प्रयत्न किया गया। कर्म से विनिर्मुक्त होने पर चित्त मे सम्बोधि रूप प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति और तदनन्तर निर्वाण की प्राप्ति स्वीकार की गई। चित्त की उस अवस्था को अनिर्वचनीय कहा गया है। विकास का यह **पञ्चम चरण** है।

इस सन्दर्भ मे वसुबन्धु वात्सीयपत्रीय के पञ्चस्कन्धवाद का खण्डन करते है। उनका मत है कि यदि आत्मा समुदाय मात्र है, भावान्तर नही तो वह आत्मा नही है और यदि वह सांख्यो के पुरुष के समान है तो उसका कोई प्रयोजन नही। यदि पुद्गल चक्षुविज्ञान से जाना जाता है तो वह संज्ञा मात्र है, वस्तु सत् नही। और चूंकि पुद्गल

---

१. सौन्दरानन्द, १६.२८-२९

विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय नहीं, इसलिए उसका अस्तित्व भी नहीं। आत्मा तो मात्र हेतु प्रत्यय जनित धर्म है। वात्सीपुत्रीय का प्रश्न है कि इस अवस्था मे बुद्ध को सर्वज्ञ कैसे माना जायगा ? वसुबन्धु इसका उत्तर देते है कि सभी पदार्थो को जानने वाले के अर्थ मे हम बुद्ध को सर्वज्ञ नहीं मानते। बुद्ध तो ज्ञान की सन्तति विशेष का सूचक है और वही सर्वज्ञ है। वात्सीपुत्रीय पुनः प्रश्न करते है कि यदि अवक्तव्य पुद्गल नहीं तो बुद्ध भगवान् आत्मा के अस्तित्व के विषय मे विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक उत्तर स्पष्टतः क्यो नही देते ? संसरण करने वाला कौन होगा ? जातिस्मरण अथवा प्रत्यभिज्ञान कैसे होगा ? वसुबन्धु इन सभी प्रश्नो के उत्तर के लिए सन्तानवाद का सहारा लेते है। वैभाषिक सस्वभाववादी और बहुधर्मवादी है। वे किसी भी पदार्थ को शाश्वत नहीं मानते सन्तान से उनका तात्पर्य रूपी-अरूपी स्कन्धो से है जो अविच्छिन्न रूप से एक सन्तान मे उत्तरोत्तर प्रवर्तमान होते है और जिस सन्तान का पूर्व हतु कर्म है। बीज-सन्तान के परिणाम के अति प्रकृष्ट क्षण से फल की उत्पत्ति होती है[1]।

वसुबन्धु ने विंशतिका मे "चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्" कहकर महायान मे त्रैधातुक को विज्ञप्तिमात्र स्वीकार किया है। इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध हो जाता है। वस्तुतः अर्थ असत् है। अर्थ के रूप मे दिखाई देने वाला यह विज्ञान ही है। युआनच्वाग ने त्रिंशिका पर 'एक सिद्धि' नाम की मौलिक टीका लिखी है। उसमे भी उन्होने आत्मग्राह और धर्मग्रह की परीक्षा की है।

नागार्जुन की माध्यमिक कारिका और आर्यदेव का चतुःशतक तथा इन दोनो पर चन्द्रकीर्ति की टीकाये शून्यवाद (माध्यमिक सम्प्रदाय) की प्रस्थापना करती है। उन्होने आत्मा के प्रतिषेध मे स्वतन्त्र प्रकरण लिखे है। माध्यमिक कारिका मे नागार्जुन ने यह फलितार्थ प्रस्तुत किया है कि भगवान् बुद्ध ने न आत्मा का उपदेश दिया और न अनात्मा का—

आत्मेत्यपि प्रज्ञपित मनात्मेत्यपि देशितम् ।
बुद्धै र्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्[2] ॥

अनात्मवाद के विकास का यह षष्ठ चरण है।

---

१. बौद्धधर्म-दर्शन, पृ २४३–२४६
२. माध्यमिक कारिका, १८.६

४. प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद (पालि-पटिच्चसमुप्पाद) बौद्धधर्म और दर्शन का मूल सिद्धान्त है। इसकी गहनता, व्यापकता और सूक्ष्मता समूचे बौद्ध सहित्य मे द्दष्टव्य है। भगवान् बुद्ध ने अभिसम्बोधि प्राप्ति के प्रथम याम में पूर्वजन्मज्ञान, मध्यमयाम में दिव्य चक्षुत्व और अन्तिम याम मे प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार किया[१], अनन्तर विमुक्ति सुख के अनुभूत-काल की अन्तिम रात्रि के प्रथम याम मे उन्हे "इसके होने से यह उत्पन्न होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न होता है" यह ज्ञान, मध्यमयम मे "इसके असद्भाव से यह नही होता, इसके निरुद्ध होने से यह निरुद्ध हो जाता है" यह अनुलोमात्मक और प्रति लोमात्मक अभिज्ञान उत्पन्न हुआ था[२]। इससे स्पष्ट है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य है—कारण के सद्भाव मे उत्पत्ति और कारण के असदभाव मे उत्पत्ति का अभाव—इमस्मि सति इदं होति, इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मि असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति[३]।

प्रतीत्य (प्रति + इ गतौ × ल्यप्) अर्थात् कारण पूर्वक समुत्पाद (उत्पत्ति) होना प्रतीत्य समुत्पाद है—हेतु प्रत्यय सापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्य समुत्पादार्थः। इसी प्रकार "पच्चय सामग्गि पटिच्च समं सह च पच्चयुप्पन्नधम्मे उप्पादेतीति पटिच्च समुप्पादो" भी कहा गया है। अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्प द्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्य समुत्पादार्थः[४]। इसे बौद्ध दर्शन का एक गम्भीर सिद्धान्त माना गया है। धर्म बुद्ध और प्रतीत्यसमुत्पाद की एकाकारता से भी इस सिद्धान्त का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

कुछ विद्वान प्रतीत्यसमुत्पाद को बुद्ध की मूल देशना मे सम्मिलित नही करते। आदेर एवं फ्राके ने इसे उत्तर कालीन प्रक्षिप्तांश बताया है[५] जबकि श्रीमती रिज डेबिड्स इसके प्रस्थापक का नाम कल्पित मानती हैं[६]।

---

१. विनय पिटक, महावग्ग

२. विनय पिटक, महावग्ग, १.१.३. विसुद्धिमग्ग, १७-९ ललितविस्तर, पृ. २८६, इस सन्दर्भ में प्रतीत्य समुत्पाद का नाम नही है। परन्तु वहां उसके स्थान पर शून्यतानुपलम्भ निर्वाण, शब्द दिया गया है। इसी से स्पष्ट है कि यहां प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण को पृथक् नही माना गया।

३. मज्झिमनिकाय, ३.२.२

४. माध्यमिक वृत्ति, पृ. ९

५. ओरिजन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. ४०६

६. शाक्याज्

परन्तु ये मत स्वीकार्य नही हो सकते क्योंकि तथागत ने सम्बोधिकाल मे इसका साक्षात्कार किया था। तदुपरान्त बुद्ध ने इसे मूल देशना मे सम्मिलितकर चतुरार्यसत्य के अन्तर्गत इसकी गणना की थी और मज्झिमपटिपदा के नाम से इसे परिचित कराया था।

बुद्ध का यह प्रतीत्यसमुत्पाद शाश्वतवाद, अहेतुवाद, विषमहेतुवाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अक्रियावाद, नास्तिकवाद आदि सिद्धान्तो के खण्डन का प्रतीक है। हेतुओ पर निर्भरता, ईश्वर-निर्माण अथवा भवितव्यता को अस्वीकृति एवं दुःख परम्परा का निरोध-प्रदर्शन इस सिद्धान्त का मूल उद्देश्य था। "जो धर्म (पदार्थ) है। उनके हेतु को तथागत ने कहा है और उनके निरोध को भी उन्होने बताया है। महाश्रमण का यही मात है।" यह कथन प्रतीत्य समुत्पाद की सुन्दर व्यख्या उपस्थित करता है।[1] यही इसका **प्रथम चरण** है।

प्रतीत्यसमुत्पाद मे परतन्त्रता दिग्दर्शित है। माध्यमिको के शून्यता पक्ष का यह आधार स्तम्भ रहा है। डॉ० पाण्डेय के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद और माध्यमा प्रतिपदा मे विवर्तवाद का विकसित रूप देखा जाता है। उनका यह भी मत है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का एक पारमार्थिक पक्ष है जो पुरुषार्थ को सत् और असत् से परे बताता है और एक व्यवहारिक पक्ष है जो संसार में कार्यकारण नियम का विशिष्ट प्रतिपादन करता है। इससे एक ओर यह विदित होता है कि दुःख का मूल कारण संसार को सत् अथवा असत् समझ लेना है। यही अविद्या है। दूसरी ओर अविद्या ग्रस्त चित्त के लिए दुःखात्मक संसार चक्र निरन्तर कर्म, तृष्णा आदि का सहारा लेकर चलता रहता है।[2]

प्रतीत्यसमुत्पाद द्वादश निदानो पर आधारित है अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास। उदान और विसुद्धिमग्ग मे भी इन्ही बारह कारणों-निदानो-का उल्लेख मिलता है। ये बारह निदान अनुलोम और प्रतिलोम के माध्यम से क्रमशः दुःखसमुदय और दुःखनिरोध का निरूपण करते है। इन अंगों का निरूपण अनेक प्रकार से मिलता है—

---

१. ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो, एवं वादी महासमणो॥ विनय० महावग्ग।
यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मं, वही।

२. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ८८

कही संक्षिप्त और कही विस्तृत,[1] कही एक से बारह[2], कही सात से बारह[3], कही बारह से एक[4], कही आठ से एक, कही तीन से बारह, और कही पाँच से आठ निदानों का वर्णन किया गया है।[5] इन उद्धरणों से ऐसा लगता है कि तथागत ने विभिन्न समयो में दुःखोत्पत्ति के कारणों को विविध रूप से प्रस्तुत किया था और उन सभी उपदेशों मे से उक्त बारह निदानो को संकलित कर दिया गया। यह समूचा संकलन महानिदान सुत्तन्त मे उपलब्ध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास का यह **द्वितीय चरण** है।

प्रतीत्य समुत्पादवाद के अर्थ के उद्घाटक मूलतः तीन सूत्र हैं—(१) इसके होने पर यह होता है (अस्मिन् सति इदं होति), (२) कोई भी पदार्थ यथार्थ उत्पन्नत्व नही है, केवल प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व होता है, और (३) समस्त धर्म निर्व्यापार होते है। अर्थात् समस्त संस्कृत पदार्थ हेतु-प्रत्यय जनित होते हैं।

हेतु वचन, अवयव, कारण, मूल का नाम है और जो धर्म जिस धर्म की स्थिति अथवा उत्पत्ति का कारक होता है वह उसका प्रत्यय कहा जाता है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, सम्भव, प्रभव आदि शब्द अर्थ से एक है और व्यञ्जन से भिन्न है।[6] स्थविरवाद मे (राग, द्वेष, और स्नेह) हेतु की अवस्थाओ को विकृत करते हैं और प्रत्यय की धर्म उत्पत्ति अथवा निर्वृत्ति में उपकारक होता है।

स्थविरवाद मे राग, द्वेष और स्नेह ये तीन हेतु है जो चित्त की अवस्थाओ को विकृत करते है और चौबिस प्रत्यय है जो धर्म की उत्पत्ति अथवा निवृत्ति मे उपकारक होते हैं। चौबीस प्रत्यय है-हेतु,आरम्भण, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात, अञ्ञमञ्ञ, निस्सय, उपनिस्सय, पुरेजात, पच्छाजात, आसेवन, कम्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, झान, मग्ग, सम्पयुत्त, अत्थि, विगत, और अविगत। सर्वास्तिवाद मे चार प्रत्यय (आलम्बन, समनन्तर, अधिपति, और सहकारी), छः हेतु (कारण, सहभू , सम्प्रयुक्त, सभाग, विपाक, और सर्वत्रग), तथा चार फल (निष्यन्द, पुरुषकार, अधिपति, और विसंयोगफल), स्वीकार किये गये है।

---

१. विसुद्धिमग्ग, पृ० ३६६-६७ २. उदान और विसुद्धिमग्ग,
३. निदानसंयुक्त, ४. निदानसंयुक्त और उदान
५. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ३६०
६. विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद १७

बौद्धधर्म में दुःख प्राप्ति का मूल कारण कर्म माना गया है, यद्यपि वहां अन्य कारणों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे पित्त, श्लेष्म, वात, सन्निपात, ऋतु, और विषम।[1] यहां भी प्रतीत्य-समुत्पाद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भव-चक्र हेतु-प्रत्यय के द्वादश निदानो पर अधारित है। इसका प्रधान कारण चतुरार्यसत्य सम्बन्धी अज्ञान (अविद्या) है।[2] बौद्ध दर्शन मे अविद्या से बन्ध तथा विद्या से मोक्ष माना जाता है। अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःख रूप सभी पदार्थों को नित्य, सात्मक, शुचि, और सुख रूप मानना अविद्या है। इस अविद्या से रागादिक संस्कार उत्पन्न होते है। संस्कार तीन प्रकार के है—पुण्योपग (शुभ), अपुण्योपग (अशुभ) और आनेञ्जयोपग (अनुभय-रूप)। वस्तु की प्रतिविज्ञप्ति को विज्ञान कहते है। इन संस्कारो के कारण वस्तु मे इष्ट, अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इसीलिए संस्कार विज्ञान में प्रत्यय अर्थात् कारण माना जाता है। इस विज्ञान से नाम अर्थात् चार अरूपी स्कन्ध वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, तथा रूप अर्थात् रूपस्कन्ध-पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु उत्पन्न होता है। इस पञ्चस्कन्ध को नामरूप कहते है। विज्ञान से ही नाम और रूप को नामरूप संज्ञायें मिलती है। अतः इन्हे विज्ञान-सम्भूत कहा गया है। इस नामरूप से ही चक्षु आदि पाच इन्द्रियां और मन ये षडायतन होते हैं। अतः षडायतन को नामरूप प्रत्यय कहा है। विषय, इन्द्रिय और विज्ञान के सन्निपात को स्पर्श कहते है। छह आयतन - द्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञान-तन्तुओ को जाग्रत करना स्पर्श है। स्पर्श के अनुसार वेदना अर्थात् अनुभव होता है। वेदना के बाद उसमे होने वाली आसक्ति तृष्णा कहलाती है। उन-उन अनुभवो मे रस लेना, उनका अभिनन्दन करना, उनमें लीन रहना तृष्णा है। तृष्णा की वृद्धि से उपादान होता है। यह इच्छा होती है कि मेरी यह प्रिया मेरे साथ सदा बनी रहे, मुझमे सानुराग रहे और इसीलिए तृष्णातुर व्यक्ति उपादान करता है। इस उपादान से ही पुनर्भव अर्थात् परलोक को उत्पन्न करने वाला कर्म होता है। इसे भव कहते हैं। यह कर्म मन, वचन और काम इन तीनो से उत्पन्न होता है। इससे परलोक में नये शरीर आदि का उत्पन्न होना जाति है। शरीर स्कन्ध का पक जाना जरा है और उस स्कन्ध का विनाश मरण कहलाता है। इसीलिए जरा और मरण को जाति प्रत्यय बताया है। इस प्रकार यह द्वादशाङ्ग

१. अंगुत्तर निकाय (रोमन) भाग ३, पृ० १८६

२. मज्झिमनिकाय, १,१,६

वाला चक्र परस्परहेतुक है। इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य अर्थात् एक को निमित्त बनाकर अन्य का समुत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना। इसके कारण यह भवचक्र बराबर चलता रहता है। जब सब पदार्थों में अनित्य, निरात्मक, अशुचि और दुःख रूप तत्वज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। फिर अविद्या के विनाश से क्रमशः संस्कार आदि नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में अविद्या से बन्ध और विद्या से मोक्ष माना गया है।[1]

इन द्वादश निदानों में प्रथम दो निदान अतीत भव से, तीन से दस तक निदान वर्तमान भव से और शेष अन्तिम दो निदान अनागत भव से सम्बद्ध हैं। इस तरह ये सभी प्रत्यय अन्योन्याश्रित हैं। योगाचारवादियों ने बारह निदानों का सम्बन्ध केवल दो जन्मों के साथ माना है। प्रथम से दस तक के निदानों का सम्बन्ध एक जन्म से और शेष दो निदानों का सम्बन्ध द्वितीय जन्म से स्वीकार किया गया है। उन्होंने निदानों के चार विभेद किये हैं[2]—

	१. बीज उत्पादक शक्ति	— अविद्या, संस्कार
वर्तमान	२. बीज	— विज्ञान-वेदना
	३. बीजोत्पादन सामग्री	— तृष्णा, उपादान तथा भव
भविष्य	४ व्यक्त कार्य	— जाति, जरा मरण

प्रतीत्य समुत्पाद के विकास का यह **तृतीय चरण** है।

उत्तर कालीन बौद्ध आचार्यों ने प्रतीत्य समुत्पादवाद का सैद्धन्तिक पक्ष दार्शनिक रूप से विकसित किया। आचार्य बुद्धघोष ने इसकी विविध प्रकार से मीमांसा करते हुए शून्यता रूपी अनात्मवाद की सिद्धि का आधार माना है।[3] सर्वास्तिवाद के अनुसार प्रतीत्य-समुत्पाद के चार भेद हैं—क्षणिक, प्राकर्षिक (अनेक जन्मिक), सांबन्धिक (हेतु-फल सम्बन्ध युक्त) और आवस्थिक (पंचस्कन्धिक बारह अवस्थायें)। विज्ञानवाद में प्रतीत्यसमुत्पादको आलय विज्ञान के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वहां अलयविज्ञान सांक्लेशिक बीजों का संग्रह स्थान, मूलविज्ञान, कर्मस्वभाव अथवा कारण-

---

१. तत्त्वार्थ वार्तिक, १.४६, हिन्दी सार, पृ० २७१-२, तुलनार्थ देखिये— विसुद्धिमग्ग, १७ वां परिच्छेद, शिक्षा समुच्चय, पृ० २१९, बोधिचर्यावतार पं० पृ० ३९८, माध्यमिक का० पृ० ५६४,

२. उपाध्याय, बलदेव-बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ० ७७

३. विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद १७

स्वभाव भी है। उसे न शाश्वत और न उच्छिन्न प्रत्युत सन्तति-मूलक स्वीकार किया गया है। अ्रानच्वांग ने प्रतीत्यसमुत्पाद को आलयविज्ञान का स्वभाव होने के कारण सस्वभावी (हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति रूप) माना है। यहां प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ गतिशील विश्व माना गया है।[1] प्रतीत्य समुत्पाद के विकास का यह **चतुर्थ चरण** है।

हीनयान मे प्रतीत्य समुत्पाद के व्यावहारिक पक्ष को उद्घाटित किया गया परन्तु महायान ने उसके पारमार्थिक पक्ष को प्रधानता दी। **नागार्जुन ने** शून्यता की सिद्धि मे प्रतीत्य समुत्पाद को ही आधार माना है। उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य नित्य एकान्तवाद अथवा अनित्य-एकान्तवाद से नही प्रत्युत नित्यानित्य-विनिर्मुक्त शुद्ध शून्यवाद मानने मे है। यह शून्यवाद ही मध्यमा प्रतिपदा है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद् अशाश्वत-अनुच्छेदवाद को प्रस्तुत करता है।[2]

आर्यदेव ने भी स्वभावशून्यता की सिद्धि प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से की। चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि जो प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है वह अज्ञात है क्योंकि उसकी उत्पत्ति स्वभावतः नही होती। जो प्रत्यय के आधीन होता है वह शून्य कहा जाता है। संसार को दुःखो से मुक्त करना महाकारुणिक बुद्ध का उद्देश्य है जिसकी सिद्धि प्रतीत्यसमुत्पाद के अविरुद्ध पदार्थो के निःस्वभावत्व को दिखाने से होती है।[3] यहां प्रतीत्य समुत्पाद के प्रति अपनी गहरी आस्था व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जैसे सूर्य की किरणो से निरस्त तिमिर द्वारा चिरकाल मे भी आकाश काला नही किया जा सकता, उसी प्रकार गम्भीर, उदार, और अचिन्त्य प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी सूर्य-किरण द्वारा समस्त वादियों के समय (सिद्धान्त) रूपी अन्धकार खण्डित हो जाते है।[4]

इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि माध्यमिक वृत्ति मे चन्द्रकीर्ति ने 'प्रतीत्य' शब्द के 'इत्य' शब्द मे समुत्पाद के साथ वीप्सार्थक (प्रति-प्रति इत्याना समुत्पादः = पुनः पुनः विनाशशील = भावो का उत्पाद) समास स्वीकार नही किया। उनका तर्क है कि जहां देशना मे अर्थ को स्वीकार

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ४४९ त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका २, ५, ८, १५; विशेष देखिये—अभिधर्मकोश, तृतीय कोश।

२. माध्यमिक कारिका, १५-१०, २४.१८; बौद्धागमार्थ संग्रह, पृ० १९४

३. चतुःशतक, १६.२३ वृत्ति

४. वही, १६.२५ वृत्ति

किया गया है और उस अर्थ का ज्ञान ऐकेन्द्रिय से होना बताया गया है वहां यह वीप्सार्थता असंगत हो जायगी। जैसे "चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च उत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानं" मे चक्षुरिन्द्रिय हेतुक ज्ञान है और वह एकार्थक है अतः वहां वीप्सार्थ की पौनपुण्यता कैसे संभव होगी। इसके विपरीत चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद को प्राप्त्यर्थक माना है। इस मान्यता मे अर्थ विशेष अङ्गीकृत हो या न हो, दोनो अवस्थाओं में प्रतीत्य की प्राप्त्यर्थता सम्भव है। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद को सकारणता और परिवर्तनशीलता के साथ ही सापेक्षता का भी प्रतीक माना है—हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः (पृ० ५)। नागार्जुन की दृष्टि में यही प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यवाद है—यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे (माध्यामिक कारीका)[१]।

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ चन्द्रकीर्ति की दृष्टि से "इदं प्रत्ययता" नही क्योंकि इसमे 'प्रतीत्य' और 'समुत्पाद' मे गर्भित अर्थ का अभिधान नही है। उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद मे उत्पाद और निरोध का सन्दर्भ अवश्य है पर वहां नेयार्थता (मोक्ष साधन) और नीतार्थता (फल रूप मोक्ष) कराते हुए उन्होने निःस्वभावता को सिद्ध किया है। समूचे माध्यमिक शास्त्रो ने इसी सन्दर्भ मे प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया है। पदार्थो को तीनो कालो मे निःस्वभाव बताते हुए उन्हे उत्पाद और निरोध से रहित अतएव मृषार्थक प्रदर्शित किया है। उनकी दृष्टि मे प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य ही निःस्वभाव हो गया। निःस्वभावका अर्थ है स्वभाव से अनुत्पन्न पदार्थ। ऐसा पदार्थ स्वप्न सदृश, शून्यतात्मक, और अनात्मक होता है। जिसकी उत्पत्ति कारण पूर्वक होती है वह स्वतन्त्र रूप से नही होता। चूंकि स्वरूप स्वतन्त्र नही होता इसलिए उसके स्वयं का अस्तित्व नही होता। पदार्थ को शून्यतात्मक मानने का यही कारण मुख्य है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि सभी पदार्थो का अभाव है। प्रतीत्य समुत्पन्न वस्तु तो माया केस मान है। नि.स्वभाव होने से भाव दर्शन भी विपरीत हो जाता है। इसलिए भाव स्वभावत्व वादियो की दृष्टि मे प्रतीत्य समुत्पादाभाव और शाश्वतोच्छेद दृष्टिदोष उपस्थित हो जाते है।

भाव स्वभावत्व वादियो के मन में प्रतीत्य-समुत्पाद विषयक मान्यता होते हुए भी वस्तुतः उसका यथार्थ रूप उसमे नही मिलता। जिस प्रकार व्यवहार से अनभिज्ञ बालक प्रतिबिम्ब में सत्यता के अध्यारोप-

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ४५२ विशेष देखिये—अभिधर्म विनिश्चय सूत्र।

से यथावत् अवस्थित स्वभाव शून्यता के खण्डन से सस्वभावत्व प्रतीति मे प्रतिबिम्ब की कल्पना को नही जानता उसी प्रकार भावस्वभावत्व वाद मे प्रतीत्य समुत्पाद को स्वीकार किये जाने पर भी स्वभावतः शून्यात्मक पदार्थ के नि स्वभावत्व को ग्रहण न करने के कारण और असत् स्वरूप को सत्स्वरूप रूप से ग्रहण करने के कारण शून्यात्मक पदार्थ की स्वीकार नही करते।[1]

प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से पदार्थ के निःस्वभावत्व की सिद्धि प्रतीत्य समुत्पाद के विकास का **पञ्चम चरण** है। यहां प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ ही निःस्वभावत्व स्वीकारकर लिया गया है[2]। निःस्वभावत्व के ज्ञान से राग का कारण, संसार का बीज रूप विज्ञान सर्वथा निवृत्त हो जाता है। इसी रीति से श्रावको की, अनुत्पन्न धर्म के कथन करने की सामर्थ्य वाले बुद्धो की तथा बौधिसत्वों की संसार से निवृत्त होने की व्यवस्था की गई है। प्रतीत्य समुत्पाद और निर्वाण का यह पारस्परिक सम्बन्ध विशेष महत्वपूर्ण है। प्रतीत्यसमुत्पाद इदम्प्रत्ययता एव सापेक्षता का सूचक है परन्तु निर्वाण का अध्यात्मिक लक्ष्य ससारण के कारणो का निरोधकर परमार्थ की प्रति का संकेत करना है।

इसी प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा शून्यता का उपयोग उत्तरकाल मे गुह्य साधना के क्षेत्र मे बहुत अधिक हुआ। वज्रसत्व, वज्रधर, वज्रपाणि तथागत आदि सभी इस शून्यता के प्रतीक है। वज्र शब्द को भी शून्यतार्थक माना गया। प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास का यह **षष्ठ चरण** है।

---

५. मध्यम मार्ग

प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या को और अधिक स्पष्ट करने के लिए भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग (मज्झिम पटिपदा) का अन्वेषण किया। यह शाश्वतवाद और उच्छेदवाद अथवा कामसुखल्लिकानुयोग और अत्तक्लमथानुयोग के बीच का पथ है जिसका उपदेश बुद्ध ने भिन्न-

---

१. वही, पृ० ४६०

२. चतु:शतक, १४. २३ वृत्ति.

भिन्न अवसरो पर अपने अनुयायियो को दिया था।[१] चन्द्रकीर्ति की दृष्टि मे मध्यमा प्रतिपद् दोनो अन्तो का मध्य है—अरुच्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठ, अनायात, अनिकेतन और अविज्ञप्तक"[२]। श्री मती रिज डेविड्स ने मज्झिम पटिपदा को अनित्यता और परिवर्तन का उपदेश माना है।[३] परन्तु यह तथ्यसंगत प्रतीत नही होता। बुद्ध ने पदार्थ जगत् का अस्तित्व "है भी और नही भी है" ऐसा स्वीकार नही किया प्रत्युत उसे "न सत् एवं न असत्" माना है। प्रतीत्य समुत्पाद में इसी सूत्र को हम विकसित अवस्था मे पाते है।

---

६. कर्मवाद

बौद्धधर्म एक मनोवैज्ञानिक धर्म है। मनोविज्ञान की आधार शिला पर वह प्राणि-जगत को कम्मदायाद, कम्पयोनि, और कम्मपटिसरण कहता है।[४] कर्म ही पुनर्जन्म का मूल कारण है। सद्गति और असद्गति का आधार कर्म को माना गया है। यही उसका विपाक है—

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती॥

कर्म मूलतः दो प्रकार के है—चित्तकर्म (मानसिक कर्म) और चेतसिक कर्म (काम और वचन से उत्पन्न कर्म)।[५] इनमे चित्तकर्म प्रधान है।[६] कर्म पहले 'कृत' होते हैं और फिर 'उपचित' होते है। कर्म करने की पृष्ठ भूमि मे चित्त भावना का आधार हुआ करता है अर्थात् भावो की शुद्धि-अशुद्धि पर कर्म-प्रकृति निर्भर रहती है। संकल्प (प्रयोग), संकल्प

---

१. सयुक्त निकाय, २, १, १५-१७; धम्मचक्कपवत्तनसुत्त

२. प्रसन्नपदा मा० का०, पृ० २६६ ३. बुकज्म, पृ० ९४

४. कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धु कम्मपटिसरणा कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनपणीतताया ति, मज्झिम. ३.४५

५. चेतनाहं भिक्खवे कम्मं ति वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा—अङ्गुत्तर निकाय

६. मनो पुब्बंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया-धम्मपद

के अनुसार सामग्री का एकत्रीकरण (मौल प्रयोग), संकल्प को कार्य रूप मे परिणत करना (मौल कर्म पथ), और अनुवर्तन (पृष्ठ) ये कर्म की परिपूर्णता के चार सोपान द्रष्टव्य है। सर्वास्तिवादियो के अनुसार चेतना चित्तसहगत धर्म हैं। हमारा ध्यान कभी अनित्य और अशुभ को अशुभ समझता है (योनिशो मनसिकारो) और कभी इसके विपरीत भी हो जाता है (अयोनिशो मनसिकारो)। कुशल और अकुशल कर्मों का सम्बन्ध इन दोनो प्रकार के ध्यानों से होता है। लोभ, द्वेष और मोह ये तीन अकुशल मूल है तथा अलोभ, अद्वेष, अमोह, निर्वेद, विराग आदि कुशल मूल है। पिटक मे कही कृष्ण, शुक्ल, कृष्ण-शुक्ल और अकृष्ण-अशुक्ल के भेद से कर्मो का विभाजन मिलता है और कही कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के रूप मे षडभिजातियो अथवा लेश्याओ का वर्णन मिलता है। यह लेश्या-प्रकार जैन एवं अजीविक से सम्बद्ध होना चाहिए। कर्मवाद का यह प्रारम्भिक रूप है।

बुद्ध की दृष्टि में कर्म एक प्रकार का चित्त संकल्प है जिसे उन्होंने 'चेतना' शब्द कहकर व्यवहृत किया है[1]। उसे वे न तो वैदिक सिद्धान्त के समान अदृष्ट शक्ति मानते है और न जैनो के समान पौद्गलिक मानते हैं। बल्कि वे उसे अनादि और अविच्छिन्न परम्परा मे घटित एक घटना मात्र मानते है। उनके अनुसार स्वकृत कर्मों के फल का भोक्ता प्राणी स्वयं होता है, अन्य नही। यह कर्मफल पांच प्रकार का हे—अधिपतिफल (कारण हेतु से निवृत्त फल), निष्यन्दफल (सास्रव कर्मो का फल), विसंयोग-फल (मोह एवं क्लेश का उच्छेदक और पुरुषकारफल (सहभू और सम्प्रयुक्तक हेतु जन्य)। कर्म विपाक दुर्विज्ञेय और दुर्लंध्य है। तृष्णा से अभिष्यन्दित होकर कर्म विपाक देते है। कर्मवाद के विकास का द्वितीय चरण है

सर्वास्तिवाद (वैभाषिक) परम्परा मे अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न का अस्तित्व है अतः कर्म अपने विपाक फल को क्रियाकाल में आक्षिप्त करता है और कर्म के अतीत होने पर विपाक का दान करता है। चन्द्रकीर्ति इसे अस्वीकार करते है और कर्म को क्रिया काल मे निरुद्ध बताकर कर्ता के

---

१. चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा।
तस्यानेकविधो भेदः कर्मणा परिकीर्तितः॥
तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तन्मानसं स्मृतं।
चेतयित्वा च यत्तूक्तं तत्तु कायिकवाचिकम्॥ मध्यमक, १७.२-३.

चित्तसन्तान मे 'अविप्रणाश' नामक द्रव्य का उत्पाद बतलाते है[1]। सौत्रान्तिक अतीत और अरूपी संस्कृत (प्राप्ति) नामक धर्मो के अस्तित्व को नही मानते। वे बाह्यार्थ और चित्त सन्तान का निषेध नही करते किन्तु कर्म और कर्म विपाक को चित्तमे अहित होना बताते है। वे विज्ञानवादी रूप के अस्तित्व को नहीं मानते। कर्मवाद के विकाम का यह **तृतीय चरण** है।

कर्म संसरण का मूल कारण होता है[2] और संसरण का अर्थ है ससार मे जन्म-मरण ग्रहण करना। भगवान् बुद्ध को अपने शिष्यो के पुनर्जन्म के विषय मे ज्ञान था। उनका यह ज्ञान उनके स्वसंवेद्य अनुभव का परिणाम था।[3] भिक्षुणी ऋषिदासी, जैसी महाकाश्यप और सारिपुत्र जैसे भिक्षु भी पूर्वजन्म सम्बन्धी ज्ञान से परिपूर्ण थे। धम्मपद का "ग्रहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न कहासि' कथन पुनर्जन्म से ही सम्बन्धित है। वर्णवाद भी कर्म पर आधारीत है। इसलिए भगवान् ने कर्म प्रतिशरण होने के लिए कहा है। बुद्ध, धम्म और कम्म मे कोई अन्तर नही। तथागत तो भात्र मार्ग दर्शक है।[4] उत्तम कार्य करते हुए उन्होने सदैव आत्मसंयमो होने का उपदेश दिया।[5] आर्यदेव ने भी यह स्पष्ट किया है कि ससार से मोह होना दुःख का मूल कारण है।[6] उत्तम गति में भी अनिष्ट कर्म फल से दरिप्रता, दुर्बलता आदि जैसी विडम्बनायें बनी रहती है।[7] वहां सम्पत्ति से मान और उससे अधःपतन होता है।[8] यही सब पुनर्जन्म का कारण और फल है।

आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करना और पुनर्जन्म को स्वीकार करना ये दोनो परस्पर विपरीत तत्व प्रतीत होते है। सति केवट्ट पुत्त नामक भिक्षु के मन मे भी इसी प्रकार की अनेक शङ्कायें रही होगी।[9] भगवान् ने उनका समाधान किया था और बताया था कि विज्ञान प्रतीत्य-समुत्पन्न है। प्रथम का अन्तिम विज्ञान निलीन होता है और द्वितीय जन्म का प्रथम विज्ञान उत्पन्न होता है। अत एव न तो वही जीव बना रहता है और

---

१. माध्यमिक वृत्ति, १७२३; बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ३७२
२. चतुःशतक, ७.४
३. विनयपिटक, महावग्ग; मज्झिमनिकाय, १.३.१
४. तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता, धम्मपद, २०.४.
५. दीघनिकाय, महाप्परि निब्बाणसुत्त,
६. चतु शतक, ८.१३
७. वही, ७.७.
८. वही, ७-१६
९. संयुत्त निकाय, १२-७

न अन्य जीव ही उत्पन्न होता है। मिलिन्दपञ्ह में नागसेन और मिलिन्द के बीच हुए संवाद मे भी यही बात कही गई है। मिलिन्द के प्रश्न पर नागसेन ने कहा कि जिस प्रकार शैशवावस्था से बढता हुआ वही व्यक्ति वृद्धावस्था तक पहुंचता है। हम दोनो अवस्थाओ मे रहने वाले व्यक्ति को एक दूसरे से भिन्न अथवा अभिन्न नही कर सकते। उसी प्रकार पुनर्जन्म मे जन्मा व्यक्ति न पूर्व जन्म से भिन्न है और न अभिन्न (न च सो न च अञ्ञो)। धर्मों के निर्बाध प्रवाह से, उनके संघात रूप मे आ जाने से एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है। यह उत्पाद और निरोध युगवत्वत् प्रतीत होता है। अतएव न तो वह वही है और न उससे भिन्न ही है। यह नाम-रूप के द्वारा कुशल-अकुशल कर्म करता है और उन कर्मो के द्वारा एक अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है। वही संसरण करता है और कर्म के निःशेष हो जाने पर यह संसरण बन्द हो जाता है।[1]

बौद्धधर्म मे साधारणतः आत्माका प्रतिषेध किया गया है। उसके विपरीत उत्पन्न प्रश्नो का समाधान दो प्रकार से हुआ है। प्रथमतः पुद्गलवादी है जिन्होने पुद्गल (आत्मा) को स्कन्धो से न भिन्न माना है और न अभिन्न है प्रत्युत उसकी उपलब्धि पंच-विज्ञान काय और मनोविज्ञान मे स्वीकार की हे। उनकी दृष्टि मे पुद्गल एक वस्तु-सत् है, एक द्रव्य है, किन्तु स्कन्धो मे उसका सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार वह न नित्य है और न अनित्व है। दूसरा समाधान यह है कि जिसे लोक मे आत्मा आदि कहते है, वह एक सन्तान (सन्तति) है जिसके अंगो का हेतु-फल-सम्बन्ध है। मृत्यु से इसका उपच्छेद नही होता। मृत्यु केवल उस क्षण को सूचित करती है, जब नई परिस्थितियों मे नवीन कर्म समूह का विपाक प्रारम्भ होता है। इसमे वाक्चातुरी है, किंतु एक पहेली है। जिस सन्तति की कल्पना बौद्ध करते है, उसमे आत्मा के सब सामर्थ्य पाये जाते है।[2]

नागार्जुन ने कर्म को भी निःस्वभाव मान लिया है। उनका मन्तव्य है कि यदि कर्म स्वभावतः होता तो वह शाश्वत और अकृत होता। पर वह शाश्वत और अकृत होता नही, अन्यथा अकृताभ्यागम दोष की प्रसक्ति होगी। सिद्धान्त मे दृढ़ता लाने के लिए कर्म के कारण क्लेश को भी नागार्जुन ने

---

१. मिलिन्द पञ्ह, लक्खणपञ्ह

२. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म-दर्शन, पृ. ३८५–६.

निःस्वभाव मान लिया। आदेव ने भी नागार्जुन के मन्तव्य का समर्थन किया है।[1] इसे कर्मवाद के विकासका हम चतुर्थ चरण कह सकते हैं।

---

७. निर्वाण

निर्वाण आध्यात्मिक साधना की वह चरम सीमा है जहाँ समस्त कर्मास्रवों का क्षय हो जाता है। वह स्थिति अतीन्द्रिय परम सुखकारी है[2]। इतिवुत्तक (सुत्त ४३) मे निर्वाण को अतर्कावचर ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न, अशोक और विरज पद माना है। त्रिपिटक म प्राय: सर्वत्र उसे स्वसंवेद्य स्वीकार दिया गया है। थेर-थेरी गाथा मे भिक्षुओ और भिक्षुणियो के मनोहारी अनुभव संकलित है। भगवान् बुद्ध ने अभिसम्बोधि काल मे उसका स्वय साक्षात्कार किया था। थेर गाथा मे विविध स्थलो मे निर्वाण को अभव, शान्त और अमृत पद माना गया है। यह अमृत पदरूपा निर्वाण, राग, द्वेष और मोह के क्षय से प्राप्त होता है।[3] तृष्णा के क्षय को भी निर्वाण कहा है।[4] निर्वाण इसी जन्म मे प्राप्त होता है। इसी को सोपधिशेष निर्वाण कहा गया है। इस निर्वाण पद को अच्युत भी कहा गया है।[5] अर्थात् एक बार निर्वाण प्राप्त होने पर वहा से च्युत होने का प्रश्न ही नही। सोपधिशेष निर्वाण प्राप्ति के लिए साधक को लोभ, ईर्ष्या, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्त्यान, औद्धत्य, अह्री तथा अनुत्ताप इन दस क्लेशो का आत्यन्तिक विनाश करना पड़ता है। इस प्राप्ति के चार सोपान है—स्रोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत्। यह एहिपस्सक धम्म है और इसका सम्बन्ध जीवन की अवस्था से निर्वृत होना है। निरुपधिशेष निर्वाण जीवन की उस निर्वृत अवस्था के बाद की अवस्था का नाम है। प्रथम अनुभूति से सम्बन्धित और स्कन्ध सहगत निर्वाण है और द्वितीय अतीत से सम्बन्धित स्कन्ध विनिर्मुक्त निर्वाण है।

---

१. चतु.शतक, ७.१८–२३.

२. निब्बाणं परमं सुखं, मज्झिम; २. ३. ५

३. रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो, इदं वुच्चति निब्बाणं,—संयुक्त, जम्बू, संयुत्त.

४. तण्हाय विप्पहानेन निब्बाणं इति वुच्चति–सुत्तनिपात, पारायण वग्ग,

५. दिट्ठधम्माभिनिब्बुता–उदान, पाटलिगामियवग्ग।

६. अहस्सं विरजं निब्बाणं परम च्युतं—थेरीगाथा, ९७.

परमपद निर्वाण की प्राप्ति संस्कारो के पूर्ण शमन से होती है। वह एक ऐसा आयतन है जहा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, आकिञ्चन्य, लोक, परलोक, चन्द्र, सूर्य, च्युति, स्थिति, आधार आदि नही है।[1] उसे असंस्कृत, सत्य, पार, अजर, ध्रुव, निष्प्रपञ्च, अमृत, शिव, क्षेम, अद्भुत, विशुद्ध, द्वीप और तृण रूप माना है।[2] निर्वाण को अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत भी कहा गया है।[3] दूसरी ओर बुद्धघोष ने निर्वाण को निषेधात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है कि यहां मात्र दुःख है, दुःखित कोई नही, मात्र क्रिया है, कारक कोई नहीं, मात्र निर्वाण है, निर्वृत कोई नही, मात्र मार्ग है, मार्गानुगामी कोई नही। निर्वाण
पदमच्चुतमच्चन्तं असङ्खतमनुत्तरं। निब्बानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो ॥
दर्शन के विकास का यह प्रथम चरण होगा।

दुक्खमेव हि न च को पि दुक्खितो
न कारको किरिया च विज्जति।
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुन
मग्गं अत्थि गमको न विज्जति ॥

निर्वाण की उक्त परिभाषाओ एवं स्वरूपो से यह स्पष्ट है कि सामान्यतः स्थविरवाद मे निर्वाण सकल दुःखो का अभाव रूप है। उसे चित्त-चेतसिक क्रियाओं का चरम निरोध तथा अभावात्मक स्वीकार किया गया है। निर्गुण उसे एवं, अनिर्वचनीय विशेषण भी दिये जाते हैं। साधक इसे प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त करता है।[4] निर्वाण की अजात और अभाव रूप स्थिति मे उसे प्रतीत्य समुत्पन्न कैसे कहा जाय और अनात्मवाद का समर्थन कैसे होगा, ऐसे प्रश्न दार्शनिको और चिन्तको के मन मे प्रायः उठते रहे है। अश्वघोष ने इन प्रश्नो का समाधान बड़ी कुशलता पूर्वक किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी मे जाता है, न अन्तरिक्ष मे, न किसी दिशा मे, न किसी विदिशा मे, प्रत्युत तैलक्षय से वह केवल शान्ति को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार प्रज्ञावान् व्यक्तित्व कही नही जाता, मात्र क्लेशक्षय हो जाने पर शान्ति प्राप्त कर लेता है।

---

१. उदान, पाटलिय वग्ग　　　२. विसुद्धिमग्ग, ८.२४८.

३. इतिवुत्तक, अञ्ञात सुत्त। अभिधम्मत्थ संगहो (६.६८) मे कहा है—
पदमच्चु तमच्चन्तं ससङ्खतमनुत्तरं।
निब्बानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो ॥

४. मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ-३२६-३३

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्" ।।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।[1]

अकलङ्क ने भी बौद्धो के निर्वाण की परिभाषा का उल्लेख किया है। उन्होंने एक स्थान पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाच स्कन्धो के निरोध को मोक्ष कहा है—रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपञ्चस्कन्धनिरोधाद-भावो मोक्ष.।[2] और दूसरे स्थान पर निर्वाण को सर्वथा अभावात्मक बताते है। मोक्ष की इस परिभाषा के खण्डन के प्रसंग मे उन्होने कहा कि प्रदीप का निरन्वय विनाश असिद्ध है। दीपक रूप से परिणत पुद्गल द्रव्य का भी मुक्त जीवों की तरह विनाश नही होता। उनकी पुद्गल जाति बनी रहती है। जैसे हथकड़ी-बेड़ी आदि से मुक्त देवदत्त का स्वरूपावस्थान देखा जाता है उसी तरह कर्मबन्ध के अभाव से आत्मा का स्वरूपावस्थान होता है, इसमे कोई विरोध नहीं।[3] निर्वाण विचार के विकास का यह द्वितीय चरण है।

पुंसे के अनुसार आरम्भ में बौद्धधर्म आत्मा, पुनर्जन्म और निर्वाण में विश्वास करता था। वह दर्शन न था। बाद मे धर्म नैरात्म्य की भावना और मद-निर्मदन के लिए नैरात्म्यवाद की स्थापना हुई। इसके दो रूप हुए—पुद्गलवाद और सन्ततिवाद। किन्तु पुनर्जन्म मे जो विश्वास था, वह नष्ट नहीं हो सका। जो सन्ततिवाद के मानने वाले है उनमे कोई निर्वाण को वस्तु-सत् मानते हैं। यह दूसरे सौत्रान्तिक और पुब्बसेलिय है। इनमे हम स्थविरो को भी सम्मिलित कर सकते है। पहली कोटि मे विभज्जवादी, सर्वास्तिवादी, और वैभाषिक है अर्थात् आभिधार्मिक प्रायः पहले मत के है। 'पुब्बसेलिय' निर्वाण को वस्तु-सत् नही मानते (बुद्धघोष के अनुसार)। स्थविरों का भी मत है कि निर्वाण का अस्तित्व नही है। प्रज्ञप्तिमात्र होने के कारण उन्होने निर्वाण को स्थापनीय प्रश्नो मे समाहित किया है[4]। वैभाषिक इसे स्वीकार नही करते।

---

१. सौन्दरानन्द, १६. २८-२९
२. तत्वार्थवार्तिक, १, १, ८
३. वही, १०, ४, १७
४. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २९३.

पुद्गलवादियो के अनुसार निर्वृत स्थिति मे भी पुद्गल (आत्मा) का अस्तित्व है। वात्सीपुत्रीय इसे स्कन्धो से न सम्बद्ध मानते है और न पृथक्। विज्ञानवाद ने पुद्गल के स्थान पर एक विशुद्ध 'प्रभास्वर चित्त' की कल्पना की है। पाच अथवा आठ पुद्गलवादी, चार महासंधिक निकाय एवं विभज्जवादी निर्वाण के इस स्वरूप को स्वीकार करते हैं। इसके विकास का यह **तृतीय चरण है**

सौत्रान्तिक निर्वाण को क्लेश-जन्म का अभाव रूप मानते हैं पर **वैभाषिक** उसे प्रतिसंख्या-निरोध कहते है। वैभाषिको के अनुसार निर्वाण एक नित्य, असंस्कृत धर्म एक पृथक् भूत सत् है और वह अचेतन तथा प्रतिसंख्या-निरोध (सासारिक आश्रवो का क्षय रूप) है।[१] सौत्रान्तिक वैभाषिकों के उक्त मत से सहमत नही। वे निर्वाण को क्लेश क्षय रूप तो मानते है परन्तु अचेतन अवस्था नही मानते। वे भगवान् का धर्मकाय स्वीकार करते है और निर्वाण को एक अभावात्मक स्थिति स्वीकार करते है। इस प्रकार हीनयान की ये दोनो शाखायें—वैभाषिक और सौत्रान्तिक-निर्वाण को नितान्त अभावात्मक मानती है।[१] निर्वाण दर्शन के विकास का यह **चतुर्थ चरण है।**

महायानी परम्परा मे निर्वाण का कुछ और विकास हुआ। हीनयान दर्शन मे मात्र पुद्गलनैरात्म्य की कल्पना थी जिससे क्लेशावरण का उच्छेद होता है पर महायान दर्शन में उसके अतिरिक्त धर्मनैरात्म्य की भी कल्पना की गई जिसके ज्ञान से ज्ञेयावरण दूर होता है। सत्काय दृष्टि (आत्मदृष्टि) राग-द्वेष का कारण है[२] अतः उसे दूर करने के लिए पुद्गलनैरात्म्य की भावना आवश्यक है। तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए ज्ञेयावरण को दूर करना अपेक्षित है जो शून्यता ज्ञान (धर्मनैरात्म्य) से सम्भव है। दोनों आवरणो के दूर होने से ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। यह निर्वाण शब्दतः अनिर्वचनीय है। कल्पना का अपनयन हो जाने पर ही निर्वाण प्रप्य है। महायान मे बुद्ध का धर्मकाय स्वीकार किया गया और मानव जीवन का चरम लक्ष्य अर्हत् प्राप्ति न मानकर बुद्धत्व प्राप्ति स्वीकार किया गया। योगाचार बाह्य जगत् का आभास मात्र

---

१. द्रव्यंसत् प्रतिसंख्यानिरोधः— सत्यचतुष्टयनिर्देशनिर्दिष्टत्वात् मार्गसत्यवत् इति वैभाषिकः —अभिधर्मकोश, व्याख्या, पृ० १७।

२. सत्यकायदृष्टि प्रभवानशेषान्, क्लेशांश्च दोषाश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्ध्वा योगी करोत्यात्म निषेधमेव॥
माध्यमिकावतार ६.१२०, मा० वृत्ति, पृ० ३४०

मानकर वस्तुसत्ता का प्रतिषेध करता है वह एक आलयविज्ञान को मानता है जो सर्वधर्मो मे बीजवत् सांक्लेशिक कारण रूप से आलीन रहता है। उसे विपाक विज्ञान भी कहते है। वह ज्ञेय पदार्थों का आश्रय है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दो मे आलयविज्ञान का वही स्थान है जो आत्मा और जीवितेंद्रिय दोनो का मिलकर अन्य वादो मे है।[1] इसे हम निर्वाण के स्वरूप के विकास का **पञ्चम चरण** कह सकते है।

हीनयान और महायान दर्शन मे निर्वाण के स्वरूप मे कुछ सामान्य विशेषतायें दृष्टिगोचर होती है और कुछ विशिष्ट विशेषतायें। **सामान्य विशेषतायें** इस प्रकार है—

१. निर्वाण निष्प्रपञ्च और अनिर्वचनीय है। असंस्कृत धर्म होने के कारण वह उत्पाद, विनाश एवं परिवर्तन से दूर है।

२. निर्वाण स्वसंवेद्य है।

३. अष्टाङ्गिक मार्ग का परिपालन निर्वाण-प्राप्ति का साधन है।

४. व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध होता है।

५. अर्हत् निर्वाण निम्न कोटि का है और बुद्ध का ज्ञान तथा शक्ति लोकोत्तर है।

६. त्रिकालवर्ती बुद्धो के लिए यह एक और समान है।

दोनो दर्शनो मे सम्मत निर्वाण के स्वरूप की तुलनात्मक विशेषताओ की दृष्टि से उनका **विचार वैभिन्य** इस प्रकार देखा जा सकता है—

हीनयान	महायान
१. बहुधर्मवादी	१. अद्वयवादी
२. संस्कृत धर्म वस्तु-सत् है।	२ धर्म संस्कृत (परापेक्ष) होने के कारण स्वभावशून्य है।
३. राशि अवयवी प्रज्ञप्ति सत् है और केवल धर्म वस्तु है।	३. धर्म शून्य है और केवल धर्मता (धर्मकाय) वस्तु सत् है।
४. पुद्गल नैरात्म्य है। केवल संस्कार सहभू है।	४. धर्मनैरात्म है और धर्मकाय है।
५. धर्म संस्कृत एवं असंस्कृत मे विभक्त है और दोनो वस्तु सत् है।	५. वस्तु सत् कोई नही। दोनो शून्यता के आधीन है।

६. संस्कृत वस्तु प्रतीत्य समुत्पन्न है।	६. निरपेक्ष ही वस्तु है, परापेक्ष नही
७. प्रतीत्यसमुत्पादवाद	७. शून्यता धर्म समानार्थक है।
८. परिनिर्वृत तथागत नित्य और अचेतन वस्तु है।	८. तथागत स्वभावत: नही, धर्मत: है।
९. निर्वाण सत्य, नित्य, दुःखाभाव तथा पवित्र है।	९. सुखात्मक तथा अनिर्वचनीय है।
१०. निर्वाण प्राप्त (उपलभ्य) है।	१०. निर्वाण अप्राप्त (अनुपलभ्य) है।
११. निर्वाण लोकोत्तर दशा है।	११. निर्वाण लोकोत्तरतमदशा है।
१२. विमुक्ति काय प्राप्त करते है।	१२. धर्म काय और सर्वज्ञत्व प्राप्त करते है।
१३. सोपधिशेष (प्रति संख्या-निरोध) और निरुपधिशेष (अप्रति-संख्यानिरोध) ये दो रूप हैं।	१३. इनके अतिरिक्त प्रकृतिशुद्ध और अप्रतिष्ठित ये निर्वाण के दो भेद और हैं।
१४. निर्वाण और संसार मे धर्म-समता नही।	१४. निर्वाण औरसंसार मे धर्म समता है।
१५. पदार्थ सत् है।	१५. पदार्थ का प्रपञ्च मायिक तथा मिथ्या है।
१६. क्लेशावरण से ही निर्वाण मिलता है।	१६. निर्वाण के लिए क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण दोनो से मुक्त होना अपेक्षित है।

शून्यवाद के संस्थापक आचार्य **नागार्जुन** ने निर्वाण को न भाव माना, न अभाव और न भाव-अभाव। उन्होने उसे अप्रवृत्तिमात्र स्वीकार किया है। निर्वाण को भाव मानने पर उसका जरा-मरण, संस्कृतत्व तथा हेतु-प्रतीत्यजन्य मानना पड़ेगा परन्तु निर्वाण मे ये विशेषतायें नही है। अभाव

यदि मानते है तो उसे अनित्य मानना होगा। यदि उभय है तो संस्कारों का आत्मलाभ तथा उनका नाश दोनो को ही निर्वाण कहा जाता है।

आर्यदेव और **चन्द्रकीर्ति** ने भी निर्वाण को अभावात्मक माना है। उन्होंने कहा है कि जैसे दुःख, दुःख समुदय, और दु.खनिरोध ये तीनो आर्यसत्य हैं वैसे ही क्लेशक्षय लक्षण स्वरूप मोक्ष नही है। क्योकि उससे कुछ भी लाभ नही। बन्ध्य और मोक्ष इन दोनों का भी अवयव स्वभाव नही मिलता यदि इसका कुछ उपयोग मान भी लिया तो उससे अनुमित सत्व ही होगा और यह है नही। अतएव इसका सद्भाव नही है।

"समस्त स्कन्धो का नाश, जन्म-मरण का क्षय, विराग, निरोध निर्वाण है।" इस प्रकार के आगम प्रमाण से निर्वाण मे स्कन्ध सर्वथा नही होते। पुद्गल भी नही होता। यदि निर्वाण मे स्कन्ध होते तो पुद्गल भी होता। तब उनके होने पर निर्वाण की प्राप्ति में सूत्र-विरोध होगा और निर्वाण संसार से बाहर नही होगा। इस कारण उस निर्वाण मे निर्वाणभूत कुछ भी नही मिलता। इसलिए कहा है—'यत्र दृष्टं हि निर्वाणं निर्वाण तत्र किं भवेत्।" यहां निर्वाण को न आधार माना गया और न आधेय। निराधार आधेय के अभाव से निर्वाण का अभाव सिद्ध हो जाता है।

मुक्त अवस्था मे ज्ञान के अस्तित्व की कल्पना करना भी निरर्थक है। भव–हीन व्यक्ति के लिए ज्ञान के सद्भाव का कोई तात्पर्य नही। वह कोई भी पदार्थ अच्छी तरह से अनुभूति मे नही ला पाता। क्योकि उसके हेतुफलात्मक सारे विकार समूह प्रशान्त हो चुके। इसलिए मुक्त आत्मा मे मोक्ष ज्ञान युक्त नही।

मुक्तावस्था में आत्मा का भी अस्तित्व नही, अन्यथा आत्माश्रित ज्ञान-शक्ति का भी अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा और ज्ञानशक्ति ज्ञान सत्ता रूप है। आत्मा के अभाव में ज्ञान शक्ति निराश्रित हो जाती हैं। ज्ञान शक्ति निराश्रित हो जाने से भव भावना भी निवृत्त हो जाती है।[१] बौद्ध दर्शन मे निर्वाण का यह विशेष स्वरूप है। इसे हम निर्वाण के विकास का **षष्ठ चरण** कह सकते हैं।

---

१. चतु:शतक, ६-२०-२५

८. ईश्वर कल्पना

दार्शनिक क्षेत्र मे ईश्वरका स्वरूप आज भी विवाद-ग्रस्त प्रश्नके रूपमे खड़ा हैं। सृष्टिके प्रारम्भ से ही दार्शनिको ने प्रस्तुत प्रश्न को अपने ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया हैं। ये प्रयत्न स्थूल रूपसे दो अंगोमें विभाजित किये जा सकते है—श्रमण प्रयत्न और श्रमणेतर प्रयत्न। श्रमण संस्कृति के आचार्यों ने ईश्वर को ईश्वर रूपमे न मानकर उसे पथप्रदर्शक के रूप मे स्वीकार किया हैं। ईश्वर का कार्य यहाँ स्वयंकृत कर्म करते है। श्रमणेतर संस्कृति मे ईश्वर को सृष्टिकर्ता-हर्ता और साथही सुखदु-:खदाता के रूप मे अङ्गीकार किया गया हैं। बौद्धधर्म-दर्शन श्रमण संस्कृति की अन्यतम शाखा हैं। उसमे ईश्वरवाद को कम्मवाद के रूप मे उपस्थित किया गया हैं।

१ ईश्वर-कल्पना की उत्पत्ति—पथिकसुत्त मे ईश्वर निर्माणवाद का खण्डन करते हुए भगवान् बुद्ध ने ईश्वर-कल्पना की उत्पत्ति बतायी हैं[1]—

बहुत समय के बाद इस लोक का प्रलय होता है। प्रलयके बाद आभास्वर ब्रह्मलोकवासी वहाँ दीर्घकाल तक रहते है। तदनन्तर पुनः प्रलय होता है और एक शून्य (सुञ्ञं) ब्रह्म विमान प्रकट होता है। आभास्वर ब्रह्मलोक से कोई प्राणी आयु अथवा पुण्य-क्षय हो जाने के कारण च्युत होकर ब्रह्मविमान मे उत्पन्न होता है। कुछ समय बाद दूसरे प्राणी भी इसी प्रकार वहाँ उत्पन्न हो जाते है। जो प्राणी वहाँ सर्वप्रथम उत्पन्न होता है उसके मनमे यह विचार आता है—मैं ब्रह्मा, महाब्रह्मा, अभिभू, अनभिभूत, सर्वज्ञ, वशवर्ती, ईश्वर, कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्य मे उत्पन्न होने वाले प्राणियो का पिता हूँ। मैने ही इन प्राणियों को उत्पन्न किया है। मेरे ही मन मे सर्व प्रथम यह विचार आया था अहो, दूसरे प्राणी यहाँ आवें। अत; मेरे ही मनसे उत्पन्न होकर ये प्राणी यहाँ उत्पन्न हुए है। और जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए उनके भी मनमे यह विचार उत्पन्न होता है कि यह ईश्वर कर्ता, पिता, ब्रह्मा, महाब्रह्मा है, इसने ही हम लोगो को उत्पन्न किया है।

जो प्राणी पहले उत्पन्न होता है वह अधिक आयुवान् और अधिक सम्मानित होता है। और जो पश्चात् उत्पन्न होता है वह अल्पायुवान् और अपेक्षाकृत कम सम्मानित होता हैं। यही कारण हैं कि पश्चात् उत्पन्न होने वाला प्राणी उस काया को छोड़कर इस लोक मे आता है। यहाँ आकर प्रव्रजित हो जाता

---

१. दीघनिकाय, सूत्रसंख्या २४

है। और चित्त समाधि प्राप्त करने पर अपने समाहित चित्त मे जात्यस्मरण करता है—जो यह ब्रह्मा है। जिस ब्रह्मा ने हमे उत्पन्न किया है वह नित्य ध्रुव और शाश्वत, निर्विकार है तथा जो हम लोग उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये है, अनित्य अध्रुव, अल्पायु और मरणशील हैं।

यो खो सो भवं ब्रह्मा महाब्रह्मा०, येन मयं भोत्ता ब्रम्हुना निम्मिता, सो निच्चो धुवो सस्सतो अविपरिणामधम्मो सस्सतिसम तथेव ठस्सति, ये पन मयं अहुम्हा, तेन भोत्ता। ब्रम्हुना निम्मिता, ते मयं अनिच्चा, अद्धुवा, अल्पापुका चवनधम्मा तथता आगता ति।[1]

बासठ मिथ्यादृष्टियों के प्रसंग मे भगवान् बुद्ध ने आत्मा और लोक को अंशतः अनित्य माननेवाले इस सिद्धान्त को एकच्चसस्सतवाद कहा है।[2] वहा पर भी लगभग इन्ही शब्दो मे ईश्वर की उत्पत्ति का कथन किया गया है। इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् बुद्ध की दृष्टि से ईश्वर की सत्ता मानसिक सत्ता है। यद्यपि उसका सृष्टिकर्ता के रूप में कोई अस्तित्व नही है।

२. **ईश्वर का स्वरूप अवक्तव्य है**—प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन मे ईश्वर का स्वरूप अधिक स्पष्ट नही हो सका। उसने थोड़ा-बहुत अवक्तव्य का स्थान ले लिया है। चूल सकुलदायी सुत्तन्त मे उदायी लोक के पूर्वान्त विषय मे अपने आचार्य के विचार भगवान् बुद्ध के समक्ष उपस्थित करता है—जिस वर्ण से प्रणीततर दूसरा वर्ण नही, वह परम वर्ण है—यस्मा भन्ते, वण्णा अञ्ञो वण्णो उत्तरितरो वा पणीततरो वा नत्थि सो परमो वण्णो ति। भगवान् से "वह कौन-सा वर्ण है जिससे प्रणीततर वर्ण दूसरा नही" उदायी ने अपना पूर्व कथन ही दुहराया। भगवान् ने तब कहा—तुम कितना ही प्रयत्न करो, उस वर्ण को, नहीं बतला सकते—तं च वण्णं न पञ्ञोपेसि।[3]

यहाँ जो परमवर्ण कहा है और जिसके स्वरूप का वर्णन सामर्थ्य के बाहर समझा गया है वह ईश्वर के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। इससे लगता है भगवान् बुद्ध ने ईश्वर का स्वरूप भी अवक्तव्य मानने का सकेत किया है, यद्यपि अव्याकृत प्रश्नो मे इसका कोई स्थान नही हैं।

---

१. वही ३, १, ८, ३९-४०

२. वही १, ३, ३८

३. मज्झिम. २, २९, ३

ईश्वर का स्वरूप अन्धवेणी के समान है—वस्तुतः ईश्वर का यथार्थ स्वरूप कोई जान नही सका। परम्परा से जिसे हमने ईश्वर की गद्दीपर आसीन कर दिया उसी को ईश्वर मानते चले आये। प्रत्यक्ष दर्शन किसी ने नही किया। भगवान् बुद्ध इसलिए पूछते है—वसिष्ठ, त्रैविद्य ब्राह्मणो मे क्या एक भी ब्राह्मण है जिसने ब्रह्मा का स्वयं साक्षात्कार किया हो—"किं पन वासेट्ठ, अत्थि कोचि तेविज्जानं ब्राह्मणानं एको ब्राह्मणो पि येन ब्रह्मा सक्खिदिट्ठो।" उदायीका उत्तर नकारात्मक होता है। बुद्ध पुनः प्रश्न करते है—वशिष्ठ, क्या त्रैविद्य ब्राह्मणो के पूर्वज मन्त्रकर्ता, और मन्त्रप्रवक्ता ऋषि थे जिनके कि गीत, प्रोक्त, समीहित पुराने मन्त्र को आजकल त्रैविद्य ब्राह्मण अनुगान-अनुभाषण करते है, भाषित का अनुभाषण करते है, वाचे का अनुवाचन करते है, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु। उन्होने भी क्या यह स्वीकार किया है—जहाँ ब्रह्मा है, जिसके साथ ब्रह्मा है, जिस विषय मे ब्रह्मा है, हम उसे जानते है, हम उसे देखते है? बुद्ध ने इसका निष्कर्ष निकालकर कहा कि त्रैविद्य ब्राह्मणो मे एक भी ऐसा ब्राह्मण नही जिसने ब्रह्मा का साक्षात्कार किया हो। इति किर वासेट्ठ, नत्थि कोचि तेविज्जानं ब्रह्मणानं एको ब्राह्मणो पि येन ब्रह्मा सक्खिदिट्ठो। जिसने जिसका स्वयम् साक्षात्कार न किया हो अथवा कोई भी उसे नही पा सका हो उसके अस्तित्व को प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है!

इस प्रकार बुद्ध ने त्रैविद्य ब्राह्मणो के कथन को अप्रामाणिक घोषितकर ईश्वर एवं ईश्वर द्वारा प्रवेदित वेद को अमान्य किया है। वे ईश्वर मानने वालों की परम्परा को अन्ध वेणी के समान समझते हैं। जैसे अन्धो की पंक्ति एक दूसरे से सम्बद्ध रहती है पहले वाला भी नही देखता, बीच वाला भी नही देखता और पीछे वाला भी नहीं देखता। उसी प्रकार ईश्वरवादी भी अदृष्ट स्वभावी ईश्वर का अस्तित्व साक्षात्कार किये बिना ही परम्परावशात् स्वीकार करते है। बौद्ध दर्शन में ईश्वर कल्पना का यह प्रारम्भिक रूप रहा होगा।

सुख, दुःख आदि ईश्वरकर्तृक नहीं—तित्थायतन सुत्त मे भगवान् बुद्ध ने ईश्वर के प्रति कुछ और सुलझे हुए विचार प्रस्तुत किये है। वहाँ वे कहते हैं कि सुख दुःख आदि ईश्वरकर्तृक नहीं हो सकते अन्यथा प्राणातिपात, अदिन्नादान, अब्रह्मचर्य, मुसावाद, पिशुनवाचा, परुषवाचा, आदि सभी को ईश्वरकर्तृक मानना पड़ेगा। और इन सबको ईश्वरकर्तृक मानना एक छल ही

होगा। यह हमे अकर्मण्य बना देगा।

तत्र, भिक्खवे, ये ते समण ब्राह्मणा 'एवं वादिनो एवं दिठ्ठिनो यं कि चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा सब्बं तं इस्सर निम्मानहेतु त्याह एवं वदामि-तेना हायस्मन्तो पाणातिपातिनो इस्सर निम्मानहेतु इस्सरनिम्मानं खो पन भिक्खवे, सारतो पच्छागच्छत न होति छन्दो वा वायामो वा इदं वा करणीयं इदं वा अकरणीयं ति। इति करणीया-करणीये खो पन सच्चतो थेततो अनुपलब्भियमाने मुट्ठस्सतीनं विहरतं न होति पच्चतं सहधम्मिको समणवादो।[1]

कर्मवाद और ईश्वर-कल्पना—कर्म वाद बौद्ध धर्म की विशेषता है। जिस कर्म का भगवान् न गहकारक माना है (गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि)[2] उसे ही सुख-दुःख का कारण भी स्वीकार किया है। ससारमे गरीबी और अमीरी के बीच जो खाई बनी हुई है ऊंच-नीच दरिद्र-धनवान, मे जो दो किनारे निर्मित है उन सभीका मूल कारण हमारे कर्म है।[3] इसीलिये माणवक को भगवान् ने कहा था कि प्राणी कर्मस्वक है, कर्मदायाद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु और कर्मप्रतिशरण है—

कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धु कम्मपटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीन-पणीतताया' ति।[4]

जहाँ प्राणियो को धर्मदायाद और कम्मदायाद बनने के लिये कहा गया है वही यह भी कहा है कि संसाररूपी अगाध समुद्रमे परिभ्रमण करानेवाला प्रतीत्यसमुत्पाद भी कर्मचक्र ही है। कर्मसे विपाक (फल) उत्पन्न होता है और विपाक कर्म से उत्पन्न होता है। कर्मसे पुनर्जन्म होता है और यही भव-भ्रमण कराने मे कारण है।

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती॥[5]

कर्म को संसारका कारण स्वीकार करने पर ईश्वरको सृष्टिकर्ता-हर्ता अथवा सुख दुःखदि के दाता रूपमे माननेकी आवश्यकता नही रह जाती इसलिए भगवान् ने स्वयंको न सर्वज्ञ माना है[6] और न ईश्वर। उन्होने तो अपने

---

१ अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, ३. ७. १.

२ धम्मपद ११. ९ ३ मज्झिमनिकाय, चूलकम्मविभंग-सुत्तन्त.

४ वही ५ विभङ्ग, पृष्ठ ४२६.

६. मज्झिमनिकाय, तेविज्जवच्छगोत्त।

आपको पथप्रदर्शक अथवा दीपक के रूपमे स्वीकार किया है। बाकी परिश्रम तो प्राणी को स्वयमेव करना पडेगा। स्वयंकृत परिश्रमके बिना और कोई तारक नही हो सकता।[1] " अत्त दीपो भव " भी इसीलिये कहा गया है।

यहा यह द्रष्टव्य है कि बौद्धदर्शन मे सभी दुःखो का कारण पूर्व कर्म नहीं माना गया। कुछ लौकिक कारण भी होते है जिनसे दुःख-प्राप्ति होती है। नागसेन ने दुःख के आठ कारण बताये है—वात, पित्त, कफ, सनिपात, ऋतु परिणाम, विषमाहार, उपक्रम और कर्म विपाक। वात का प्रकोप दस कारणो से होता है—सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, अति भोजन, बहुत देर तक खडे रहना, अधिक श्रम करना और दौडना। कर्म फल से भी वात होता है। पर वात के उक्त नौ कारण इहलौकिक है। उनसे पूर्वजन्म का कोई सम्बन्ध नही। इसी लिए नागसेन ने कहा—न सब्बा वेदना कम्मविपाकजा अप्पं कम्म-विपाकजं, बहुतर अवसेसं। सयुत्त निकाय मे भी कहा गया है—ये ते समण ब्राह्मणा एव वादिनो य कि चायं पुरिसपुग्गलो पटिसवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुख वा सब्ब तं पुब्बकतहेतुहि। यं सामं त अतिधावन्ति तस्मा तेसं समणब्राह्मणानं मिच्छाति वदामि।[2] इसके बावजूद कर्म को संसार का कारण तो माना ही गया है। इस मान्यता से किसी को विरोध नही। कर्मवाद की यह नयी व्याख्या है। बौद्ध दर्शन मे ईश्वर कल्पना के विकास का यह **तृतीय चरण** है।

प्रतीत्य समुत्पाद और ईश्वर कल्पना—प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा हेतु प्रत्यय सापेक्षता भव भ्रमण करने के कारणो को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का साधन है। परन्तु शून्यवाद तक आते-आते बौद्ध दर्शन ने पदार्थों की सृष्टि मे इस नियम को मिथ्या कह दिया। नागार्जुन इस मत के प्रस्थापक आचार्य कहे जा सकते है। उनके अनुसार उत्पन्न-नष्ट होने वाले पदार्थो मे कार्यकारण भाव की स्थापना करना संभव नही है। वस्तुतः कहीं कोई पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होता है, न परतः (दूसरे से), न स्वतः और अहेतु से उत्पन्न होता है। इसे हम अजातिवाद कह सकते है।

न स्वतो, नापि परतो, न द्वाभ्या, नाप्य हेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥[3]

शान्तिदेव ने ईश्वरवाद की आलोचना करते हुए बौद्धेतर दार्शनिको के मन्तव्यों का खण्डन किया है। नैयायिकों के अनुसार जगत् का कारण ईश्वर

---

१. तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता। धम्मपद २०.४.
२. मिलिन्दपञ्ह, पृ-१३५-६ ३. माध्यमिक कारिका, १.१.

है। पर प्रश्न है कि वह ईश्वर है क्या ? यदि पृथिवी आदि महाभूत ईश्वर है तो ईश्वर के स्थान पर महाभूतो को ही ईश्वर क्यो नहीं मानते ? महाभूत ईश्वर हो नहीं सकते क्योकि महाभूत अनेक अनित्य, अचेतन, अदेवता, लंघ्य और अशुचि रूप है जबकि ईश्वर एक, नित्य, चेतन, देवता अलंघ्य और शुचि रूप है। फिर ईश्वर किसकी सृष्टि करना चाहता है ? यदि आत्मा की सृष्टि करना चाहता है तो यह ठीक नही क्योकि आत्मा और ईश्वर दोनो नित्य हैं। नित्य ईश्वर द्वारा नित्य आत्मा की सृष्टि करना तर्क संगत नही। पृथ्वी आदि का स्वभाव नैभाषिक दर्शन मे नित्य माना जाता है। ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है और अनादि है। आदिमान् सुख-दुःख कर्म मे उत्पन्न होते हैं। तब सृष्टि के लिए ईश्वर का बचा क्या ? यदि सृष्टि करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति अथवा सामग्री की अपेक्षा है तो फिर उसे ईश्वर नही कहा जा सकता। यदि ईश्वर बिना इच्छा से सृष्टि करता है तो वह पराधीन है और अपनी इच्छा से करता है तो इच्छाधीन है। इसी प्रसंग मे शान्तिदेव ने मीमांसको और सांख्यो के सिद्धान्तो की भी आलोचना की है।[१]

अजातिवाद के प्रतिपक्षी त्रैकाल्यवादी सर्वास्तिवादियो के अनुसार पदार्थ हेतु-प्रत्यय द्वारा अनागत से वर्तमान मे और वर्तमान से अतीत मे चला जाता है। काल-परिवर्तन का नाम ही उत्पाद, स्थिति और भंग है। वस्तुतः पदार्थ की सत्ता रहती है। वह परमार्थ सत् ही है।[२] यह सर्वास्तिवादी सिद्धान्त ईश्वर कल्पना के विकास का **चतुर्थ चरण** है।

परन्तु शून्यवाद की दृष्टि से यह मत ठीक नही क्योंकि पदार्थ किसी दूसरी जगह से न आता है, न ठहरता है, और न कहीं अन्यत्र चला जाता है। जिसे परमार्थ सत् कहा गया है वह वस्तुतः माया और भ्रम है। यही शून्यवाद है। है।[३] ईश्वर कल्पना के विकास मे शून्यवाद के इस सिद्धान्त को हम **पञ्चम चरण** के रूप मे नियोजित कर सकते हैं।

त्रिपिटकके ईश्वर सम्बन्धी इस मन्तव्यको सर्वास्तिवादी और महायानी आचार्यों ने बौद्ध संस्कृत दार्शनिक साहित्यमे अधिक विकसित और गंभीरता से प्रस्तुत किया है। वसुबन्धुने अभिधर्मकोश[४] और स्फुटार्थ मे[५], शान्तिदेवने बोधि-

१. बोधि चर्यावतार, ९, ११७–१४३.
२. अभिधर्म कोश, ५-२५-६;
३. बोधिचर्यावतार, ९-१४३–१५२
४. अभिधर्मकोष–५. ८.
५. स्फुटार्थ, पृष्ठ ४४५–६

चर्यावतारमे [1] और शान्तरक्षित ने तत्वसंग्रहमे [2] गंभीर तर्क उपस्थित कर ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व और सुख - दुःख-दातृत्व शक्ति का भरपूर खण्डन किया है।

इसके अतिरिक्त ईश्वरवाद के खण्डन मे बौद्ध अचार्यो के निम्नलिखित कुछ और प्रबल तर्क उद्धरणीय है।[3]

१. पृथ्वी आदि कार्य घट की तरह किसी बुद्धिमान् कर्ता के द्वारा निर्मित है, यह ठीक नही। क्योकि समस्त जगत् का कर्ता सर्वज्ञ, नित्य ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवाला, अशरीरी, बुद्धिमान् माना जाता है, पर घटादि का कर्ता अल्पज्ञ और सशरीरी होता है। प्राचीन महल आदि के कर्ता का स्मरण तो होता है परन्तु पृथ्वी आदि का नही। वस्तुतः समस्त जगत् तो कारण सामग्री से स्वतः उत्पन्न होता है।

२. ईश्वर तो अत्यन्त दयालु और परोपकारी माना जाता है। यदि वह जगत् का कर्ता होता तो दु.खदायक शरीरादि की रचना नही करता। धर्म-अधर्म से उसके ये कार्य माने जावें तो ईश्वर—कल्पना मे ही क्या लाभ ?

३. ईश्वर का सद्भाव किसी प्रामाण से भी सिद्ध नही। ज्ञानादि की प्रतीति नित्यता रूप से भी कही भी नही होती। ज्ञानादि को शरीर के द्वारा ही सम्पाद्य माना जाता है।

भारतीय दर्शनो मे न्याय-वैशेषिक और वेदान्ती ईश्वर वादियों में प्रमुख है। तथा सांख्य, जैन, बौद्ध और चार्वाक ईश्वरवाद के विरोधी हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष मे इनके तर्क लगभग समान दिखाई देते है।

बौद्धदर्शन के उक्त तर्क जैन दर्शन के बहुत समीप है। यद्यपि जैन दर्शन ने ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व आदि रूपो के खण्डन मे और भी तीखे और गहन तर्को का उपयोग किया है परन्तु दोनों का लक्ष्य एक होने के कारण चिन्तन मे समानता दिखाई देती है। व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक भी था।

---

१. बोधिचर्यावतार, ६, ११७—१५५

२. तत्वसंग्रह, ईश्वरपरीक्षा ७२—८७ पुरुष परीक्षा १५५, १६०.

३. न्या. कु. च. पृ. ९७ आदि, प्रमेयक. मा पृ.२६६ आदि। न्या-वा-ता-टी; पृ-५९८ आदि; जैन न्याय पृ. १७७-१८८.

९ त्रिकायवाद

त्रिकायवाद बौद्ध दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। स्थविरवादी विचारधारा के अनुसार भगवान् बुद्ध पूर्णतः मानव थे। उनमे मानवीय हीनतायें भी थी। शनैः शनैः उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को मानवोत्तरीय बनाया गया। त्रिकायवाद इसी का दिग्दर्शक है।

पालि साहित्य मे बुद्ध के दो कायो का उल्लेख मिलता है—रूप काय तथा धर्म काय। रूप काय बुद्ध का भोतिक शरीर था तथा धर्म काय उनके द्वारा प्रवेदित उपदेश की संज्ञा थी। धर्म काय का ही विशेष महत्व था और उसे ही वास्तविक काय का स्वरूप प्रदान किया गया।

काय-कल्पना का विकास **महासांघिक सम्प्रदाय** से प्रारम्भ हुआ। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता महायान का आरम्भिक ग्रन्थ है। उसमें उक्त दो कायो का ही विशेष उल्लेख है। प्रथम काय मे बुद्ध के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर गर्भित है। विज्ञानवादियो ने इसी विचार को त्रिकाय कल्पना के रूप मे विकसित किया। उसी स्थूल रूप काय को निर्माण काय तथा सूक्ष्म रूपकाय को संभोग काय नाम दिया गया। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय मे बुद्ध के व्यक्तत्व को चमत्कृत रूप अवश्य प्रदान किया गया परन्तु वहां पूर्ण दार्शनिक विकास दिखाई नही देता। ललित विस्तर और अभिधर्मकोश इसके प्रमाण है।

१. रूपकाय—स्थविरवाद में रूपकाय मानवीय व्यक्तित्व से आपूर है। संयुक्त निकाय मे इसी को पूतिकाय कहा गया है। सर्वास्तिवादी साहित्य मे यही साश्रव और महासांघिक तथा सौत्रान्तिक मे अनाश्रव के रूप मे निर्दिष्ट है। कालान्तर में रूपकाय ही निर्माण काय कहा जाने लगा। उसमे बुद्ध का अवतार मात्र उपाय कौशल प्रदर्शन के निमित्त था। **वैतुल्यकों** की मान्यता थी कि बुद्ध संसार मे जन्म ग्रहण नही करते, वे तुषित लोक में निवास करते हैं और जनहित के लिए संसार मे आते है। प्रातिहार्य प्रदर्शन इस काय का वैशिष्ट्य है। असंग के अनुसार शिल्प, जन्म, अभिसंबोधि तथा निर्वाण दर्शन और परार्थ सिद्धि निर्माण काय की मुख्य विशेषतायें है—

शिल्पजन्ममहाबोधि सदा निर्वाण दर्शनैः।
बुद्ध निर्माण कायोऽयं महामायो विमोचने ॥ महायान सूत्रा. ९-६४

२. धर्मकाय—धर्मकाय मूलतः बुद्ध के उपदेश से सम्बद्ध है। महापरिनिब्बाणसुत्त मे कहा गया है कि भ. बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय आनन्द से कहा कि आनन्द मेरे द्वारा उपदिष्ट धर्म ही मेरे वाद तुम्हारा शास्ता होगा

(यो वो आनन्द मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो सो वो ममच्चयेन सत्था)[१]। वक्कलि का सन्दर्भ भी इस प्रसंग मे स्मरणीय है। बुद्ध ने वक्कलि से कहा कि "जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है (यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति, यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति)।[२] यही धर्म और बुद्ध की एकाकारता धर्मकाय की विशेषता है।

धर्म काय की प्राप्ति आश्रवक्षय का परिणाम है। इससे चार सम्पत्तियां प्राप्त होती है—ज्ञान संपत्, प्रहाणसंपत्, प्रभावसंपत् और रूपकाय संपत्। महायान मे धर्म काय को ही वास्तविक काय स्वीकार किया गया है। यह धर्मता प्रतीत्य-समुत्पाद का ज्ञान है जो दुर्ज्ञेय है।[3] इसलिए इसे प्रपञ्चविहीन और शुद्ध काय कहा गया है। महायान सूत्रालंकार मे इसका उल्लेख स्वभावकाय के रूप मे किया गया है। इसे सम, सूक्ष्म तथा निर्माणकाय और संभोगकाय का हेतु भी कहा गया है।[४] धर्मकाय वचनमगोचर है और उसके निश्चय मे प्रज्ञापारमिता भी एक आधारभूत कारण है।

माध्यमिक (शून्यवादी) परम्परा मे संसार की सिद्धि तथागत की सिद्धि पर निर्भर है। चूंकि तथागत निःस्वभाव है अतः संसार भी निःस्वभाव है। इस तरह समूचा जगत् उनकी दृष्टि में निःस्वभाव और मायोपम बन जाता है।[५]

विज्ञानवाद (योगाचार) मे शून्यता को 'वस्तुमात्र' माना है, जिसे 'चित्तविज्ञान' और 'आलयविज्ञान' की संज्ञा दी गई है। यह आलय विज्ञान प्रवृत्ति रूप साश्रव धर्मों तथा निर्वृत्ति रूप अनाश्रव धर्मों के कारणों का भण्डार है। यह सब चित्त की प्रतिकृति है। अतः धर्मकाय आलय विज्ञान का अधार है। यही तथता, भूततथता, धर्मधातु आदि नामो से भी अभिहित है।[६]

---

१. दीघ. २-३.   २. संयुत्त निकाय

३. धर्म तो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः।
धर्मता चाप्य विज्ञेया न सा शक्या विजानितुम्॥ चतुःशतक, ३०९

४. सम· सूक्ष्मश्च तच्छ्लिष्टः कायः स्वाभाविको मतः।
सम्भोगविभुताहेतु र्यथेष्टं भोगदर्शने॥ ९,६२.

५. माध्यमिक सूत्र, २२. १६   ६. त्रिंशिका, ३०, पृ. ४३

संभोगकाय—स्थविरवाद में मूलतः संभोगकाय की कल्पना नही दिखती। बुद्ध के लोकोत्तरवादी व्यक्तित्व के साथ संभोगकाय की विचार-धारा प्रबल होती जाती है। महायानी साहित्य के प्राय सभी ग्रन्थ बुद्ध के भास्वर शरीर का विविध प्रकार से वर्णन किया करते हैं। महाकरुणा इसका आधार है। संसारी प्राणियो को असहाय देखकर बोधिसत्व यह प्रणिधान करता हैं कि जब तक वह समस्त संसारियो को मुक्त नही कर देता तब तक वह स्वयं मुक्त नही होगा। गृद्धकूट पर्वत पर बुद्ध का यह संभोगकाय प्रारम्भ हुआ। उनके ललाट से असंख्य किरणें निकलती हैं जिनसे सारा जगत् प्रकाशित हो जाता है। अमिताभ आदि बुद्धो की यही विशेषता है। पर संभोगकाय बोधिसत्वों का शरीर है और स्वसंभोगकाय बुद्ध से सम्बन्धित है। स्वसंभोग काय में चार प्रकार के ज्ञान होते हैं—आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षणा और कृत्यानुष्ठान। संभोगकाय बोधिसत्वों का सूक्ष्म शरीर माना गया है।

दार्शनिक दृष्टि से धर्म काय शून्यता है। इसे अलक्षण विज्ञान भी कहा गया है। सभोगकाय धर्म काय का सत्, चित्, आनन्द या करुणा के रूप मे विकास मात्र है। यहीं चित्त जब दूषित होकर पृथग् जन के रूप में विकसित होता है तब वह निर्माण काय कहलाता है।[1]

१०. बोधिसत्वचर्या

अर्हत् का आदर्श बुद्धत्व अथवा सम्यक् संबोधित्व से पीछे रह गया। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिसत्व स्वयं को तथा सारे जगत् को परमार्थ सत्य मे प्रतिष्ठित करने का महाकारुणिक प्रयत्न करता है। बोधिपाक्षिक धर्मों की प्रवृत्ति, पारमिता की प्राप्ति और बोधिचित्त की उत्पत्ति करता है। तदर्थ वह अनुत्तर पूजा (वन्दना, पूजन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद और परिणामना) और त्रिशरण-गमन करता है।[2]

११. त्रियान

यान शब्द भारतीय साहित्य मे बहुत प्राचीन है। उसका प्रयोग विविध प्रसंगो पर मार्ग और वाहन के अर्थ में होता रहा हैं। बौद्ध ग्रंथो, मे भी इन्ही अर्थों मे वह प्रयुक्त हुआ हैं। स्थूल रूप से हीनयान और महायान इसके दो भेद हैं। इनकी विशेषताओं में से तीन यानो का उद्भव हुआ—श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान और सम्यक्सम्बुद्धयान। श्रावकयान हीनयान हैं। श्रावक का चरम उद्देश्य अर्हत् की प्राप्ति करना है। सोतापत्ति, सकदागामि,

---

१. बौद्ध-धर्म-दर्शन,—आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. १२१

२. देखिये बोधिचर्यावतार

अनागामि और अर्हत् ये चार भूमिया श्रावक को पार करनी पडती हैं। हीना-धिमुक्ति उसके हीनयान मे कारण है।[1] प्रत्येकबुद्ध वह जो बिना किसी गुरु की सहायता के और जगत् को उपदेश दिये बिना ही निर्वाण प्राप्त करता है। सम्यक्सम्बुद्धयान अथवा बोधिसत्वयान मे बोधिसत्व समस्त संसार को मुक्त करने के प्रयत्न मे रहता है उसे स्वयं की चिन्ता नहीं रहती। परोपकार वृत्ति की यह चरम साधना है। उपायकौशल्य इसका माध्यम है।[2] यानो की संख्या यहा तीन होते हुए भी उसे मूलत· एक ही माना गया है।[3] अतः महायान को एकयान और अग्रयान भी कहा गया है।

१२. आवेणिकधर्म

बुद्ध के वैशिष्ट्य को आवेणिक कहा जाता है। ऐसे आवणिक धर्म अठारह माने गये है—१० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान एवं महाकरुणा। कालान्तर मे महायान मे इनकी संख्या १४० तक पहुंच गई—३२ लक्षण, ८० अनुलक्षण, ४ सर्वाकार विशुद्धि, १० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान, ३ आरक्षण, महाकरुणा, असम्प्रमोषधर्मता, वासना समुद्घात, तथा सर्वाकारवरज्ञान।[4]

१३. भूमियां

भूमिया साधक की आध्यात्मिक जाग्रति की प्रतीक है। स्थविरवाद में ऐसी चार भूमिया स्वीकार की गई है—सोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत्। सोत्तापत्ति मे साधक अष्टाङ्गिकमार्ग की साधना करता है। इस साधना से यह निश्चित हो जाता है· कि साधक सम्बोधि को अवश्य प्राप्त करेगा। इसके लिए उसे अधिकाधिक सात जन्म और ग्रहण करना पड़ेंगे। सकदागामि में छः प्रकार के कामावचर-क्लेशो का प्रहाण होता है और मात्र एक बार कामधातु (पृथ्वी) मे जन्मग्रहण शेष रहता है। अनागामि तीसरी अवस्था है जहां साधक नौ प्रकार के क्लेशो को दूर करता है और कामधातु मे पुनः उत्पन्न नही होता। चतुर्थ और अन्तिम अवस्था है अर्हदावस्था की प्राप्ति। इस अवस्था मे साधक समस्त आश्रवों का क्षय कर लेता है।

उत्तरकाल में महायान दर्शन मे दश भूमियां स्वीकार की गई—प्रमुदिता,

---

१. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२ २. सद्धर्म पुण्ड पृ० २६६

३. एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते तृतियं हि नैवास्ति कदाचि-लोके।
अन्यत्रुपाया पुरुषोत्तमानां यद् याननानात्वपदर्शयन्ति ॥ वही २।५४
बौद्धस्य ज्ञानस्य प्रकाशनार्थं लोके समुत्पद्यति लोकनाथः।
एकं हि कार्यं द्वितोयं न विद्यते न हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः ॥ पृ० ४६

४. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४२

विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेधा। इन भूमियो में बोधिसत्त्वचर्या को अधिकाधिक परिशुद्ध किया जाता है। त्याग, करुणा, समता आदि दस धर्मो की प्राप्ति, ऋजु, मृदु, शम आदि दस चित्ताशयो का विकास, संयोजनो का क्षय, तथा बोधिपाक्षिक धर्मों का विकास, होता है। फलतः बोधिसत्व बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है।

१४. पारमितायें

स्थविरवाद मे पारमिता को "पारमि" कहा गया है। बोधिसत्व पूर्णत्व प्राप्ति के लिए उनकी साधना करता है। मूलतः पारमिताओ की संख्या दस मिलती है—दान, सील, नेक्खम्म, पञ्ञा, विरिय, खन्ति, सच्च, अधिट्ठान, मेत्ता और उपेक्खा। समूचा जातक साहित्य पारमिताओं पर आधारित है। महासांघिक सम्प्रदाय ने इसे और अधिक महत्व दिया। फलतः महायान ने भी इसे अङ्गीकार कर लिया। वहा संख्या कुल छः रह गई—दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। इस परम्परा में ललित विस्तार, दिव्यावदान बोधिचर्यावतार आदि ग्रन्थ आते हैं। महायान मे ही एक और अन्य परम्परा मिलती है। वहां उक्त छः पारमिताओं के साथ उपायकौशल्य, प्रणिधान, बल और ज्ञान जोडकर दस की संख्या भी पूरी कर दी गई है। इस परम्परा मे दशभूमिकसूत्र आदि ग्रंथ आते है। पारमिता-प्राप्ति पुण्यसंभार का परिणाम बताया गया है।

परिवर्त ५

बौद्ध दर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय और उनके सिद्धान्त

१–वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) दर्शन

साधारणतः बौद्ध दर्शन की चार शाखायें है—वैभाषिक और सौत्रान्तिक, तथा माध्यमिक और विज्ञानवाद। इनमे प्रथम दो हीनयानी दर्शन है और शेष दो महायान से सम्बद्ध है। कनिष्क कालीन (७८ ई०) यह वैभाषिक अथवा सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय त्रैकाल्यवादी और आभिधार्मिक के नामो से भी जाना जाता है। यह सिद्धान्त अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसंख्या, निरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध आदि के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इसके चार भेद है—भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, और अवस्थान्यथिक। इनके क्रमशः चार प्रधान आचार्य है—भदन्त धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र, एवं बुद्धदेव।

भदन्त धर्मत्रात अतीत, प्रत्युत्पन्न तथा अनागत कालवर्ती एक ही पदार्थ में भावो की विविधता के साथ मूल भाव को अपरिवर्तनीय मानते है। **घोषक** एक ही धर्म मे तीनो कालो के लक्षणो का स्थायित्व मानते है। **वसुमित्र** अवस्था अथवा कर्म के आधार पर तीनो कालो मे विभेद स्थापित करते है तथा बुद्धदेव एक ही समय मे तीनो कालो की प्रस्तुति निर्धारित करते है। इन सिद्धान्तों मे बुद्धदेव का मत वैभाषिकों मे विशेष लोकप्रिय हुआ।

धर्म—धर्म का तात्पर्य है—भाव, सत् अथवा वस्तु। वैभाषिकों ने धर्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इसीलिए वे सर्वास्तिवादी कहलाये। उनके मत मे सभी धर्मो की सत्ता यद्यपि पृथक् है परन्तु उनके संघात से जगत् के निर्माण को कल्पना की गई है। धर्म की सूक्ष्मतम व्याख्या निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य मे द्रष्टव्य है—

ये धर्म्मा हेतुप्रभवा हेतुं तषां तथागतो ह्यवदत् ।
अवदच्च यो निरोधो एवंवादी महा॰मणः ॥

अर्थात् प्रत्येक धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न होता है और उसका निरोध होता है। डॉ० शेरवात्सकी ने धर्मता के स्वरूप के विश्लेषण मे उसकी प्रमुख विशेषताओ का आकलन किया है—धर्मता। नैरात्म्य, क्षणिकत्व, संस्कृतत्व, साश्रव—अनाश्रवत्व, सङ्क्लेश-व्यवदानत्व, दुःखनिरोध और निर्वाण।[1] वैभाषिक सम्प्रदाय मे धर्म का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है—संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्म।

१. **संस्कृत धर्म**—परस्पर सापेक्ष भाव स उत्पन्न हों (सामेत्य कृतं सस्कृतम्)। ये प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण विनाश शील अतएव दु.ख और दु ख समुदित है। ससरण के मूल कारण भी यही है। इन्हे अध्व, कथावस्तु, सनिःसार और सवस्तुक भी कहा है।

सस्कृत धर्म के मूलतः चार लक्षण है—जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता। इन लक्षणो के कारण इन धर्मो का हेतु-प्रत्यय जन्य उत्पाद, स्थिति, अन्यथात्व और व्यय होता है। अतएव पर्यायान्तर से जाति-जाति, स्थिति-स्थिति आदि रूप से उन मूल धर्मो के चार अनुलक्षण होत है। सौत्रान्तिक इन लक्षणों को पृथक् पृथक् न मानकर उन्हे प्रज्ञप्ति सत् स्वीकार करते है। संस्कृत धर्म तीन प्रकार के होते है—स्कन्ध, आयतन और धातु।

(i) **स्कन्ध**—नाम और रूप के भेद से स्कन्ध दो प्रकार के है। ये क्रमशः मानसिक और भौतिक अवस्थाओ के ससूचक है। नाम के अन्तर्गत संज्ञा, वेदना, एव "संस्कार आते है तथा रूप के अन्तर्गत रूप और विज्ञान समाहित होते है। इनके समुच्चय को सत्व अथवा आत्मा कहा जाता है जो मात्र प्रज्ञप्ति-सत् है, द्रव्यसत् नही। ये अनित्य, दुःख और अनात्म है—यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनिच्चं। सस्वभाववादी वैभाषिक बहुधर्मवादी होने के कारण शाश्वत वादी नही हैं। इसलिए जगत् की उत्पत्ति मे वे ईश्वर को कारण नही स्वीकार करते।

(ii) **आयतन**—आयतन का अर्थ है—प्रवेश द्वार (आयं प्रवेशं तनौ-

---

१. सेन्ट्रल कन्सेपसन आफ बुद्धिज्म, पृ. ७४-५; उपाध्याय, बलदेव बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ- १८२,

तीति आयतनम्) । इन्द्रिय तथा इन्द्रिय जगत् से सम्बद्ध विषय को आयतन संज्ञा दी गई है । वस्तु के ज्ञान के लिए आयतन का सहयोग अपेक्षित है । इन आयतनो की संख्या बारह है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श ये पांच इन्द्रियां तथा बुद्धि और उनके विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस स्पृष्टव्य तथा बाह्येन्द्रिय ग्राह्य विषय ।

(iii) धातु—उत्पत्ति के आश्रय अथा उपकरण को धातु कहा जाता है । ये धातु १८ है—पूर्वोल्लिखित छः इन्द्रियाँ और उनके छः विषय तथा छः विज्ञान—चाक्षुष, श्रावण, घ्राणज, रासन, स्पर्शज और मनोविज्ञान । धातु शब्द का प्रयोग बौद्धधर्म मे लोक के अर्थ मे भी हुआ है । यह लोक दो प्रकार का है—भौतिक और अभौतिक । भौतिक के दो भेद है—कामधातु और रूप धातु । कामधातु मे उक्त १८ धातु, रूपधातु मे गन्ध, रस, घ्राण, और जिह्वा को छोड़कर १४ धातु, और अरूप धातु मे मात्र मन, धर्म तथा मनोविज्ञान धातुयें ही विद्यमान रहती है । स्कन्ध, धातु एवं आयतन को वैभाषिक द्रव्य-सत् कहते है, परन्तु सौत्रान्तिक धातु को द्रव्य सत् एवं स्कन्ध तथा आयतन को प्रज्ञप्ति सत् स्वीकारते है । वसुबन्धु इन दोनो से भिन्न विचार वाले हैं । वे स्कन्धो को प्रज्ञप्ति सत् एवं आयतन और धातु को द्रव्य सत् मानते हैं ।

(i) रूप—संस्कृत धर्मो के चार अवान्तर भेद है—रूप, चित्त, चैतसिक, और चित्त विप्रयुक्त । रूप के ११ भेद हैं—श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य, विषय और अविज्ञप्ति । रूप का स्वभाव अन्य पदार्थों का प्रतिघात करना है । परमाणु शब्द का प्रयोग स्थविरवादी परम्परा मे उपलब्ध नही होता । वहां 'कलाप' शब्द अवश्य मिलता है जिसे हम सर्वास्तिवादी परम्परा में प्राप्त संघात–परमाणु के समकक्ष उपस्थित कर सकते है । सर्वास्तिवाद के अनुसार परमाणु के १४ भेद है—५ विज्ञानेन्द्रिय, ५ विषय, और ४ महाभूत । उपचय, संतति, जरता तथा अनित्यता उनके प्रधान लक्षण है । वस्तु त्रिकालवर्ती होने के कारण नित्य है और उसकी विभिन्न अवस्थायें ही अनित्य तथा क्षणिक हैं । इस सन्दर्भ मे सर्वास्तिवाद मे रूप परमाणु नित्य माना गया । और उसमें पृथ्वी, अप, तेज और वायु रूप होने की सामार्थ्य भी स्वीकार की गई ।[१] जैन और साख्य भी यही मानते है । सर्वास्तिवाद का यह परमाणु-समुदयवाद सांख्यों के प्रकृति-परिणामवाद से, जैनो के द्रव्य-पर्यायवाद से और

१· सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थाट्स, पृ. १२५-१३७

मीमांसको के अवस्था–अवस्थातावाद से जितना अधिक सन्निकट है उतना ही अधिक दूर यह योगाचार के क्षणिकैकान्तन्वाद से है। परमाणु समुदाय की क्षणिकता को योगचार ने तर्क की भूमिका पर ले जाकर क्षणिकैकान्तवाद की कोटि मे रख दिया और परमाणु की वास्तविक नित्यता को काल्पनिक सन्तान मे सन्निहित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सर्वास्तिवाद और योगाचार का मार्ग अत्यन्त विरुद्ध हो गया। भगवान् बुद्ध के एक ही अनित्यता के उपदेश को एक ने समुदाय मे घटाया तो दूसरो ने सर्व वस्तुओं मे स्थापित किया। अश्वघोष ने इसी को भूत तथतावाद के रूप मे प्रतिपादित किया और उसके दो रूप बताये—पारमार्थिक और सांकृतिक। पारमार्थिक रूप विश्व का परम तत्व कहा गया और व्यावहारिक भूततथता संसार के रूप बताये गये है यह रूप सिद्धान्त जैन धर्म के नैश्चयिक आत्मा के समान है। कुन्दकुन्दाचार्य का 'सत्' सिद्धान्त भी भूत तथतावाद के अधिक निकट है।[1]

इन्द्रियां आदि भी वैभाषिक मतानुसार परमाणु संघात जन्य है। उनमे चक्षु, श्रोत्र, और मन अप्राप्त अर्थग्राही है तथा घ्राण, जिह्वा, और काय प्राप्त विषयग्राही है। चक्षु आदि इन्द्रिया विषय को स्पर्श कर नही जानती। यदि चक्षु स्पर्शकर जानती तो उन्हे आख मे लगे अंजन का भी दर्शन–ज्ञान होता। परन्तु दर्पण मे देखे बिना उसका दर्शन नही हो पाता। अतः चक्षु अप्राप्यवादी है। चक्षु को प्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए कहा जाता है कि चक्षु आवृत वस्तु को नही देख सकती, इसलिए प्राप्यकारी है। वस्तुतः यह कथन उचित नही। कांच, अभ्रक, और स्फटिक से आवृत पदार्थों को भी चक्षु देख लेती है। चुम्बक दूर से ही लोहे को खीच लेता है। फिर भी वह किसी चीज से ढके हुए लोहे को नहीं खीचता। इसलिए जो आवृत वस्तु को ग्रहण न कर सके वह प्राप्यवादी होता है, ऐसा नियम बनाना ठीक नही।[2] इसी प्रकार श्रोत्र और मन भी अप्राप्य विषयी है।

इन्द्रियों की संख्या २२ बतायी गई है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काम, मन, पुरुष, स्त्री, जीवित, सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, आज्ञातमाज्ञातस्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय और आज्ञातावीन्द्रिय। रूप मे वर्ण के १२ और संस्थान के ८ भेद होते हैं। शब्द के ८, गन्ध के ४,

---

१. न्यायावतार (टिप्प. पृ. २८२-२३); बौद्धधर्म दर्शन

२. तत्वार्थ राज वार्तिक; पृ-४८, न्या. कु. च. पृ-७५-८२, प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ. २२०,२९. जैन न्याय, पृ-५६

रस के ६ और स्पृष्टव्य के ११ प्रकार है। अविज्ञप्ति एक विशिष्ट कर्म प्रकार है। योगाचार के अनुमार रूप ११ ही है पर स्थविरवाद में उनकी सख्या २८ मानी गई है[1]

(ii) चित...बौद्ध दर्शन मे चित्त और जीव (आत्मा) लगभग समानार्थक माने जाते हैं। स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद और योगाचार उसे अनित्य, अस्थायी और अस्वतन्त्र पदार्थ ही मानते है। आलम्बनो के भेद से चित्त के ७ प्रकार है—मनम्, चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वा विज्ञान, काय विज्ञान और मनोविज्ञान।

(iii) चैत्त अथवा चैतसिक धर्म—चित्त और चैत्त धर्म अन्योन्याश्रित है। ये मुख्यत: ६ प्रकार के है और अवान्तर भेद से ४६ प्रकार के है।

(क) चित्तमहाभूमिक धर्म—१० = वेदना, सज्ञा, चेतना, छन्द, स्पर्श, प्रज्ञा, स्मृति, मनमिकार, अधिमोक्ष और समाधि। स्थविरवाद और विज्ञान वाद में इन धर्मो को सामान्य और विशेष धर्मों के रूप मे विभाजित किया गया है।

(क) कुशल महाभूमिक धर्म—१० = श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, अपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अहिंसा और वीर्य। स्थविरवाद ने इसके २५ और विज्ञानवाद ने १० धर्म माने है।

(क) क्लेश महाभूमिक धर्म—६ = मोह, प्रमाद, कौसीद्य, अश्राद्धय, स्त्यान और औद्धत्य। स्थविरवाद में १४ अकुशल चैतसिक है जो क्लेश महाभूमिक धर्म की भावना से सम्बद्ध है।

(घ) अकुशल महाभूमिक धर्म—२ = आह्रीक्य और अनपत्रता

(ङ) उपक्लेशभूमिक धर्म—१० = क्रोध, म्रक्ष, मात्सर्य, ईर्ष्या, प्रदास, विहिसा, उपनाह, माया, शाठ्य और मद। विज्ञानवाद मे मूल क्लेशों की सूचियाँ मिलती है जिनसे यह स्पष्ट होता है कि सर्वास्तिवाद मे मूल क्लेश नही माने गये है।

(vi) अनियतभूमिक धर्म—८ = कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार, राग, द्वेष मान और विचिकित्सा।

४. चित्तविप्रयुक्त धर्म—इसके १४ भेद है—प्राप्ति, अप्राप्ति, निकाय, समागता, आसंज्ञिक, असंज्ञी-समापत्ति, निरोध-समापत्ति, जीवित, जाति, स्थिति, जरा, अनित्यता, नाम काय, पदकाय और व्यञ्जन काय। स्थविरवादियों ने इन धर्मों का उल्लेख ही नहीं किया।

---

१. विशेष देखिये—अभिधर्मकोश, द्वितीय कोश।

सौत्रान्तिकों ने भी उन्हे स्वीकार नही किया। योगाचार में भी स्थिति लगभग वैसी ही है। वहा चित्त विप्रयुक्तधर्मों को स्वतन्त्र न मानकर मानस व्यापार के अन्तर्गत मान लिया गया है। विप्रयुक्त धर्मो की कुल संख्या २४ स्वीकार की गई है।

२. **असंस्कृत धर्म**—जिन धर्मों मे संस्कृत धर्मों के पूर्वोक्त लक्षण न पाये ज यं वे असंस्कृत धर्म कहलाते है। ये स्थायी, नित्य विशुद्ध और सत्य धर्म माने जाते है। स्थविरवाद मे मात्र निर्वाण को असंस्कृत धर्म स्वीकार किया गया है। परन्तु सर्वास्तिवाद मे उनकी सख्या तीन दी गई है—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, और अप्रतिसंख्यानिरोध।

आकाश वह है जो न किसी से आवृत हो और न किसी को आवृत करे। स्थविरवादियो के अनुसार आकाश महाभूतों से उत्पन्न एक नित्य और अपरिवर्तन शील धर्म है। परन्तु सर्वास्तिवाद मे उसे दिक् तथा वायु का पर्यायार्थिक माना गया है। **प्रतिसंख्यानिरोध** का अर्थ है प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मो से पृथक् पृथक् विसंयोग। साधक जब अपनी सम्यग् दृष्टि से आस्रव को उत्पन्न करने वाले किसी धर्म को परित्याग कर देता है तब उसे प्रतिसंख्यानिरोध धर्म की अर्थात् निर्वाण की उपलब्धि होती है। परन्तु जब बिना प्रज्ञा के ही सास्रव धर्म का निरोध होता है तब **अप्रतिसंख्या-निरोध** कहा जाता है। इस निरोध का फल अनुत्पाद ज्ञान है यह ज्ञान अव्युत्पाती होता है। ये तीनों धर्म स्वतंत्र और नित्य है। अतः हेतु-प्रत्यय के बिना ही पदार्थों की सत्ता मानने के कारण वैभाषिको को नानार्थवादी कहा जा सकता है।

सर्वास्तिवाद मे काल के तीनो भागो का भी अस्तित्व माना गया है परन्तु सौत्रान्तिक मात्र वर्तमान काल को ही सत्य स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त विभज्यवादी वर्तमान और अतीत को सत्य मानते है। परन्तु शून्यवादी आचार्य काल का बिलकुल प्रतिषेध करते है।

परमाणुवाद

परमाणुवाद की मूलतः स्थापना सर्वास्तिवादियो के द्वारा हुई जिसे उत्तर काल में स्थविरवादियों ने भी स्वीकार की सर्वास्तिवाद मे पाव विज्ञानेन्द्रिया

पांच विषय, तथा चार महाभूत ये परमाणु के चौदह भेद संघात-परमाणु कहलाते हैं। स्थविरवाद में इन्ही को 'कलाप' संज्ञा दी गई है। उपचय, संतति, जरता और अनित्यता ये चार लक्षण कलापो के माने गये है।

सौत्रान्तिको की दृष्टि मे परमाणु रूप, गन्ध, रस और स्पृष्टव्य माना गया है। वैभाषिक इसे विनाशी स्वीकार करते है। शून्यवादी आर्यदेव ने भी परमाणु को अनित्य माना है। चन्द्रकीर्ति ने भी जगत् की उत्पत्ति का खण्डन करते हुए कहा कि अवयव परमाणु से बने अवयवी संसार भी परमाणु के ही परिमाण के न हो इसलिए कारणो मे रहने वाले परमाणु को कार्य मे नही माना जावेगा। अतएव परमाणुओ मे सर्वात्मना सयोग न होकर उसके किसी एक अंश से संयोग नही होगा, वह हेतु नही होगा। इस तरह वह नाना रूप होने से चित्र के समान अनित्य हो जायगा। इसलिए कहा है— 'नाना नित्यो न जायते।' परमाणु का सर्वात्मना संयोग मानने पर सारा संसार परमाणुमात्र होने से अदृश्य (अतीन्द्रिय) हो जायगा। परमाणु को निरवयव भी नही माना जा सकता अन्यथा उसमे गति नही हो सकेगी और फलतः परमाणुओ का पस्पर संयोग नही हो सकेगा। फिर घटादि कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? अतः परमाणु कोई द्रव्य है यह कहना उचित नही। निरवयवी होने के कारण परमाणु योगो द्वारा प्रत्यक्षगम्य भी नही है। परमाणु हेतु रूप भी नही अन्यथा बीज के समान द्वयणुकादिक द्रव्यो द्वारा विनष्ट माना जायगा। परमाणु की अनित्यता मे यह भी एक कारण है कि जगत् में एक परमाणु मे दूसरा परमाणु सर्वात्मना नही रहता। परमाणु का संश्लेष (संयोग) होने पर संश्लिष्ट घटो के समान वह नित्य भी नही होता। इस प्रकार परमाणु की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध क्रमशः और युगपत् नही होते। उत्पत्ति आदि के न होने पर परमाणु का अस्तित्व सिद्ध नही किया जा सकता।[1]

२. सौत्रान्तिक दर्शन

सौत्रान्तिको को दार्ष्टान्तिक भी कहा गया है। संभव है उन्हे यह नाम इस शाखा के प्रस्थापक आचार्य कुमारलात के ग्रन्थ "कल्पनामंडतिका दृष्टा-

---

१. चतुः शतक, २१२-२१६; बौद्धधर्मदर्शन

न्तपंक्ति" के आधार पर दिया गया हो। यह सर्वास्तिवादियो की ही एक शाखा थी। इसका अपना कोई स्वतन्त्र साहित्य प्रायः उपलब्ध नही अतः हम बौद्ध-बौद्धेतर साहित्य मे प्राप्त तत्सम्बन्धी सामग्री पर ही निर्भर है। इसके विशिष्ट सिद्धान्त इस प्रकार है :—

१. **बाह्यार्थ की सत्ता**—सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते है। उनकी सत्ता अनुमानगम्य है, प्रत्यक्षगम्य नही।

२. ज्ञान स्वसंवेदी है। विज्ञानवादी भी यही मानते हैं।

३. बाह्य वस्तु का अस्तित्व है पर उसके आकार के विषय मे एक मत नही।

४. परमाणुओ मे परस्पर स्पर्श नही होता। क्योकि वे निरवयव है।

५. प्रत्येक वस्तु अनित्य, क्षणिक और विनाशशील है।

६. रूप का अर्थ वर्ण ही है। संस्थान का उसमे नियोजित नही किया जा सकता।

४. असंस्कृत पदार्थ द्रव्य सत् नही।

५. चित्त विप्रयुक्त धर्मो का अस्तित्व नही। वे प्रज्ञप्तिमात्र हैं।

६. आयु को द्रव्य नही मानते।

७. सस्कृत लक्षण पृथक् नही, प्रज्ञात होते हैं।

८. अतीत-अनागत वस्तु-सत् नही।

९. अविज्ञप्ति का भी अस्तित्व नही।

१०. वितर्क, विचार, समाधि और अध्यात्म संप्रसाद परस्पर भिन्न नहीं।

११. न कोई इन्द्रिय दर्शक है, न कोई रूप दृश्य है, न कोई दर्शन क्रिया है, न कोई कर्ता है। हेतुफल-मात्र है।

१२. केवल ४३ धर्म हैं—

(i) रूप—८ = चार उपादान और चार उपादाय।

(ii) वेदना—३ = सुख, दुःख, न सुख न दुःख।

(iii) संज्ञा—६ = पाच इन्द्रियां तथा एक चित्त।

(iv) विज्ञान—६ = चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन, काय, तथा मन।

(v) संस्कार—२० = दस कुशल, दस अकुशल।

१३. समाधि एकालम्बन चित्त-सन्तति है।

१४. चेतना मानस कर्म नही है।

२. **क्षणिकवाद**—प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन में किसी न किसी रूप मे संसार और सांसारिक पदार्थों को अनित्य अथवा क्षणभङ्गुर माना गया

है। बुद्ध ने "सब्बे धम्मा अनिच्चा, सब्बे भवा अनिच्चा, दुक्खा विपरिणाम-धम्मा",[1] तथा "यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं। एवं लोकमवेक्खन्तं मच्चु राजा न पस्सति"[2] जैसे कथनो मे इसी दर्शन की भूमिका को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया था। परन्तु यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि भगवान् का यह उपदेश सत्व को संसार के मोह जाल से पृथक्कर उसे एक शान्त, अमृत और अविनाशी पद को प्राप्त कराना था।[3] इन भावों मे बौद्धधर्म-की पूर्णतः अनित्यात्मक एवं क्षणिकात्मक प्रकृति का दर्शन नहीं होता।

तथागत के उक्त वचनो के माध्यम से उत्तरकाल मे क्षणिकवाद का अत्य-धिक दार्शनिक विकास हुआ। ईसा की लगभग ६वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक यह विकास स्पष्टः दृष्टिगत होता है। यद्यपि क्षणिकवाद बौद्धदर्शन-की चारो शाखाओ को मान्य है परन्तु दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील आदि आचार्यो ने इसे परमार्थ तक पहुँचा दिया।

स्थविरवादी मात्र चित्त-चैतसिको की क्षणिकता को स्वीकार करते थे। सर्वास्तिवादी—वैभाषिक बाह्य जगत् को भी किञ्चित् क्षणिक मानने लगे।[4] परन्तु सौत्रान्तिक पूर्ण क्षणिकवाद पर विश्वास करने लगे। इसलिए बहु पदार्थ-वादी बौद्धदर्शन कालान्तर मे क्षणभंगतावादी दर्शन बन गया।

क्षणभगवाद के अनुसार समस्त स्वलक्षण पदार्थ क्षणिक एवं परमाणुरूप हैं। वे अपने स्वभावानुसार जिस क्षण मे उत्पन्न होते है उसी क्षण मे विनष्ट हो जाते है।[5] इस तरह पूर्वक्षण विनष्ट होकर उत्तर क्षण को उत्पन्न करता और वर्तमान क्षण अस्तित्व मे रहकर क्रमबद्धता बनाये रखता है। इस विनाश और उत्पत्ति मे किसी अन्य कारण की अपेक्षा नही रहती। अतः निर्हेतुक कहा गया है। इस स्थिति मे सन्ततिपरम्परा बनी रहती है और कार्यकारण-भाव, अर्थक्रियाकारित्व, बन्ध-मोक्ष आदि व्यवस्थाओ मे व्यवधान नही आता।

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, ४. १९-५.

२. धम्मपद, १३. ४ ३. वही, २०. ५

४. 'संस्कृतं क्षणिकं यत'—अभिधर्मकोश, ४. ४

५. यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते॥ प्रमेयरत्नमाला में उद्घृत, ४. १

परमार्थसत् के परीक्षण मे अर्थक्रिया का विशेष महत्व है। वह क्रमशः अथवा युगपत् होती है। नित्य पदार्थो में ये दोनो प्रकार की क्रियायें सम्भव नही। पदार्थ मे स्थिरता और स्थूलता का अभास हमारी मानसिक कल्पना और विभ्रम का फल है। चित्तक्षण भी इसी प्रकार वासना के आधारपर क्रमिकता बनाये रखता है। सभी पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न होते है। उनमे शाश्वतता का मात्र भान होता है, वास्तविक प्रतीति नही। निर्वाण अवस्था मे चित्तसन्तति निरास्रवत हो जाती है।

बौद्धो का यह क्षणिकवाद दार्शनिको मे अत्यन्त विवाद का विषय बना। बौद्धेतर विद्वानो ने इसकी कटु आलोचना की। जैन उन आलोचको मे प्रमुख है। जैन सिद्धान्त के अनुसार परमाणुओ का पारस्परिक सम्बन्ध स्निग्धता और रुक्षता के कारण गुणात्मक परिवर्तन के रूप मे होता है। वे ही परमाणु अपनी सूक्ष्मता छोडकर स्थूलरूपता धारण कर लेते हैं। पदार्थ प्रतिक्षण पर्याय-नय से विनाशी होकर भी अपनी अविच्छिन्न संस्कृति की दृष्टि से कथञ्चित् ध्रुव भी है। यह सन्तति कार्यकारणपरम्परा पर निर्भर रहती है। सर्वथा क्षणिक पदार्थो मे अर्थक्रिया भी सम्भव नही तब उनका निर्हेतुक होना कैसे सम्भव है?

बुद्धने संसार की अनित्यता का प्रदर्शन करने की दृष्टि से इस क्षणवाद-की प्रतिष्ठा की थी परन्तु उत्तरकाल मे उनकी इस मान्यता को दार्शनिक क्षेत्र में लाकर क्षणिकवाद, शून्यवाद, नैरात्म्यवाद जैसे वादो की प्रस्थापना कर दी गई।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायों में प्रमुख भेद

वैभाषिक (सर्वास्तिवाद)	सौत्रान्तिक
१. वर्ण और संस्थान के भेद से रूप दो प्रकार का हैं।	१. संस्थान का सन्निवेश वर्ण में ही हो जाता है।
२. बुद्धवचन वाक् स्वभाव और नाम स्वभाव दोनो हैं।	२. बुद्धवचन वाक् स्वभाव मात्र है।

३. असंस्कृत (निर्वाण) द्रव्य-है सत्, अवाच्य है, विसंयोगफल है ।	३. असंस्कृत (आकाश, अप्रति-संख्यानिरोध, और प्रतिसंख्यानिरोध) द्रव्य-सत् नही, अभाव मात्र है, कारण-हेतु है ।
४. चित्तविप्रयुक्त धर्मों (१४) का स्वतन्त्र अस्तित्व है ।	४. चित्त विप्रयुक्त धर्म वस्तु-सत् नहीं, प्रज्ञप्तिमात्र है ।
५. संस्कृतधर्म के लक्षण जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता पृथक्-पृथक् हैं ।	५. संस्कृत लक्षण पृथक् नहीं, प्रज्ञात होते हैं ।
६. आयु द्रव्य है ।	६. आयु द्रव्य नहीं ।
७. अतीत और अनागत द्रव्य-सत् है ।	७. अतीत और अनागत वस्तु-सत् नही ।
८. अविज्ञप्ति का अस्तित्व है ।	८. अविज्ञप्ति का अस्तित्व नही ।
९. तृतीय ध्यान का 'सुख' प्रथम और द्वितीय ध्यान के 'सुख' से द्रव्यान्तर है ।	९. प्रथम तीन ध्यानो मे कायिक सुखेन्द्रिय होती है, चैतसिक सुखेन्द्रिय नही । अतः तृतीय ध्यान का 'सुख' द्रव्यान्तर नही ।
१०. सभाग अवस्था मे चक्षु रूप देखता है । द्रष्टा तदाश्रित विज्ञान नही ।	१०. न द्रष्टा इन्द्रिय है, न दृश्य रूप है । न दर्शन-क्रिया है और न कोई दर्शक कर्ता है प्रत्युत हेतुफल-मात्र है ।
११. सर्वास्तिवादी भी क्षणिकवादी हैं परन्तु उसका क्षण काल का अल्प-तम गृहभाग है ।	११. धर्मो का विनाश उत्पाद के समनन्तर होता है । धर्मो की कोई स्थिति नही ।
१२. स्कन्ध, आयतन और धातु ये तीनो द्रव्यसत् हैं ।	१२. स्कन्ध तथा आयतनो को प्रज्ञप्तिसत् और धातुओ को द्रव्यसत् मानते हैं ।
१३. चक्षु देखता है जब वह सभाग है ।	१३. चक्षु और रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है । इन्द्रिय, रूप, दर्शन, कर्ता, हेतु-फल आदि का अस्तित्व नही । व्यवहारतः उनका उपचार किया जाता है ।
१४. बाह्यार्थ की यथावत् प्रतीति होती है ।	१४. बाह्यार्थ अनुमानगम्य है, प्रत्यक्षगम्य नही ।

३. शून्यवाद (माध्यमिक) दर्शन

शून्यवाद माध्यमिक बौद्ध दर्शन का एक विशिष्ट प्रभावक सिद्धान्त है। सयुक्त निकाय के भारहा सुत्त मे इसके बीज उपलब्ध होते है। हीनयान सम्प्रदाय मे प्रथमतः पुद्गल नैरात्म्य के रूप मे इसके बीज मिलते है। शनैः शनैः उत्तर काल मे इस सिद्धान्त का विकास होता गया। महायान तक पहुंचते-पहुंचते पुद्गल नैरात्म्य के अतिरिक्त धर्म नैरात्म्य की कल्पना का विस्तार हुआ और फलतः शून्यवाद की स्थापना हुई। सौत्रान्तिक दर्शन मे बाह्य पदार्थो को प्रत्यक्षतः ज्ञेय नही माना गया। विज्ञानवाद मे उनकी चित्तमात्र के रूप मे सत्ता स्वीकृत हुई—"चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्।" पर माध्यमिक मे बाह्य और आन्तरिक दोनो पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया गया। उन्होने पदार्थ को न सत् माना, न असत् माना, और न अनुभव माना बल्कि इन चतुष्कोटियो से विनिर्मुक्त तत्व माना।[1] इसलिए उसे अभावात्मक नही कहा जा सकता किन्तु निरपेक्ष होने के कारण शून्यात्मक माना जाता है। सत्-असत् के बीच का यह आध्यात्मिक मध्यम मार्ग है—

> अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता, शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अन्ता।
> तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा, मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः॥[2]

नागार्जुन ने शून्यवाद को प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या के रूप मे प्रतिपादित किया है।[3] पदार्थो के स्वरूप का विश्लेषण जैसे-जैसे करते हुए वे आगे बढ़ते गये, उन्हे वे विशीर्ण होकर नीचे गिरते हुए दिखाई दिये—'यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा'। इसलिए शून्यता का स्वरूप उन्होंने निःस्वभाव होना बताया। आर्यदेव ने इसी को निर्वाण माना—

> धर्मं समासतोऽहिंमा वर्णयन्ति तथागताः।
> शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहो भयम्॥ चतुःशतक, १२,१३

लंकावतार मे इसी शून्यता को कदलीसम, स्वप्नोपम जैसे शब्दो के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। इसी को धर्म नैरात्म्य कहा है। इस धर्म नैरात्म्य

---

१. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥मा० का० १७

२. समाधिराजसूत्र, उद्धृत—बौद्धदर्शनमीमास, पृ-३००

३. यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥ मा-का-१

की भावना का दार्शनिक आधार दो प्रकार का है—प्रथम सभी धर्मों की निःसारता और द्वितीय चित्त की प्रधानता। प्रथम पक्ष (शून्यवाद) का आख्यान नागार्जुन, आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति आदि ने किया और द्वितीय पक्ष (योगाचार-विज्ञानवाद) का विस्तार मैत्रेयनाथ ने किया। शून्यवाद तथा योगाचार—विज्ञानवाद को सयुक्त रूप माना गया है। इसीलिए शायद आर्यदेव ने चतुःशतक को 'बोधिसत्त्व योगाचारशास्त्र' कहा है।[1]

शून्य का लक्षण—नागार्जुन ने शून्यता को प्रत्ययजन्य मानने के कारण भावात्मक माना है, अभावात्मक नही। अतः उसे पर परमार्थ और प्रपञ्चोपशम कहा है! उनके अनुसार शून्य का स्वरूप है—अपर प्रत्यय (प्रत्यात्मवेद्य), शान्त (नि स्वभाव), अप्रपञ्चित (निःशब्द, अनक्षरतत्त्व) निर्विकल्प (चित्त व्यापार से दूर), अनानार्थ (मात्र अर्थो से विरहित)।

"अपर प्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चौ प्रपञ्चितम्।"[2]
"निर्विकल्पमनानार्थ मेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्"

शून्यता के प्रकार—महाप्रज्ञापारमिता मे शून्यता के १८ प्रकार हैं— १. अध्यात्म शून्यता (अन्तः वस्तुओ की शून्यता) २. बहिर्धा शून्यता (बाह्य वस्तुओ की शून्यता), ३. अध्यात्मबहिर्धाशून्यता (अन्तः बाह्य पदार्थ भेद रहित है) ४. शून्यता-शून्यता (शून्यता ही यर्थाथ तत्व नही, परम तत्व है), ५. महाशून्यता (उत्पाद, स्थिति और विनाशरूप पदार्थ शून्यता), ६. असंस्कृत शून्यता—(पदार्थ प्रज्ञप्तिमात्र है), ७. अत्यन्त शून्यता (पूर्णतः शून्यता,), ८. अनवराग्रशून्यता (पदार्थ के आदि अन्त रूप की शून्यता), ९. अनवकार शून्यता (निरुपधिशेष निर्वाण शून्यता), १०. प्रकृति शून्यता (स्वभाव शून्यता) ११. सर्वधर्मशून्यता (सर्व पदार्थ स्वभाव शून्यता), १२. स्वलक्षण शून्यता (पदार्थ की स्व स्वरूप-शून्यता), १३. अनुपलम्भ शून्यता (काल शून्यता), १४. अभाव शून्यता (आकाश, प्रतिसंख्या, अप्रति संख्या का निरोध), १५. सर्वभाव शून्यता (पञ्चस्कन्ध शून्यता), १६. अभाव और स्वभाव शून्यता (संयोगोत्पन्न पदार्थ शून्यता)। 'पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' मे इन शून्यताओ

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३६७-८
२. (आ. मा. १८. ९.)

के अतिरिक्त दो और शून्यताओं का उल्लेख है—१. स्वभाव शून्यता (सत्ता रहित पदार्थ और २. परभाव शून्यता (पर पदार्थों द्वारा उत्पत्तिहीनता)। शून्यवाद की विस्तृत कल्पना, इन प्रकारो मे देखी जा सकती है।

आर्यदेव का चतु:शतक और शून्यवाद

आर्यदेव शून्यवाद के प्रतिष्ठापक आचार्यो मे से अन्यतम माने जाते है। उन्होने चतु:शतक मे शून्यवाद की प्रतिस्थापनाको भली भांति पूरा किया है और प्रसिद्ध वृत्तिकार चन्द्रकीर्तिने उनके विचारोको यथाशक्य स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। नि:स्वभाववाद एवं शून्यवाद की स्थापना के सन्दर्भ में इन दोनो आचार्यो के विचार हम संक्षेप मे उद्धृत कर रहे है। ये विचार नित्यार्थ प्रतिषेध, आत्मप्रतिषेध, कालप्रतिषेध, दृष्टिप्रतिषेध, इन्द्रियार्थप्रतिषेध, अन्तग्राहप्रतिषेध और संस्कृतार्थ प्रतिषेध, नामक अध्यायो मे मिलते हैं। अन्तिम अध्याय "गुरुशिष्यभावना सन्दर्शन" मे आर्यदेव ने शून्यवाद का और भी विश्लेषण कर उपसंहार प्रस्तुत किया है।

१. नियार्थ प्रतिषेध

लोक मे प्रवृति कार्यार्थी होती है, स्वाभाविकी नही। और भूत-भौतिक, चित्त-चैत्त, लक्ष्य-लक्षण आदि संस्कृत वस्तु की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति न होने के कारण यथासंभव समूह-रूप की ही उत्पत्ति होती है। समूह-रूप परस्पर कार्यकारणावस्था पर निर्भर है। इसलिए जिसके होनेपर जो होता है और जिसके न होनेपर जो नही होता वह उसका कारण है और दूसरा उसका कार्य है। पृथ्वी के बिना भूतत्रय का अभाव होता है और पृथ्वी के रहने पर भूतत्रयका सद्भाव होता है। इस प्रकार पृथ्वी की उत्पत्ति कार्यार्थी होती है। और कहा जा सकता है कि सभी संस्कृत पदार्थ कार्यार्थ उत्पन्न होते हैं। जो कार्यार्थ उत्पन्न नही होता वह नित्य नही है। नित्य शब्द के स्वभाव, सत्य, सार, वस्तु, द्रव्य शब्द पर्यायार्थक है। नित्यत्व के अभाव से नि:स्वभाव, असत्य, असार, अवस्तु और अद्रव्य को सस्कृत कहा जाता है।

भाव, स्वभाव, आत्मा पर्यायार्थक शब्द है। वह आत्मा बिना कारण उत्पन्न नहीं होता। इसका अकारणत्व दूसरे द्वारा ही जाना गया है। जो

निर्हेतुक होता है वह खर-विषाण के समान अस्तित्वहीन होता है। आकाशादिक के साथ अनैकान्तिक दोष है, ऐसा नही कहा जा सकता क्योकि उनका अस्तित्व भी आत्मा के समान निषिध्यमान है। इस प्रकार दोष को छोडने की इच्छा से उक्त कथन के विरुद्ध भी हेतुमान् स्वीकार किया जाता है। इससे भी इसका नित्यत्व दूर हो जाता है। अतएव हेतुमान होने से आत्मा भी सुखादि के समान अनित्य है। (२०३)

आकाश—रूपका अभाव मात्र ही आकाश है। आकाश इसके अतिरिक्त और कुछ नही। रूपान्तर का अभाव होने पर तो रूपी पदार्थों की उत्पत्ति मे कोई प्रतिबन्ध देखा नही जाता। वही रूपान्तरा भाव पदार्थो को अवकाश देता है, इसलिए आकाश कहा जाता है। उस अवस्तुमान् अकिञ्चन पदार्थ का विमोहितों ने 'वस्तुमान्' नाम रखा है। वह युक्तियुक्त नही। पदार्थ—स्वभाव के जानकार 'आकाश' नाम मे लौकिक ज्ञान से भी कोई अभिधेय स्वरूप नही देखते, जैसे पृथिवी आदि नामो मे काठिन्यादिक। और तो क्या पदार्थ-स्वभावज्ञ समस्त बाह्य और आध्यात्मिक वस्तु को बिना प्राप्त किये उसके स्वरूप को जान लेते है। इसी प्रकार अप्रतिसंख्यानिरोध और प्रतिसंख्यानिरोध के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए (२०५)। आकाश के जो अवयव है वे ही इसके प्रदेश है। उनके द्वारा ही आकाश प्रदेशी है। उसमे जो अन्यसंयोगी प्रदेश है वह उससे अन्य संयोगी प्रदेश मे रहता है। यदि रहता है तो उससे अभिन्न देशवर्ती घटका भी सर्वगतत्व सिद्ध हो जावेगा। अर्थात् व्यापक वह वस्तु है जो सर्वत्र हो, पर आकाश के सभी अवयव सर्वत्र व्याप्त नही। जैसे जो आकाश प्रदेश यहाँ है वह दूर देश मे नही है, अत: आकाश व्यापक नही हो सकता, अन्यथा घट आदि पदार्थ जो एक देश में रहते है वे भी व्यापक हो जावेंगे। परन्तु वे व्यापक हैं नही इसलिए नित्य भी नही है।

काल—कालवाद के अनुसार संसार की उत्पत्ति और लय का कारण काल है। बीजादि कारणो के होने पर भी अङ्कुरादि की उत्पत्ति सदैव नही होती, कभी उत्पत्ति होती है और कभी विरोधी काल के आनेपर नही होती। अतएव काल का सद्भाव स्वीकार किया गया है। इसके खण्डन मे कहा गया है—काल के नित्य होने पर उसके आश्रित रहने वाली अङ्कुरादि की उत्पत्ति और वृद्धि सदैव प्राप्त होनी चाहिए। पर ऐसा होता नही। कभी बिना बीज के ही अङ्कुरो की उत्पत्ति होती है और कभी बीज-वपन करने पर भी अङ्कुर नही होते। इसी प्रकार ही बीजादि के समान काल भी जब कभी

ही होता है। अतएव नित्य नही है। जिसके सद्भाव होने पर अङ्कुरादि का उत्पत्ति होती है और असद्भाव होने पर उसका विनाश होता है। ऐसा कोई दूसरा ही है। इस प्रकार कार्यभूत अङ्कुरादि के समान काल अनित्य ही है (२०७)। निष्क्रिय पदार्थ का हेतुत्व सभव नही, इसलिए हेतु नामक कोई पदार्थ अपने से भिन्न नही है। फलोदय का हेतु होने पर फलत्व कैसे नही होगा ? फलत्व होने पर अकुरादि के समान इसकी नित्यत्व-दृष्टि कैसे हो सकती है ? इसलिए हेतु और फलकी व्यवस्था न होने से दोनो की स्वरूप-सिद्धि नही हो सकती। कारण होने पर जिसकी उत्पत्ति हो, वह फल है। जैसे बीज के होने पर अंकुर होता है। अंकुर के होने पर बीज नही होता। इसलिए हेतु फलत्व मे कारण नही होता। जिससे जो बीज होता है उसकी अंकुरोत्पत्ति के पूर्व की कल्पना मे तृतीय विकल्प नही रहता, दो ही विकल्प होते है—हेतुभूत या अहेतुभूत। वहाँ अग्नि आदि से जल जाने के समान हेतुभूत से उसकी उत्पत्ति नही होती। हेतु ही फल के रूप मे परिणत होता है। इसलिए उत्पत्ति के पूर्व फल दिखाई नही देता। और उत्पन्न होने वाले फल के बिना भी कोई फल - प्रतीति नही होती। अतएव सभी की फलवत्ता हो यह सिद्ध नही होता। साराश यह है कि यदि हेतुओ में फल के बिना हेतुता ही नही तो इस तरह सभी हेतुओं मे फलवत्ता प्रसक्त हो जावेगी। परन्तु ऐसा नही है। अग्नि से जले बीज मे अंकुर (फल) नही होता। अतः काल फलात्मक हेतु नही माना जा सकता—

बिना फलेन यद्धेतो र्हेतुभावो न विद्यते।
हेतूनां तेन सर्वेषां फलभावः प्रसज्यते ॥ २०८ ॥

यदि कालवादियो का यह काल विचित्र जगत् का कारण है तो उससे नियत पूर्वावस्थावर्त्ती नानारूप विकार से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए। परन्तु वह नही होती। मूल कारण बीज स्वयं विकृत रूप धारण करने के बाद ही अंकुर का कारण बनता है, पूर्वास्था के परित्याग के बिना नही। वैसे ही काल भी जब विचित्र जगत् का कारण होगा तो उसे कार्योत्पादन के पूर्व अपनी नियत पूर्वावस्था को छोड़ना पडेगा। अन्यथा कार्योत्पादन मे समर्थ नही हो सकेगा। परन्तु जब विकृत रूप धारण करेगा तो उसमे विकार अवश्य होगा। वह बीजादि की तरह नित्य नही हो सकता (२०९)।

विकृत बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है। अन्य बीज की असंभवता से बीज का अनुविधायी होने से और सहानवस्थान होने से और कुछ ही

उत्पन्न होता है, ऐसा नही मानना चाहिए। एक साथ रहने वाले असदृश पदार्थों के हेतुत्व की असंभावना से और काल की नित्यता रूप हेतु के फल से 'अन्यत्व' ही होता है। इस कारण असदृश के साथ अवस्थान भी संभव है। फल के उत्पन्न होने पर भी काल मे कोई विकार नही आता। इस काल से जो फल उत्पन्न होता है वह बिना विकार के ही होता है अर्थात् हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा किये बिना ही स्वयमेव उत्पन्न होता है। अथवा हेतु प्रत्यय की अधीनता मे उत्पन्न होने पर फल बिना उत्पन्न हुए उत्पन्न होता है, यह भी ठीक नही। सर्वात्मना अभाव होने पर पदार्थ उत्पन्न नही होता। जिसका सर्वात्मना सद्भाव नही, उसका खर-विषाण के समान हेतुप्रत्यय से उत्पन्न होना सभव नही। अतएव जिसके हेतु इष्ट है, वह धर्मातीत नित्य पदार्थ विकृत न होकर भी उत्पन्न होता है। यह निर्हेतुक ही उत्पन्न होता है। अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न होता है। इसलिए इसकी निरर्थक हेतुत्व-कल्पना से क्या प्रयोजन! तात्पर्य यह है कि विकृत बीज से ही अंकुरादि उत्पन्न होता है, पर काल का विकृत रूप अंकुरादि है, ऐसी बात बुद्धि-संगत नही। जगत् स्वतः सिद्ध है। उसको सिद्धि के लिए काल को कारण मानने की आवश्कता नही (२१०)।

परमाणु—हेतुत्व, पारिमाण्डल्य और अप्रदेशत्व ये परमाणु द्रव्य के लक्षण है। यदि परमाणु सर्वात्मना दूसरे परमाणु से युक्त है, प्रदेश से नही, तो हेतु है। हेतुभूत एक परमाणु का दूसरे परमाणु मे सर्वात्मना सयोग मानन से परमाणु के अणु परिमाण का कार्य द्व्यणुका द्व्यणु मे भी संयोग मानने का प्रसंग आयगा। सारा संसार परमाणु मात्र होने से अदृश्य (अतीन्द्रिय) हो जायगा। पर संसार दृश्य है। अतः परमाणु का परमाणु मे सर्वात्मना योग नही मानना चाहिए (२१३)।

संसार मे अदृश्यत्वापत्तिवारण के लिए यदि एक परमाणु का दूसरे परमाणु से योग न माना जाय तो परमाणु का परमाणु से जो संयोग होता है वह किसी अंश मे होता है। अश जिस अंश का जिस अंश से संयोग होता है वह परमाणु का अंश परमाणु का अवयव हुआ। जिसका संयोग से पहले अवयव है वह उसका अवयवी हुआ। अणु के भी अवयव होगे। इस स्थिति मे वह अणु नही कहा जा सकता। परमाणु भी घटादि की तरह अनित्य हैं। अतः वह परमाणु नही कहा जा सकता। अर्थात् परमाणु भी अनित्य है—

यस्य पूर्वः प्रदेशोऽस्ति पूर्वांशस्तस्य विद्यते।
अणोर्येन प्रदेशोऽस्ति तेनाणुर्नाणुरुच्यते ॥ २१५ ॥

गमन करने वाला व्यक्ति गमन करने मे अपने आगे के पैर से आगे के स्थान को ग्रहण करता है और पीछे के पैर से पीछे के स्थान को छोडता है। इन दोनो क्रियाओ से गमन करने वाले का गमनत्व समझा जाता है। अनंश होने के कारण जिस परमाणु के अग्रिम भाग से ग्रहण और पश्चात् (पीछे के) भाग से वर्जन नही होता वह "गन्ता" नही कहा जाता है। इस प्रकार यदि परमाणु भी निरवयव होगा तो संयोगादि क्रिया के न होने से घटादि कार्य की उत्पत्ति भी न हो सकेगी। अतः परमाणु कोई द्रव्य है, यह कहना उचित नही ॥ २१६ ॥

अवयवहीन परमाणु का न आगे का भाग है और न पीछे का। इसलिये वह अव्यक्त है। व्यक्त का तात्पर्य स्पष्ट, ग्राह्य और दृश्य है। इसी का विपरीत-रूप अव्यक्त है। जो दृश्य नही है वह किसी के द्वारा भी नही देखा जा सकता। योगी भी अव्यक्त होने से उसे देखने मे समर्थ नही हैं। इस कारण परमाणु नित्य नही है ।। २१७ ।।

परमाणु यदि हेतुरूप हों तो अंकुर से बीज के समान वे परमाणु द्व्यणु-कादिक अवयवी द्रव्यो द्वारा विनष्ट हो जावें। अतएव उस फल मे सहानवस्थान से परमाणु बीजके समान नित्य नही हैं। यदि इस तरह का हेतुत्व सम्भव नही तो परमाणु की नित्यत्व-परीक्षा निरर्थक ही है। तब उनसे क्या प्रयोजन ? अतः परमाणु नित्य नही है ।।१८।।

परमाणु के नित्य न होने में एक और प्रमाण आचार्य आर्यदेव प्रस्तुत करते हैं। जगत् में एक परमाणु मे दूसरा परमाणु सर्वात्मना नही रहता। परमाणु का संश्लेष (संयोग) होने पर संश्लिष्ट घटों के समान वह नित्य भी नही होता। इसलिए वैशेषिक दर्शन की तरह सौगत दर्शन में भी परमाणु द्रव्य (नित्य) नहीं है। बुद्ध ने इसी कारण परमाणु के नित्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया। स्वयं ही अप्रत्यक्ष है, यह भी कारण है। इस प्रकार परमाणु की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध क्रमशः और युगपद् नहीं होते। उत्पत्ति आदि के न होने पर परमाणु का अस्तित्व सिद्ध नही किया जा सकता। अतएव जैसे लौकिक भाव साधारण लौकिक विचार मे ही रहते हैं, लोकोत्तर दर्शन परीक्षा में नही। उसी प्रकार न्याय सिद्धान्त का परमाणु भी साधारण दर्शन मे लोक मे व्यवहृत होते हुए भी परमार्थ विचार मे सिद्ध नही हो सकता। अतः बौद्धदर्शन मे परमाणुवाद स्वीकार्य नही ।।१९।।

निर्वाण—यहाँ पर आलोचक कहते है—बुद्धने परमाणुओ की नित्यताको स्वीकार नहीं किया, यह सत्य ही है। परन्तु उन्होने जिसे नित्य माना है उसे तो नित्य मानना ही पड़ेगा। जैसे भगवान् ने कहा है निर्वाण के प्रसंग मे कि "भिक्षुओ! वह अजात अभूत और असंस्कृत धर्म है"। इसके अनुसार असंस्कृत धर्म नित्य गया माना है। अतएव निर्वाण नित्य है। दुःखसत्य, समुदयसत्य, और दुःखनिरोधसत्य शासन (उपदेश) भी नही है, ऐसा भगवान् का उपदेश नही है। परन्तु यह कथन युक्तियुक्त नही। उपाय, बन्धन और बन्ध्य इन तीनो से यदि मोक्ष भिन्न हो तो उससे कुछ भी नही होगा और फलतः उसे मोच नही कहा जा सकता—

उपायाद् बन्धनाद् बन्ध्यादन्यो मोक्षो भवेद् यदि।
न तस्माज्जायते किञ्चिन् मोक्षः स इति नोच्यते ॥२२०॥

इसमे बन्धन समुदयसत्य है। बन्ध्य के स्वतन्त्र न रहने से बन्धन होता है। बन्ध्य दुःखसत्य है क्योकि वह क्लेश के परतन्त्र है। बन्ध्य से दूर होने का उपाय मार्ग सत्य है, दुःख-निवारक होने से। बन्धन और बन्ध्य के बिना बन्धन कार्य सम्भव नही। बन्ध्य-बन्धन का अस्तित्व बन्धन कार्य के अस्तित्व का हेतु है। तथा निवर्त्य और निवर्तक के बिना निवृत्ति नही हो सकती। निवृत्ति होने के कारण निवर्तक का अस्तित्व है। निवर्त्य संक्लेश है और निवर्तक मार्ग है, अन्धकार मे दीपक के समान। जैसे दुःख-सत्य, दुःख समुदय सत्य और दुःखनिरोधसत्य ये तीनो आर्यसत्य अनुमित सत्य है वैसे ही क्लेशक्षय लक्षण स्वरूप मोक्ष नही है। क्योकि उससे कुछ भी लाभ नही। बन्ध्य और मोक्ष इन दोनो का भी अवयव स्वभाव नही मिलता। यदि उसका कुछ उपयोग मान भी लिया जाय तो वह अनुमित सत्य ही होगा और यह है नही अतएव इसका सद्भाव नही। इसलिए जाति और क्लेश इन दोनो की उत्पत्ति न होना मोक्ष प्राप्ति से संभव है, यह ठीक नही। हेतु, प्रत्यय और सामग्री से उद्भूत पदार्थो के अभाव से, बीजाभाव से अंकुरादि के समान जाति (जन्म) कभी नही होता। इसलिए उसके लिए अर्थान्तर परीक्षाधर्म युक्तियुक्त नही।

तृतीय दुःखनिरोधसत्य भी विरुद्ध नही। क्योकि जाति और क्लेश दोनोंका पुनः उद्भव नहीं होना तृतीय सत्यका वाच्य है। अभावभूत की संख्या से परिसंधान नही होता, ऐसा नही है। भगवान् बुद्ध ने कहा है हे भिक्षुओ! अतीत मार्ग, अनागतमार्ग, आकाश, निर्वाण और पुद्गल ये नाम मात्र, प्रतिज्ञामात्र

व्यवहारमात्र और संवृतिमात्र है। तात्पर्य यह है कि उपाय, बन्धन और बन्ध्य इन तीनो से यदि मोक्ष भिन्न हो तो उमसे कुछ भी न होगा। अतएव इसे मोक्ष कहना युक्तिसंगत नही।।२२०।।

आर्यदेव ने इस सन्दर्भ में और भी मन्थन किया है और कहा है कि निर्वाणमे स्कन्ध नही होते। पुद्गल की भी उत्पत्ति नही होती। जहाँ निर्वाण दिखाई नही देता वहाँ निर्वाणसे तात्पर्य क्या।

स्कन्धाः सन्ति न निर्वाणे पुद्गलस्य न सम्भवः।
यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत् ।।२२१।।

भगवान् बुद्ध ने कहा है—"यह दुःख पूर्णतः निरवशेष हो गया है। इसे क्षय, विराग, निरोध, उपशम, अस्तंगम, अयुक्तान्य सन्धिक, निरुपादान, और शान्त कहा है।" इस प्रकार "समस्त स्कन्धो का नाश, जन्म मरणका क्षय, विराग, और निरोध निर्वाण है।" इस प्रकार के आगम प्रमाण से निर्वाण में स्कन्ध होते तो पुद्गल भी होता। तब उनके होने पर निर्वाण की प्राप्ति मे सूत्र-विरोध होगा और निर्वाण संसार से बाहर नही होगा। इस कारण उस निर्वाण मे निर्वाणभूत कुछ भी नही मिलता। इसलिए कहा है—"यत्र दृष्टं हि निर्वाण निर्वाणं तत्र किं भवेत्।" निर्वाण का नाम निर्वृत्ति है। वह भावरूप होने स आधार है। इसका आधार निर्वाणभूत है। वह निर्वाणभूत स्कन्ध या पुद्गल है। उसके अभाव होनेपर आधार का अभाव हो जावेगा। तब उसके पक्ष में निर्वाण का स्वरूप क्या होगा ? आधारभूत अथवा आधेयभूत? आधारभूत तो हो नही सकता क्योकि निर्वाण मे स्कन्ध होते नही और पुद्गल की भी उत्पत्ति नही होती। स्कन्ध और पुद्गल के अभाव मे जब निर्वाण होता है और कुछ प्राप्ति होती नही तो निर्वाण से क्या तात्पर्य ! अतएव निर्वाण आधारभूत नही है।

निर्वाण आधेयभूत भी नही कहा जा सकता क्योकि उसमें भी वही पूर्वोक्त दोषापत्ति है। निराधार के आधेयके अभावसे निर्वाण कैसा ! निर्वाण के न होने पर नित्यत्व नही जाना जाता। अतएव पदार्थ नित्य नही हैं।। २२१ ।।

मुक्तभूत पुरुष की मोक्षावस्थामें ज्ञानके अस्तित्व की कल्पना करना युक्त नही है क्योंकि सांख्यो के दर्शन में पुरुष बुद्धि के अध्यवसाय के लिए जानता है। अग्नि में उष्णता के समान बुद्धि का स्वरूप ज्ञान है। उसका यथोपदर्शित विषयों का ज्ञान कराना स्वभाव है। प्रकृति विषयसंभोग काम से ज्ञात पुरुष

की अभेद-प्रतीति के क्रम से इन्द्रिय समूह की उत्पत्ति मे पुरुष के विषय संभोग का कारण होती है। जब पुरुष के मन से विषय संभोग की इच्छा दूर हो जाती है, तभी संसार (जन्म-मरण) का उच्छेद होता है। भवहीन व्यक्ति के लिये ज्ञान के सद्भाव का कोई तात्पर्य-लाभ नहीं। वह कोई भी पदार्थ अच्छी तरह से अनुभूति में नही ला पाता। क्योकि उसके हेतुफलात्मक सारे विकारसमूह प्रशान्त हो चुके। इसलिए मुक्त आत्मा के मोक्ष ज्ञानयुक्त नही।

यदि मोक्षकाल मे अज्ञान माने तो ज्ञान सद्भाव मे अभिन्न स्वभाव वाले पुरुष की अज्ञान-कल्पना बन्ध्यापुत्र की तरह स्पष्टतः अस्तित्वहीन होगी ॥२२२॥ यदि मोक्ष मे आत्मा रहती है तो ज्ञान-बीज की भी उत्पत्ति होगी। यदि ज्ञान-बीजका अभाव माना जाय तो भव-भावना भी अस्तित्वहीन हो जावेगी ॥२२३॥

दुःख से मुक्त व्यक्ति के दुःख होता नही। दुःख उत्पाद, निरोध धर्म रूप संसार-कर्म के क्लेश से उत्पन्न होता है। उसी कारण से पुद्गल बधता है। और वही आत्मा है। दुःखनिरोध होने पर उसके साथ सिद्धि-सुख की प्राप्ति होने से सर्वथा पश्चात् आत्मा का अभूतात्मकत्व से जो क्षय है, वही श्रेय है। मुक्त आत्मा नही। वह आत्मा बन्ध्यापुत्र के समान बिलकुल अकारणत्व रूप से स्वयं विद्यमान नही है और उसके स्वरूप-सद्भाव मे नित्यत्व के कारण अविकृति होने से बन्ध और मोक्ष दोनो का विशेष अभाव है और इसलिए पहले के समान संसार से निवृत्ति नही है। अर्थात् दुःख से मुक्त हो जाने पर निश्चय ही कुछ भी नही बच जाता। जो आत्मा का क्षय है, वस्तुतः वही श्रेय है, मुक्त आत्मा नही। विशेष रूप से विकार के होने से अनित्य है। जो अनित्य होता है वह सकारण होता है। फिर दुःख-सन्तान के समान ही स्ववादत्याग हो जायगा। अतएव आत्मा नही है। अर्थात् यदि मोक्ष मे भी आत्मा मानें तो फिर वह नित्य और अविकारी भी है। ऐसा मानने पर बन्ध, मोक्षव्यवस्था, संसार-निर्वृति ये सभी असंगत हो जावेंगे। यदि बन्ध-मोक्ष के लिए विकारी आत्मा को मानें तो विकारी न होने से अनित्यतापत्ति हो जावेगी। अतः मुक्तावस्था मे आत्मवाद अयुक्त है ॥ २२५ ॥

२. आत्मप्रतिषेध

आचार्य आर्यदेवने "आत्मप्रतिषेधभावनासन्दर्शनम्" नामक प्रकरण में आत्मा का यथाशक्य प्रतिषेध किया है। और चन्द्रकीर्ति ने उन तर्कों को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

आत्मा नामक कोई पदार्थ स्वरूपतः नही है। यदि है तो वह नियत रूप से स्त्रीरूपसे है अथवा पुरुषरूपसे अथवा नपुंसकरूपसे ? इनके अतिरिक्त अन्य कल्पना संभव नही। तीर्थको ने आत्मा दो प्रकार का माना है—अन्तरात्मा और बहिरात्मा। उनमें जो अन्तरात्मा है वह शरीर रूप घर के भीतर व्यवस्थित, शरीर तथा इन्द्रिय समूह को कार्य मे प्रवृत्त कराने वाला व्यापार पुरुष, जगत् का अहङ्कार उत्पन्न करने वाला, कुशलादि कर्मफल का उपभोक्ता और अनेक भेदो को भिन्न (नष्ट) करने वाला है। और बहिरात्मा शरीर, इन्द्रिय समूह रूप मे अन्तरात्मा का उपकारक है। आत्मा के इन दोनो भेदो में जो अन्तरात्मा है वह यदि स्त्रीरूपसे परिकल्पित किया जाय तो रूप और लिङ्ग नही छोड़ने के कारण जन्मान्तर मे भी वह नित्य ही स्त्री रूप रहेगा। परन्तु ऐसा होता नही। लिंग मे परिवर्तन भी होता है और स्त्रीत्वादि आत्मा के गुण भी नहीं। ये ही दोष आत्मा के पुल्लिग और नपुंसक मानने मे उत्पन्न होगे॥ २२६॥

इस प्रकार यदि अन्तरात्मा की जो स्त्रीत्वादि की परिकल्पना है वह भ्रान्तिमूलक है तो ये लिग स्त्री, पुमान् और नपुंसक बहिरात्मा के माने जायें और बहिरात्मा के संयोग से ही अन्तरात्मा मे भी स्त्रीत्वादि को प्रतीति की कल्पना करे। परन्तु यह युक्तियुक्त नही। बौद्धदर्शन मे आकाश को अस्वीकार कर चार ही महाभूत माने गये है। जिसके दर्शन मे पाँच महाभूत मान्य है, वहाँ भी देहादि के निर्माण में आकाश का योग न होने से चार महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) ही कारण-भाव को प्राप्त होते है। उन कारणभूत पृथिव्यादि महाभूतों मे लिंग स्वरूपतः विद्यमान नही। यदि उनमे लिंग होते तो उनके स्वाभावानुसार समस्त देहो की लिङ्गता निश्चित हो जाती और भ्रूण मे भी लिङ्गता पायी जाती। परन्तु ऐसा होता नही।

इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा स्वरूपतः नही है। यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो वह आत्मा जैसे एक के अहंकार का आलम्बन होता है, उसी प्रकार सभी के अहङ्कार का आलम्बन होना चाहिए। लोक मे अग्नि की उष्णता स्वभावतः सभी के लिए होती है, अनुष्ण्य किसी को नही। उसी प्रकार आत्मा को भी सभी के के अहंकार का आधार (विषय) होना चाहिये, यदि आत्मा स्वरूपतः है। परंतु ऐसा है नही॥ २२७॥

यदि यह कहा जाय कि जब आत्मा नही तो अहङ्कार और आत्मस्नेह कहाँ रहेगे तो यह भी ठीक नही क्योंकि ये अहङ्कार और आत्मस्नेह स्वभावतः नही प्रत्युत

आत्मा में कल्पनामूलक है। जैसे ईन्धन मे अग्नि की कल्पना कल्पनामात्र है उसी प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप अनित्य स्कन्धो में आत्मा, सत्व, जीव, जन्तु आदि की परिकल्पना अभूतार्थ का आरोपण मात्र है। जैसे ईंधन के उपादान से अग्नि होती है उसी प्रकार स्कन्धो के उपादान से आत्मा जानी जाती है। और वह स्कन्ध तत्वो से पाच प्रकार का निरूपित होता हुआ स्वभावतः नही है। परन्तु उसकी परिकल्पना अनित्य संस्कारो मे होती है।

यस्तवात्मा ममानात्मा तेनात्मा नियमान्न स.।
नन्वनित्येषु भावेषु कल्पना नाम जायते ॥ २२८ ॥

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए पुनः तर्क प्रस्तुत किया जाता है। आत्मा स्वभावतः है क्योकि वह प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण है। यदि आत्मा नही होता तो शुभाशुभ कर्म का कर्ता और भोक्ता कौन होता? व्यक्ति वही शुभाशुभ कर्म करके जाति, गति, योनि आदि भेद से भिन्न त्रैधातुक मे अपने कर्म के अनुरूप जन्म लेता है और अनन्त सुख-दुःख फलो का कारण होता है। वही अभिसंस्कर्ता है। और वही प्रत्यनुभविता है। वही अधर्म से मारा जाताहै और स्पर्श किया जाता है और छोड़ा जाता है। अतएव आत्मा स्वरूपतः है।

इस शंकापर अचार्य प्रश्न करते है कि यह आत्मा जन्मान्तर परिवर्तन मे दैहिक भेद के विकारो का अनुरोध करता है अथवा नही? यदि दैहिक भेद के विकारो का अनुरोध नही करता तो आत्मा की कल्पना निरर्थक है। यदि देह-भेद के विकार का अनुरोध करता है तो देह से आत्मा की अभिन्नता तथा नित्यता युक्त नही (२२९)। आत्मा के न होने पर देह की चेष्टा, संकोच, प्रसरण आदि का प्रेरक कौन होगा, यह प्रश्न भी तथ्यसंगत नही। रथ किसी स्पर्शरहित पदार्थ से सञ्चालित नही किया जा सकता। वह सञ्चालन स्पर्शवान् ही कर सकता है। आत्मा भी कालके समान अदेही होने से स्पर्शवान् नही है। अस्पर्शवान् पदार्थ से देहकी चेष्टा आदि के कारण से आत्मा के सद्भाव का अनुमान और अस्पर्शवान् की प्रेरणा कैसे सम्भव है। प्रदेशाभाव से यह आत्मा स्पर्शवान् है नही। जो अप्रदेशी है उसका संयोग नही होता। संयोग से विरहित वस्तु की प्रेरणा नही होती। अतएव दैहिक चेष्टा का कर्ता होने से भी जीवन (आत्मा) के अस्तित्व को स्वीकार करना संगत नही (२३०)

यदि यह आत्मा नित्य होता तो उसके रक्षण करने की आवश्यक्ता नही रहती और आकाश के समान अहिंसात्मक धर्मोपदेश की अपेक्षा न होती। असिधारा, अग्नि, विष, वज्रपात आदि से भी इस पर कोई असर नही होता (२३१)।

आत्मा नित्य ही है क्योकि जातिस्मरण का सद्भाग देखा जाता है। संस्कारो के उत्पन्न होने पर और बाद में शील-भंग होने पर जातिस्मरण नही देखा गया। जन्मान्तर संस्कार जहाँ उत्पन्न होते हैं वही नष्ट हो जाते है। वर्तमान जन्म मे दूसरे ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए आत्मा अतीत काल में ऐसी हो थी, यह स्मरण नही होता। अर्थात् जन्मान्तर के संस्कार जिस देह मे उत्पन्न होते है उसी मे नष्ट हो जाते हैं। फिर देहान्तर मे उनकी स्मृति तभी होगी जब अनुभावकर्त्ता आत्मा को नित्य माना जाय। अतः आत्मा नित्य हैं। इस तर्क के खण्डन के प्रसंग मे कहा गया है कि।

जात्यन्तरों मे शूलादि के आघात से उत्पन्न क्षत होते है। उनसे उपलक्षित कुछ शरीर विनष्ट हो जाते हैं और कुछ शरीर उत्पन्न हो जाते है। यथासमय जातिस्मरण का अनुभव होने से जिस तरह जातिस्मरण के सद्भाव को उत्पन्न करने वाले आत्मा के नित्यत्व की परिकल्पना करते हो वैसे ही शरीर की नित्यता को भी स्वीकार करना चाहिए। परन्तु स्वीकार कहाँ करते है ? अतएव जातिस्मरण मात्र से आत्मा को नित्य नही माना जा सकता। अन्यथा कार्य को भी नित्य मानने का प्रसंग उपस्थित होगा।

> जातिस्मरणसद्भावादात्मा ते यदि शाश्वतः।
> क्षतं पूर्वकृतं दृष्ट्वा कायस्ते किमशाश्वतः ।।२३२।।

आचार्य पुनः पूर्वपक्ष स्थापित कर आत्मा की नित्यता का खण्डन करते हैं—यह आत्मा जातिस्मरण कैसे करता है ? यदि स्वभाव से करता है तो उचित नही क्योंकि कल्पना करना उसका स्वभाव नही। सचित्त होने से यदि कल्पक माना जाय तब भी ठीक नही। क्योंकि स्वभाव-त्याग का प्रसंग आयेगा (२३३)।

यहाँ जब करण भूत चक्षु आदियो की प्रवृत्तियां रूपादि पदार्थों पर गिरती है तो रूपादि का ज्ञान तद्रूप ही हो जाता है और बुद्धि द्वारा किये गये व्यवसाय से उस अर्थ को आत्मा जानता है। पदार्थ के अनुसार चैतन्य कल्पित हो जाता है। अतएव आत्मा अभिन्न स्वरूप और नित्य हुआ। क्योंकि

चैतन्य सदैव पास रहता है। अतएव इसका चक्षु आदि करण निष्प्रयोजन होनेसे निरर्थक है। (२३४)। जिसके दर्शन मे ईन्धन के अभाव मे अग्नि नही होती और सद्भाव मे होती है उसके दर्शन मे इन्धनन्याययुक्त है। परन्तु जिसके दर्शन मे अग्नि नित्य है उसके यहाँ इन्धनोपार्जन निरर्थक होगा। उसी प्रकार यह है। तब इस महदादि विकारो के समूह की प्रवृत्ति व्यर्थ ही है। और शास्त्र निर्माणका श्रम भी व्यर्थ हुआ। तात्पर्य यह है कि पुरुष (आत्मा) चैतन्य स्वरूप और नित्य है तो नेत्रादि ज्ञान के करण (साधन) इन्द्रियां निरर्थक हो जायगी। परन्तु इन्द्रियां निरर्थक नही है। अतः आत्मा चैतन्य स्वरूप और नित्य नही है। (२३५)।

जैसे वृक्षादिक चलन क्रिया के प्रारम्भ से पूर्व की अवस्था में द्रव्य रूप से विद्यमान है वैसे पुरुष (आत्मा) नही। क्योकि अत्मा चैतन्य रूप मात्र होनेसे चैतन्यशक्ति से पृथक् है नही। और द्रव्य रूप के अभाव से चैतन्य रहित होने पर भी उसका अस्तित्व है ऐसी कल्पना की नही जा सकती। अतएव आत्मा है परन्तु चैतन्य नही ऐसा मानना युक्ति संगत नही। और जो चैतन्य शक्ति के सद्भाव से पुरुष के अस्तित्व की कल्पना की जाती है वह भी युक्त नही। क्योकि निराधार शक्ति का सद्भाव नही होता (३३६)। यदि पुरुष चैतन्य-व्यक्ति के पूर्व चैतन्य शक्ति रूप हो तो भी ठीक नही।

चैतन्य की द्वैरूप्य कल्पना मे अन्यत्र पृथकता से चेतना की चेतनाधातु, चेतना बीज, चेतनाशक्ति आपने देखी है और चेतना शक्ति से चेतना पृथक् भी देखी है। इसलिए चेतनाधातु से प्रवर्तमान चेतना चेतना-धातु के समान देश वाली होगी। जिस प्रकार लोहा द्रवत्व को प्राप्त हुआ भी लोहे के स्थान से अभिन्न स्थान (एक स्थान) में रहने वाला होता है उसी प्रकार चेतना शक्ति से पुरुष अभिन्न है ऐसी अभिव्यक्ति नही होती। क्योकि दोनो पुरुष और चैतन्य शक्ति अभिन्न है। अतः यह पुरुष शक्ति को प्राप्त होता हुआ अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। बीज और अंकुर का आविर्भाव और तिरोभाव दिखाने से समानदेशता नही। पुरुष का भी आविर्भाव और तिरोभाव दिखाई देता है। इसलिए समानदेशता नही। अतः आचार्य ने लोहे के द्रवत्व का दृष्टान्त दिया है। चैतन्य शक्ति से पुरुष पृथक् नही है। वह शक्ति रूप से सम्पन्न व्यक्ति रूपता को प्राप्त होता है और विक्रियमरण होने से लोहे के समान आत्मा की नित्यता सिद्ध नहीं (२२७)।

चेतनाधातुरन्यत्र दृश्यतेऽन्यत्रचेतना ।
द्रवत्वमिव लोहस्य विकृतिं यात्यतः पुमान् ॥२३७॥

प्रत्येक प्राणी के शरीर मे आत्मा आकाश के समान व्यापक हैं। उसकी मनोमात्र से संयुक्त चेतना सर्वव्यापिनी चेतना नही होती। और मन आत्मा के परमाणु मात्र देश से संयुक्त है। उस मन से संयुक्त होकर पुरुष मन से अभिन्न देशवाले चैतन्य को प्राप्त करता है यह तर्क भी ठीक नही।

आकाश के समान अत्यन्त महान् इस पुरुष के मनोमात्र मे चैतन्य पाया जाता है। ऐसा मानने पर पुरुष अचेतन ही हैं। क्योकि परमाणु मात्र प्रदेश मे चेतन का सम्बन्ध न होने से पुरुष को सचेतन कहना सभव नही। अतः जैसे परमाणु मात्र नमक के संयोग से गंगा जल नमक वाला है ऐसा नही कहा जा सकता। उसी प्रकार आत्मा को भी मनके संयोग मात्र से चेतन नही कहा जा सकता। आत्मा द्रव्य है। चैतन्य गुण है। अतएव इन दोनो के परस्पर भिन्न पदार्थ होने से पुरुष अचेतन है। अतः अचेतन घर की तरह आत्मत्व की कल्पना युक्त नही (२३८)

आत्माको प्रत्येक प्राणी मे सर्वव्यापी भी नही माना जा सकता। यदि मैं आकाश की तरह सर्वव्यापी हूँ तो मेरी ही आत्मा के सद्भाव से दूसरे प्राणी मे भी यह मेरा हैं "ऐसा अहङ्कार क्यो नही उत्पन्न होता ? यदि ऐसा होता तो मेरा सर्वव्यापकत्व उचित होता। परन्तु अन्य प्राणियो मे 'मेरा है' यह अहङ्कार उत्पन्न नही होता। इस मेरे पर शरीर मे दूसरे आत्मा द्वारा आवरण युक्त नही। और न दूसरे के आत्मदेशमे मेरी आत्मा का सद्भाव है क्योकि समस्त प्राणी एक दूसरे मे व्याप्त है। और जब समान देशता है तब उसके द्वारा उसका आवरण सम्भव नही। तेनैवावरणं नाम न तस्यैवोपपद्यते। समान देश होने से कोई भी वस्तु अपने से अपने का आवरण नही हो सकता। इसलिए परात्मा के भी अहङ्कार-विषय होने की प्रसक्ति होगी। परन्तु ऐसा होता नही अतएव आत्मा सर्वगत नही है। (२३९)

साख्यवादियो के अनुसार सत्, रज और तम वे तीन गुण है। उन तीनो गुणोकी साम्यावस्था प्रधान और प्रसवावस्था प्रकृति है। वह त्रिगुणात्मक प्रकृति अचेतन होते हुए भी पुरुष के विदित विषयोपभोगकी उत्सुकता से पुरुष के साथ अभिन्न रूप से मिलकर समस्त विकार समूह जगत को उत्पन्न करती है। उत्पत्ति क्रम यह है—प्रकृति से महान् (बुद्धि), महान् से अहङ्कार, अहङ्कार

से पञ्च-तन्मात्रा और इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा से पञ्चभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश। इस प्रकार जिन वादियो के मत मे गुणो को कर्त्ता और अचेतन माना गया है उन वादियो और उन्मत्तो मे कोई अन्तर नही। उन्मत्त वस्तुका विपरीत ज्ञान कराते है। साख्यो का यह असदर्थ प्रलाप है। (२४०)। साख्य दर्शन के सत् रज और तम गुण गृहादि का निर्माण कर सकते है परन्तु उनका उपभोग नही कर सकते। इससे अधिक अयुक्त और क्या हो सकता है (२४१)।

जिसमे क्रिया हो उसे कर्त्ता कहते है। बिना कुछ करता हुआ निर्हेतुक कोई कर्त्ता नही होता। क्रियावान् होने पर निश्चित ही क्रिया की पूर्व अवस्था विशेष ज्ञातव्य है। पूर्वापर अवस्थाओ मे निर्विशेष आत्मा पूर्वावस्था के समान क्रियावान् नही होता। और स्पर्शवान् क्रियावाला वायु, अग्नि आदि की तरह नित्य हो नही सकता। उसी प्रकार आत्मा की भी नित्यता सिद्ध नही होती। और आत्मा का क्रियावान् होना युक्त भी नही है। क्योकि आत्मा व्यापक है और व्यापक से क्रिया हो नही सकती। इसलिए कि चलन आदि क्रिया में कर्त्ता पूर्व स्थान का त्याग करता है और आगे स्थान से संयोग। सर्व व्यापी आत्मा मे यदि गमनादि क्रिया माने तो उसका कही त्याग और कही संयोग मानना पड़ेगा, जो संयोग-वियोग व्यापकत्व का बाधक है। अत. सर्वव्यापी आत्मा मे क्रिया नही हो सकती। क्रिया कर्त्ता और कर्म दोनो के आश्रित रहती है। और वह क्रिया दो प्रकार की है व्यापार रूपा और भावरूपा। कर्त्ता के आश्रित व्यापाररूपा क्रिया होती है। जैसे गमन क्रिया के आश्रित देवदत्त जाता है। और वह सर्वगत नहीं होता। क्योकि याद के उत्क्षेपण व अवक्षेपण लक्षण रूप क्रिया से पूर्व देश का त्याग और अपर देश का ग्रहण होता है। इसीलिए क्रियावान् कहलाता है। यदि इसे सर्वगत मानते तो वह कहाँ जाता और कहाँ अनुपस्थित रहता। इसलिए कहा है—नास्ति सर्वगते क्रिया—शर्वव्यापी मे क्रिया नही होती। अतएव आत्मा निष्क्रिय है। कर्माश्रिता किया जो किसी बाह्य रूपके संयोग से कम्पन आदि प्रगट करती है और जो पाकादि है वह कम्वन प्रकट नही करती और वह भी कर्त्ता मे स्थित व्यापारिक भाव से दोनो से सम्प्रयुक्त जानी जाना चाहिए। इसलिए कहा है—क्रियावान् नित्य नही है और सर्वव्यापी पदार्थ मे क्रिया होती नही। अतएव आत्मा क्रिया रहित है इसलिए भी निस्क्रियवाद और नास्तिकवाद समान है। क्योकि निष्क्रिय पदार्थ आकाशकुसुम के समान सत नही है। और सर्वथा असत् होने से आत्मा निष्क्रिय है। इसलिए यदि आत्मा नित्य नही है तो नैरात्म्यवाप्र तुम्हे

प्रिय क्यों नही ? समस्त असत् दृष्टियो से निवृत्ति पाने के लिए नैरात्म्यवाद अवश्य प्रिय होना चाहिए।

क्रियावाञ्छाश्वतो नास्ति नास्ति सर्वगते क्रिया।
निस्क्रियो नास्तिता तुल्यो नैरात्म्यं किं न ते प्रियम् ॥२४२॥

यदि आत्मा अग्नि की उष्णता के समान स्वरूपतः सर्वदा उपलब्ध होता है ऐसा माना जाय तो भी ठीक नही। क्योकि आत्मा का स्वरूप वादियो ने भिन्न भिन्न स्वीकार किया है। कोई प्रत्येक देह मे अभिन्न रूप से आत्मा को व्यापक स्वीकार करते है। दूसर समस्त जगत को आत्मा को चन्द्र के समान एक ही मानते है। और उसका भेद देह के भेद से औपचारिक उसी प्रकार है जिस प्रकार तेल, घी, जल आदि पात्र-भेद से चन्द्र प्रतिबिम्ब है। वह सर्वगत है। इसलिए दृश्यते सर्वग: कैश्चित्कैश्चत्कायमितः पुमान् 'कहा है। इसी प्रकात कोई मानये है कि भ्रमर, सारस, चीटी, हस्ती आदि का आत्मा उनके शरीर बराबर है और उसका संकोच और विस्तार शरीर के अनुसार होता है। दूसरे लोग आत्मा के संकोच विस्तार को अनुचित मानने हुए उसे परमाणु मात्र हो मानते है। परन्तु तथागतो की उक्ति के आधार पर प्रतीत्य समुत्पाद धर्म का पूर्ण ज्ञान रखने वाले सम्यऽज्ञानी "आत्मा नही है" ऐसा मानते है। यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो निश्चित रूप से सत्य दर्शन वाले बुद्धो को भी आत्मा की उपलब्धि अवश्य होती। परन्तु तीर्थको को आत्मा की उपलब्धि नही होती। अतएव यह फलित हुआ कि स्वभाव रूप से आत्मा नही है ॥२४३॥

नित्य आत्माको बाधा कैसी और बाधा (उपकार, अपकार आदि) के बिना मोक्ष कैसे ? अर्थात् नित्य आत्मामे बाधा नही हो सकती और बाधा रहित का मोक्ष भी कहना असंगत होगा। अतः जिसके मतमे आत्मा नित्य है उसके मत मे मोक्ष की कल्पना युक्त न होगी (२४४)

यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो स्वरूपतः निवृत्ति के अभाव से मोक्षावस्था मे भी उस आत्मा का सद्भाव होता। उस स्थिति मे नैरात्म्य चिन्तन की कल्पना युक्त नही। अतएव आत्म तत्त्व-ज्ञान से नियमतः निर्वाण होता है यह भी असत्य है। क्योकि वहाँ भी आत्मग्राहका सद्भाव होता (२४५)।

सम्बन्धित धर्म से असयुक्त, स्वरूप विशेष मात्र से अवस्थित भाव मात्रा का जो अंश प्राप्त होता है वह उसका स्वभाव है यह व्यवस्था समझनी चाहिए। क्योकि अन्य धर्मो का मिश्रण नही होता। जैसे खोटे स्वर्ण मे से लोहा आदि धातुके नष्ट हो जाने पर स्वर्ण पूर्णतः विशुद्ध हो जाता है और यही विशुद्धि स्वर्ण की यथार्थ प्रकृति है। वैसे ही मुक्तात्मा का विशुद्ध ज्ञानावस्था मे ज्ञानका जो विशेष स्वरूप होता है वही उसका स्वरूप है। उससे आत्मा का योग कुछ भी नही होता। यदि आत्मा का योग रहे तो अहंकार होने की भी प्रसक्ति उपस्थित होगी। अतएव मोक्ष की पूर्वावस्था मे भी वह उसका स्वभाव होता है यही युक्त है। इसलिए आत्मा स्वरूपतः सिद्ध नही (२४६)।

लोक मे अनित्य पदार्थो के उच्छेद की कल्पना नही की जाती, अन्यथा सृष्टि के प्रारम्भ से जो बीज, अंकुर, वृक्ष आदि का हेतु और फलका सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप से आज भी उपलब्ध होता है वह नही होता। यदि अनित्य का उच्छेद होता तो परम्परा की अप्रवृत्ति रूप विनाश होता। तो फिर ये बीजादिक आज भी क्यो उपलब्ध होते। परन्तु बीजादिक प्राप्त होते है। इसलिए अनित्य पदार्थ का उच्छेद नही होता ऐसा समझना चाहिए। यदि अनित्य वस्तुका सर्वथा उच्छेद होता है ऐसा माना जाय तो किसी भी प्राणी को मोहाविष्ट नही होना चाहिए।

अनित्यका उच्छेद स्वीकार करने पर अविद्या की प्रवृत्ति नही होती। इसलिए संसार विपर्यास के आवरणके बिना ही साध्य होता और समस्त लोककी अविद्याका विनाश होने से कोई भी तत्व अदृष्ट नही रहता। अत एव अनित्य वस्तुका उच्छेद नही होता (२४७)।

सममस्त भावो की उत्पत्ति मे कारणभूत आत्मा की नित्यता सिद्ध है। इस कारण से प्रवृत्त बीजादिको का उच्छेद नही देखा जाता। ऐसा कहना भी उचित नही। क्योकि हेतु प्रत्यय को जन्म देने वाले भाव नित्य नही रहते। और असत् का जब कोई अस्तित्व नही तो खरविषय के समान जगत्सृष्टि मे वह कारण कैसे हो सकता है ? (२४८)।

यदि भाव आत्महेतुक है तो आत्मा के पृथक् होने से दूसरे भाव उत्पन्न नही होगे। सूर्यकान्तमणि, इन्धन तथा सूर्य के संयोग से अग्नि उत्पन्न होती

है चन्द्रमा के समागम होने पर चन्द्रकान्तमणिके संयोगसे जलधारा बहती है। बीजादिको से अंकुरादि उत्पन्न होते है। महाभूतोसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। रूपादि भी दूसरे कारण से ही होता है। यह सब जो आत्मकर्तृक ही है इस रूपकी प्रवृत्ति उसी कारणसे ही उपलब्ध होती है। हेतुसे ही जगत्प्रवृत्ति हो जाती है। तब फिर आत्मकर्तृत्व-परीक्षा निरर्थक हो होगी। जब नित्यसे उत्पत्ति नही होती तो लोकमे जैसे हेतु-प्रत्ययोसे उत्पन्न हुए स्वभावसे असिद्ध बीजरूप प्रतीत्यसमुत्पादसे अनित्य अंकुर उत्पन्न होता है जो स्वयं ही अव्यवस्थित, निःस्वभाव तथा प्रकृतिशून्य है वैसे ही इस दृष्टान्त द्वारा अन्य भावोके अन्धकारसे आवृत, सूक्ष्म, हेतु-फलमे अवस्थित अरूपी वेदनादि. और हेतु-कर्मके क्लेशसे अतीत, अनास्रव और संस्कार निःस्वभाव हेतुसे नि.स्वभावी उत्पन्न होते है ऐसा समझना चाहिए।

यथा हि कृतकाद् बीजाज्जायते कृतकोऽङ्कुरः।
अनित्येभ्यस्तथा सर्वमनित्यमेव जायते ॥ २४९ ॥

इसी प्रकार जहाँ वज्रादिके कारण संस्कारोके सम्बन्धका उन्मूलन हो जाता उसे भी विद्वज्जन प्रतीत्यसमुत्पादज्ञानसे वारण करते है। भाव अर्थात् फल अङ्कुरादि बीजसे उत्पन्न होते है अतः बीजका उच्छेद नही होता। और जब अग्न्यादिसंयोग के समान भाव बीजादिहेतुक अंकुरादि सन्तानको उत्पन्न नही करते तब बीजमे उच्छेद दृष्टि होती है। परतु सृष्टिके आरम्भसे अब तक अङ्कुरादि प्रवृत्ति अविच्छिन्न रूपसे देखी जा रही है। अतः बीजमे उच्छेद-दृष्टि (अनित्यता) सभव नहीं। यदि अंकुर रूप फलके प्रवृत्त होनेपर भी अपने स्वभावमे अवस्थित रहनेसे बीज निर्वतित नही होता तो बीजमे विकार न होनेसे वह नित्य हो जाता हैं। परन्तु ऐसा होता नही। अंकुर हो जानेपर बीज नष्ट हुआ दिखाई पडता है। यदि वह अंकुर होने पर भी नष्ट न होता तो उस बीजसे दूसरे भी अंकुर होते। परन्तु अंकुर दूसरे होते नहीं। अतः ये बीज तथा अंकुर ये दोनो अनित्य है और भावों का निःस्वभावत्व स्पष्ट है (२५०)।

३. कालप्रतिषेध—साधारणतः सभी भारतीय दर्शन कालका अस्तित्व स्वीकार करते है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदो मे संवत्सर, सूर्य चन्द्र आदि का वर्णन अथवा उनके प्रति भक्ति का प्रदर्शन उल्लिखित है। इहलोक, परलोक, अतीत, वर्तमान, भविस्य, क्षण, पल आदि काल के ही विभाजक तत्व हैं। मीमासक और वैशेषिक काल और आकाश के सामान्यतः चार

लवण मानते है— सूक्ष्मत्व, विभुत्व, नित्यत्व और एकत्व। जैन दर्शन काल को अनस्तिकायिक द्रव्य मानते है। साख्य काल को उपाधि मात्र मानसे है फिर भी उसे शाश्वत प्रकृति का एक गुण विशेष माना है। बौद्धधर्म ने कालको बिलकुल अस्वीकार कर दिया।

प्राचीन बौद्धधर्म में उपनिषदो के समान केवल रूप को ही अनित्य माना जाता था और चित्य, विज्ञान जैसे अन्य सूक्ष्म धर्म इस अनित्यता के परे थे। काल से औपाधिक द्रव्यो की उत्पत्ति हीती है। इस कल्पना का समर्थन बौद्ध साहित्य से भी होता है। महाभाषा मे किसी मिथ्यादृष्टि के अनुसार काल को नित्य और संस्कृत पदार्थ को अनित्य माना गया है। अभिधर्मकोश मे एक ऐसे त्रैकाल्यवाद का स्वरूप मिलता है जिसमे भविष्य मे उत्पन्न होने वाले कार्य का वर्तमानीकरण देशान्तर कर्षण से होता है। सघभद्र के न्यायानुसार ग्रन्थ मे प्रतियक्षी के एक अन्य मत का उल्लेख है जो त्रैकाल्यवाद को नही मानता।

वैभाषिक मे रूप और चित्त को अनित्य माना है। वहां ७५ धर्मो मे काल को कोई स्थान नही दिया गया। अप्रत्यक्ष रूप से इसका तादात्म्य अमृत जातु से अवश्य किया जा सकता है। इसमे औयाधिक काल, जाति, जरा, स्थिति एवं अनित्यता रूप संस्कृत लक्षण त्रिकालात्मक है। उत्तरकाल मे मात्र एक विभु संस्कृत द्रव्य रह गया जिसमे धर्म अवस्थित है। धर्म स्वलक्षणवान, होता है और यही उसकी स्वक्रिया (वृत्ति कारित्र, और स्वभाग) है। कारित्र्य का समाप्ति क्षण वर्तमान है, अनभिव्यक्त काल भविष्यत है, और व्यक्त काल भूत है। वास्तविक कारित्र्य तो वह है जो भविष्यत धर्मो को अपनी स्वक्रिया अभिव्यक्त करने के लिए विवश करे। हीनयान अभिधर्म में इसके ६ प्रकार है— सहभू, समनन्तर, सभाग, सर्वंमग, विपाक और अधिपति। इनमे धर्म का कारित्र्य स्वकारित्र नही, परन्तु उसका हेतु भावावस्थान उसका फलोत्पादन सामर्थ्य हो जाता है। अभिधर्मकोश (२. पृ० २६३) मे यह कहा गया है कि धर्म चाहे भविष्यत, वर्तमान अथवा भूत हो, सदैव रहता है। यह उस क्षण मे फलग्रहण या फलाक्षेप करता है जिस क्षण मे वर्तमान होकर यह एक फल का हेतु अथवा बीज होता है। कारित्र और स्वभाव का सम्बन्ध न भिन्न है और न अभिन्न। वह तो अनिर्वचनीत है। सौत्रान्तिको ने इस सिद्धान्त का उपहास करते हुए इसे देवविचेष्टित कहा है (अभिधर्मकोश, ५-५७) परन्तु संघभद्र ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा है कि इस स्थिति

मे फिर बुद्ध को भी उपहास का पात्र बनाना पड़ेगा क्योकि वे लोकेत्तर है भी और नही भी है। अर्थात् वैभाषिक भेदाभेदी है।[1]

सौत्रान्तिको के अनुसार भूत और भविस्यत काल का अस्तित्व नितान्त काल्पनिक एवं आधारविहीन है। उनकी दृष्टि मे वर्तमान काल की सत्ता कवश्य वास्तविक कही जा सकती है। सर्वास्तिवाद मे फल, विषय आदि के के कारण त्रिकाल का अस्तित्व माना गया है।[2]

आर्यदेव ने चतुःशतक में कालवाद के तर्क उपस्थित किये है। जिनमें प्रमुख है—संसार की उत्पत्ति और लय का कारण एवं बीजादि हेतु का जगत की प्रवृत्ति मे फलरूप मे परिणमन। इन तर्कों का उत्तर देकर उन्होने काल के अस्तित्व का खण्डन किया है। उनका कहना है कि यदि काल को नित्य माना जाय तो अंकुरादि की उत्पत्ति सदैव होनी चाहिए। कालको फलात्मक हेतु भी नही माना जा सकता, अन्यथा अग्नि से दग्ध बीज में अङ्कुर (फल) की फलवत्ता प्रसक्त हो जावेगी। काल विचित्र जगत का कारण होता तो उससे नियत पूर्वविस्थावर्ती नाना रूप विकार से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए पर होती नही। काल की नित्यता स्वीकार करने पर हेतु भाव परिकल्पना भी व्यर्थ हो जाती है। इनके अतिरिक्त काल के प्रतिषेध मे एक यह भी कारण है कि नित्य पदार्थ से नित्य पदार्थ की ही उत्पत्ति होनी चाहिए पर उससे जगत रूप अनित्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है। अतः यह सिद्ध है कि काल का अस्तित्व नही है।[3]

आर्यदेव ने काल का प्रतिषेध करने के लिए एक पृथक् अध्याय लिखा है जिसका सारांश इस प्रकार है—

कालवादियोके पूर्वपक्ष के सन्दर्भ में आर्यदेव ने कहा है कि काल का सद्भाव स्पष्टतः सिद्ध है। संसार में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, बीज आदि कारणो-के रहने पर भी कदाचित् पुष्प और अकुर आदि की उत्पत्ति और नाश होता है। अतः काल नाम का पदार्थ सिद्ध होता है। और वह क्षण, पल, मुहूर्त आदि

---

१. बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ५७४-८

२, अध्वंकास्ते तदुक्तं द्वयात् सद्विषयात् फलात् तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः—अभिधर्म कोष, ५-३५

३. चतु:शतक, २०७-२१२

से अभिव्यक्त होता है। अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न इन तीनो कालोमें व्यवस्थित रहता है और भाव से भिन्न है। अत: नित्य है। कालवादियो की इस मान्यता का खण्डन करते हुए अचार्य आर्यदेव ने कहा है कि यदि काल भाव (पदार्थ) से भिन्न और ज्ञान से सिद्ध हो तो वह उत्पाद और भङ्ग का कारण होगा। परन्तु ऐसा है नही। भाव से भिन्न होनेके कारण उसके ग्रहण करनेका प्रसंग उपस्थित होगा।

जो तीनो काल कालके स्वभाव विशेषसे अवस्थित है वे भी अमूर्त होनेसे स्वरूपत: निर्णय करनेमें असमर्थ होते है और स्वभावत: व्यवस्था करनेमें समर्थ नही होत। घटादि द्वारा उनकी व्यवस्था करना संभव है। वे काल तो पदार्थसे भिन्न स्वरूप वाले है, वेदनादिके समान अनुभवाकार है और रूप, शब्द आदिके समान इन्द्रिय द्वारा नही जाते जाते। अतएव घटादि द्वारा ही वे विशेष रूपसे ज्ञातव्य है। इस प्रकार तीनो कालोका निषेध करनेसे कालका प्रतिषेध स्पष्टत: हो जाता है। आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति ने इस कथन को घट के उदाहरण के माध्यम से समझाया है। उन्होन कहा है कि—

जो अनागत घट है उसमें न वर्तमान घट है और न अतीत घट। लक्षणके भेदसे परस्परमे यह असंभव है। इस प्रकार जब अनागत घटमें वर्तमान और अतीत दोनो घट विद्यमान नही है तब वर्तमान और अतीत दोनो भी अनागत होनेके कारण अनागतमे अनागत कहलाये। जिस प्रकार धनागत वर्तमानमे अनागत होनेके कारण अनागत है उसी प्रकार वर्तमान और अतीत दोनो भी अनागत होनेके कारण अनागतमे अनागत हुए। यदि वर्तमानमें अनागतत्व होनेके कारण अनागत ने अनागतत्व से अनागत नही ऐसा कहा तो भी युक्त नही। अनागतको सिद्धि होनेपर वर्तमान और अतीत दोनोकी सिद्धि होगी। यदि अनागत ही सिद्ध नही तो अतीत और प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) की सिद्धि कैसे हो सकेगी। इसी अभिप्रायसे अनागतका अभाव प्रतिपादन करनेकी इच्छासे आचार्य ने कहा है—"यस्मादनागतौ तौ द्वौ नास्ति तस्मादनागत:।" जब दोनो अनागत हुए तो तीनो भी अनागत होगे ही। तीनोके अनागतत्व होने पर अतीत और प्रत्युत्पन्न दोनो के असम्भ होने से अनागतत्वसे अनागतकी व्यवस्था कैसे संभव है। अतएव अनागत काल नही है।

अनागते घटे वर्तमानोऽतीतश्च नो घट:।
यस्मादनागतौ तौ द्वौ नास्ति तस्मादनागत: ॥२५१॥

यदि अतीतत्व और अनागतत्व ये दोनो स्वभाव अनागत घटमें विद्यमान है तो अतीत्व युक्त नही क्योंकि अनागत स्वभावके समान अनागतका सद्भाव भी

सिद्ध हो जायगा। अतएव अनागत अतीत नही हो सकता। अतीत के सिद्ध न होने से अनागत भी सिद्ध न हो सकेगा (२५२)।

तथा, जो अनागत भाव है वह सत् है या असत्। अनागत स्वभाव के होने पर सत् होगा नही, यह ऊपर कहा जा चुका है। वैसे ही अनागत भी न होगा। जिसका जो स्वभाव रहता है उसकी स्थिति तदात्मक और वर्तमान रहती है। नीलात्मकत्व के सद्भाव से ही नीम वर्तमान [विद्यमान] है, पीतात्मकत्व के कारण नही। उसी प्रकार अनागत भी अनागतत्वभाव से वर्तमान मे ही रहता है, अनागत मे नही। जब अनागन सिद्ध नही होगा तो इसी के आश्रित सिद्ध होनेवाला न वर्तमान ही है और न अतीत ही है। इस इस प्रकार तीनो कालो का सद्भाव सिद्ध नही होता (२५३)।

जो अतीतकाल है वह अतीत स्वरूप से अतीत है या अनतीत स्वरूप से। अतीत स्वरूप से अतीत हो नही सकता अन्यथा वह अतीत नही कहला पावेगा अतिक्रांत व्यापार का ही नाम अतोत है। जो इस समय है वह अतीत अतिक्रान्त कैसे कहा जायगा। जैसे दुग्ध भाव से अतीत दही दुग्ध नही हो सकता और बालभाव से अतीत युवा बाल नही हो सकता। इसो प्रकार अतीतकाल से उत्पन्न होनेवाला अतीत अतीत नही कहा जा सकता (२५४)। उक्त दोष को वारण करने के लिए यदि यह कहा जाय कि अतीतकाल उसे कहते है जो अतीत से अनतीत हो तो ऐसा मानने मे भी अतीतकाल से उत्पन्न होनेवाला अनतीत अतीत का उलंघन नही करता। इस प्रकार जो अतीत के व्यापार से शून्य होगा वह अतीत कैसे कहा जा सकता है ! अतएव अतीतकाल का अस्तित्व सम्भव नही और जब अतीतकाल नही है तो उससे अनपेक्षित अनतीत (वर्तमान, भविष्यत्) भी नही है। इस प्रकार स्वरूपतः तीनों काल नही है।

स्यादतीतादतीतश्चेदतीतो जायते कुत.।
अतीतादनतीतश्चेदतीतो जायते कुतः ॥२५५॥

जो वैभाषिक सर्वकाल के सद्भाव को कहने के लिए सर्वास्तिवाद की ही प्रशंसा करता है उसके दृष्टिकोण के पुनर्परीक्षण के सन्दर्भ मे प्रश्न है कि जिस अनागत अर्थ के अस्तित्व की कल्पना की जाती है, उसकी कल्पना उत्पन्न होने पर की जाती है अथवा अनुत्पन्न होने पर। यदि अनागत भाव भी उत्पन्न है तो वह उत्पन्न होने से वर्तमान होगा, अनागत कैसे ! यदि अनागत भाव अजात (अनुत्पन्न) है तो अनागत भी हुआ और विद्यमान भी। तब निर्वाण की तरह इसको भी अनित्य मानना पडेगा। (२५६)

यद्यपि अनागत अनुत्पन्न है तथापि वह असंस्कृत के समान अविनाशी है। हेतु और प्रत्ययो से अनागतीय अनागतत्व के नाश हो जाने से वर्तमानता आ जाती है। इस तरह अनागत अनित्य है (२५७)।

जो यह वर्तमान पदार्थ है वह अनित्य ही है। क्योकि स्वभावतः अच्युत रहने से वर्तमानत्व के सम्बन्ध से वर्तमान कहा जाता है और जिसकी अनित्यता है वह वर्तमान मे अभाव के कारण विद्यमान ही नही होता। इस प्रकार वर्तमानत्व के साथ वर्तमानत्वाभाव भी मानना पड़ेगा। परन्तु एक पदार्थ में सद्भाव और असद्भाव ये दोनो विरोधी तत्व रह नही सकते। इसलिए वर्तमान अतीत नही है, नित्य है। इसी प्रकार अतीतकाल की भी अनित्यता सम्भव नही। क्योकि जो विनष्ट हो जाता है उसे अतीत कहते है। तब तो अतीत के अनित्य मानने पर विनष्ट का पुनः विनाश मानना पड़ेगा जो अयुक्त और निष्प्रयोजन है। इससे आश्रयाभाव और अनवस्था दोष मी आ जाते है। अतः वर्तमान और अतीत ये दोनो नित्य है। इसके अतिरिक्त उसकी तीसरी गति भी नही होती। यदि वर्तमान और अतीत इन दोनो से अन्य अनागत को अनित्य मानें तो यह भी युक्त नही क्योकि उत्पन्न हुआ वर्तमान और अतीत अनित्य है। जब वे अनित्य सिद्ध नही हो सके तो उत्पत्ति रहित आकाशादि की तरह अनागत की अनित्यता तो अत्यन्त असंगत होगी। आश्रयाभाव और अनवस्था दोष से विनष्ट वस्तु की पुनरुत्पत्ति संभव नही। अतः जैसे नित्य आकाश मे अनित्य वर्तमान और अतीत की कल्पना निरर्थक है वैसे ही स्वभाववादी की काल के अतीत वर्तमान और अनागत की कल्पना भी असंगत है (२५८)।

अनागत भाव का अस्तित्व है। तन्तु मे पट, कपाल मे घट, बीज मे अंकुर आदि अनागत भाव पहले से विद्यमान रहते है और वे हेतु-प्रत्यय-सामग्रियों के पश्चात् उत्पन्न होते है। क्योकि जो पहले से जिसमे विद्यमान नही रहते वे पीछे भी उत्पन्न नही होते। जैसे बन्ध्या स्त्री को पुत्र उत्पन्न नही होता। अतएव जन्म देखने से अनागत भावो का अस्तित्व ज्ञात होता है। ऐसी कल्पपना पर आर्यदेव ने कहा है कि

यः पश्चाज्जायते भावः स पूर्वं विद्यते यदि
त मिथ्या जायते पक्षस्तस्मान्नियतिवादिनाम् ।।२५९।।

उत्पत्ति से पूर्व अवस्थित जो भाव हेतु-प्रत्ययो से पीछे उत्पन्न होता है। उसका यदि उत्पत्ति से पूर्व स्वरूपतः अस्तित्व है ऐसा माना जाय तो जगत का

वर्णन करनेवाले नियतिवादियो का प्रतिनियत स्वभाव, निर्हेतुक, पुरुषकार-शून्य, उपपत्तिविरुद्ध पक्ष मिथ्या नही होगा अर्थात् अनागत भाव के यथार्थ मानने पर नियतिवाद पक्ष भी यथार्थ हो जायगा। यदि नियनिवाद पक्ष सत्य माना जाय तो इसमे दृष्टादृष्ट विरोध आता है। और जगत के पुरुषार्थ की भी कोई अपेक्षा नही रहती तथा प्रतीत्य समुत्पाद का अभाव हो जाता है। उसके अभाव होने पर खरविषाण के समान समस्त जगत अग्राह्य हो जावेगा। अतएव नियतिवाद अयुक्त है। इसलिए अतागतसद्भाववाद भी अयुक्त है (२५४)।

जिस पदार्थ का हेतु-प्रत्ययो से उत्पादन किया जाता है वह जन्म के पूर्व है ऐसा मानना युक्त नही। यदि उसका अस्तित्व होता तो विद्यमान (सत्) वस्तु का पुनरुत्पादन होता। परन्तु सत् का पुनरुत्पादन होता नही क्योकि ऐसा मानना निष्प्रयोजक है (२६०)। यदि अनागत नही मानेगे तो अनागत पदार्थो का अवलम्बन करनेवाला योगियो का प्रणिधिज्ञान भी यथार्थ न होगा। परन्तु योगियो का ज्ञान यथार्थ है क्योकि उनकी भविष्यवाणी यथार्थ (सत्य) रहती है। असत् बन्ध्यापुत्रादि मे यह सभव नही। अतएव अनागत यथार्थ है। ऐसी कल्पना किये जान पर अचार्य आर्यदेव ने कहा है कि—

दृश्यतेऽनागतो भावः केनाभावो न दृश्यते।
विद्यतेऽनारातं यस्य दूरं तस्य न विद्यते (२६१)

उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था मे अनागत पदार्थ नही है। यदि अविद्यमान पदार्थ योगियों द्वारा देखा जाता है तो बन्ध्यापुत्रादि भी देखे जाने चाहिए। परन्तु अविद्यमान पदार्थ तो योगियो द्वारा देखे जाते है, बन्ध्यापुत्रादि नही। स्वभावतः दोनों असत् है। उनमे एक दिखाई देता है, दूसरा नही, ऐसा कहना युक्तिसंगत नही। जिसके मत में अनागत पदार्थ स्वरूपतः है उसके मन मे वह दूर नही होगा। परन्तु दूर होता अवश्य है। ये दूरधर्म अतीत और अनागत है। अन्तिम धर्म है—प्रत्युत्पन्न पदार्थ। इस प्रकार अनागत धर्म उससे दूर हुआ जो अयुक्त है क्योकि जिसके मत में अनागत भी विद्यमान ही है उसके लिए अनागत दूर नही हो सकता (२६१)।

जिसके लिए काय, वचन और मनका संयम है वह दानादि धर्म यदि अकृत (नित्य) ही है तो उसकी प्राप्ति के लिए यम, नियमादिक श्रम व्यर्थ होगे। उस श्रम के बिना भी धर्म की प्राप्ति संभव, होने लगेगी। अत; धर्म की नित्यता

होते हुए भी नियम से धर्म की कुछ विशेषता सम्पादन करते है। वही विशेष अंश पहले अविद्यमान होने से पीछे किये जाते है। इस प्रकार अनागतार्थवाद अयुक्त है (२६२)।

अनित्यत्ववाद और सत्कार्यवाद इन दोनो के परस्पर विरोधी होने से एक वस्तु मे दोनो कैसे सम्भव है ? इस आशंका पर अचार्य कहते है— "आद्यन्तौ यस्य विद्येते तल्लोकेऽनित्यमुच्यते" । अर्थात् अनित्य वह है जिसका आदि और अन्त दोनों हो। जिसके पूर्व भावान्तर नहीं वह आदि लोक है और जिसके पश्चात् भावान्तर नही वह अन्त लोक है, अनित्य है। जिस पदार्थ का आदि और अन्त दोनो है वह लोक है; अनित्य है। इसलिए अद्यन्त के सद्भाव से लोकको नित्य नही कहा जा सकता। और न उसका सत्कार्यवाद भी कहा जा सकता है (२६३)।

यदि अनागत नही है तो अनागामि क्लेश और जन्म के अभाव से विना प्रयत्न के ही मोक्ष हो जायेगा। आर्य मार्ग के फल से मुक्तो के अनागत क्लेश जन्म न होने के कारण अनागत न होगा। जैसे अनागत के बिना मुक्तों का प्रयत्न सिद्ध हो जाता है उसी प्रकार इस अनागतफलाभाववाद मे प्रयत्न के बिना मोक्ष प्राप्त हो जायगा। परन्तु होता नही। अतएव असत्कार्यवाद युक्त नहीं। अनागत के मानने मे केवल मुक्ति-प्राप्ति मे ही दोष नही आएगा प्रत्युत हमारे अहेतुक उत्पाद भी होने लगेंगे। ऐसी स्थिति मे यह भी कहा जा सकता है कि लोहित वर्ण के विना लोहित वर्ण की उत्पत्ति होती है। यदि लोहित वर्ण के विना लोहित वर्ण की उत्पत्ति मानी जाय तो वह अहेतुक ही होगी। परन्तु अहेतुक उत्पत्ति होती नही। यदि ऐसी सम्भावना मानें तो अर्हत् मे भी रागका प्रसंग मानना पड़ेगा। अतएव अहेतुक उत्पाद सम्भव नही। जब अहेतुक उत्पाद नही होगा तो अनागतका भी न होना अयुक्त ही है (२६४)।

सांख्य और वैभाषिक ये दोनो दर्शन सत्कार्यवादी ही है। सांख्य दर्शनमे जो सत् है वही है, जो असत् है वह नहीं ही है। असत् की उत्पत्ति नही होती और सत्का विनाश नही होता। असत् कारणसे, उपादान-ग्रहणसे और शक्यका शक्य-कारण आदि होनेसे सत् ही कार्य होता है। यदि असत्कार्यवाद माना जायगा तो सभी पदार्थोंसे सभी पदार्थोंकी उत्पत्ति होनी चाहिए, परन्तु होती नही। अतएव सत् हो कार्य होता है। वैभाषिक दर्शन भी स्वभावतः उत्पन्न न होनेसे उत्पत्तिके भयसे तीनो कालोंमे सत्की ही कल्पना करता है। वैशेषिक,

सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी असत्कार्यवादी है। सद् कार्यकी उत्पत्तिके निरोध होनेसे असत् ही कार्य उत्पन्न होते है ऐसा मानते हैं। अतएव सत्कार्यवादियो और असत्कार्यवादियोमे सत्कार्यवादीके मनमे घटके लिए जो स्तम्भद्वार, कपाट आदिका बन्दर, पक्षी आदिकी रचना रूप अलंकार युक्त नही है। क्योकि वह अलकार रूप कार्य तो गृहमें सत्कार्यवादीके मनमे पहलेसे ही विद्यमान है। अन्यथा असत्कार्यवादका प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

असत्कार्यवादी के मन मे भी स्तम्भादि अलंकार निरर्थक होगे। क्योकि अलंकार रूप कार्य तो असत्कार्यवादी के मत में असत् है। जैसे असत् होने से बन्ध्यापुत्र किसी के द्वारा भी पैदा नही किया जा सकता। उसी प्रकार गृह के लिए स्तम्भादि अलंकार को असत्कार्य वाद के भी मत में कोई पैदा नही कर सकता।

स्तम्भादीनामलङ्कारो गृहस्यार्थे निरर्थकः।
सत्कार्य मेव यस्येष्टं यस्यासत्कार्यमेव च ॥२६५॥

यदि अनागत अर्थ का परिणाम वर्तमान माना जाय तो इस स्थिति मे दो अवस्थाये सम्भव हैं—स्वरूप के विनाश से कल्पना की जाय अथवा स्वरूप स्थिति से। यदि स्वरूप के विनाश से परिणाम मानें तो एक नष्ट होगा और दूसरा उत्पन्न होगा। इस प्रकार परिणाम से उत्पत्ति और विनाश दोनो होगे। स्थिति से परिणाम माना जाय तो एक द्रव्य का दूसरे धर्म मे वृत्ति का उदय होने से धर्मान्तर का उद्भव होगा न कि परिणाम का। यही हमारा परिणाम है। इसी को स्पष्ट करत है। जैसे गोरस द्रव्य मे रहने वाले धर्मान्तर दुग्धभाव की निवृत्ति और दधिभाव की उत्पत्ति परिणाम है। उसी प्रकार सत, रज, तम इन तीनों गुणो की अनागतावस्था को निवृत्त और वर्तमान अवस्था की उत्पत्ति ही परिणाम है। परन्तु इस परिणाम के अस्तित्व को स्थापना करना सम्भव नही है। क्योकि लोक को अनागत आदि तीनो गुणो के अस्तित्व का तो ज्ञान है परन्तु परिणाम का नही। दधि दुग्ध का विकार है ऐसा कहना सम्भव नही क्योकि दुग्धावस्था में ही दुग्ध मे दुग्धत्व है, दुग्धावस्था मे ही वर्तमान दुग्ध दधि-भावको प्राप्त नही होता। यदि दुग्ध ही दधि भाव मे हो जाता तो दुग्ध ही दधि हो जायगा। परन्तु यह उचित नही। अतएव यह दुग्ध का दधिभाव नही है। जब दुग्ध का दधिभाव होता तो अन्य किसी का भी हो जाता। अतएव परिणाम नही है। दधि मे दुग्धावस्था से भिन्न गोरस द्रव्य मात्र की कुछ भो उपलब्धि नही होती। इसलिए आचार्य ने कहा है तथापि वर्तमानोऽस्ति कल्पयन्त्यविचक्षणा (२६६)।

संसार मे एक क्षण मे उत्पत्ति और भङ्ग वाले पदार्थों की किसी भी प्रकार की स्थिति नही है। स्थिति के अभाव से काल का हेतुभाव नही है। इसलिए पदार्थों के नित्य न होने से भाव रूप संसार की स्थिति सम्भव नही। यदि स्थिति होती तो फिर जीर्णता नही आती। क्योकि जरा जीर्णता स्थिति के विरुद्ध होती है। अन्त की जीर्णता को हटाने के लिए ही स्थिति का अभाव समझना चाहिए (२६७)।

यदि भाव की स्थिति होती तो भाव क्रम से अनेक विज्ञानों द्वारा ज्ञेय होते इसकी सम्भावना भी नही। क्योकि ज्ञान और ज्ञेय दोनो क्षणिक होते है। जो एक से ग्रहण (जाना) किया जाय वह दूसरे से ग्रहण नही किया जा सकता। अतएव भाव स्थितिमान् नही है। स्थिति के न होने से न भाव ही सिद्ध है और न काल ही (२६८)।

यदि पदार्थ से अनित्यता पृथक् ही है तो अनित्यत्व के लक्षण-भेद से पदार्थ नित्य हो जाता है। परन्तु भावपदार्थ नित्य नही है। अतएव अनित्यत्व का अन्यत्व भाव युक्तिसंगत नही। यदि अनित्यत्व भाव स एक है तो भी वह भाव एकत्व से पृथक् रह नही सकता और जो अनित्यत्व है, वह भाव मे ही रहता है। इसलिए अनित्यत्वात्मक होने के कारण पदार्थ की स्थिति सदैव संभव नही। इसलिए भाव की स्थिति नही है। स्थिति के अभाव से अनित्यत्व नही। स्थिति और अनित्यत्व इन दोनो के अभाव से पदार्थ नही है और पदार्थ के न रहने से काल भी न नही होगा (२७०)।

यदि स्थितिकाल मे अनित्यता दुर्बल है तो धर्मकी समानता होने पर वह स्थिति किसके द्वारा नष्ट की जायगी ? उसके बाद बलवत्ता कैसे आयगी। अर्थात् नही आ सकती। अतएव स्थिति पहले ही अथवा पश्चात् ही बलवान नही होगी। इसलिए पदार्थ नित्य अथवा स्थितिहीन होगा। परन्तु यह युक्त नही। अतएव भाव की स्थिति नही है (२७१)।

यदि अनित्यता दुर्बल नही होती, बलवती होती तो सभी पदार्थों मे रहती। यद वह पदार्थों के एकांश मे व्याप्त होकर रहे तो सभी में भी नही रहेगी। जब सभी पदार्थों में वह अनित्यता नही रहेगी तो सभी पदार्थ अनित्य भी न होंगे। जहाँ स्थिति बलवती होगी वहाँ कोई अंश नित्य होगा और जहाँ अनित्यता बलवती होगी वहाँ कोई अंश अनित्य होगा। इस प्रकार न सभी अनित्य होंगे और न सभी नित्य होंगे (२७२)।

यदि अनित्यता लक्ष्य के साथ नित्य रूप से सम्बद्ध है तो स्थिति नित्य नही होगी क्योकि लक्ष्य और लक्षण व्यभिचरित नही होते। यदि अनित्यता नित्यता नित्य रूप से सम्बद्ध नही है तो स्थिति नित्य होगी क्योकि अनित्यत्व का वहाँ अनुबन्धन हो जाता है। यदि स्थिति की नित्यता की रक्षा के लिए अनित्यता को लक्ष्य के साथ उत्पन्न न मानकर पश्चात् काल में माने तो भाव पहले नित्य होकर पश्चात् अनित्य होगा। इस प्रकार एक ही भाव को नित्य और अनित्य दोनो मानना पड़ेगा, परन्तु यह युक्त नही (२७३)।

यदि उस पदार्थ का अस्तित्व है तो उसकी अनित्यता असत्य होगी और यदि वह नष्ट होता है तो उसका अस्तित्व असत्य होगा। अर्थात् स्थिति को मानना युक्त नही। और उसकी स्थिति के न होने से पदार्थ भी नही होगा। पदार्थ के न होने से उसके आश्रित रहनेवाला काल भी स्वभावतः सिद्ध नही होगा (२७४)। काल अतीत संस्कारों की स्मृति का कारण है यह भी ठीक नही क्योकि वर्तमान में स्थित पदार्थ का जो स्वरूप साक्षात् करने वाले पुरुष के वर्तमान ज्ञान द्वारा देखा गया है वह पुन. वर्तमान ज्ञान का विषय नही हो सकता क्योकि एक पदार्थ का दो विज्ञानो द्वारा ज्ञेय होना पहले ही निषिद्ध कर दिया गया है। इसी न्याय से देखा हुआ पदार्थ पुनः नही देखा जाता। अतएव तद्विषयक स्मृति भी पुनः नही होती।

इसलिए स्मृति का आलम्बन अतीत भाव हुआ न कि वर्तमान। वह अतीत भाव यदि स्वरूपतः होता तो वह स्मृति विद्यमान भाव का आलम्बन करने के कारण स्वरूपतः सिद्ध होती। परन्तु जब वह अतीत भाव स्वरूपतः नही है तब उसका आलम्बन करनेवाली स्मृति भी नही है। अतः वह स्मृति मिथ्या है। मिथ्या इस स्वभाव से अभाव और प्रतीत्यसमुत्पाद में कोई अन्तर नही। भाव और अभाव दोनो पदार्थ मिथ्या नही है। अतीत पदार्थ भी सर्वथा है नही ऐसा नही कहा जा सकता, क्योकि उनका स्मरण होता है और फल भी देखा जाता है। स्वरूप से होने पर भी वह नही है। नित्यत्व का प्रसंग होने पर वस्तुग्रहण का भी प्रसंग उपस्थित होगा। उस प्रकार के भाव से स्मृति भी वैसी ही होगी। अतः वह स्मृति भी मिथ्या है उसी तरह जिस तर स्वप्नावस्था में देखे गये अनुभव विषयक स्वप्नो की स्मृति जाग्रत अवस्था में मिथ्या होती है।

न दृष्टो दृश्यते भावश्चित्तं न जायरे पुनः।
तेन मिथ्या स्मृतिर्नामार्थोऽस्या मिथ्यैव जायते (२७५)।

दृष्टिप्रतिषेध—सभी पदार्थ प्रत्यक्षज्ञानगम्य नही होते। कुछ (परोक्ष पदार्थ) अनुमानगम्य भी होते है। स्वभावशून्यता के विषय मे दृष्टान्त के होने से अनुमान भी कर सकते है: यहाँ सर्वत्याग का उपाय सर्वधर्म स्वभाव शून्यता है। उस सर्वधर्मस्वभावशून्यताको कोई विपरीप नही कर सकता। और यह सर्वधर्मस्वभावशून्यता सूक्ष्म भी है। क्योकि सभी के समीप सर्वदा होते हुए भी वह सभी के समक्ष नही है। युक्तियो द्वारा सर्वधर्मस्वभावता का खण्डन करके निःस्वभावता का प्रतिपादन किया गया है। यही निश्चय करना चाहिए। निश्चय करने मे दो विकल्प उठ सकते है—यह ऐसा ही है या अन्यथा। यदि अनिश्चय का कोई कारण है तो उसे उपस्थित कीजिए। यदि नही है तो उक्त प्रकार से खण्डन हो ही चुका। और थोड़ा भी अनिश्चय का कारण कहना संभव नही, ऐसा इसी दृष्टान्त से सिद्ध है। अतः यदि बुद्धोक्त उपदेशो की सत्यता मे कुछ सन्देह है तो शून्यता के उपदेश की सत्यता से ही अन्य उपदेशो की भी सत्यता का निश्चय कर लेना चाहिए। इस प्रकार बुद्ध के उपदेशो मे कही भी सन्देह नहीं रहता (२८०)।

शास्त्रसंकेत को न जानने वाले गोपालक आदि सैकड़ो बार उपदिष्ट होने पर भी शून्यता के ज्ञान मे उनका प्रवेश नही हुआ। इसीलिए उन्हे भय होता है। शून्यता का ज्ञान होने पर ही पण्डितो का भय सर्वथा दूर हो जाता है। क्योकि भय के कारण अहंकार और ममता के अभिनिवेश शून्यता के ज्ञान से उसी तरह नष्ट हो जाते है जिस तरह रस्सी मे सर्पका विपरोत ज्ञान होने के बाद रस्सी के देखने पर सर्प का भय दूर हो जाता है। परन्तु जो अल्पज्ञानी है उसे नियम से ही होता है ॥२८३॥

संसार मे प्रवृत्ति कराने मे अनुकूल धर्म प्रवर्तक कहलाता है और अज्ञानियों का अभ्यास इसी प्रवर्तक धर्म मे होता है। पदार्थों की स्वभावशून्यता रूप धर्म तो निवर्तक है क्योकि वह संसार से निवृत्ति कराने मे अनुकूल होता है। उस स्वभावशून्यता के अभ्यास का बाधक आत्मस्नेह है। उस आत्मस्नेह मे चित्त लगा रहने से साधारण जन निवर्तक शून्यता धर्म से अत्यन्त भयभीत हो जाते है। और स्वभावशून्यता को प्रपात की तरह मानते हुए उसे यथार्थ रूप से समझने का प्रयत्न ही नही करते ॥२८४॥

इस प्रकार अज्ञानान्धकार से अच्छादित पदार्थ तत्व मे एवं अप्राप्य अन्तवाले संसार रूपी महावन मे प्रनष्ट सन्मार्ग वाले किसी व्यक्ति की भक्ति यदि स्वभावशून्यता मे हो जाती है। तो उस भक्ति के अनुकूल कारणों मे वृद्धि हो

जाती है। और उससे उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता शून्यतासिद्धान्त के उपदेश मे हो जाती है। ऐसे ही व्यक्तियो को उपदेश दिया जाना चाहिए। परन्तु जो किसी ईर्ष्या, मात्सर्य, भय श्रोता के द्वेष आदि मोह के कारण तत्वधर्म (स्वभावशून्यता) के पात्रजन के उपदेश सुनने मे विघ्न उपस्थित करता है उसे देव और मनुष्यात्मक सुगति भी नही मिलती क्योकि वह निश्चित रूप से दुर्गति मे जाता है तो फिर मोक्ष प्राप्ति की बात तो कोसो दूर रही ।।२८५।।

इस प्रकार दूसरे का अत्यन्त उपकार करने वाले के सन्दर्भ मे कहा गया है कि शील से पतित व्यक्ति अच्छा है परन्तु दर्शन (स्वभावशून्यता रूप बौद्ध दर्शन) से पतित व्यक्ति अच्छा नही। शील से स्वर्ग प्रात होता है। परन्तु बौद्धदर्शन से निर्वाणपद प्राप्त होता हे।

शीलादपि परं स्रंसो न तु दृष्टेः कथञ्चन।
शीलेन गम्यते स्वर्गो दृष्ट्या याति परं पदम् ।। २८६ ।।

इस तत्वदर्शन के रहस्य को जानने के लिए विद्वान को प्रयत्न करना चाहिए। बौद्ध दर्शन के विघात के भय से सर्वत्र पात्र विशेष को निश्चित किये बिना अपात्रो मे इस नैरात्म्यदर्शन का उपदेश नही देना चाहिए। क्योकि अपात्रो मे दिया गया उपदेश निरर्थक ही होता है।

जो अद्वितीय मोक्षद्वार है वह नैरात्म्य है। कुत्सित मतावलम्बियो को जो भयंकर है वह नैरात्म्य है। समस्त बुद्धो के ज्ञान का जो विषय है वह नैरात्म्य है। आत्मा नाम है स्वभाव का। उस आत्माके अभावको नैरात्म्य कहते है। वह नैरात्म्य धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य के भेदसे दो प्रकार का है। यहां जो पुद्गल नैरात्म्य है वह स्कन्धो से जाना जाता है। और वह स्कन्ध मे पाच प्रकार से खोजते हुए उत्पन्न नही होता। परन्तु धर्मस्कन्ध, आयतन धातु सूचक पदार्थ है। इन धर्मो का और पुद्गल का अपने हेतु और प्रत्यय के आधीन जन्म होता है और वे उपादानो से जाने जाते है। इस लिए उनका स्वायत्त व अपरायत्त अपना आवृतक (नित्य) रूप नही है। इस प्रकार पुद्गल की और धर्मों की निःस्वभावता व्यवस्थित की गई है। जिस पदार्थ की स्वरूपतः सिद्धि नही है उसकी अन्य किस आत्मा से सिद्धि होगी ? अतएव सर्वथा असिद्ध लक्षण स्वरूप ही पदार्थ मूर्ख व्यक्ति के विसंवादक आत्मा द्वारा जाने जाते है और इसी कारण अज्ञानी उनसे ममत्व करने लगत हे। सम्यग्दर्शना द्वारा पदार्थ के यथार्थ स्वभाव को जानने के बाद धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य दोनो का ममत्व छूट जाता है और यही निर्वाण प्राप्ति का कारण है। नैरात्म्य का ज्ञान होने पर

समस्त पदार्थों मे ममत्व का त्याग हो जाता है और फिर कही पर कोई प्रार्थना की आवश्यकता नही होती। इसलिए नैरात्म्य एक अद्वितीय मोक्ष-द्वार है। यह नैरात्म्यदर्शन कुत्सित मतावलम्बियो को भयङ्कर है। क्योकि नैरात्म्य-दर्शन मे वस्तुका सर्वथा अभाव माना जाता है जो अन्य मत वालो द्वारा निर्धारित वस्तु के स्वरूप से पूर्णत· विपरीत है। इसीलिए उन्हे नैरात्म्य दर्शन भयंकर प्रतीत होता है। समस्त बुद्धो के ज्ञानका विषय नैरात्म्य है समस्त बुद्धो मे श्रावक बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक्सम्बुद्ध तीनो सम्मिलित है। ज्ञानविशेष का विषय रहने से इसे समस्त बुद्धो का विषय कहा गया है। आर्यदेव ने नैरात्म्यधर्म की महत्ता को व्यक्त करते हुये कहा है कि जो इस धर्म को जानता है उसकी अन्य धर्म मे प्रीति नही होती। इसलिए यह नैरात्म्यधर्म आत्मा के नाश के द्वार के समान देखा जाता है (२६१)

सद्धर्मतत्वदर्शन रूपी अमृतरसास्वाद से अन्य दर्शनो का रस असन्तोषकर हो जाता है। अतः वह अमृतरस अन्य सभी दर्शनो मे नही मिलता। इसलिए आचार्य ने आस्वादित सद्धर्मामृतरस के समान बुद्धिमान व्यक्ति के मनको सन्तोषकारक वचन कहा है—"धर्मोऽयमात्मनस्तेन नाशद्वारमिवेक्ष्यते।" यह नैरात्म्यधर्म आत्मा के नाशद्वार के समान देखा जाता है (२६२)

बहुत से कुशल मनुष्य भी अन्य तीर्थिको के मतो का आलम्बन करते हुए दिखाई देते है, भगवान बुद्ध का नही। इसका मुख्य कारण है—बौद्ध दर्शन की अत्यन्त सूक्ष्मता। बौद्धधर्म की सूक्ष्मता और अन्य धर्मो की अयुक्तता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है—शाक्य धर्म चित्त से, अचेलक धर्म नेत्र से और ब्राह्मण धर्म कर्णेन्द्रिय से जाना जाता है। इनमे भगवान बुद्ध का धर्म सूक्ष्म है—

> शाक्यैरचेलकैर्विप्रैस्त्रिभिश्चित्तेन चक्षुषा।
> कर्णेन गृह्यते धर्मः सूक्ष्मस्तत्समयो मुनिः॥ २६४॥

ब्राह्मणों का सार पाठ है। वही उनके कर्ण का विषय है। अचेलक पवित्राचार रहित होने के कारण बढती हुई शरीर की दुर्गन्ध और पङ्क से युक्त तथा वस्त्र, स्नान और शाटिका से रहित होने से शीत, धूप, वायु, सूर्य, वर्षा केशलुञ्चनादि दुःखो के कारण भूत होते है। उनका आचार और धर्म चक्षु से देखा जाता है। परन्तु शाक्य (बौद्ध) समस्त पदार्थो को निःस्वभावत्व रूपी सूर्य से उद्भासित चित्त की सन्तान वाले, समस्त असद् दर्शनो को भयभीत करने वाले गहन अज्ञान तिमिर को दूर करने वाले और संस्कृत, पदार्थ को स्वप्न, इन्द्रजाल,

माया नारी और प्रतिविम्ब निर्माण के समान देखते हुए समस्त क्लेशमल को दूर करने से निर्मल चित्त वाले होते है। इस कारण उनकी कुशल भावना मनो-विज्ञान से जानी जाना चाहिए। इस प्रकार भगवान बुद्ध का धर्म सूक्ष्म है। इस धर्म की सूक्ष्मता के ही कारण पुण्य की भावना होते हुए भी लोग बुद्ध-धर्म मे प्रवृत्त नही होते। बाह्य उपासना का विधान बौद्धधर्म मे नही है।

ब्राह्मण मन्त्र, जप, दान, होम मङ्गल, प्रायश्चित्त आदि कार्यों से अन्य लोगों से लाभ सत्कार आदि की इच्छा से बाह्य धर्म चाहते हैं। उनका यह बाह्य प्रधान धर्म मोक्षेच्छुकों को निषिद्ध है क्योकि वह संसार के अननुकूल (प्रतिकूल) है। इसी प्रकार नग्नको का धर्म भी चित्त को जड़ की तरह बना देने के कारण जड धर्म कहा गया है।

ब्राह्मणानां यथा धर्मः प्रायेण बाह्य उच्यते।
नग्नकानां तथा धर्मः प्रायेण जड़ उच्यते॥ २६५॥

बाह्यधर्म होने के कारण ही ब्राह्मणो और नग्नकों मे लोगो की श्रद्धा होती है, यह प्रतिपादन करते हुए आचार्य आर्यदेव कहते हैं कि जैसे विद्याध्ययन मात्र से ब्राह्मणो में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। वैसे ही क्लेशादि ग्रहण से नग्नो (जैनो) पर लोग कृपा करने लगते है (२६६)। इन नग्नकों (जैनो) को शरीर, क्लेश और दुःखो का अनुभव धर्म के निमित्त होता है ऐसा कहना भी ठीक नही। क्योकि उनका आचरण दुश्चरित का फल है। जैसे अचेलकों का चरित्र दुःखानुभव पूर्वक नरक दुःखानुभव के समान कर्म का परिणाम होने के कारण धर्म नही है वैसे ही ब्राह्मणो का जन्म भी पूर्वोपार्जित कर्मो का फल है। अतएव वह भी धर्म नही कहला सकता॥ २२॥

यदि कर्म विपाक से चक्षु आदि के समान दुःख और जन्म धर्म नहो हैं तो धम क्या है? आर्यदेव ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि भगवान् बुद्ध ने संक्षेप रूप से अहिंसा को धर्म कहा है और केवल स्वभावशून्यता को ही निर्वाण कहा है। यही दोनो धर्म हैं। किसी प्राणी के अपकार की चिन्ता और अपकार के लिए किये गये शारीरिक और वाचिक कर्म हिसा कहलाती है। उसके विपरीत अहिंसा है। दश कुशल कर्म ही उसके पथ है। थोडा भी परोपकार अहिंसा के अन्तर्गत आ जाता है। तथागतों ने संक्षेपतः धर्म और अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। जो स्वभावशून्यता कही गई है उसे तथागतो ने निर्वाण रूप से वर्णित किया है। अहिंसा से स्वर्ग प्राप्ति होती है और शून्यता से निर्वाण मिलता है। इसलिए 'केवलं तदिहोभयम्' कहा है। तथागत द्वारा प्रतिपादित दोनो धर्म इसी

मे परिशुद्धि (केवलं) को प्राप्त होते है, अन्यत्र नही। इसी मे स्व-पर की स्वर्ग और मोक्ष की कल्याण सिद्धि है।

धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागत:।
शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहोभयम् ॥ २९८ ॥

बौद्धदर्शन की इतनी अधिक उपयोगिता समझते हुए भी बाह्य धर्मावलम्बी इन दोनो धर्मों को क्यो स्वीकार नही करते ? इसका वास्तविक कारण आर्यदेव की दृष्टि मे स्वपक्षप्रेम है। अपने पक्ष के प्रति अनुराग अनादि संसार से चला आया है। वह अपने जन्मस्थान के समान छोड़ा नही जा सकता। इसी कारण से अज्ञानी अपने दर्शन पक्ष के राग को छोड नही पाते। फलतः तथागत धर्म (बौद्धधर्म) में वे प्रवृत्त नही होते। परन्तु पण्डितगण अपनी जन्मभूमि को भी दु:खो का कारण जानकर, उससे आशा छोडकर वैभवशाली अन्य देशो का आश्रय लेते है। उसी प्रकार उन्हे अपने पक्ष को छोडकर गुणवान बौद्धधर्म का ही आश्रय अवश्य लेना चाहिए (२९९)। इसलिए कहा है—

ग्राह्यतोऽन्यतोऽपि युक्तार्थः श्रेयस्कामेन धीमता।
ऊर्ध्वमको नेत्रवतां सर्वसाधारणो ननु ॥ ३०० ॥

अर्थात् कल्याण चाहने वाले बुद्धिमान को उपयुक्त पदार्थ जहाँ कही भी मिले ग्रहण करना चाहिए। जैसे सूर्य नेत्रवान प्राणियो के लिए है और सर्व साधारण के लिए भी ॥ २५ ॥

५. इन्द्रियार्थ-प्रतिषेध

चक्षुःसन्निकर्षत्व—चार महाभूतो और चार उत्पादानभूतो से उत्पन्न होने वाला घट चक्षु द्वारा सम्पूर्णतः दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के प्रत्यक्षीकरण का भी यहाँ निषेध किया गया है। यह वस्तु सुगन्धित है, इस तरह नासिका द्वारा ज्ञातव्य जातिपुष्प, पद्म कमल, चन्दनादिक सभी पदार्थ नासिका इन्द्रिय के विषयभूत है, क्योकि रूपादि देखे विना कोठरी मे बन्द उसकी गन्धमात्र ग्रहण की जा सकती है। इसी प्रकार यह पदार्थ मीठा है, इस तरह के शक्कर, नमक, नीम आदि सभी पदार्थ रसना-इन्द्रिय के विषयभूत है। यह कोमल है, इस तरह के लकड़ी, कम्बल, धूल, पाषाण आदिक सभी पदार्थ स्पर्शनेन्द्रिय के विषय है। वे सभी पदार्थ चारो महाभूत और चार उपादानभूत, कुल मिलाकर आठ द्रव्यो से बनते है, इसलिए एक एक इन्द्रिय द्वारा उनका एक एक विषय ही ग्रहण किया जाता है, सभी एक साथ नही। अतएव जातिपुष्प,

शक्कर, लकडी, कम्बल आदि आत्मा या स्वयं के प्रत्यक्ष है, ऐसा कौन तत्वज्ञानी कहेगा ? (३०२) यदि रूप मात्र के देखने से सम्पूर्ण अदृष्ट घट देखा जा सकता है तो अदृष्ट घट से दृष्ट रूप क्या अदृष्ट नही हो सकता ? आठ द्रव्यो का उपादान स्वरूप होने पर भी घट विषय मे यदि एक द्रव्य रूप देखने से सम्पूर्ण (घट) को देखे जाने की कल्पना की जा सकती है तो एक रूप मे अवस्थित वह रूप अवशिष्ट सात द्रव्यो के द्वारा क्या अदृष्ट नही कहा जा सकता। इसलिये रूप का ही नही, घट का भी प्रत्यक्षत्व नही होता (३०३)। क्योकि उस रूपका पर, अपर और मध्यम अश होता है। अनीरिसत गन्धादि से सम्बन्धित केवल रूप का प्रत्यक्षत्व उसके पर, अपर और मध्यम अश के देखने मात्र से नही कहा जा सकता। क्योकि उन पर, अपर और मध्यम अंशो के भी पर, अपर और मध्यम अंश होगे। फिर उनके भी अन्य अश होंगे, और उन अशो के भी अन्य अंश होगे। इस प्रकार रूप परमाणु के अन्तिम भाग तक रहेगा (३०४)। यदि आप रूप मात्र के देखने से घट का प्रत्यक्षत्व मान बैठेंगे तो अणु का भी उसके पहले, पीछे और दिगश भेद मे तथा पर, अपर और मध्यम अंश भेद मे अंश मानना पड़ेगा। पर अणु के अंश माने नही जाते। यदि पहले, पीछे के अंश भेद से अणु अंशवान माना जाय तो घट के समान उसकी भी परमाणुत्व हानि हो जायगी अर्थात् अणु को फिर अणु नही कहा जा सकेगा। अतएव घटका प्रत्यक्षत्व सम्भव नही है। द्रव्याष्टक के साथ मे निश्चित रूप से रहने वाले चतुर्महाभूत से निर्मुक्त रूप उपलब्ध नही होता। रूपायतन से निर्मुक्त रूप हेतु नही होता। रूपायतन चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण है परन्तु रूपहेतु शरीरेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। इसलिए यदि 'रूप हेतु है' यह किसी स्वरूप से सिद्ध होता है तो रूप भी स्वरूपत: सिद्ध हो जायगा। रूपहेतु का रूपादि सिद्ध होने पर उसका भेद होना भी सभव नही। इसलिए रूपहेतु के अभाव होने पर निर्हेतुक रूप भी सिद्ध नही होता। यदि अभेदरूप मे अवस्थित हाने के कारण रूप हेतु के रूप का हाना माना जाय तो भी संभव नही क्योकि ऐसा मानने पर रूपहेतु और उसका फल दोनो का ग्रहण चक्षु इन्द्रिय द्वारा होना चाहिए। पर यह सभव नही, क्योकि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय और लक्षण भिन्न होते है (३०८)। यदि द्रष्टव्यत्व प्रयोजन निरर्थक है तो यहाँ द्रष्ट पदार्थ को देखकर उसके द्रष्टव्य स्वरूप की कल्पना की जाती है या अद्रष्टव्य स्वरूप की। यदि द्रष्टव्य स्वरूप की कल्पना की जाती है तो उस कल्पना से लाभ क्या ? जिस दर्शन रूप प्रयोजन से वह कल्पना की जाती है उसके बिना भी उसका सद्भाव है ही तब फिर कल्पना का प्रयोजन क्या ? यदि अद्रष्टव्यभूत स्वरूप की कल्पना की जाती है, तो वह भी युक्त नही।

क्योंकि द्रष्टव्यत्व प्रसंग से उत्पन्न होने वाले द्रष्टव्यत्व स्वरूप के साथ इस अद्रष्टव्यत्व स्वरूप का विरोध होता है और यह विरोध होने से पदार्थ का द्रष्टव्यत्व बन नही सकता । अतएव जिस तरह द्रष्टव्य और अद्रष्टव्य घट का सर्वथा द्रष्टव्यत्व हो जाना युक्त नही और जाति की सम्भावना समाप्त हो जाती है, उसी तरह अद्दष्टव्यभूत (असद्रूप) घट की कल्पना करना ठीक नही है (३१०)। रूपादिक अर्थों को तभी प्रत्यक्ष माना जा सकता है जब उनमे इन्द्रियो को जानने की शक्ति हो । परन्तु यह शक्ति उनमे नही है । क्योकि चक्षुरादिक पाँचो इन्द्रियां सामान्यतः भौतिक मानी जाती है । और उनका कार्य विषय भेद से पृथक् है । जैसे चक्षु से रूप ही देखा जा सकता है, शब्द नही सुना जा सकता । कान से भी शब्द सुना जा सकता है, रूप नही देखा जा सकता है, अतएव आर्यदेव ने कहा है उपपत्ति विरुद्ध कार्य होने से चक्षुरादिक इन्द्रियों की स्वरूप कल्पना कैसे की जा सकती है ? भौतिकत्व के समान होने पर भी विषय ग्रहण भेद मानना ठीक नहीं । चक्षुरादिक इन्द्रियो का सद्भाव विषयग्रहण से अनुमानित होता है । इसलिए इन्द्रियो का सद्भाव होने से विषयो का प्रत्यक्षत्व कहना ठीक नही । यदि इस तरह से चक्षुरादिक इन्द्रिया न हो तो इन इन्द्रियो की कर्मविपाक स्वरूप की व्यवस्था कैसे हो ? क्या हम लोगो के द्वारा इन इन्द्रियों का विपाकस्वरूप रोका जा सकता है ?

भौतिकमक्षि कर्णश्च दृश्यतेऽक्ष्णा परेण न ।
नूनं कर्मविपाकं तदचिन्त्यमुक्तवान्मुनि ।। चतु शतक ३११ ।

दर्शन से पहले चक्षुर्विज्ञान नही होता क्योकि चक्षुरिन्द्रिय के दर्शनाधिपति प्रत्यय का अभाव होता है । यदि दर्शन के बाद वह ज्ञान माना जाय तो ज्ञान निरर्थक हो जायगा । यदि ज्ञान के बिना ही चक्षु से पदार्थ का दर्शन होने लगे तो विज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ होगा । ज्ञान और दर्शन दोनो का एक साथ उद्भव होता है, इस तरह की तीसरी कल्पना करना भी ठीक नही, क्योकि इस प्रकार के दर्शन से दर्शन क्रिया निरर्थक हो जायगी । विज्ञान और दर्शन के एक साथ होने पर जिस दर्शन के साथ विज्ञान समान काल मे होता है, उस दर्शन के अधीन वह विज्ञान होता है, ऐसा कहना भी ठीक नही । एक साथ उत्पन्न होने वाले गाय के बायें, दायें सीग एक दूसरे के अधीन माने जायँ, यह सम्भव नहीं । उसी तरह दर्शन के साथ उत्पन्न होने वाला विज्ञान दर्शन के अधीन नही होता । अतएव दर्शन निरर्थक ही है । इस प्रकार जब विज्ञान का होना सम्भव नहीं तो उसके होने से चक्षुरादिक इन्द्रियो का सद्भाव कैसे सम्भव है ? उनका सद्भाव नहीं हो सकता (३१२)। यदि चक्षु प्राप्तकारी (सन्निकर्ष)

होकर विषय को जानना है तो पलक मात्र गिराने के भीतर चन्द्र तारे आदि पदार्थो को नही ग्रहण किया जा सकता । गतिमान् के अर्थ देश का उपग्रहण और समान काल में उत्पन्न होने वाले विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) विषय का ग्रहण ठीक नही । क्योकि वहाँ गति काल की भिन्नता है । पलक मात्र गिराने से समीपवर्ती पदार्थ के समान विदूरवर्ती पदार्थ भी देखे जाने चाहिए, ऐसा मानना अयुक्त है। यदि चक्षु प्राप्तकारी होता तो अत्यन्त अभ्यास करने पर भी आखो मे लगा हुआ काजल दिख जाना चाहिए, पर यह सम्भव नहीं । अतएव चक्षु प्राप्यकारी नही (३१३)। यदि चक्षु जाकर रूप को देखता है तो क्या देखकर उस स्थान तक जाता है या बिना देखकर ? यदि चक्षु रूप को देखकर उस रूप के स्थान पर जाता है तो गये हुए उस चक्षु के गमन से क्या लाभ ? विषय (पदार्थ) को देखने के लिए चक्षु का गमन हुआ था और वह विषय पहले ही पूर्व स्थान से देख लिया गया है तब उस गमन से कोई प्रयोजन नहीं । यदि बिना देखे ही चक्षु गमन करता है तो नियम से द्रष्ट विषय का दर्शन नहीं प्राप्त होता । अन्धा भी बिना देखकर इष्ट स्थान पर जाता है । उसे अद्दष्टव्य पदार्थ का दर्शन निश्चित रूप से नहीं होता (३१४)।

पश्येच्चक्षुश्चिराद्दूरे गतिमद्यदि तद्भवेत् ।
अत्यभ्यासे च दूरं च रूपं व्यक्तं न तच्च किम् ॥ ३१३ ॥

गतेन न गुणः कश्चिद्रूपं दृष्ट्वाक्षि याति चेत् ।
द्रष्टव्यं नियमेनेष्टमिति वा जायते वृथा ॥ ३१४ ॥

जो चक्षु, श्रोत्र (कान) और मन को अप्राप्तविषयी मानते है, उनके प्रति आर्यदेव कहते है कि प्राप्तकारिता मात्र प्रतिषेधपरक होने से आगम का कोई विरोध नहीं । जहाँ कही विधि की प्रधानता होती है, उसका विरोध नही होता । जहाँ कही प्रतिषेध की प्रधानता होती है, वहाँ विरोध नहीं होता । इसलिए यहा पर विधि के असम्भव होने पर प्राप्तकारिता प्रतिषेध मात्र से अप्राप्तविषयपने की व्यवस्था की जाती है । विधिमुख से तो अप्राप्तविषय मे कल्पना करने वाला चक्षु यहीं स्थित होकर सम्पूर्ण जगत को देख ले । जिसकी गति नहीं, उसके लिए दूर से क्या मतलब ? इससे समीपवर्ती पदार्थ भी गमन किए बिना ही द्रष्टव्य है और दूरवर्ती पदार्थ भी । इस प्रकार से दूर होने पर भी कोई विशेषता नहीं । जब गमन किये बिना ही देख लिया जाता है तो समीपवर्ती के समान दूरवर्ती पदार्थ भी देख लेना चाहिए । आवृत (ढके हुए) पदार्थ पर जाने से गमन का प्रतिबन्धक होने के कारण आवृत पदार्थ नहीं देखा जाता, यह ठीक

है। पर जब बिना गये ही पदार्थ देखा जा सकता है तो गमन का प्रतिबन्ध न होनेपर अनावृत के समान आवृत पदार्थ का भी दर्शन हो जाना चाहिए (३१५)। जैसा चम्पक, मल्लिकादि फूलों में सुगन्धि पहले उन्हीं में रहती है, बाद में उनके सम्पर्क से तेलादि में वह सुगन्धि पहुँचती है। जैसे अग्निमें उष्णता स्वतः अवस्थित है, उसके सम्पर्क से बाद में दूसरे में पहुँचती हे। इसी प्रकार यदि चक्षु का देखना ही स्वभाव है तो उसका स्वयं में देखना पहले होना चाहिए। फिर चक्षु का ग्रहण चक्षु से ही क्यों नहीं होता? पदार्थों के स्वभाव का मूलतः स्वयं में रहने से चक्षु का ही ग्रहण हो जाना न्यायसंगत हैं, परन्तु चक्षु अपने आप को नहीं देखता, तब फिर पत्थर आदि के समान दूसरे पदार्थ का भी दर्शन होना इसे सभव नहीं है (३१६)। चक्षु का विज्ञान नहीं होता क्योंकि वह (चक्षु) पदार्थको जानता नहीं। जानता इसलिए नहीं, कि उसका जानना स्वभाव नहीं। क्योंकि चक्षु भौतिक है। उसके जड़ होने से पदार्थ के जानने की संभावना ही नहीं होती। इस प्रकार से चक्षु का ज्ञान नहीं। और न विज्ञान का दर्शन होता है, क्योंकि विज्ञान का काम जानना है न कि देखना। यदि विज्ञान का काम देखना हो तो विज्ञान का सद्भाव रहने से उसका भी रूपदर्शन होना चाहिए। पर होता नहीं है। रूप का न विज्ञान होता है और न दर्शन होता है। विज्ञान इसलिए नहीं होता कि रूप का स्वरूप विज्ञान नहीं है। दर्शन इसलिए नहीं होता कि उसके रूप को देखा नहीं जा सकता। और जब ये परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं तो उसकी सामग्री होने पर भी रूप नहीं देखा जाता। पदार्थ देखने के कारण स्वरूप आंखों के न होने से जिस तरह अंधा व्यक्ति पदार्थ नहीं देख पाता उसी तरह इन्द्रिय रूप और विज्ञान परस्पर में विकल होने से पदार्थ का देखा जाना नहीं बनता। इस प्रकार जब पदार्थ देखा नहीं जाता तो कौन तत्त्व-ज्ञानी यह कहेगा कि पदार्थ देखा जाता है? अर्थात् कोई नहीं (३१७)।

जैसे तत्वज्ञानी रूप नहीं देखते उसी तरह शब्द भी नहीं सुनते। रुपदर्शन के समान शब्दश्रवण भी असम्भव है। यदि शब्द सुना जाता है तो वह कान को (श्रवणदेशको) स्पर्श कर सुना जाता है या बिना स्पर्श किये ही? यदि स्पर्शकर (सम्प्राप्त) सुना जाता है तो वह कान के पास जाकर शब्द करता है या नहीं। यदि शब्द करता है तो वक्ता होने से देवदत्त के समान यह शब्द भी नहीं होता। यदि न बोलते हुए जाता है तो निःशब्द होने के कारण 'यह शब्द है' ऐसा विश्वास किसे होगा। शब्द का जब ग्रहण नहीं होगा तो उसका अस्तित्व भी मानना ठीक नहीं (३१८)।

शब्दसन्निकर्षत्व—यदि श्रोत्रेन्द्रिय के स्थान को प्राप्त होकर शब्द ग्रहण किया जाता तो उसका आदि भाग किसके द्वारा ग्रहण किया जाता। प्राप्तिग्राही होने से शब्द के आदि भाग का ग्रहण नही होता। दूसरी इन्द्रियाँ भी उसे ग्रहण करने मे समर्थ नही है। इस प्रकार किसी के द्वारा भी इसका आदि भाग ग्रहण नही किया जाता। और फिर अग्राह्यमाण होने के कारण 'यह शब्द ही नही होता' ऐसा समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रथम तो शब्द का ग्रहण नही होना चाहिए। आगे यदि शब्द का ग्रहण होता है तो गन्धादि का भी ग्रहण होना चाहिए। परन्तु गन्धादि का ग्रहण होता नही, इसलिए शब्द प्राप्तकारी नही है॥ १९॥

मानस सन्निकर्षत्व—यदि चित्त विषयदेश (पदार्थ स्थान) को जाकर विषय को जानता है, ऐसी कल्पना की जाय तो यह भी उचित नही। यह चित्त विषयदेश को इन्द्रियसहित जाता है या अकेला जाता है ? इन्द्रियसहित तो जाना नही, क्योकि इन्द्रियाँ सदा देह मे ही रहती है। उनके चले जाने पर देह के निरिन्द्रिय हो जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। यदि अकेला जाता है तो इन्द्रियो से वियुक्त होकर चित्त जाकर भी क्या करेगा। इन्द्रियो से वियुक्त हो जाने पर चित्त मे रूपादि दर्शन की सामर्थ नही रह जाती। अन्यथा अन्धो को भी दर्शन का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसके बाद भी कोई किसी प्रकार विषयदेश के गमन से अर्थोपलब्धि की कल्पना करें तो भी अर्थज्ञान का अन्त न होने से पूर्व दोष दूर नही किया जा सकता। ऐसा होने पर यह जीव क्या सदा अमनस्क नही रह सकता ? हर समय अचिन्तक ही आत्मा प्राप्त होती है। अचिन्तक के आत्मत्व होना संभव है, ऐसा नही कहा जा सकता। अन्यथा स्तम्भ आदि के भी आत्मा होने का प्रसङ्ग आ जायगा। इस तरह से विचारवानो के इन्द्रियविषय और विज्ञानो का सद् रूप होना असम्भव है, अतएव उनकी स्वरूप सिद्धि होती तो स्पष्टतः यथास्थित स्वरूप से उसकी प्राप्ति होती। पर असिद्ध है। यदि इनकी स्वरूप सिद्धि प्राप्ति उसकी होती नही। इसलिए स्वरूप-शून्यता की सिद्धि हो जाती है॥३२१॥

यहां चक्षु रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान को उत्पन्न कर वह इन्द्रिय पदार्थो के साथ निरुद्ध हो जाता है। उसके निरुद्ध हो जाने पर जो पहले देखा गया पदार्थ है, वही बाद मे मन के द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। असन्निहित पदार्थ का ग्रहण मरीचिका के समान होता है। यद्यपि मरीचिका में थोडा-सा भी जल नही होता तो भी हेतु-प्रत्यय होने पर जलाकार संज्ञा प्रवर्तित हो ही जाती है। इसी प्रकार अविद्यमान स्वरूप के हान

पर भी पहले ग्रहण किये गये पदार्थ मे मरीचिका के समान जो विज्ञान उत्पन्न होता है वही सभी पदार्थो की व्यवस्था में कारणभूत हो जाता है। सभी पदार्थों की व्यवस्था मे कारण भूत होने से ही उसे संज्ञास्कन्ध कहा गया है। क्योकि संज्ञाविशेष का प्रयोग इसी तरह से किया जाता है। इसी संज्ञा से सभी पदार्थो की व्यवस्था जाननी चाहिए। स्वभाव का पदार्थस्वरूप निबन्धन सर्वथा युक्तियुक्त नही है ।। ३२२ ।।

कायेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने के कारण महाभूत श्रवण बाह्य है। उनसे चक्षु से उत्पन्न होने वाला रूप और श्रवण से उत्पन्न होने वाला शब्द उत्पन्न होता है। यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। इस प्रकार घ्राणादि के विषय में और चक्षु आदि के विषय मे भी समझना चाहिए। अथवा इन्द्रियो की यह अर्थगति आश्चर्य उत्पन्न करने वाली नही है। यदि केवल इन्द्रियो की ही अर्थगति मे वह वैचित्र्य होता तो यह आश्चर्यास्पद है। परन्तु जब यथोक्त न्याय से संसार के विद्वानो को इन्द्रजाल के समान विस्मय उत्पन्न करने वाला हो तब यह अश्चर्य नही, क्योकि किसी असम्भव पदार्थ के उत्पन्न होने पर आश्चर्य होता है। सभी जगह उसका समान रूप नही होता। अग्नि की उष्णता अश्चर्य उत्पन्न करने के लिए नही होती ।। ३२४ ।।

अतएव अनिश्चित स्वरूप होने के कारण जैसा प्रत्यय (कारण) हुआ वैसा-वैसा विपरिवर्तमान होने के कारण विद्वानों को अलातचक्र, निर्वाण, स्वप्न, माया, जल, चन्द्र, धूमिका, प्रतिध्वनि, मरीचिका और मेघ के समान संसार को निःस्वभाव समझना चाहिए।

अलातचक्रनिवर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः।
धूमिकान्तःप्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रैः समो भवः ।। ३२५ ।।

अन्तग्राह प्रतिषेध—प्रतीत्यसमुत्पन्न और परस्पराश्रित भाव निःस्वभाव है। यदि किसी पदार्थ के उत्पन्न होने पर कही किसी प्रकार की पराधीनता नही होती तो इस अपराधीन—स्वतन्त्र पदार्थ के स्वय ही व्यवस्थित होने के कारण अस्तित्वकी कल्पना स्वभावतः युक्तिसंगत है। परन्तु ऐसा संभव नही कि जिसका हेतु-प्रत्ययोसे जन्म हो और उसकी पराधीनता न हो। यदि ऐसा नही मानते तो फिर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई पदार्थ अहेतुक भी उत्पन्न होता है। और इस प्रकार निर्हेतुक के प्रसंग से किसी पदार्थ का कोई स्वरूप नहीं। अतएव यह भी मानना होगा कि किसी का कोई स्वभाव नही ।। ३२६ ।।

घट भी स्वभावतः सिद्ध नही होता। यदि घट नामका कोई पदार्थ होता तो वह नेत्र द्वारा ग्राह्य होने मे रूप से अभिन्न माना जाता परन्तु रूप और घट दोनो मे एकता नही। रूप और घट दोनो में एकता होनी तो जहाँ रूप होता वही घट होता। इस तरह सर्वत्र रूप मे घट हो जाता। पाकज गुणकी उत्पत्ति होने पर रूपका विनाश होनेपर घटका विनाश हो जाता। परन्तु ऐसा होता नही। इसलिए रूप ही घट है ऐसी एकता नहीं कही जा सकती।

इस दोष को दूर करने के लिए यदि यह माना जाय कि घट रूप से पृथक् होकर रूपवान् है। जैसे अर्थान्तरभूत गायों से देवदत्त गायो वाला माना जाता है तो यह भी अयुक्त है क्योकि रूपवान् घट रूप से पृथक् नही है। यदि घट रूप से पृथक् होता तो वह रूप के बिना ग्रहण किया जाता। गायो से पृथक् होकर देवदत्त ग्रहण नही किया जाता। इसी प्रकार घट भी रूप बिना ग्रहण नही किया जाता। इसलिए रूप के बिना घट नही है। जब रूप के बिना घट नही है तो अविद्यमान होने पर रूप सहित कैसे ग्रहण किया जाता है ? अविद्यमान बन्ध्यापुत्र गोमान नही कहा जा सकता। इस प्रकार घट रूपवान् है ऐसा भी कहना युक्त नही, अन्यत्व के असम्भव होने से ही रूप और घट दोनो की आधार आधेयकी कल्पना की भी सिद्धि नही होती। इसलिए कहा है—घट मे रूप नही और रूप म घट नही।

रूप और घट मे अन्यत्व होने पर घट मे रूप है, ऐसा कथन कुण्ड मे दधि के समान होगा। रूपमे भी घट है ऐसा कथन कट मे देवदत्त के समान होगा। परन्तु यह संभव नही। अतएव घट स्वभावतः नही है। जिसका स्वभाव नही होता वह अलातचक्र के समान स्वभावसे शून्य होता है। जिस प्रकार घट स्वभावतः नही है उसी प्रकार समस्त पदार्थ भी स्वभावतः शून्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

रूपमेव घटो नैक्यं घटो नान्योऽस्ति रूपवान्।
न विद्यते घटे रूपं न रूपे विद्यते घटः ॥ ३२७ ॥

भाव घट मे सत्ता के योग से द्रव्य सत् कहना भी ठीक नही क्योकि घटादि द्रव्यो मे अनुप्रवृत्तिलक्षण होने से भाव समामान्य है और व्यवृत्तिलक्षण होने से घट विशेष है। यदि उन दोनो की विलक्षणता से भाव और घट मे देखकर भाव से घट पृथक् माना जाता है तो इसी प्रकार विलक्षणता से भाव भी घट से पृथक् क्यों नही हो जायगा। और फिर अन्यबुद्धिध्वनि प्रवृत्तिनिमित्तक अन्यत्व और अनुप्रवृत्ति लक्षण की कल्पना नही होनी चाहिए, क्याकि विलक्षणता से ही अन्य बुद्धिध्वनि प्रवृत्ति की सिद्धि हो जाती है।

यदि दूसरे अन्यत्वकी कल्पना की जाय तो फिर भाव और घटमे विलक्षणता को अपेक्षा से अन्यत्व नही होगा। इसीलिए कहा है—दोनों मे विलक्षणता देखकर भाव से घट पृथक् माना जाना चाहिए। परन्तु यह ठीक नही। जिस प्रकार भाव अनुप्रवृत्तिलक्षणक होनेसे घट से पृथक् है उसी प्रकार से अन्यत्व भी अनुप्रवृत्तिलक्षणक होने से घट से पृथक है। उस अन्यत्व की अन्यबुद्धिध्वनि की प्रवृत्ति का क रण दूसरा है नही। यदि होता तो अन्यत्वो मे अपर्यवसान दोष हो जाता। तभी अन्यत्व के बिना अन्यबुद्धि अन्यत्र मे होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी सम्भावना कर लो जानी चाहिए। अतएव अन्यत्व की अकिञ्चित्कर कल्पना व्यर्थ है। अन्यत्व के न होने पर कही से किसी का भी अन्यत्व नही होता। और भी ऐसा विचार किया जाता है कि किस प्रकार की सत्ता का अन्यत्व के साथ योग हो। वह योग अन्यभूता का है अथवा अनन्यभूता का। यदि अन्यभूता का है तो अन्यत्व के साथ योग (सम्बन्ध) व्यर्थ हुआ। और यदि अनन्यभूता का है तो विरुद्ध अन्यत्व के योगसे योग प्राप्त नही होता। अन्यत्वके अभाव से घट से भाव पृथक् है यह युक्तियुक्त नही। फिर लोक मे विपर्यास को प्रमाणित कर घटत्व रूप ही सद्बुद्धिध्वनि प्रवृत्तिनिमित्तक होने से भाव है ऐसी पदार्थ के भेद से यदि एक घट नही होता तो घट भी एक नही होता। जैसे एकत्व रूप एक संख्या घट नही है वैसे ही द्रव्यत्व रूप से अनेक संख्या के पृथक्भूत होने से घट भी एक नही होता, क्योंकि वह द्वित्वमय रहता है। और इस घट के एक रूप की एक सख्या परिकल्पित होती है अथवा अनेक रूप की? यदि एक रूप की एक सख्या परिकल्पित होती है तो एकत्व कल्पना व्यर्थ ही है। और यदि अनेक रूप की एक संख्या परिकल्पित होती है तो भी विरुद्ध होने से अयुक्त ही है। अतएव लोक मे घट स्वरूप की ही अविद्यमानता रहते हुए निहितार्थान्तर की एकत्व कल्पना जाननी चाहिए। फिर गुण द्रव्याश्रयी है ऐसा मानकर एकत्व के योग से घट हो एक होता है न कि एकत्व घट होता है।

पदार्थ को जो लम्बाई और विस्तार होगा, रूप भी उसी लम्बाई और विस्तार वाला होगा। ऐसा प्रतिवादी यदि स्वीकार करते है तो पदार्थ के छोटे बड़े आकार के अनुसार रूप भी छोटा बड़ा होना चाहिए। तब फिर द्रव्य के समान रूप को भी छोटा बड़ा स्वीकार करने मे क्या बाधा है? रूप और गुण दोनो एक है। रूप का अणुत्व और महत्व दोनों गुण मे ही है। और गुण मे गुण का सन्निवेश हो नही सकता ऐसा हमारा सिद्धान्त है। यद्यपि द्रव्य और रूप का परिमाण एक होगा फिर भी सिद्धान्तविरोध के भय से रूप का अणुत्व

महत्व स्वीकार नही किया जा सकता। सिद्धि नही होती। व्यावृत्ति मात्रसे वस्तुस्वरूप का निर्धारण करना संभव नही है। गुण मात्र रहने से घट नही कहा जाता। घट तो तभी है जब उसमे गुण के साथ छोटे बडे रूपादिक भी हो। सत्ता भी द्रव्य गुण कर्म मे सामान्य होने से घट नही होता। संख्या अणु, महत् रूपादिको से यह पृथक् है और यह इसका स्वभाव है ऐसी व्यवस्था करना संभव नही। इस प्रकार जहाँ प्रतिपक्ष में लक्षण से भी लक्ष्य रूप घट स्वरूप की सिद्धि नही होती वहाँ पक्षान्तर मे संख्यादि से पृथक् सिद्ध स्वरूपसे घट भाव का अस्तित्व सिद्ध नही होता। अतएव घट की स्वभावशून्यता सिद्ध हो जाती है। शरीरेन्द्रिय को ग्राह्यता स्पर्श है। जिसे स्पर्श होगा वह स्पर्शवान् है। स्प्रष्टव्य ही कायेन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। इसलिए स्पर्शवान् है। उस स्पर्शवान् से अस्पर्शवान् (स्पर्शहीन) रूप, रस, गन्धो का संयोग सम्भव नही। यह वैसे ही संभव नही जैसे घट का सम्बन्ध आकाश से नही हो सकता। जब रूपादिको का सम्बन्ध नही हो सकता तो परस्पर स्पर्श करने वाले रूपादिको से विशेष समुदाय रूप जो घट कहा है वह युक्तिसंगत नही (३३३)।

रूपादिक समुदाय रूप घट का प्रत्येक रूपादिक अवयवभूत होने के कारण घट संज्ञक नही होते। घट अवयवी है और रूपादिक अवयव है। अवयव होने के कारण रूप को घट नही कहा जा सकता। और जैसा रूप है वैसे ही गन्धादिक है।

रूप चूँकि अवयव है इसलिये उसका आधारभूत कोई अवयवी भी होगा क्योकि अवयवी के बिना अवयव नही हो सकता। इसके उत्तर मे आचार्य कहते है कि घटत्व के अभाव मे रूपादिको का कहाँ से कौन अवयवी होगा। रूपादि के बिना अवयवी जाना ही नहीं जा सकता। जिसका स्वरूप अज्ञेय है उसे असत् होने के कारण अवयवी नही कह सकते। जब अवयवी नही तब अवयवत्व होने पर भी रूप के होने की सम्भावना नही। इस प्रकार अवयव और अवयवी दोनो नही हैं।

रूपादिको का समुदाय रूप घट नही है। क्योकि समस्त रूप रूपस्कन्ध का समूह मात्र है। अतएव रूप, गन्धादिक भी रूप कहे जाते है। वे रूप घट के समान पटादिको मे भी हैं। घटादिका भेद होने पर भी वे स्वलक्षण मे व्यभिचरित नही होते। क्योकि सभी जगह समान लक्षण है। तब एक रूप का जैसे घटत्व रूप मे अवस्थान है वैसे ही पटादि सम्बन्धित अन्य रूपका भी घटत्व के साथ सम्बन्ध क्यो नही होगा? घट मे अवस्थित रूपादि के समान लक्षण के अभेद से उस रूप का भी घटत्व के रूप मे अवस्थान युक्तिसगत ही है।

यदि कपालो के कारण घट की सिद्धि होती है तो इन कपालो की सिद्धि किस कारण से होगी। वे स्वभावतः सिद्ध तो कहे नही जा सकते अन्यथा निर्हेतुकत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। यदि उनकी सिद्धि मे अन्य कोई कारण मानते है तो कपालो की स्वरूपतः सिद्धि नही हो सकती। क्योकि उनका भी अन्य शर्करिका (धूलि आदि) आदि के कारण अस्तित्व दिखाई देता है। इस प्रकार जिन कपालो की सिद्धि स्वतः नही है वे और दूसरे की सिद्धि मे कैसे सहायक हो सकते है। अतएव घट अस्तित्व विहीन है। यह जो घट प्रतिषेधक विधि है यही सभी कार्यों की असिद्धि (अस्तित्व विहीनता) को सिद्ध करने मे उपयोगी है।

घटः कारणतः सिद्धः सिद्धं कारणमन्यतः।
सिद्धिर्यस्य स्वतो नास्ति तदन्यज्जनयेत्कथम् ॥ ३३८ ॥

समुदित रूपादिक समुदाय रूपमे अवस्थित होने पर भी अपने-अपने स्वरुपका परित्याग नही करते। तब जिस प्रकार रूप की समुदायावस्था मे स्वरूप का परित्याग न होने से गन्ध की उत्पत्ति नही होती उसी प्रकार अनेकाश्रित समूह का एकत्व भी सिद्ध नही होता। क्योकि वह समुदाय रूपादिको से पृथक् नही है और वे रूपादिक परस्पर मे ही विभक्त होत रहते है। रूपादिकोसे अव्यतिरिक्त समुदाय घट के समान एक कैसे हो सकता है। जैसे लक्षणो से अपृथक् होने के कारण घट की एकता नही होती ऐसा कहा है। वैसे ही लक्षणो से अपृथक् रहने के कारण समूह की एकता सिद्ध नही होती। इस प्रकार घट के समान रूप के समूह की एकता सिद्ध नही (३३९)।

जैसे महाभूतो मे एकत्व नही होता क्योंकि उनके अतिरिक्त दूसरो का भी सद्भाव रहता है। इसी प्रकार भूतो से उत्पन्न होने वाले का भी अस्तित्व नही क्योकि भूतो के बिना अहेतुकत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। चित्त के बिना चित्त से उत्पन्न होने वाले धर्म उत्पन्न नही हाते और न चित्त से उत्पन्न होने वाले धर्मो के बिना चित्त होता है। वैसे ही जात्यादि लक्षणो के बिना रूपादिक लक्ष्य नही होता। और न लक्ष्य के बिना निराश्रय लक्षण होता है। इस प्रकार जब किसी भी एक पदार्थ की ही सिद्धि नही होती तब समुदित पदार्थो की सिद्धि कहाँ सभव है ? (३४४)

एकत्व, अन्यत्व, उभय, नोभय इन एकत्वादि पक्षो मे सत्, असत् आदि उपलक्षित दूषण नियोजनीय है। सत्कार्यवादी का पक्ष है कि कार्य और कारण दोनो मे एकत्व है। उसके दर्शन मे अपने कारण से व्यवस्थित सत्कार्य विपरि-

णामी हो जाता है। क्योकि असत्कार्य का किया जाना सम्भव नही। यदि कार्य असत् रूप से उत्पन्न होता तो सभी पदार्थों से सभी पदार्थ उत्पन्न हो जाते। परन्तु ऐसा होता नही। दूध आदि से निश्चित (प्रतिनियत) दधि आदि की ही उपलब्धि होती है। वादी के पक्ष मे कार्यकारण मे एकत्व मानने से सत् ही कार्य उत्पन्न होता है। यह एकत्वपक्ष है। उस एकत्वपक्ष मे सत्कार्यवाद से नित्य दूषण आते है। जैसे कहा है—स्तम्भादीनामलङ्कारो गृहस्यार्थे निरर्थकः। जिसे सत्कार्यवाद ही स्वीकार है उसके घर के निमित्त स्तम्भादिको का अलंकार निरर्थक हो जाता है।

जिसके पूर्व उत्पत्ति की जाती है उसका अस्तित्व है ऐसा कहना युक्ति संगत नही। सत् का यदि जन्म होता तो उत्पन्न हुए का भी जन्म होता। धर्म (पदार्थ) यदि प्रवृत्तक है भो तो भी जप, तप और नियम व्यर्थ हो जाते हैं। अतएव कोई भी कार्य सत्कार्य से उत्पन्न नही होता। इस प्रकार विद्वानो को सत्कार्यवाद मे कथित दूषण एकत्व पक्ष मे प्रयुक्त करना चाहिए।

असत्कार्यवादी अन्यत्ववादी है जिनके मतानुसार कार्य और कारण मे अन्यत्व है। वे मानत हैं कि सत् से उत्पत्ति निरर्थक होती है और असत् ही कार्य उत्पन्न होता है। उनके अन्यत्व पक्ष मे भी पूर्वोक्त असत्कार्यवाद मे उपलक्षित दूषण आ जाते है।

जो कार्य—करण मे एकत्व और अन्यत्व दोनो की कल्पना करतें है वे सदसत्कार्यवादी है। वे देवदत्तका आत्मत्व व्यवस्थित है और अव्यवस्थित है ऐसा मानते है। तथा मञ्जरी, केयूर आदियो का सुवर्णात्मत्व व्यवस्थित है और अव्यवस्थित है ऐसा प्रतिपादन करते है। उनके सदसत्कार्यवाद के खण्डन मे एकत्व और अन्यत्व पक्ष मे कथित दूषण उपस्थित किये जा सकते है।

जिनके दर्शन मे घटादिको के आभावसे अपने कारणके निमित्त अन्यत्व और एकत्वादि सद्हेतुक हैं उनका सद्वाद, असद्वाद के निराकरण द्वारा सत् भी नही होता व असत् भी नही होता। दोनो के न होने पर नोभय (सदसद्वादर) नही होता। क्योकि जब सद्वाद और असद्वाद दोनो की सभावना नही तब किसके निषेघ से सदसद्वाद होगा। इस प्रकार क्रमश. सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद और सदसत्कार्यवाद तथा नोभय (न सत्कार्यवाद न असत्कार्यवाद) यह क्रम है। इसे विद्वद्गण एत्वादियो मे नित्य प्रयोग करें।

सदसत् सदसच्चेति नोभयं चेति चक्रमः।
एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरेकत्वादिषु नित्यशः ॥ ३४६ ॥

उनमे सत् का तात्पर्य आत्मा है और असत् का तात्पर्य अनात्मा है। सत् और सत् के अभाव से असत् है। इस प्रकार आत्मा भी है और आत्मा के अभाव से अनात्मा भी है। न सत् है और न असत् है। इसका तात्पर्य है—न आत्मा है न अनात्मा है। और नोभय। अथवा एकत्व, अनेकत्व, उभय और अनुभय।

उनमें पट और शुक्ल मे एकत्व है ऐसा जिनका मत है वह सत् है। यह क्रम विषय से और काल के लक्षण मे प्रयोज्य है। विषय से इस प्रकार है—यदि पट और शुक्ल मे एकत्व है तो जहाँ जहाँ शुक्ल है वहाँ वहाँ पट होना चाहिए और जहाँ जहाँ पट है वहां वहां शुक्ल होना चाहिए। परन्तु जहाँ जहाँ शुक्ल है वहाँ वहाँ पट नही है और जहाँ जहाँ पट नही है वहाँ वहाँ शुक्ल है। तब इस स्थिति मे पट और शुक्ल मे अपेक्षित एकत्व नही मिल सकता। क्योंकि विषय का भेद है।

काल से क्रम इस प्रकार है। काल तीन प्रकार का है--अतीत, अनागत और वर्तमान। अतीत अवस्था मे ही पहले उत्पन्न हुआ शुक्ल देखा गया। यदि पट और शुक्ल दोनों मे एकत्व है तो यदि शुक्ल पूर्वजात है तब पट भी पूर्वजात होना चाहिए। यदि पट पश्चात् जात है तो शुक्ल भी पश्चाज्जात (पीछे उत्पन्न हुआ) होना चाहिये। यदि पूर्वजात शुक्ल मे वर्तमान पट बाद मे उत्पन्न होता है तो जो पूर्व जात है और जो पश्चाज्जात है उन दानो मे एकत्व नही होगा क्योकि उनमे उत्पत्ति क्रम का भेद है। यदि पट और शुक्ल मे एकत्व है तो शुक्ल शुक्ल मे पट विलीन हो जाता और पट मे भी शुक्ल विलीन हो जाता। जब शुक्ल शुक्ल मे विलीन होता है पट नही और पट मे भी पट ही विलीन होता है, शुक्ल नही। तब पट और शुक्ल मे एकत्व नही हो सकता। विलय और विलयाभाव मे भेद होता है।

यदि शुक्ल के योग से पट शुक्ल है ऐसा कहा जाय तो इसके उत्तर मे आचार्य का यह कहना है कि यदि शुक्ल के योग से पट शुक्ल होता है तो यह पट शुक्ल के योग से शुक्ल लक्षण प्राप्त करता है अथवा नही। यदि शुक्ल लक्षण प्राप्त करता है तो पट शुक्ल ही होता और पट का पटत्व नष्ट हो जाता। यदि शुक्ल स्वरूप प्राप्त नही होता तो योग होने पर भी पट शुक्ल नही होता। अतएव शुक्ल योग से पट शुक्ल है ऐसी मान्यता निर्दोष नही। पट जैसे शुक्ल नही होता वैसे ही पट के जो नील, पीत, रक्त, रक्त पीत, कपिल, कपोत, कृष्ण आदि वर्ण और दीर्घ, ह्रस्व, कोमल, कठिन इत्यादि विशेष है उनसे भी पट अन्य ही

है। इस प्रकार सभी का अभाव हो जायगा। और सभी का अभाव हो जाने पर पट का अस्तित्व ही नही रहेगा। जैसे पट नही होगा वैसे ही समस्त पदार्थ भी नही होगे। क्योकि गुण विशेष उनसे भिन्न ही है।

जिसका पक्ष नोभय है उसका भी प्रतिषेध सक्षेपत: कहा जाता है। यदि पट और शुक्ल मे न एकत्व है और न अन्यत्व है, इस प्रकार उभय लक्षणो का अभाव है तो शुक्ल भी शुक्ल ही नही होगा और अशुक्ल भी नही होगा। पट भी पट ही नही होगा, अपट (पटाभाव) भी नही होगा। अतएव शुक्ल मे जब दोनो लक्षण अप्राप्त हैं तब शुक्ल ही उसका नाम क्यो है, कृष्ण क्यो नही ? बात यह है कि चूकि उसका नाम शुक्ल है, कृष्ण नही, इसलिए शुक्ल ही है। उभय लक्षणाभाव वाले उस पटका 'पट' यह नाम क्यो है पट क्यो नही ? चूकि उस पट का 'पट' यह नाम है, घट नही, इसलिए पट ही है। इस प्रकार शुक्ल ही और पट ही सिद्ध होता है। अवश्य उनमे एकत्व और अन्यत्व होना चाहिए। एकत्व होने पर फिर से भी एकत्व प्रतिषेध का क्रम ही कथनीय है। परन्तु अन्यत्व होने पर अन्यत्व प्रतिषेध का क्रम कथनीय है। इस प्रकार सभी पदार्थों का प्रतिषेध आर्यदेव ने प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य नि:स्वभाव माना है और उसे स्वप्न सदृश शून्यतात्मक तथा अनात्मक कहा है।

प्रतीत्य सम्भवो यस्य स स्वतन्त्रो न जायत।
न स्वतन्त्रमिद सर्वं स्वय तेन न विद्यते ॥ ३४८ ॥

सभी संस्कृत पदार्थ प्रतीत्य समुत्पन्न होते है। इस प्रकार जिस पदार्थ का समुत्पाद कारण पूर्वक होता है वह स्वतन्त्र नही क्योंकि उसकी उत्पत्ति हेतु और प्रत्ययो से होती है। इसलिए जिस पदार्थ का अभिगति होता है वह स्वभावत: विद्यमान नही। अतएव प्रतीत्य समुत्पन्न पदार्थ का स्वरूप स्वतन्त्र न होने से पदार्थ शून्यतात्मक हो जाता है। परन्तु इसका तात्पर्य सभी पदार्थो का अभाव नही है। इसलिए प्रतीत्य समुत्पन्न वस्तु माया के समान है। नि:स्वभाव होने से भाव दर्शन विपरीत हो जाता है। इसलिए भाव स्वभाव त्ववादियो के मत मे प्रतीत्यसमुत्पादाभाव और शाश्वतोच्छेद दृष्टि ये दो दोष उपस्थित हो जाते है (३४९–५०)।

यदि संस्कृत का लक्षण अतिरिक्त होता तो विद्यमान सस्कृत पदार्थ का भी अस्तित्व न होता क्योकि यह उत्पाद यदि सस्कृत पदार्थ को उत्पन्न करता है तो वह विद्यमान संस्कृत पदार्थ को उत्पन्न करता है या अविद्यमान संस्कृत

पदार्थ को ? जिसका पक्ष असत्कार्य वाद है उसका बीजा वस्था मे अंकुर के न होने से हेतु-प्रत्यय सामग्री द्वारा बीज क्षण मे ही अंकुर उत्पन्न हो जाता। इसलिए उस वादी का "असदन्ते जायते चेद्" यह पक्ष है। परन्तु असत् पदार्थ की उत्पत्ति नही देखी जाती। अन्यथा खर-विषाण आदि की भी उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इसलिए "तेना सञ्जायते कुतः" कहा है।

असत्व कारण है। असत्व से असत् पदार्थ की उत्पत्ति नही होती। इस दोष के भय से सत्कार्यवाद के अनुसार सत् ही उत्पन्न माना जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर प्रश्न उठता है। यदि सत् ही उत्पन्न होता तो वह कहाँ से उत्पन्न होता ?

यदि उत्पत्ति के अत्यन्त पूर्व बीजावस्था म हीं अङ्कुर की उत्पत्ति की कल्पना की जाती तो उत्पत्ति नही होती। क्योकि सत् का सद्भाव है ही। सत् की उत्पत्ति की परिकल्पना करने पर उत्पत्ति की अनवस्था का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। अतएव सत् की उत्पत्ति नही होती (३५१)।

चूंकि उत्पन्न हुए अंकुर से बीज रूप हेतु नष्ट हो जाता है। इसलिए असत् रूप से विद्यमान अंकुर बीज से उत्पन्न होता है ऐसी भी मान्यता युक्ति सगत नही। जैसे यव, गोधूम आदियो मे अविद्यमान धान्याङ्कुर विकार से उत्पन्न नही होते उसी प्रकार अविद्यमान विकार से भी धान्याकुर उत्पन्न नही होते। जैसे तेल रूप मे परिणामन होने पर तिल नष्ट हो जाता है वैसे ही अंकुर के उत्पन्न होने पर उसका बीज नष्ट हो जाता है। अतएव असत् पदार्थ उत्पन्न नही होता। तथा सिद्ध (उत्पन्न) अंकुर पुनः सिद्ध (उत्पन्न) नही होता। इस प्रकार सत् का भी उत्पाद नही होता (३५२)।

जब यह अंकुर आत्म भाव को प्राप्त हो जाता है तब इसका रूप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार इसको जाति (जन्म) नही होती। जब इसका रूप सिद्ध नही होता तब भी इसका जन्म युक्ति सगत नही। असिद्ध रूप के असद्भाव आश्रित जन्म की सम्भावना नही रहती। इसलिए जन्म और किसी प्रकार भी संभव नही होता। कुछ सिद्ध होता है परन्तु कुछ सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार दोनो पक्षो मे उक्त दोष उपथित होने से अपनी और दूसरे की उत्पत्ति नही होती। इस प्रकार जब तीनो कालो मे भी जन्म सम्भव नही दिखाई देता तो प्रकारान्तर यह कथ्य है कि जन्म कभी भी नही होता। जहाँ इसका उत्पाद होता है वह काल नही है।

जानिस्तदा न भवति न जातिरन्यदापि च ।
तदान्यदा न चेज्जातिः कदा जाति र्भविस्यति ।। ३५३ ।।

जिस प्रकार दुग्ध स्वभाव से अवस्थित दुग्ध की उत्पत्ति नही होती । उसी प्रकार दुग्ध से अन्य दधि पदार्थ की भी उत्पत्ति नही होती । दधि भूत दुग्ध मे दुग्ध दधि है ऐसा नही माना जा सकता । जब दधि होगा तो उस समय वह दुग्ध नही होगा । और जब वह दुग्ध होगा तब वह दधि नही होगा । इस प्रकार दुग्ध दधि हो जाता है ऐसी मान्यता युक्ति संगत नही ।। ३५४ ।।

उत्पत्ति के पूर्व संस्कृत पदार्थ उत्पन्न नही होता । यदि यह माना जाय कि उत्पत्ति काल में उसने जन्म ग्रहण किया, स्थिति काल मे ठहरा और भंगकाल मे उसका भङ्ग हो गया तो भी युक्ति संगत नही । क्योकि यहाँ उत्पत्तिकाल मे स्थिति और भंग दोनो का अभाव होने से स्थिति और भग से रहित संस्कृत का अभाव हो जाता है और इसलिए उत्पत्ति नही होती । तथा स्थिति काल मे और भंग काल मे दानो का अभाव रहने से एक एक की प्रवृत्ति नही होता । उस प्रवृत्ति के न होने से संस्कृत नही होता ।। ३५५ ।।

घटका स्वतः सिद्ध स्वरूप कपाल की अपेक्षा से नही है । कपाल का भी स्वतः सिद्ध स्वरूप शर्करा (धूलि, रेत) की अपेक्षा से नही है । अतएव इस प्रकार अन्य पदार्थ के अभाव होने पर कपाल मे घटका स्वभाव (घटत्व) नही है । उसी प्रकार कपाल स्वभाव के होने पर उन कपालो का घटकी अपेक्षा से अन्यत्व भी नही होता । इस प्रकार चूकि स्वभाव के बिना किसी का भी अन्यत्व नही होना, इसलिए दोनो से उत्पत्ति नही होतो । और स्वरूप के असिद्ध होनेपर दूसरे से भी उत्पत्ति नही होती । इस प्रकार उत्पत्ति नही होती ।।३५६।।

और भी । यह उत्पाद उत्पत्ति के पूर्व होता है या पश्चात् होता है अथवा युगपत (एक साथ) होता है । यदि पूर्व होता है तो आश्रय का अभाव होने से मान्य नही है । यदि पश्चात् होता है तो अनुत्पन्न का असत्व होने से और उत्पत्ति की व्यर्थता होने से वह स्वीकार्य नही । यदि युगपत् पक्ष को स्वीकार किया जाय तो वह भी सभव नही क्योकि दानो के उपकार की अपेक्षा नही रहेगी । अतएव चूकि उत्पत्ति और उत्पाद का क्रम निर्धारण करना संभव नही है इसलिए घटकी और जातिकी उत्पत्ति एक साथ नही हो सकती । जब सद्भाव ही नही है तो घट उत्पन्न हुआ यह कहना भी युक्तिसंगत नही ।।३५७।।

घट का जीर्ण स्वरूप उपलब्ध होने से घट का उत्पाद होता है यह कहना भी उपयुक्त नही । जीर्ण की जो जीर्णता है वह यदि लोक मे वस्तुके पूर्व उत्पन्न

हुई मानी जाय तो घटके पूर्व उत्पन्न हुई अवस्था का जीर्णत्व युक्ति युक्त नही। क्योंकि उस समय उसकी संज्ञा नूतन होगी अर्थात् घडा उस समय नया होगा। पश्चात् उत्पन्न हुई अविकल अवस्था मे बाद में उत्पन्न होने के कारण, नूतनता रहती है। फिर जीर्णता कहाँ होगी? यदि पूर्व मे उत्पन्न हुई वह जीर्णता इस समय रहती है ऐसा कहा जाय तो प्रश्न उठता है कि वह जीर्णता वही है अथवा अन्य है। यदि वह वही है। तो नवीन अवस्था का विनाश न होने से वह जीर्ण नही है। यदि वह जीर्णता अन्य है तो वह भी उसी के समान उत्पन्न हुई है। इस प्रकार वह नूतन ही है, जीर्ण नही। अतएव ऐसा होने पर जीर्णता के अभाव से उत्पाद नही देखा जा सकता॥ ३५८॥

उत्पाद त्रिकाल मे भी युक्ति संगत नही माना जा सकता। हेतु और फल का युगपत् सम्बन्ध न होने पर भी हेतुफल की अनुपपत्ति होती है। निरात्मक होने के कारण अनागत का सद्भाव नही। अतीत से भी इसकी उत्पत्ति नही होती क्योकि अतीतका भी सद्भाव नही रहता। इस प्रकार जब तीनो कालो मे उत्पाद नही होता तो स्वरूपतः उत्पाद नही है यह सिद्ध हुआ॥ ३५९॥

अतएव निश्चय ही पदार्थ निःस्वभाव होना चाहिए। पदार्थ तो संक्लेशका कारण भूत कृतक रूप प्रतीत्य समुत्पन्न है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार माया द्वारा निर्मित हाथी, अश्व आदि है। अज्ञानी उसकी कल्पना स्वभावमय करते हैं। परन्तु आर्य (विद्वान) पदार्थ को माया मरीचि के समान निःस्वभाव ही जानते है। पारस्परिक विरोध होने से उत्पाद, स्थिति और भग की उत्पत्ति न युगपत् होती है और न क्रमशः।

सस्कृत रूप से उत्पाद आदि के स्वीकार किये जाने पर उत्पाद, स्थिति और भङ्ग मे सभी वस्तुओ को पुनः उत्पत्ति होती है। और पुन. उत्पत्ति होने पर उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होगी। जैसे उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होना न्यायोचित है वैसे ही भङ्ग (विनाश) होना भी न्यायोचित है। इसलिए भङ्ग का भी संस्कृतत्व होने के कारण उत्पाद, भङ्ग और स्थिति से सम्बन्ध है। अतएव भङ्ग का भी अन्य भङ्ग का सद्भाव होने से विनाश होगा। उस भङ्ग का भी विनाश होगा। उसके बाद होने वाले भङ्ग का भी विनाश होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जावेगा। और अनावस्था होने पर सभी पदार्थों की असिद्धि हो जायगी। इसलिए स्वभावतः संस्कृत लक्षणो की सिद्धि नही हो सकती।

उत्पादस्थिति भङ्गानां युगपन्नास्ति सम्भवः।
क्रमशः सम्भवो नास्ति सम्भवो विद्यते कदा॥ ३६१॥

उत्पादादिषु सर्वेषु सर्वेषा सम्भव· पुनः।
तस्मादुत्पादवभङ्गो भङ्ग वद् दृश्यते स्थितिः॥ ३६२ ॥

जैसे शीत, उष्ण, सुख दु:ख आदि मे एक एक का अभाव होने से ही दूसरे की स्थिति का आभास होता है उसी प्रकार लक्ष्य भी यदि लक्षण से भिन्न होगा तो उसमे अनित्यता कैसे रहेगी ? और संस्कृत के बिना अनित्यता होती नही। इसलिए लक्षण से लक्ष्य भिन्न नही स्वीकारा जा सकता। इस दोष से मुक्त होने की इच्छा से यदि लक्ष्य लक्षण मे अनन्यत्व की कल्पना की जाय तो वह दूसरा दोष होगा। इसलिए चारो (लक्ष्य, लक्षण, भाव और अभाव) का सद्भाव स्पष्टतः नही है। यदि लक्षणत्रय (उत्पाद, स्थिति और भङ्ग) और लक्ष्य इन दोनो को एक ही स्वीकार किया जाय तो लक्षणत्रय और लक्ष्य ये चारो पदार्थ भी नही होगे। क्योकि यहा दोनो का एक मान लेने पर लक्ष्य की सिद्धि नही होती। और लक्ष्य को भी लक्षण नही माना जा सकता। इस प्रकार चारों का भी सद्भाव नही होता। तब स्वरूप की असिद्धि होने से तत्व और अन्यत्व स्वीकार नही किये जाने चाहिए।

भाव का तात्पर्य सिद्धरूप अङ्कुर है। वह भाव अर्थात् अविकृत बीज से उत्पन्न होता है यह कथन युक्ति संगत नही। क्योंकि अविक्रियमाण बीज की उत्पत्ति सम्भव नही और न सिद्धाङ्कुर रूप भाव का रूप भी पुनः उत्पन्न होता है। अभाव से भी भाव की उत्पत्ति नही होती। अभाव से अग्नि से जले हुए बीज मे फल उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव होता है। इसलिए उत्पन्न होने वाले पदार्थ की पुनः उत्पत्ति नही होती। "अभावान्न जायते का यही तात्पर्य है। अभाव से भी अभाव की उत्पत्ति उसी प्रकार नही होती जिस प्रकार बन्ध्या को पुत्रोत्पत्ति नही होती। भाव से भी अभाव की उत्पत्ति नही होती। उसमें भी उक्त दोष का प्रसंग आ जाता है। जब भाव से भाव और अभाव से अभाव उत्पन्न नही होता तब उत्पत्ति नही हो सकती। इसलिए हेतु प्रत्यय द्वारा किस पदार्थ का सद्भाव है ?

वस्तुतः भाव, अभाव और भङ्ग, तीनो की उत्पत्ति कल्पित है। भाव का तात्पर्य सद्भाव है। सद्भाववान् पदार्थ की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। क्योकि सत् पदार्थ की उत्पत्ति निरर्थक है। इसलिए "भावो नैव भवेद् भाव:" कहा है। असत् पदार्थ की भी उत्पत्ति नही होती। अन्यथा बन्ध्या के भी पुत्रोत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इस प्रकार सत् पदार्थ न सत् है और न असत् इसलिए उत्पाद सम्भव नही। इसका भङ्ग भी नही होता। क्योकि असत्

खर विषाण के समान अभाव का अभाव नही होता। भाव पदार्थ का भी अभाव नही होता अन्यथा परस्पर विरोध उपस्थित होगा। अविद्यमान् पदार्थ के अभाव मे भङ्ग नही हो सकता। और उत्पाद तथा भङ्ग के अभाव में संस्कृत नही यह सिद्ध हो जाता है। भगवान् बुद्ध ने जैसे कहा है कि संस्कृत, असंस्कृत सब कुछ छोडकर उन स्त्रियो को कोई विकल्प नही। दृष्टि प्राप्त व्यक्तियों द्वारा सभी स्थितियो मे असस्कृत प्राप्त वस्तु सदैव छोड दी जाती है।

संस्कृत ऽसस्कृत सर्व विविक्ता नास्ति विकल्पन तषमृषीणाम्।
सर्व गतीषु असंस्कृत प्राप्ति दृष्टि गतेहि सदैव विविक्ता॥

जायमान पदार्थ की उत्पत्ति होती है "यह कथन भी युक्ति सगत नही। यदि कोई पदार्थ कुछ उत्पन्न हो और कुछ अनुत्पन्न हो तो ऐसी स्थित मे उसे जायमान् नही कहा जा सकता। जात और अजात इन दो स्थितियो के अतिरिक्त कोई तीसरी स्थिति सम्भव नही इसलिए असत् हाने के कारण जायमान पदार्थ उत्पन्न नही होता। यदि दोनो रूपो को जायमान् स्वीकार किया जाय तो "किञ्चिज्जात' वाला रूप जातान्तर्गत होने के कारण उत्पन्न नही होना। क्योकि सत् पदार्थ की उत्पत्ति नही होती यह पहले कह दिया गया है। उसके द्वितीय रूप "यत्किञ्चिदजात" की भी उत्पत्ति नही होती। क्योकि असत् पदार्थ की उत्पत्ति नही होती॥ ३६४॥

फिर भी यदि जात और अजात (उत्पन्न और अनुत्पन्न) इन दोनो मे में जायमानत्व की कल्पना की जाय तो अतीत और अनागत मे भी जायमानत्व मानना पडेगा। इसीलिए "अथ वा जायमानत्व सर्वस्यैव प्रसज्यते" कहा है। जन्म रूप व्यापार जिसने प्राप्त कर लिया वह 'जात' कहलाता है। उसका असद्भाव अतीत मे ही होता है। अजात वस्तु अनागत होती है। इसीलिए यहां जायमान की जानि (उत्पत्ति) की कल्पना को गई। अथवा त्रिकाल मे सभी को जयमान' के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अथवा दूसरे शब्दो मे कहा जाय कि कोई भी वस्तु 'जायमान' नही होती॥ ३६६॥

जो जायमान स्वभाव वाला है वह स्वयं द्वारा व्यवस्थित होने से कार्य कहा नही जा सकता। जो जायमानात्मना अकार्य है वह भो जायमान नही कहा जा सकता। क्योकि जायमान पदार्थ के स्वरूप का सद्भाव नही है। जो जायमानात्मना कार्य है वह भी अजायमान के समान जायमान नही होता और जायमान का अभाव होने पर जायमान पदार्थ की उत्पत्ति नही होती (३६७)।

जिस वादी के दर्शन (मत) मे मध्य बिना अतीत व अनागत इन दोनो की उत्पत्ति सम्भव नही उसे जायमान नही कहा जा सकता। क्योकि उस जायमान पदार्थ का मध्य अपेक्षित है। जैसे जायमान पदार्थ के अन्तर्वर्ती अतीत व अनागत काल है। वैसे ही उस जायमान पदार्थ को जात-अजात इन दो रूपो के मध्य मे होना चाहिये। इसी के आधार पर जात-अजात की व्यवस्था होती है। और जात अजात के मध्यवर्ती तृतीय जायमान पदार्थ की व्यवस्था कराने के लिए यह सम्भव नहीं। क्योकि सर्वत्र ही जात-अजात इन दोनो के बीच 'जायमान' रूप कल्पना की अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा (३६८)।

यह पदार्थ चूँकि 'जात' इस संज्ञा से अभिहित है इसलिए जायमान नही है। और जायमान के असम्भव होने पर 'जात' यह संज्ञा ही नही है जिसके उत्पन्न होने पर उसे 'जायमान' की कल्पना की जा सके। और फिर यदि उत्पन्न होने पर भी जायमान उसे कहा जाय तो उसकी उत्पत्ति असम्भव है जायमान होने के कारण। इसी का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है" जात उत्पद्यते कस्मा-ज्जायमानो यदा तदा।" जब उत्पन्न हुआ पदार्थ ही 'जायमान' कहलाता है तो वह जायमान पदार्थ किससे उत्पन्न होता है ? सिद्ध होने से इनकी उत्पत्ति की कल्पना युक्त नही। यही इसका तात्पर्य है। अतएव जायमान पदार्थ उत्पन्न होता है यह कथन युक्ति संगत नही (३७०)।

इसके अतिरिक्त निस्पन्न पदार्थ ही विद्यमान कहलाता है। अविद्यमान पदार्थ अनिस्पन्न अथवा अकृत माना जाता है। इन दोनो अवस्थाओ को छोड़कर जायमान पदार्थ यदि विद्यमान नही तो उसे क्या नाम दिया जायगा ? इस प्रकार जब "यह पदार्थ है" ऐसा जायमान पदार्थ के विषय में नहीं कहा जा सकता तो स्वरूप के निर्धारण न होने के कारण उसे 'असत्' ही कहा जाना युक्ति संगत है (३७४)।

अतएव परीक्ष्यमाण पदार्थ स्वभावतः सिद्ध नहीं होते। माया के समान वे शून्य है यह सिद्ध है (३७५)।

७—शून्यता सिद्धि

शून्यता के वास्तविक अर्थ को निश्चित किये बिना परिग्रह (आसक्ति) छोड़कर संसार मे कोई भी ऐसा समर्थ व्यक्ति नहीं जो निर्वाण मे स्पृहा उत्पन्न कर सके। और वह शून्यतार्थ जगत के लिए अत्यन्त त्रासकर होने के कारण

कटु भाषण मे निपुण पुरुष द्वारा राजा की प्रिय भार्या के मरणक्रम विषयक समाचार मे मौमनस्य उत्पन्न करने के समान किसी भी युक्ति से विद्व नो को अवतार्य है। अहकार ममत्व और स्नेह से विपर्यस्त संसार अनित्य वस्तु मे ही क्षणभगुरता न देखने से मात्र सस्कार के प्रवाह का स्पष्ट ज्ञान न होने से शून्यता दर्शन से विशेष सम्बधित नित्यता को निश्चित कर सन्निकर रहता हुआ ससार को अशून्य ही स्वीकार कर रहा है। वक्ता भी माध्यमिक दर्शन मे प्रतीत्य समुत्पन्न (कारण पूर्वक उत्पन्न) है और कर्ता के रूप मे कहा गया है। वचन और वाच्य के कारण वक्ता जाना जाता है। यदि ऐसा है तो वक्ता का स्वभाव नही है। फलतः वाच्य और वचन दोनो का भी वक्तृरूप नहीं है। जब पुरुष व्यर्थ ही है तो फिर वक्ता का स्वभाव अथवा रूप की भी सिद्धि नहीं होती। अतएव शून्य है। इसी प्रकार वाच्य भी वक्ता और बचन के कारण जाना जाता है। इसलिए उनका स्वभाव नही है। अतएव उन तीनो का भी स्वभाव तीनो मे विद्यमान नहीं। इस प्रकार वक्तृ, वाच्य और वचन इन तीनो की स्वभाव शून्यता सिद्ध है (३७५)।

यदि अशून्य नामक कोई पदार्थ होता तो उसका प्रतिपक्षी शून्य पदार्थ भी होता। परन्तु अशून्य पदार्थ का तो अस्तित्व है नही। क्योकि किसी भी अहेतुक पदार्थ का आकाश कुसुम के समान सद्भाव असम्भव है। जब अशून्य का सद्भाव असम्भव है तो उसका प्रतिपक्षी शून्य भी अपने प्रतिपक्षो के बिना अस्तित्वहीन है। यदि कुक्कुर (कुत्ता) नहीं तो वह कपि (बन्दर) का प्रतिपक्षी नहीं हो सकता। अन्य विरुद्ध पदार्थ के बिना विरुद्ध पदार्थ कहीं भी संभव नहीं। और उस विरुद्धार्थ के बिना शून्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसीलिये कहा गया है कि समस्त दृष्टियो के निर्गमन का कारण शून्यतामयी दृष्टि है—

जैसे कोई काश्यप नामक पुरुष रुग्ण हो जाय। उसके लिए वैद्य दवा दे। वह दवा उसके सभी दोषो को दूर कर कोष्ठ से न निकले। तो काश्यप क्या मानते हो कि वह रुग्ण पुरुष उस रोग से मुक्त हो जायगा ? काश्यप ने उत्तर दिया। नही, भगवान। उस पुरुष का वह रोग अत्यन्त गाढ होगा। भगवान ने कहा— इसी प्रकार काश्यप, समस्त दृष्टियो को शून्यता निःसरण है। जिसकी शून्यतामयी दृष्टि है उसे मैं अचिकित्स्य मानता हूँ (३८२)

शून्यता सर्व दृष्टीना प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥ ३८३॥

"पदार्थ सस्व भावी है क्योकि उनका विशेष रूप उपलब्ध नही होता" यह प्रश्न भी ठीक नही। क्योंकि इस स्थिति मे यदि अग्नि ही उष्ण है तो वह अनुष्ण को क्यों जलाती है ? इसलिए उसका नाम इन्धन भी नहीं क्योकि इन्धन के बिना अग्नि का अस्तित्व ही नही। अतएव विशेषाभाव के कारण भाव का अस्तित्व सिद्ध नही होता ॥ ३८४ ॥

यदि पदार्थ का सद्भाव होने से उसके अभाव का निवारण युक्ति सगत माना जा सकता है तो पदार्थ के अभाव की प्राप्ति होने से पदार्थ का कारण भी क्यो नही हो सकता ? इसी क्रम से सत्, असत्, सदसत् और न सदसत् यह पक्षक्रम विद्वानो द्वारा एकत्वादि मे सदैव प्रयोजनीय है ॥ ३८५ ॥

परमाणु मात्र का भी जहां सत्य स्वरूप नही वहा भव कैसे उत्पन्न हो सकता है ? भावोत्पत्ति सर्वथा न होने पर उत्पादाभाव ही है। समस्त पदार्थो को यथावत् जानने वाले सूर्य की किरण समूह द्वारा अखिल अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने वाले घोर अज्ञानान्धकार से व्याप्त रात्रि मे निद्रा से विपर्यस्त संसार को उल्लास और उद्बोधन देने मे तत्पर सम्यक अभिसम्बुद्ध बुद्धो का अभाव भी इसलिए युक्तियुक्त नही। इसी कारण से ही तत्वज्ञान की अपेक्षाकर कोई भी पदार्थ उपलब्ध नही होता। जैसा भाव के विषय मे है वैसा अभाव भी स्वीकृत नही। अथवा स्वभाव से अजात होने के कारण अभाव भी नही। इसलिए "अभावोऽपि चबुद्धाना" कहा है। श्रावको, प्रत्येक बुद्धो और अनुत्तर सम्यक् सम्बुद्धो का अभाव भी युक्त नही ॥ ३८६ ॥

जहा अद्वयवाद है वहां अप्राप्त किस पदार्थ का सद्भाव होगा ? जो पदार्थ नित्य हैं उनका स्वरूपतः सद्भाव नही है। इस प्रकार सद्भाव व असद्भाव की कल्पना की परीक्षा नही की जा सकती। क्योकि यह कल्पना पदार्थ की नित्यता पर आधारित है और पदार्थ नित्य है नही। जो पदार्थ उत्पन्न होने वाले है उनका भी स्वरूप नित्य नही। इसलिए स्वभाव लक्षण से प्रतिकूल लक्षण वाले पदार्थों के स्वभाव से सद्भाव व असद्भाव की कल्पना करना शक्य नही।

हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण स्वभावतः कृतकत्व प्राप्ति से पदार्थों का जो स्वभाव है वह निर्हेतुक ही है। निर्हेतुक सत्व उत्पन्न नही होता। इस प्रकार भाव के विप्रतिषेध होने के कारण भाव के अभाव होने से भाव का अभाव ही स्वभाव है। अतएव सभी का यह स्वभाव अभिन्न रूप वाला है। इस प्रकार सभी पदार्थ स्वभाव से अनुत्पन्न होने के कारण एकरूप

वाले है अथवा अभाव रूप स्वभाव वाले है। जैसे घट, गृह, क्षेत्र आदि के भिन्न होने पर भी सर्वत्र आवरण हीन होने के कारण सामान्यतः अरूप मात्र रूप वाला आकाश भिन्न स्वरूप वाला नही होता। और जैसे सभी सस्कृत पदार्थ अनित्य ही है. सभी आश्रव दु:खदायक ही है। उसी प्रकार जो सभी पदार्थो का द्दष्टा है वह भी पदार्थो के भेद की व्यवस्था नही कर सकता। इसलिए एक पदार्थ का जो द्दष्टा है वह सभी पदार्थो का द्दष्टा मना गया है। एक पदार्थ की जो ही शून्यता होगी वही शून्यता सभी की होगी।

भाव स्यैकस्य यो द्दष्टा द्दष्टा सर्वस्य स समृतेः।
एकस्य शून्यता यैव सैव सर्वस्य शून्यता ।। ३८८ ।।

यदि सभी पदार्थो का अभाव रहने से पर पक्ष का परिहार नही होता तो किसी भी युक्ति से शून्यता हेतु द्वारा निराकृत तुम्हारे स्वपक्ष की सिद्धि क्यो नही होती ? असिद्धि भी नही कही जा सकती इसलिए यह नही है ।। ३८९ ।।

ससार मे जो यह कहा जाता है कि दूषक हेतु सुलभ है, ठीक नही। यदि दूषक हेतु होता तो सुलभ होने से प्रतिपक्षी भी उस दूषण की उद्भावना करता। परन्तु उसे यह सम्भव नही अतएव दूषक सेतु सुलभ नही है ।। ३८० ।।

सत् से यदि असत् ही होता है तो जो असत् है उससे सत् ही होगा। क्योंकि पदार्थ के नाम स्वभाव का अनुकरण नही करत। पदार्थ के वे नाम उसके स्वरूप अथवा काल से सम्प्रयुक्त नही होते। क्योकि पहले या बाद मे वे अभीष्ट होते है। इसी को और स्पष्ट करते है सुलोचन वाले के लिए काना (काण), अल्पायु वाले के लिए दीर्घायु वाला, तस्कर (चोर) के लिए देवरक्षित आदि प्रतिकूल अर्थ वाले नाम मिलते है। इशलिए 'सत्' ऐसा जो नाम दिया है उससे सत् ही होता है। यदि सत् सत् होता है इस नामकरण से पदार्थ सत् कहा जाय तो असत्व होने के कारण असत् से असत् होता है इस नामकरण से सत्व का प्रतिषेध क्या निश्चित नही किया जाता ? इसकी सद्भाव की कल्पना के समान असद्भाव का ज्ञान भी युक्त है (३९२)।

यदि सत् पदार्थ का वह लौकिक स्वरूप सस्वभावत्व स्वरूप को स्पर्श नहीं करने वाले शब्दो द्वारा अभिधीयमान होता तो वह उसी स्वरूप से सद्भाव होने के कारण परमार्थ ही होता, लौकिक नही। जब लौकिकत्व ही स्वभाव नही है

तो उस लौकिक का परमार्थत्व ही सिद्ध होता। और परमार्थ दर्शन से योगी संसार से मुक्त हो जाते है (३९३)।

भाव का सद्भाव होने पर उसका निषेध होने से अभाववाद होता। जब उक्त न्याय से भाव ही उत्पन्न नही होता तब भाव के अभाव से अभावकी उत्पत्ति नही होगी क्योकि भ.व के बिना अभाव कहाँ से मिद्ध होगा। (३९५)।

हेतु के पूर्व शून्यता नही होती। यदि पश्चात् होती है ऐसा मानें तो शून्यता का कृतकत्व सिद्ध होगा। और कृतक माया की हाथी के प्रपञ्च के समान विसंवादक है। परन्तु शून्यता तो अक्षर सामान्य रूप है, विसंवादक नही। फलतः शून्यता को हेतु से साध्य नही माना जा सकता। यदि उसे ज्ञापक हेतु के अभिप्राय से कहा गया हो तो भी हेतु सिद्ध नहीं होता। क्योकि "यहा हेतु है" यह किसी की प्रतिज्ञा का साधक वचन है। यदि उसकी प्रतिज्ञा का वह हेतु है तो उससे और हाता। वैसा होने पर पक्षधर्म नही होता है। इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का अवगम नहीं होता। और हेतु की प्रतिज्ञा का अन्यत्व नही होता। जब अन्य नहीं होता तो अन्यत्व के अभाव से प्रतिज्ञा का स्वरूप के समान यह हेतु नहीं होता। इस प्रकार हेतु की विद्यमानता सिद्ध नही होती। अतएव पदार्थों का नि.स्वभावत्व सिद्ध हो जाता है (३९७)।

यदि दृष्टान्त की कल्पना की जाती है तो हेत्वर्थ से असम्बद्ध रूप मे ही कल्पना की जाती है अथवा सम्बद्ध रूप मे ? यदि सम्बद्ध रूप मे की जाती है तो हेतु के दूषण द्वारा ही उसका निराकरण हो जाता है। और यदि असम्बद्ध रूप मे को जाती है तो उन दोनो के प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि मे सामर्थ्य न होने से ही उसका कोई उपयोग नही। तो उस कल्पना से क्या तात्पय ?

यदि हेत्वर्थ से असम्बद्ध दृष्टान्त से अर्थ-सिद्धि मानी जाती है तो काक के कृष्ण दृष्टान्त से आत्मा भी कृष्ण हो जाता। परन्तु यह सम्भव नही। अतएव भाव के अभाव से दृष्टान्त का होना युक्ति संगत नही (३९७)।

शून्यता का उपदेश तत्व के प्रतिपादन के लिए होता है। और तत्व का स्वरूप स्वभाव है। यदि किसी पदार्थ का सद्भाव होता तो तत्व परमार्थ होता। इस प्रकार मोक्षार्थी उसी का दर्शन शुभकारी मानते, शून्यता का नहीं। तब वह गुण नही, प्रत्युत केवल अपवाद रूप प्रवृत्त होने के कारण दोष ही है। जब निःस्वभाव पदार्थों का विपर्यास होने के कारण सस्वभावत्व देखा जाता है तब लोक का अभिनिवेश हेतु होता है। पदार्थों का अध्यवसाय हेतुक कर्म-क्लेश से

जन्म-उत्पत्ति होने से ससार मे प्रवेश हो जाता है । तब निःस्वभाव पदार्थो के निः-स्वभावत्व को प्रकाशित करने वाला यह शास्त्र आरोप व अपवाद के खण्डन द्वारा निःस्वभावत्व को प्रदर्शित करता है। लोक (संसार) भी पदार्थों के निःस्वभावत्व का अभ्यास कर प्रतिबिम्ब का निर्माण करने वाले मायादिक पदार्थों के समान पदार्थ के अभिनिवेश मे तद्धेतुक कर्म-क्लेश के क्षय से रागादिक समस्त बन्धनोके छेदन करने से विमुक्त हो जाता है। इस कारण से यह शास्त्र पदार्थों के निर्मूल स्वभावत्व मात्र को उपस्थित करता है।

को गुणः शून्यतादृष्ट्या स्याच्चेद्भाव· स्वभावतः।
बन्धः कल्पनया दृष्टेः सैवेह प्रतिषिध्यते ।। ३९८ ।।

जैसा भगवान ने कहा है—निःस्वभाव योग से सभी पदार्थ शून्य होते है। अप्रणिधान योग से सभी पदार्थ निर्निमित्त (कारणहीन) होते है। प्रज्ञापारमिता द्वारा सभी पदार्थ शुद्ध होते है—इसी प्रकार जो कारणो द्वारा उत्पन्न होता है वह अजात है क्योकि उसकी उत्पत्ति स्वभावतः नही होती। जो कारणो (प्रत्यय) के आधीन होता है वह शून्य कहा जाता है। जो शून्यता को जानता है वह अप्रमत्त कहा जाता है। और भी। यहां प्रतीत्यसमुत्पाद का होना असम्भव नही। ऐसा कहा गया है कि कल्पना द्वारा दृष्टि का बन्ध होता है और उसी का यहां प्रतिषेध किया जाता है। कल्पना अभूत स्वभाव वाले पदार्थ का आरोपण करती है। उससे पदार्थो का बन्ध होता है। संसार के दुःखो को नष्ट करने के लिए उस बन्ध को दूर करने के लिए प्राणियो के दु·खो से दु.खित महाकारुणिक तथागत बोधिसत्व प्रतीत्यसमुत्पाद के अविरुद्ध पदार्थो के निःस्वभावत्व मात्र को दिखाते है।

जब लौकिक पदार्थ के विषय मे कहने की इच्छा होती है तो बाह्य और आध्यात्मिक भेद से पञ्च स्कन्ध वाले पदार्थ को भी लौकिक मानना चाहिए। परन्तु जब लोकोत्तर तत्व की व्याख्या की जाती है तो आर्यज्ञान की अपेक्षा पञ्च स्कन्ध वाला पदार्थ की भी व्याख्या स्वभाव-शून्य रूप से की जाने योग्य है। इनके अतिरिक्त यदि कहने की इच्छा होती है और जो वादी द्वारा युक्त नहीं स्वीकार किया जाता वह यथार्थ अथवा लौकिक नही होता। इसलिए जो यह मानता है वह "यह सत् है" और "यह असत् है" ऐसा कहने का समर्थ नही। यदि चित्तचैतसिक है तो घट पटादिक भी हैं क्योकि वे समस्त लोक से प्रसिद्ध है। और यदि वे घट पटादिक विचार मे नही है तो चित्तचैतसिक भी नहीं है क्योकि फिर कोई युक्ति (तर्क) नही। ऐसा होने पर 'यह सत् हैं' यह असत् है' ऐसा कहना सम्भव नही।

एकं सदसदेकं च नेदं तत्त्वं न लौकिकम्।
तेनेदं सदिदमसद्वक्तुमेव न शक्यते ।। ३६६ ।।

पक्ष का होने पर अन्यथा सिद्ध हो जाने के कारण चिरकाल से उसमे दूषण हो जाता है। परन्तु सत् और असत् दोनों पक्षो का खण्डन करने वाले को पक्ष का परिग्रह ही नही उसके लिए सत्-असत् दोनो पक्षो का खण्डन करने से चिरकाल पर्यन्त भी दूषण उपस्थित करना सम्भव नही। आकाश रूपी है नही और चिरकाल से उसका रूपी होना सम्भव भी नही रहा। इस प्रकार वादियो द्वारा भी उनके आश्रित तीनो पक्षो के असम्भव होने पर शून्यतावाद मे दूषण उपस्थित करना सदैव से भी असम्भव रहा। क्योकि पण्डितो द्वारा शून्यतावाद मे दूषण लगाना आकाश मे चित्र बनाना अथवा लोहे की प्रतिमा निर्मित करने के समान पीड़ा कारक समझना चाहिए। जैसे सूर्य की किरणो से निरस्त तिमिर (अन्धकार) द्वारा चिरकाल मे भी आकाश काला नही किया जा सकता उसी प्रकार गम्भीर, उदार और अचिन्त्य प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी सूर्य किरण द्वारा समस्त वादियो के समय (सिद्धान्त) रूपी अन्धकार खण्डित हो गये ऐसा समझना चाहिए। और भी कहा गया है। जैसे यहाँ अनुपम सूर्य अत्यन्त घने अन्धकार समूह का उन्मूलन करता है उसी प्रकार यह शून्यतावाद रूपी सूर्य सत्-असत् आदि सिद्धान्त रूपी अन्धकार का उन्मूलन करता है।

४—विज्ञानवाद

माध्यमिक सम्प्रदाय के शून्यवाद के विपरीत विज्ञानवाद का उत्थान हुआ। तदनुसार जगत् के समस्त पदार्थ शून्य भले ही हो पर शून्यात्मक प्रतीति के ज्ञापक विज्ञान को सत्य पदार्थ अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। चित्त, मन अथवा बुद्धि की इस अभूतपूर्व प्रतिष्ठा के कारण ही इसे विज्ञानवाद कहा गया है। यह उसका आध्यात्मिक नाम है। धार्मिक और व्यावहारिक दृष्टि से इसे **योगाचार** कहा गया है। इसमे शमथ और विपश्यना रूप योग-मार्ग का आचरण किया जाता है। मैत्रेयनाथ का अभिसमयालंकार तथा असग का योगाचार भूमिशास्त्र योगाचार के विशिष्ट प्रतिपादक ग्रन्थ है। तिब्बती परम्परानुसार सन्धि निर्मोचन, लंकावतार तथा घनव्यूह नामक ग्रन्थ भी इसी श्रेणी मे आते है। ई० पू० प्रथम शताब्दी से ई० तृतीय शताब्दी तक इस सम्प्रदाय का प्रारम्भकाल, तृतीय से पंचम शताब्दी तक उत्थानकाल और उसके बाद विकासकाल कहा जाता

है। इन्हें क्रमशः सूत्रकाल, शास्त्रकाल तथा न्यायकाल की भी संज्ञा दी गई है।[1]

विज्ञानवाद को निरालम्बनवाद भी कहा गया है। उसकी सिद्धि आलम्बन के बिना भी की जाती है। शून्यवाद के विरोध मे विज्ञानवादियो ने यह तर्क उपस्थित किया कि चूँकि ज्ञान के माध्यम से ही बाह्यार्थ सत्ता की प्रतीति होती है अत· विज्ञान ही परमार्थ माना जाना चाहिए। असंग ने इस परमार्थ के विषय मे कहा है कि वह 'परमार्थ न सत् है, न असत्, न तथा है न अन्यथा; न इसका उदय होता है न व्यय, न इसकी हानि होती है न वृद्धि; यह विशुद्ध नही होता, पुन. विशुद्ध होता है। यही परमार्थ का लक्षण है।[2] तथता, निर्वाण, धर्मधातु आदि नाम इसके पर्यायार्थक है। विज्ञानवाद की दृष्टि मे वाह्य दृश्य पदार्थ की सत्ता नही। मात्र चित्र ही विचित्र रूपो मे दिखाई देता है। कभी वह देह के रूप मे और कभी भोग के रूप मे प्रतिष्ठित रहता है। विज्ञानवाद का यही अद्वयवाद है।

दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोग प्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥[3]

विज्ञानवाद में ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहण अथवा ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान की सत्ता है। ये सभी विज्ञान चित्त के काल्पनिक परिणमन है, वास्तविक नही। वहाँ आरभ दृष्टि को भी भ्रम मात्र माना है। अवस्था भेद से विज्ञान आठ प्रकार का है—चक्षु-विज्ञान, स्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान और आलयविज्ञान। प्रथम सात विज्ञानो को प्रवृत्ति-विज्ञान कहते है। आलयविज्ञान मे उनका आविर्भाव होता है और उसी मे वे विलीन हो जाते हैं।

आलय विज्ञान विज्ञानवाद का बहुचर्चित सिद्धान्त है। यह उसका एक ऐसा कवच है जिसके बल पर विज्ञानवादी आचार्यों ने अपने सिद्धान्तो का यथाशक्य संरक्षण किया है। बौद्धेतर दार्शनिको ने इसे अपनी कटु आलोचना का विषय बना लिया। स्थिरमति ने आलय का अर्थ क्लेशोत्पादक धर्मों के बीजो

१—बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास पृ० ४०१

२—बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ३९०

३—लंकावतार, ३.२७

का स्थान, कार्य रूप से सम्बद्ध रहने के कारण समस्त धर्मों के लय होने का स्थान तथा कारण रूप से सब धर्मों मे अनुस्यूत होने का स्थान किया है ।[1]

आलयविज्ञान को मूलविज्ञान, कर्मस्वभाव और कारणस्वभाव भी कहा गया है। इस दृष्टि से उसे बौद्धेतर धर्मो मे मात्र आत्मा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह साश्रव और अनाश्रव कर्मो का बीज स्थान है। कुछ उसे प्रकृतस्थ मानते है और कुछ भावनामय मानते है। सृष्टि-परम्परा का वह एक विशेष कारण है। बीज आलयविज्ञान के आधार पर धर्म को उत्पन्न करते है और धर्म आलयविज्ञान के गर्भ मे बीज का संग्रह करते है। यह आलय विज्ञान पाँच चैत्त धर्मों से सम्बद्ध है—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना। इनमे आलयविज्ञान उपेक्षा-वेदना से संप्रयुक्त है—उपेक्षा वेदना तत्र। वह अनिवृत-अव्याकृत है।

महायानी ग्रन्थो मे आलय विज्ञान को सूक्ष्मस्वभावी बताया गया है। प्रवृत्ति निवृत्ति में वह कारण है। लंकावतार मे इसे 'ओघ' संज्ञा दी गई है। महासाधिक निकाय इसे 'मूल विज्ञान' कहता है। महीशासको ने संसार कोटि निमुस्कन्ध, स्थविरवादियों ने भवाग विज्ञान तथा सर्वास्तिवादियो ने आलय नाम से उसे अभिहित किया है।[2]

पदार्थ स्वरूप विचार

पदार्थ को धर्म अथवा भाव भी कहा गया है। ये दो प्रकार के है—संस्कृत और असंस्कृत। संस्कृत पदार्थ हेतुप्रत्ययजन्य होते है और असंस्कृत पदार्थ स्वतः सिद्ध होते है। संस्कृत धर्म ९४ हे—रूप ११, चित्त ८, चैतसिक ५१ और चित्तविप्रयुक्त २४ तथा असंस्कृत धर्म ६ है—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध, अचल, सज्ञावेदनानिरोध तथा तथता। असस्कृत धर्मो म अन्तिम तीन धर्म विशेष है। अचल का अर्थ है उपेक्षा। इसमे योगो दुःखादि की उपेक्षा कर देता है। बाद मे वह सज्ञा, वेदना आदि जैसे मानस धर्मो का आत्मवश कर लेता है और तदनन्तर योगी तथता (परमतत्व) को प्राप्त करता है। इस तथता को अविकृत, भूतकोटि, अनिमित्त, परमार्थ और धर्मधातु भी कहा गया है।

निःस्वभाववाद्—विज्ञानवाद मे सत्ता दो प्रकार की वर्णित है – पारमार्थिक और व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्ता का स्वभाव दो प्रकार का है—

१—त्रिशिका भाष्य, पृ० १८

२—बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ३९१

परिकल्पित और परतन्त्र। विकल्प अथवा भ्रान्ति को परिकल्पित सत्ता कहा जाता है और प्रत्यय से उद्भूत परतन्त्र सत्ता है। पारमार्थिक सत्ता परिनिष्पन्न स्वभाव वाली रहती है। इसी को तथता कहा जाता है। इनमे परिकल्पित स्वभाव प्रज्ञप्तिसत् है, परतन्त्र स्वभाव प्रज्ञप्ति और वस्तुसत् है, तथा परिनिष्पन्न स्वभाव द्रव्यसत् है। ये तीनो स्वभाव परस्पर व्यतिरिक्त नही। स्वयं में नि:स्वभावी होते है। उनमे क्रमश: लक्षणनि:स्वभावता, उत्पत्तिनि:स्वभावता तथा परमार्थनि:स्वभावता रहती है।

संस्कृत धर्म उत्पत्ति, स्थिति, और समाहार का प्रतीक है। हीनयान मे इन संस्कृत पदार्थों को स्वीकार किया गया था पर माध्यमिको ने उसे नहीं माना। वे संस्कृत पदार्थों का उत्पादन न संस्कृत रूप से मानते है और न असस्कृत रूप से। उनकी दृष्टि मे ये उत्पादादि न व्यस्त रूप से पदार्थ के लक्षण होंगे और न समस्त रूप से। किसी अन्य उत्पादादि से भी संस्कृत लक्षणता की सिद्धि नही हो सकती, अन्यथा अपर्यवसानदोष की प्रसक्ति हो जायगी। इस प्रकार महायान मे संस्कृत धर्मों की उत्पत्ति, स्थिति, और विनाश को अस्वीकार करते हुए संस्कृत पदार्थों का निषेध करते है और उन्हे नि:स्वभाव मानते है।

विज्ञानवाद के उक्त सिद्धान्तो से स्पष्ट है कि उसने बाह्यार्थ के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार किया गया और उनके दर्शन को मात्र वासनाजन्य मानकर कल्पना प्रसूत माना गया। परन्तु यह ठीक नही। न तो वासना के माध्यम से पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकार किया जा सकता है और न ज्ञान से पदार्थ की उत्पत्ति मानी जा सकती है। ज्ञान से तो पदार्थ के स्वरूप को परखा जाता है। और फिर जब पदार्थ ही नही होगा तो ज्ञान का क्या आधार रहेगा। आलय विज्ञान को नित्य मान कर भी यह समस्या सुलझती नही। इस सबके बावजूद विज्ञानवाद का योगदान अविस्मरणीय रहेगा।[1]

आर्यदेव का चित्त विशुद्धि प्रकरण और योगाचार

शून्यवादी आर्यदेव का एक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। वह है—चित्तविशुद्धिप्रकरण। इसे सर्वप्रथम महा० हरप्रसाद शास्त्री ने J. A. S. B. (पृ० १७५) मे १८९८ मे प्रकाशित किया था। इसके बाद प्रभुभाई भिखाभाई

१—विशेष देखिये—बौद्ध-धर्म-दर्शन, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, अभिधर्म कोश आदि ग्रन्थ।

पटेल ने पुन. इसका सम्पादन-सशोधन कर विश्व भारती से १९४९ मे प्रकाशित कराया। श्री पटेल के अनुसार चित्तविशुद्धिप्रकरण का लेखक चतुःशतक के लेखक से भिन्न है। पर यह सही नही लगता। चतु.शतक के रचयिता आर्यदेव के काल मे तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ चुका था। इसलिए चतु:शतक के रचयिता को चित्तविशुद्धिप्रकरण के रचयिता से पृथक् नही किया जा सकता।

उत्तर काल मे महायान बौद्धधर्म की दो शाखायें हुई—पार मतानय और मन्त्रनय। मन्त्रनय भी अनेक शाखाओ मे विभक्त हुआ। चूँकि चित्तविशुद्धि-प्रकरण मे भी योगाचार (५) शब्द आता है अतः सभवत. यह ग्रन्थ योग-तन्त्रयान से सम्बद्ध रहा होगा।

वज्रयान के विकास मे माध्यमिक और योगाचार की दार्शनिक भूमिका का विशिष्ट योगदान रहा है। योगाचार मे तो चित्त ही सब कुछ है यह चित्त बोधिचित्त का रूप है जो निर्वाण प्राप्ति का कारण होता है। आर्यदेव ने इसी चित्त (बोधिचित्त) का वर्णन किया है। बौद्धधर्म, विशेषतः महायान मे चित्त का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे मूलतः "अनाविल" और "प्रकृतिप्रभास्वरं" कहा गया है। माध्यमिक दर्शन का बोधिचित्त महायान सिद्धान्तो का पालन करने पर क्रमशः प्राप्त हो सकता है। पर चित्त विशुद्ध रूप से मन पर आधारित है। महायान बौद्धधर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति बोधिसत्व अवस्था प्राप्त कर सकता है। वासना और कर्म के कारण उसकी मूल अवस्था आवृत है। जैन सिद्धान्त का यह स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। इस विशुद्ध बोधिचित्त से इसी जन्म मे बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है (जन्मन्यत्रैव बुद्धत्व प्राप्यते नात्र संशयः, चित्त० ८५)। वज्रयान मे प्रपञ्च रहित प्रज्ञा और करुणामूलक उपाय का सुन्दर संमिश्रण तथा मन्त्र, साधना और धारणी का समन्वय बुद्धत्व प्राप्ति मे कारण होता है।

चित्तविशुद्धिप्रकरण के अनुसार विशुद्ध चित्त होने पर पाप पुण्य की व्यवस्था भी अनावश्यक हो जाती है—

> तस्मादाशय मूला हि पापपुण्यव्यवस्थितिः।
> इत्युक्तमागमे यस्मान्नाप्तिः शुभचेतसाम् ॥१६॥

यहाँ यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार रजक मलीन द्रव्य से मलीन वस्त्रो को स्वच्छ करता है (वही, ३८), विष का प्रकोप से विषसे दूर किया जाता है, (वही ३९) तथा कर्णगत जल को कान मे और जल डालकर समूचा जल

निकाला जाता है (वही, ३७) उसी प्रकार राग और काम भी राग और काम से ही दूर किया जा सकता है, बशर्ते कि साधक ज्ञानवान् हो।

दुर्विज्ञैः सेवितः कामः कामो भवति बन्धनम्।
स एव सेवितो विज्ञैः कामो मोक्ष प्रसाधक.॥ चित्त० ४२॥

यह चित्त पंकजात पद्म के समान पंक रूप राग, द्वेषादि से दूषित नही होता। वह तो संगमरमर पत्थर अथवा दर्पण के समान अलिप्त रहता है (वही, ११५, ११६)। इस ग्रन्थ मे वैदिक यज्ञ-याज्ञ विधि आदि की तीव्र आलोचना की गई है।[1] ग्रन्थ के विषय से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वज्रयान के बीच योगाचार-काल मे स्पष्ट रूप से सामने आने लगे थे।

बौद्ध न्याय

भारतीय दर्शनो को परम्परा से दो विचारधाराओ मे विभक्त किया गया है—आस्तिक धारा और नास्तिकधारा। वैदिक सस्कृति मे आस्तिक और नास्तिक शब्दो की व्याख्या वेद की स्थिति को स्वीकार और अस्वीकार करने पर आधारित है। इस दृष्टि से "वेदनिन्दको नास्तिकः" जैसी परिभाषायें साहित्य जगत् मे उन्मुक्त रूप से सामने आयी। जैन-बौद्ध विचारधारायें अथवा श्रमण सस्कृति नास्तिक विचारधारा के अन्तर्गत रखी गयी। परन्तु इन शब्दो की यह व्याख्या युक्ति सगत नही। वस्तुतः आस्तिक और नास्तिक शब्दो का सम्बन्ध आत्मा और लोक के अस्तित्व को स्वीकार करने और न करने पर निर्भर है। इस तथ्य के आधार पर चार्वाक् को ही नास्तिक कहा जायगा और शेष विचारधारायें आस्तिक के रूप मे मान्य होगी।

आत्मा और ज्ञान—वैदिक दर्शन मे ब्रह्म (आत्मा) को चिद्रूप मानकर ज्ञान को अन्तःकरण का धर्म स्वीकार किया गया है। तदनुसार ब्रह्म की विशुद्ध अवस्था मे ज्ञान प्रतिभासित नही होता।[2] साख्य के अनुसार ज्ञान पुरुष (चैतन्य) का धर्म न होकर प्रकृति का विकार है। नैयायिक-वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का अयुतसिद्ध गुण मानते है। जैन दर्शन मे आत्मा उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक है, उपयोग और चैतन्य स्वरूप है। ज्ञान का आत्मा से तादात्म्य

१. विशेष देखिये, चित्तविशुद्धिप्रकरण—प्रभु भाई पटेल, भूमिका।
२. अन्तःकरणावृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाण चैतन्यं—वेदान्तपरिभाषा, पृ. १७

सम्बन्ध है। आत्मा की उस शक्ति का नाम ज्ञान है जिससे पदार्थ जाना जाता है और उस शक्ति का नाम दर्शन है जिससे तत्वश्रद्धान होता है।[१] परन्तु बौद्ध दर्शन ज्ञान को चित्तप्रवाह के रूप मे स्वीकार करता है। वहा ज्ञान जड़ पदार्थो का धर्म नही है।[२] वह विज्ञानधारा, आलयविज्ञान और प्रवृत्तिज्ञान के क्रम से ज्ञेयो का प्रतिभास करता है।

प्रमाण-लक्षण—यही ज्ञान प्रमाण है "प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्"। तथा "प्रमाकरण प्रमाणम्। प्रमा का करण क्या हो, यह विवाद का विषय है। न्याय-वैशेषिक सन्निकर्ष और ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। साख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रभाकर अनुभूति को और जैन ज्ञान को ही करण मानते हैं। पर बौद्ध परम्परा मे अविसंवादिज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार किया गया है और सारूप्य और योग्यता को करण माना गया है।[३] उसके अनुसार ज्ञान न मीमासको की तरह परोक्ष है, न नैयायिको की तरह ज्ञानान्तरवेद्य है और न साख्यो की तरह प्रकृति का धर्म है। वह तो जैनो की तरह स्वसवेदित्र धर्म से विभूषित है।[४] विज्ञानवाद मे बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नही किया गया अतः वहा अविसंवाद और प्रामाण्य व्यवहाराश्रित है। पर सौत्रातिक बाह्यार्थवादी है। अतः यह अविसंवादित्व स्वलक्षण पर आश्रित है।

प्रमाण भेद्—प्रमाण के भेदो मे बौद्ध और बौद्धेत्तर दार्शनिक एकमत नही। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। साख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण स्वीकार करते है। नैयायिक उसमे उपमान और जोड़ देते हैं। जैन इन सब प्रमाणो को प्रत्यक्ष और परोक्ष मे गर्भित कर देते है। परन्तु बौद्ध-दृष्टि मे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण है। उनके अनुसार विषय स्वलक्षणात्मक और सामान्यलक्षणात्मक होते है। स्वलक्षण मे वस्तु का स्वरूप शब्दादि के बिना ही ग्रहण किया जाता है। यह वस्तु-ग्रहण प्रत्यक्ष का विषय है। पर सामान्यलक्षण मे अनेक वस्तुओ के साथ वस्तु का ग्रहण होता है। यह वस्तुग्रहण अनुमान का विषय होता है। बौद्धो के अनुसार आगम आदि प्रमाणो

---

१. तत्वार्थवार्तिक, अ. १, पृ० ४; प्रवचनसार, प्रथम अधिकार।

२. सौन्दरानन्द, १६.२८.२९

३. प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थिति।
अविसंवादनं शाब्देप्यभिप्रायनिवेदनात्॥ प्रमाणवा. २.१.

४. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त तत्त्वसंग्रह, १३४४
सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसवेदनम्—न्यायवि० १।११

का अन्तर्भाव अनुमान मे ही हो जाता है क्योंकि शब्द आदि से सम्बद्ध परोक्ष अर्थ का बोध लैंगिक होता है जो अनुमान का ही शब्दान्तर है। अर्थापत्ति, स्मृति, अभाव, प्रत्यभिज्ञान, उपमान आदि प्रमाणान्तरो को भी अनुमान मे ही गर्भित कर दिया जाता है। जैनो के अनुसार प्रमाण के दो ही भेद है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान परोक्ष प्रमाण के ही भेद है।

प्रत्यक्ष प्रमाण—नाम, जाति आदि से संयुक्त, कल्पना विरहित और निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है—प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादि संयुतम्। प्रत्यक्ष के चार भेद है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष स्वलक्षण को विषय करता है। दिङ्नाग का यही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। हीनयान ने आत्मा का निषेधकर प्रत्यक्ष को आन्तरिक बाह्य इन्द्रियो पर निर्भर कर दिया। महायान मे माध्यमिको ने शून्यवाद को अपनाया और विज्ञानवादियो ने 'आलय विज्ञान' को स्वीकार कर अनात्मवाद से उत्पन्न तर्को को निरस्त्र करने का प्रयत्न किया। यही विज्ञानधारा आलयविज्ञान और प्रवृत्तिज्ञान के क्रम से पदार्थज्ञान करती है। पदार्थज्ञान मे चार कारण माने गये है—आलम्बन, सहकारि, अधिपति, और समनन्तर। चक्षु आदि इन्द्रियो से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को समनन्तर प्रत्यय (वस्तु को साक्षात्कार करने की शक्ति) बनाकर जो मन उत्पन्न होता है वह मानस प्रत्यक्ष है।[1] निर्विकल्पक ज्ञान को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है (स्वसवित् निर्विकल्पकम्) और समाधि से उत्पन्न प्रत्यक्ष को योगिप्रत्यक्ष कहते है। यह प्रत्यक्ष कल्पना विरहित, निर्भ्रान्त और अर्थक्रियानुसारी होती है।[2]

बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिको के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष क्षणिक परमाणु रूप स्वलक्षण से उत्पन्न होता है। इसमे स्वलक्षण पदार्थ आलम्बन कारण है, पूर्वज्ञान समनन्तर (उपादान) कारण, इन्द्रियाँ अधिपतिकारण, और प्रकाश आदि सहकारी कारण है। क्षणभंगुरता होने पर भी सन्तानमूलक एकत्वाध्वसाय से अविसंवाद मान लिया जाता है। अनुमान मे ग्राह्य विषय तो सामान्य लक्षण है, क्योंकि अन्यसामान्य ही उसका विषय है फिर भी प्राप्त स्वलक्षण होता है। अतः प्राप्य स्वलक्षण की अपेक्षा उसमे प्रामाण्य है।[3] यहाँ अनुमान रूप

१—प्रमाणवार्तिक, ३.२४३

२—तत्वार्थ वार्तिक, १, १२; न्या० कु० च०, पृ० ४६; न्याय वि० पृ०, ११

३—प्रमाणवार्तिक २,५७-५८, सिद्धिविनिश्चय टीका, प्र० भाग, पृ० ६९-१००

सविकल्पक ज्ञान है। प्रत्यक्ष शब्द विशिष्ट अर्थ को ग्रहण नही करता। अर्थ और शब्द का तादात्म्य सम्बन्ध भी नही है। इस स्थिति मे अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग कैसे रह सकता है ? और जब वह शब्द के अकार को धारण नही करता, तब वह शब्दग्राही कैसे हो सकता है ? अतः जो ज्ञान अर्थ से ससृष्ट शब्द को वाचक रूप से ग्रहण करता है, वही सविकल्पक है, अन्य नही। यह बात प्रत्यक्ष ज्ञान मे सम्भव नही है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। जैन दर्शन न इस प्रकार के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को उपचार से प्रमाण माना है क्योकि परम्परा से ये सभी ज्ञान सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति मे कारण होते है।[1] सन्निकर्ष को भी यहाँ प्रमाण नही माना गया है।

बौद्धदर्शन की मुख्य भूमिका क्षणभगुरवाद की है। अतः वस्तु के साथ इन्द्रियो का सम्पर्क होते ही वस्तु अतीत हो जाती है और तज्जन्य ज्ञान अर्थ के आकार का होता है। वह ज्ञान निराकार नही होता अन्यथा स्वरूप का प्रत्यक्ष, ज्ञानो मे परस्पर भेद और नियतार्थ मे प्रवृत्ति नही होगी। अतः ज्ञान अर्थाकार होता है।

> भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यता विदुः।
> हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः तदाकारार्पणक्षमम् ॥ प्रमाण वा० ३.२४७
>
> अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
> तस्माद् प्रमेयाधिगते प्रमाणं मेयरूपता ॥ वही, ३.३०५

अनुमान प्रमाण—साधन (लिङ्ग) से साध्य (लिङ्गी) के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहा जाता है।[2] जैसे धूम (साधन) से अग्नि (साध्य) का ज्ञान होना। साधन को हेतु भी कहा जाता है। हेतु का साधारणत. लक्षण है—स.ध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणं हेतु। 'अन्यथानुपपत्ति' 'अथवा' अविनाभाव' हेतु का लक्षण माना जाता है। बौद्ध दर्शन मे साध्याविनाभाव को हेतु का लक्षण न मानकर उसके तीन लक्षण स्थापित किये गये है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष असत्व। साध्य की सिद्धि के स्थान को पक्ष कहते है (पर्वत)। जहाँ साधन के सद्भाव मे साध्य का सद्भाव बताया जाय वह सपक्ष है (पाकशाला)। और जहाँ साध्य के अभाव मे साधन का भी अभाव

१—जैन न्याय, पृ० ६४-६५,

२—साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।

दिखाया जाय वह विपक्ष है (सरोवर)। जिसमे ये तीनो लक्षण मिले वही सम्यक् हेतु है। जैसे इस पर्वत पर अग्नि नही होती वहाँ धूम भी नही होता, जैसे सरोवर। हेतु का यह लक्षण असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोषों से विरहित है। अत त्रैरूप्य ही हेतु का निर्दोष स्वरूप है।[1]

अनुमान के दो भेद है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान वह ज्ञान है जो निश्चित साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान कराये और परार्थानुमान वह ज्ञान है जो अविनाभावी साध्यसाधन के वचनो से साध्य का ज्ञान कराये। इस परिभाषा के आधार पर स्वार्थानुमान को ज्ञानात्मक और परार्थानुमान को शब्दात्मक कहा जा सकता है। स्वार्थानुमान के तीन अंग है—धर्मी, साध्य और साधन। धर्मी को पक्ष भी कहा जाता है।

उपर्युक्त हेतु के स्वरूप को नैयायिक पञ्चरूप वाला मानते है—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। त्रैरूप्यवादी बौद्ध हेतु के इस पञ्चरूप मे से अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को अनावश्यक मानते है। तथा अविनाभाव को तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नियत बताते है। वहाँ हेतु के तीन भेद कहे गये है—स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु। प्रथम दो हेतु विधिसाधक है और अन्तिम हेतु प्रतिषेध साधक है। जैन दर्शन मे हेतु के स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर भेद किये गये है। जैन दर्शन मे अकलंक ने हेतु के सामान्यतः दो भेद किये है—उपलब्धिरूप और अनुपलब्धिरूप। ये हेतु विधेयात्मक और प्रतिषेधात्मक होते है। उनमे प्रत्येक के ६ भेद हैं—स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। बौद्धदर्शन मे स्वभाव और कार्य ये दो ही भेद स्वीकार किये गये है। जैनदर्शन मे हेतु का एक ही रूप माना गया है—अविनाभाव नियम। उसके दो भेद हैं—सहभाव नियम और क्रमभाव नियम।

न्याय दर्शन मे परार्थानुमान के पाँच अवयव माने जाते है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इनमे जैन दर्शन मे प्रतिज्ञा और हेतु को आवश्यक माना गया है। परन्तु बौद्ध दर्शन केवल हेतु के प्रयोग को ही आवश्यक मानता है। उनके अनुसार पक्ष का प्रयोग निष्प्रयोजन है। मात्र हेतु के प्रयोग से ही गम्यमान पक्ष में साध्य का ज्ञान हो जाता है। सांख्य और मीमासक उक्त पाँच हेतुओ में उपनय और निगमन को अवश्यक नही मानते।

१—न्या० कु० च० पृ० ४३८, हेतुस्त्रिरूप. न्यायप्रवेश, पृ० १, प्रमाण वा० ३.१४

हेत्वाभास—हेतु के स्वरूप से विरहित होकर भी जो हेतु की तरह प्रतिभासित होता हो वह हेत्वाभास कहलाता है। नैयायिक हेतु के पञ्च रूप के समान पाँच हेत्वाभास मानते है—असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक, कालात्यापदिष्ट और प्रकरणसम। बौद्ध त्रैरूप्य के रूप मे तीन हेत्वाभास मानते है—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। जैन दर्शन मे भी साधारणत: इन्ही हेत्वाभासो को स्वीकार किया गया है। पर अकलंक मात्र असिद्ध का हेत्वाभास मानते है।

वादविवाद—वादविवाद की परम्परा भारतीय सस्कृति मे बहुत प्राचीन है। मिलिन्दपञ्ह मे वाद के दो रूपो का उल्लेख आया है—पण्डितवाद और राजवाद। पण्डितवाद मे शैक्षणिक स्तर पर वादविवाद किया जाता है। पर राजवाद मे कठोर अनुशासन बना रहता है। न्यायशास्त्र मे इसके तीन भेद मिलते है—वाद, जल्प और वितण्डा। वीतरागकथा को वाद कहा जाता है। इसमे तत्त्वनिर्णय करना मुख्य उद्देश्य है। यहाँ छल, जाति आदि निग्रह स्थानो का प्रयोग नही किया जाता। परन्तु जल्प और वितण्डा मे जय-पराजय की भावना होती है और उसमे छलादि निग्रह स्थानो का यथासभव प्रयोग किया जाता है। बौद्धदर्शन मे उपायहृदय आदि ग्रन्थो मे निग्रहस्थानो का प्रयोग प्रचलित रहा है परन्तु धर्मकीर्ति ने उनका प्रयोग अनुचित बताया है। यहाँ अहिंसा का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है। इसलिए धर्मकीर्ति ने असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन नामक दो निग्रहस्थानों को स्वीकार किया है।

शब्द अथवा आगमप्रमाण—शब्द अथवा आगम प्रमाण भी विवादास्पद विषय है। वैशेषिक शब्द को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत रखते हैं। मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध बताते है तथा शब्द को नित्य मानकर वेद को अपौरुषेय मानते हैं। वैयाकरणो के अनुसार शब्द क्षणिक होने से वे अर्थबोधक नही होते अत: वे स्फोट नामका एक अन्य नित्य तत्त्व मानते है तथा यह मत व्यक्त करते है कि संस्कृत शब्दो मे ही अर्थबोधक शक्ति होती है। पालि-प्राकृत आदि देशी भाषाओ मे उस शक्ति का अभाव है। जैन दार्शनिक शब्द या आगम प्रमाण को तीर्थङ्कर के वचनो से निबद्ध साक्षात् या प्रणीत ग्रन्थो तक ही सीमित नही रखते, बल्कि व्यवहार मे संकेतादि से उत्पन्न ज्ञान को भी आगम प्रमाण में गर्भित कर लेते हैं। परन्तु बौद्ध[1] शब्द को ही प्रमाण नही मानते क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ उनकी दृष्टि मे न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति। उनकी दृष्टि मे शब्द विकल्प वासना से उत्पन्न होते हैं। अत: वे बाह्यार्थ का ग्रहण कराने मे असमर्थ है। जैसे

१. प्रमाण वा. टी., ३. २१२; तत्वसंग्रह, पृ-४४०

"अंगुलि के अग्रभाग में सौ हाथी है।"[1] इस प्रकार के तथ्यहीन वाक्यो के उच्चारण मे व्यक्ति अथवा वक्ता दोषी नही। क्योकि यदि वक्ता गूंगा हो तो वह इस प्रकार का असत्य ज्ञान नही करा सकता। इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न करने मे तो शब्दो की ही महिमा मूल कारण है। अतः पुरुष भी यदि ये शब्द बोलेगा तब भी असत्य ज्ञान होगा। अतः विकल्प वासना से शब्दो का जन्म होता है और शब्दो से विकल्पो का जन्म होता है। शब्द अर्थ का स्पर्श भी नही करता।

बौद्धदर्शन मे श्रुत को अविसंवादि नही माना है। उसक चिन्तन है कि जिस शब्द का प्रयोग सत् अर्थ मे होता है वही शब्द अर्थ के अभाव मे भी देखा जाता है। अत· शब्द विधि रूप से कथन नही करते। इसलिए अन्यापोह को ही शब्दार्थ मानना चाहिए। बौद्ध दृष्टि मे शब्द और लिंग का विषय माना जाय तो वह बाह्य अर्थ न स्वलक्षण रूप हो सकता है और न सामान्य रूप हो सकता। सामान्य रूप मे अर्थ भी शब्द का विषय इसलिए नही है कि वास्तविक सामान्य ही असम्भव है, अर्थ क्रियाकारी न होने के कारण। अपोह (निषेध) के दो पर्युदास और भेद है प्रसज्य। पर्युदास भी दो प्रकार का है—बुद्धिरूप और अर्थरूप। सविकल्पक ज्ञान मे अर्थाकार रूप से जो अर्थ का आभास होता है उसे अपोह कहा जाता है। जिसके द्वारा अन्यका अपोह (निषेध) किया जाय उसे अन्यापोह कहते है। वह अन्यापोह शब्द का मुख्य रूप से अभिधेय है। तात्पर्य यह है कि शब्दज्ञान मे जो प्रतिभासित हो उसे ही शब्दार्थ मानना उचित है। शब्द ज्ञान मे न तो प्रसज्यप्रतिपेध (तुच्छाभावरूप) का ही अध्यवसाय होता है और न स्वलक्षण का ही प्रतिभास होता है। किन्तु बाह्यार्थ की निश्चायक एक शाब्दी बुद्धि उत्पन्न होती है। अतः उसे ही शब्दार्थ मानना चाहिए। शब्द का अर्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध भी कार्य कारण भाव से भिन्न नही है क्योकि बुद्धि मे जो अर्थ का प्रतिबिम्ब होता है वह शब्द-जन्य है इसलिए उसे वाच्य कहते हैं और शब्द का जनक होने से वाचक कहते है।[2]

इस प्रकार बौद्ध धर्म ने दार्शनिक क्षेत्र मे आकर चिन्तन की भूमिका को आगे बढ़ाया। आध्यात्मिक सिद्धान्तो को दार्शनिक रूप देना और उस पर अपने ढंग से विचार प्रस्तुत करना बौद्ध दार्शनिको का विशेषता है। दर्शन के क्षेत्र मे यह उनका अविस्मरणीय योगदान कहा जा सकता है।

—: ० :—

---

१. प्रमाण वा. टी. १. पृ० २८८, जैन न्याय, पृ. १३६

२—जैन न्याय, पृष्ठ २४३–२४६

परिवर्त ‖ ६

बौद्ध विनय की उत्पत्ति और विकास

विनय का यहाँ विशेष रूप से सम्बन्ध उपासक–उपासिकाओ एवं भिक्षु-भिक्षुणियो के लिए निर्धारित उन नियमो से है, जिनसे वे मुक्ति-पथ को प्रशस्त करते है। प्राचीन भारतीय सस्कृति मे प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के विशिष्ट नियम रहा करते थे। परिव्राजक सम्भवत: एक सर्व सामान्य सन्यासी जीवन का प्रतीकात्मक शब्द था। श्रमण परिव्राजक और ब्राह्मण परिव्राजक जैसे शब्दों का प्रयोग जैन तथा बौद्ध साहित्य में बहुत अधिक मिलता है। वैदिक साहित्य मे वैखानस, वानप्रस्थ, ब्रह्मचर्य, सन्यास आदि शब्दों का प्रचलन प्रचुरता से हुआ है। परन्तु जैन एवं बौद्ध संस्कृति मे अनगार अथवा भिक्खु शब्दो ने लोकप्रियता पायी है। सभी सम्प्रदायो मे सासारिक स्नेहजाल को मुक्ति प्राप्ति का प्रमुख बाधक तत्त्व स्वीकार किया गया है। इसी बाधक तत्त्व को समाप्त करने के लिए विनय का आचरण किया जाता है। इसी सन्दर्भ मे बौद्ध विनय पर हम विचार करेंगे।

भिक्षु (भिक्खु) विनय

बौद्ध विनय की उत्पत्ति तथागत भगवान् बुद्ध से ही हुई है। सम्बोधि प्राप्ति के बाद बुद्ध ने सर्वप्रथम पञ्चवर्गीय भिक्षुओ को धर्मोपदेश दिया। उनमे कौण्डिन्य को मध्यम मार्ग और चतुरार्यसत्य का ज्ञान होने पर "जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है वह नाशवान् है" यह विरज निर्मल धर्मनेत्र उत्पन्न हो गया। उसका अनुसरण करने पर वप्प भद्दिय, महानाम और अश्वजित को भी धर्मचक्षु प्राप्त हो गये। पञ्चवर्गीय भिक्षुओ ने भगवान् से प्रव्रज्या और उपसम्पदा की याचना की। भगवान् ने "एहि भिक्खू, स्वाक्खातो धम्मो चरं ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्त किरियाय" (भिक्षुओ ! आओ, धर्म सुव्याख्यात है, अच्छी तरह दु:ख क्षय के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो,) कहकर उन्हे अपने संघ मे प्रविष्ट किया।

भिक्षु संघ के निर्माण का यह श्रीगणेश था। बाद मे वाराणसी के श्रेष्ठी पुत्र यश उसके मित्र विमल, सुबाहु, पूर्णजिन और गवाम्पति ने भी बुद्ध की प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की। उनकी उपसम्पदा को सुनकर पचास अन्य गृहपतियो ने भी आकर भगवान् से विरजचक्षु प्राप्त किये और दीक्षा ली।

इस प्रकार बुद्ध के संघ मे कुल एकसठ भिक्षु हो गये। अब भगवान् के मन मे अपने धर्म के प्रचार-प्रसार की बात आयी। उन्होने इन भिक्षुओ से कहा—"हम सभी दिव्य और मानुष बन्धनो से दूर है। भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। आदिकल्याणकारी, मध्यकल्याणकारी और अन्तकल्याणकारी इस धर्म का उपदेश करो। सार्थ, सव्यञ्जन, केवल परिपूर्ण और परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। ये सासारिक प्राणी अल्प दोषवान् हैं। धर्म का श्रवण न करने से उनकी हानि होगी और सुनने से वे धर्मज्ञ होंगे।[1] इन भिक्षुओ को बुद्ध ने प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने का अधिकार देकर नाना दिशाओं मे धर्म-प्रचारार्थ भेज दिया। इस समय उपसम्पदा देने का प्रकार यह था—पहिले सिर दाढ़ी का मुण्डन कराया जाता, फिर काषाय वस्त्र पहनाया जाता, बाद मे उसे एक कन्धे पर रखकर भिक्षुओं की पादवन्दना करायी जाती तथा उकड़ूं बैठाकर अञ्जलि से प्रणाम कराकर तीन बार यह कहलाया जाता—बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरण गच्छामि, सघं सरण गच्छामि। बौद्ध विनय के विकास का यह द्वितीय चरण था।

इन भिक्षुओं को उपसम्पदा देने का अधिकार देकर बुद्ध स्वयं भी उरुवेला (गया) की ओर धर्म-प्रचार के उद्देश्य से ही चल पडे। बीच मे वनखण्ड मे ध्यान करते समय भद्रवर्गीय तीस मित्र आये और उन्हे उपसम्पदा दी। उरुवेला पहुँचकर बुद्ध ने जटिल बन्धुओ (उरुवेल, नदी और गया काश्यप) को

---

१. मुत्ताह, भिक्खवे, सब्बपासेहि ये दिब्बा ये च मानुसा। तुम्हे पि भिक्खवे मुत्ता—चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय धन्नाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। मा एकेन द्वे अगमित्थ। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। सन्ति सत्ता अप्परजक्ख जातिका अस्सवनता धम्मस्स परिहायन्ति भविस्सति धम्मस्स अञ्ञातारो—महावग्ग. पृ. २३

पन्द्रह प्रातिहार्य दिखाकर अपने संघ मे दीक्षित किया। उनके साथ ही उनके एक सहस्र शिष्य भी भगवान् के अनुयायी हो गये। राजगृह में पहुँचने पर मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार ने तथागत की शरण ली और भिक्षुसंघ के लिए वेणुवन भेंट किया। २५० शिष्यों के साथ संजय से भी यही भेंट हुई। संजय के शिष्य सारिपुत्र को बुद्ध के शिष्य अश्वजित ने संलाप के बीच अपने गुरु का नाम बताया और उनके मूल सिद्धान्त को उपस्थित किया—

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥

सारिपुत्र (उपतिष्य) को यह धर्मपर्याय रुचिकर लगा। उसका मित्र मौद्गल्यायन (कोलित) भी प्रसन्न हुआ। फलत, संजय अपने शिष्य परिवार के साथ बुद्ध की शरण मे आ गया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन बुद्ध के प्रधान शिष्य हो गये। तथागत बुद्ध के संघ की यह वृद्धि विशेष फलदायी रही।

इस समय तक भगवान् बुद्ध के सघ मे लगभग १५०० भिक्षु हो चुके थे। उपाध्याय के बिना वे अनुशासनहीन और प्रभावहीन दिखाई देते थे। संघ की यह कमी जानकर बुद्ध ने भिक्षुओं को उपाध्याय ग्रहण करने की अनुमति दी। इस प्रसंग मे विनय पिटक (महावग्ग) मे उपाध्याय और शिष्य के कर्त्तव्यों का आलेखन किया गया है। उनके गुणो और अवगुणो पर भी प्रकाश डाला गया है। तदनुसार शिष्य मे ये पॉच गुण होना चाहिए—उपाध्याय के प्रति अति-प्रेम हो, श्रद्धा हो, लज्जाशील हो, गौरव देनेवाला हो और ध्यानादि की अधिक भावना करता हो। इसी प्रकार उपाध्याय के भी शिष्य के प्रति कर्तव्य बताये गये हैं कि वह शिष्य को उपदेश दे, पात्र दे, चीवर दे और रोगग्रस्त हो जाने पर परिचर्या करे। उत्तराध्ययन (प्रथम अध्ययन) मे भी इसी प्रकार शिष्य और उपाध्याय के कर्तव्यो का वर्णन मिलता है। कल्याणमित्र ही सही अर्थ में उपाध्याय है। विनय के विकास का यह तृतीय चरण है।

इसके बाद कुछ परिस्थितियो के कारण तथागत ने उपसम्पदा के नियमों मे परिवर्तन किया। अब ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारण के माध्यम से उपसम्पदा दी जाने लगी। उपसंपदा योग्य भिक्षु के लिए संघ को इस प्रकार ज्ञापित करना आवश्यक था।

१. ज्ञप्ति—भन्ते! संघ मुझे सुने, अमुक नामक, अमुकनाम के आयुष्मान् का उपसंपदापेक्षी है। यदि संघ उचित समझे, तो संघ अमुक नामक को, अमुक नामक के उपाध्यायत्व मे उपसम्पन्न करे।

२. अनुश्रावण—भन्ते ! संघ मुझे सुने, अमुक नामक, अमुक नामके आयुष्मान् का उपसंपदापेक्षी है। संघ अमुक नामक को अमुक नामक के उपाध्यायत्व मे उपसम्पन्न करता है। जिस आयुष्मान् को अमुक नामक की उपसंपदा अमुक नामक के उपाध्यायत्व मे स्वीकार है, वह चुप रहे, जिसको स्वीकार न हो, वह बोले। इस बात को संघ के समक्ष तीन बार कहा जाता।

३. धारणा—संघ को स्वीकार है, इसलिए चुप है—ऐसा समझता हूँ।

भिक्षु जब तक स्वयं उपसम्पदा की याचना न करे, उसे उपसम्पन्न नही किया जाता। उपसम्पदा देते समय भिक्षु को स्पष्ट रूप से बताना चाहिए कि उसे चार निश्रयो (जीविका के साधनो) का पालन करना होगा—(१) भिक्षा मांगना और पुरुषार्थ करना। संघ भोज, उद्दिष्ट भोजन, निमन्त्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक भोजन आदि भी विहित है। (२) श्मशान आदि मे पड़े चिथड़ो से चीवर तैयार करना। क्षौम, कापासिक, कौशेय, कम्बल आदि का वस्त्र भी विधेय है। (३) वृक्ष के नीचे निवास करना। बिहार, आढ्य योग, प्रासाद, हर्म्य, गुहा आदि भी विहित है। (४) गोमूत्र की औषधि का ग्रहण करना। घी, मक्खन, तेल, मधु, खाड अधिक लाभ मे विधेय है। मूलत. ये चार निश्रय थे। इनमे अधिक लाभ को विधेय बाद मे किया गया। बौद्ध विनय का यह चतुर्थ चरण है।

धीरे-धीरे उपसम्पदा के नियमो-विधानो मे भी अन्तर होता गया। हर नियम के पीछे किसी घटना विशेष का हाथ रहा है। अब उपसम्पदा का विधान हुआ कि उपसम्पदा दस या दस से अधिक पुरुष वाले गण द्वारा दी जाय तथा उपसम्पदा पानेवाला भिक्षु भी चतुर और जानकार हो और दस अथवा दस से अधिक वर्ष की अवस्था वाला हो। उपाध्याय के अभाव मे आचार्य करने की भी अनुमति दी गई। आचार्य-शिष्य मे पिता-पुत्रवत् सबंधों का निर्देशन मिला। उपाध्याय ओर आचार्य से शिष्यत्व (निश्रय) तभी विच्छिन्न माना जाता जब वे आश्रम छोड़कर चले गये हो, या विचार-परिवर्तन कर लिया हो, या काल-कवलित हो गये हों, या धर्मान्तर ग्रहण कर लिया हो अथवा उसकी स्वीकृति दे दी हो। उपसम्पदा अथवा प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक था कि साधक सम्पूर्णत: शील सम्पन्न हो, समाधिसम्पन्न हो, प्रज्ञावान् हो, राग-द्वेषादि से विमुक्त हो, विमुक्ति-ज्ञान के साक्षात्कार-पुञ्ज से युक्त हो, श्रद्धालु हो, लज्जाशील, संकोची, उद्योगी, स्मृति - सम्पन्न, दोषज्ञ, सेवाभावी, कल्याणमित्र और प्रातिमोक्ष सम्पन्न हो। अन्य सम्प्रदाय में रहने वाले व्यक्ति के लिए चार माह का परिवास दिया जाता पर शाक्य जातीय,

नग्नक (जैन) और जटिलक साधु इस परिवास के नियम से मुक्त थे क्योकि वे कर्मवादी और क्रियावादी थे ।[1] प्रव्रज्या ग्रहण करने की भी कुछ योग्यतायें निर्धारित की गई । निम्नलिखित व्यक्ति प्रव्रज्या के अयोग्य होते थे—कुष्ठ, फोडा, चर्मरोग, सूजन और मृगी बीमारियों से पीड़ित राजसैनिक, ध्वजबन्ध डाकू, चोर, राजदण्ड प्रापक, ऋणी और दास । आगे उपसम्पदा पाने वाले की अवस्था को बीस कर दिया गया और श्रामणेर की अवस्था को पन्द्रह निश्चित किया गया । एक भिक्षु एक अथवा जितने श्रामणेरो को अनुशासित कर सके, उतनी संख्या मे श्रामणेर रख सकता था । श्रामणेर को दस शिक्षापदो का पालन करना आवश्यक बताया गया—पाणातिपात, अदिन्नादान, मुसावाद, सुरामेरयमज्ज-प्पमादट्ठान, विकालभोजन, नच्चगीतवादित विसूकदस्सन, मालागन्ध, विलेपन धारणमण्डन, विभूसनट्ठान, उच्चासयनमहासयन और जातरूपरजतपटिग्गहण से दूर रहना (वेरमण) वे श्रामणेर दण्डनीय होते थे जो भिक्षुओ के अलाभ, अनर्थ, आवास, निन्दा और सघर्ष के जनक होते थे । दण्ड मे उन श्रामणेरो को संघाराम के वासस्थल मे प्रवेश नही करने दिया जाता। कुछ ऐसे कर्म भी होते थे जिनके प्रतिफल स्वरूप श्रामणेर का निष्कासन भी कर दिया जाता, जैसे—प्राणिहिंसा करना, चोरी करना, अब्रह्मचारी होना, झूठ बोलना, मद्यपान करना, बुद्ध-धर्म-संघ की निन्दा करना, मिथ्यादृष्टि सम्पन्न हो जाना और भिक्षुणी दूषक सिद्ध होना। बाद मे उपसम्पदा के अयोग्य व्यक्तियों मे कुछ और सम्मिलित कर लिये गये । जैसे-पंडक (नपुंसक), अन्य तीर्थिकगामी, नाग (जाति ?), मातृ-हन्ता, पितृहन्ता, अर्हत्हन्ता, स्त्री-पुरुष दोनों लिङ्गवाला, पात्ररहित, चीवर रहित, आदि । प्रव्रज्या के लिए भी अयोग्य व्यक्तियो की गणना की गई है । जैसे—कटे हाथ-पैर -कान-नाक-अंगुलिवाला, पोर, कुबड़ा, बौना, लक्षणाहत, दण्डित, लिखितक, लूला, लंगड़ा, पक्षाघाती, ईर्यापथरहित, जराग्रस्त, अन्धा, गूगा, बहरा आदि । प्रव्रज्या के लिए भी साधक के माता-पिता की आज्ञा लेना अनिवार्य हो गया। अन्त मे उपसम्पदा ग्रहण करने के लिए निम्न शर्तें निर्धारित हुई, उदाहरणार्थ-साधक को किसी प्रकार का रोग न हो जैसे—कुष्ठ, गन्ड, किलास, शोथ, मृगी। मनुष्य हो, पुरुष हो, स्वतन्त्र हो, ऋणमुक्त हो, राजसैनिक न हो, माता-पिता से अनुमित हो, बीस वर्ष का हो, पात्र-चीवर आदि से युक्त हों । उपसम्पदा के साथ उसका और उसके उपाध्याय का नाम भी पूछा जाता । ज्ञप्ति, अनुश्रवण और धारणापूर्वक उपसम्पदा कर्म कर दिया जाता । बौद्ध विनय के विकास का यह **पञ्चम चरण** है । प्रत्येक चरण अनेक सोपान

---

१. महावग्ग, पृ० ७५

के बाद स्थिर हो सका, यह घटनाओं से प्रमाणित है ही। इसके बाद भी विकासात्मक चरण स्थिर नहीं रहा।

उपोसथ—उपोसथ का तात्पर्य है—भिक्षु संघ एकत्रित होकर धर्मोपदेश करें। प्राचीनकाल में बौद्धेतर मतावलम्बी, विशेषत: जैनधर्मानुयायी चतुर्दशी, पूर्णमासी और अष्टमी को एकत्रित होकर धर्मोपदेश किया करते थे। श्रेणिक बिम्बिसार के कहने पर तथागत बुद्ध ने भी इस विधान को अपने संघ के लिए निर्धारित किया। पातिमोक्ख (प्रातिमोक्ष) भी इसी से सम्बद्ध है। पातिमोक्ख का अर्थ है, भिक्षु-जीवन के विभिन्न नियम। महावग्ग में पातिमोक्ख को कुसल धर्मों में प्रमुख बताया है (आदिमेतं मुखमेतं पमुखमेत कुसलानं धम्मानं)। उपोसथ के दिन भिक्षु एकत्रित होकर प्रातिमोक्ष की आवृत्ति किया करते हैं। उपोसथ के लिए सीमा-निर्धारण भी किया गया है। पर्वत, पाषाण, वन, वृक्ष, मार्ग, वल्मीक, नदी, उदक आदि चिन्ह निश्चित कर दिये जाते हैं, जिसकी सूचना संघ को दे दी जाती है। कोई विहार, अटारी-प्रासाद, हर्म्य, गुहा आदि उपोसथागार के रूप में निश्चित कर दिया जाता जहां सभी भिक्षु पूर्व सूचना पाकर स्थविर भिक्षु के पास उपोसथ के लिए एकत्रित होते हैं। उपोसथ के चार कर्म हैं—संघ के कुछ भागका धर्म विरुद्ध उपोसथ कर्म करना, समग्र संघ का धर्म विरुद्ध उपोसथ करना, भाग का धर्मानुकूल उपोसथ करना और समग्र का धर्मानुकूल उपोसथ करना। इनमें अन्तिम कर्म विधेय है।

प्रातिमोक्ष—प्रातिमोक्ष और उपोसथ का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। भिक्षु नियमों के निश्चित हो जाने पर उपोसथके दिन प्रातिमोक्ष किया जाने लगा। आवृत्ति के पांच क्रम निर्धारित हुए—(१) निदान का पाठ करना, (२) निदान और पाराजिकों का पाठ करना, निदान, पाराजिक और संघादिशेषों का पाठ करना, (४) निदान, पाराजिक, संघादिशेष और अनियत धर्मों का पाठ करना, और (५) विस्तार के साथ प्रातिमोक्ष का पाठ करना। आपत्ति काल में प्रातिमोक्ष का संक्षिप्त पाठ करना भी विधेय माना गया। ऐसी स्थिति में शेष प्रतिमोक्ष को स्मृति से श्रुत मान लिया जाता है। आपत्तिकाल (अन्तराय) ये हैं—राज, चोर, अग्नि, उदक, मनुष्य, अमनुष्य, हिंसक सरीसृप, जीवन, और ब्रह्मचर्य। भिक्षु-संघ से स्वीकृति लेकर ही परस्पर में विनय पूछने की प्रक्रिया थी। और अवकाश लेकर दोषारोपण किया जाता था। नियम - विरुद्ध काम यदि कोई भिक्षु करे तो चार-पाँच भिक्षु उसे धिक्कारें, दो-तीन भिक्षु उसे अभिव्यक्त करें और एक भिक्षु यह कहे कि मुझे यह

रुचिकर नही। प्रातिमोक्ष का पाठ गृहस्थ-युक्त परिषद् मे निषिद्ध किया गया है। उसकी आवृत्ति चतुर और समर्थ भिक्षु के आश्रय मे होनी चाहिए। भिक्षु यदि लम्बी यात्रा के लिये जाये तो उसे भिक्षु संघ के (उपाध्याय) से अनुमति लेनी चाहिए। आवास मे यदि बहुश्रुत, आगमज्ञ, धर्मधर, विनयधर, मात्रिकाधर भिक्षु आयें तो उनकी सेवा करनी चाहिए। यदि आवास मे प्रातिमोक्ष को जानने वाला भिक्षु न हो तो ऐसे आवास मे चला जाय जहा उपोसथ कर्म अथवा प्रातिमोक्ष-पाठ के जानकर भिक्षु रहते हो। उपोसथ या सघकर्म मे सभी भिक्षुओ को उपस्थित होना आवश्यक है। यदि भिक्षु रोगी हो अथवा उसको उसके परिवारजन ले जाना चाहे, उसे राजा, चोर, बदमाश पकड लें तो उससे अपनी परिशुद्धि संघ के समक्ष भेज देनी चाहिए। यदि यह सभव न हो तो भिक्षु सघ के एक भाग को उपोसथ नही करना चाहिए। यदि कोई भिक्षु उन्मत्त हो गया हो तो उसके बिना सघ उपोसथ करे ऐसा प्रस्ताव आना चाहिए। उपोसथ कर्म के लिए अपेक्षित सख्या चार बतायी गई है पर कदाचित् तीन अथवा दो भी हों तो उन्हे परस्पर "परिशुद्धो अहं आवुसो,परिशुद्धो ति म धारेथ" यह वचन तीन बार कहना चाहिए। यदि भिक्षु अकेला हो तो उसे उपोसथ करने का दृढ संकल्प करना चाहिए। यदि कुछ नियम विरुद्ध कार्य हुए हो तो उनकी स्वीकृति पूर्वक उनका प्रतिकार हो नाचाहिए। यदि किसी आवास मे चार या अधिक आश्रमवासी भिक्षु हो तो उन्हे उपोसथ के दिन एकत्रित हो प्रातिमोक्ष का पाठ करना चाहिए। अन्य आश्रमवासी भिक्षु यदि उनकीसंख्या से अधिक हों तो प्रातिमोक्ष का पाठ पुन करना चाहिए, अन्यथा शुद्धि बतलानी चाहिए। सन्देह, संकोच, कटूक्तिपूर्वक अथवा अनुपस्थिति को जाने बिना किया गया उपोसथ सदोष माना गया है। इन दोषो को दूर करने पर प्रातिमोक्ष का पाठ पुन: होना आवश्यक है। उपोसथ की दो तिथियों में भिक्षु संख्या के आधार पर एक तिथि की स्वीकृति दी जाती है। आवासिकों तथा नवागन्तुको मे उपोसथ पृथक् रूप से नही किया जाता प्रत्युत उनकी संख्या के अनुसार उसका निर्धारण होता है। उपोसथ के दिन आवास त्यागने के भी नियम बनाये गये हैं। साधारणत: उस दिन आवास छोड़ा नही जाता। यदि किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो मे छोड़ना भी पड़े तो भिक्षुको ऐसे आवास मे जाना चाहिए जहा सहधर्मी हों और जहां उसी दिन पहुंचा जा सके। प्रातिमोक्ष-आवृत्ति लिए भी परिषद् के कुछ नियम हैं। यह परिषद् ऐसी होनी चाहिए जहां निम्न प्रकार के व्यक्ति उपस्थित न हों—भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर, श्रामणेरी, पाराजिक दोषी, पापदिट्ठिगत, तीर्थिकगत, मातृ-पितृ घातक, अर्हद् घातक, भिक्षुणी दूषक, पण्डक, संघभेदक आदि। इन नियमों के अतिरिक्त यह भी नियम बना कि उपोसथ की समूची प्रक्रिया उपोसथ के ही दिन पूरी होनी

चाहिए। उपोसथ और प्रातिमोक्ष का विधान ही बौद्ध वियम के विकास का षष्ठ **चरण** कहा जा सकता है।

वर्षावास—वर्षावास का विधान याता-यात की असुविधा तथा वर्षा के कारण उत्पन्न होने वाले जीवों के उपघात से बचने के लिए किया गया है। वैदिक तथा जैन सस्कृति मे भी यह मान्य है। जैन भिक्षु वर्षावास करते थे और हरित तृणों पर विचरण करने से अपने आपको बचाते थे। परन्तु बौद्ध भिक्षु न वर्षावास करते थे और न हरित तृणो को बचाते थे। बुद्ध के समक्ष यह बात रखी गयी। फलत उन्होने बौद्ध भिक्षुओ के लिए वर्षावास आवश्यक कर दिया[1]।

वर्षावास आसाढ पूर्णिमा अथवा श्रावण पूर्णिमा के दूसरे दिन से प्रारम्भ होता है जिसमे तीन माह तक स्थान परिवर्तन करना निषिद्ध है। यदि निम्न लिखित व्यक्तियो का सन्देश अथवा कार्य हो तो भिक्षु एक सप्ताह के लिए वर्षा-वास तोड़कर बाहर जा सकता है। भिक्षु, भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर, श्रामणेरी, उपासक, और उपासिका। बिहारादि का दान तथा पुत्र-पुत्री आदि के विवाह मे उपस्थित होना भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है। विनय पिटक मे कुछ ऐसी परिस्थितियो का भी वर्णन है जिनमे सदेश के बिना भी भिक्षु-भिक्षुणी एक सप्ताह के लिए बाहर जा सकते है। उदाहरणार्थ भिक्षु को यदि रोग, अनभिरति, कौकृत्य, मिथ्यादृष्टि, गरुधर्म आदि उत्पन्न हो गये हो तो भिक्षु बिना संदेश पाने पर भी उनकी सहायता करने जा सकता है। किन्ही विशेष परिस्थितियो मे स्थान-त्याग की भी अनुमति दी गई है। जैसे वन्य पशु, सरीसृप, चोर, पिशाच, अग्नि, जल, आदि का भय, अनुकूल भोजनादि की प्राप्ति न होना, गणिका, स्थूल कुमारी, पडक, ज्ञातिजन, भूपति, चोर आदि का आह्वान, कोषागार का दर्शन, और संघ भेद को रोकना। वृक्ष-कोटर, वृक्ष-वाटिका, अध्याकास, अशयन, शवकुटिका, क्षत्रवास, चाटीवास, आदि मे वर्षा-वास करना विधेय नही है।

प्रवारणा—वर्षावास के बाद भिक्षु संघ एकत्रित होकर अपने अपराधों का संदर्शन करता है। इसी को प्रवारणा कहा गया है। इसमे दृष्ट, श्रुत और परिशङ्कित अपराधों का परिमार्जन किया जाता है और परस्पर मे विनय का अनुमोदन होता है—

---

१. महावग्ग (विनय) पृ. १४४

अनुजानामि भिक्खवे, वस्स वुट्ठानं भिक्खूनं तीहि ठानेहि पवारेतु—दिट्ठेन वा सुतेन वा परिसङ्काय वा। सा वो भविस्सति अञ्ञमञ्ञानु-लोमता आपत्तिवुट्ठानता विनयपुरेक्खारता।[१]

प्रवारणा की प्रक्रिया यह है कि सर्वप्रथम चतुर, समर्थ भिक्षु संघ को सूचित करे कि आज प्रवारणा है। बाद में स्थविर भिक्षु उत्तरासंग को एक कन्धे पर रखकर उकड़ूं बैठे तथा हाथ जोड कर सघ को यह सूचित करे कि मैं इष्ट, श्रुत और परिशंकित अपराधों की प्रवारणा करता हूँ। संघ मेरे अपराधो को बताये। मै उनका प्रतिकार करूंगा। यह बात तीन बार दुहरायी जाती है। नवीन भिक्षु को भी प्रवारणा इसी प्रकार लेनी पड़ती है। उपोसथ मे अपने अपराधों की पाक्षिक परिशुद्धि हो जाती है और प्रवारणा मे वार्षिक परिशुद्धि हो जाती है। प्रवारणायें दो होती है—चतुर्दशी की और पञ्चदशी की। इसके चार कर्म होते हैं—धर्म विरुद्ध वर्ग का प्रवारणा कर्म, धर्म-विरुद्ध सम्पूर्ण संघ का प्रवारणा कर्म, धर्मानुसार वर्ग का प्रवारणा कर्म और धर्मानुसार सम्पूर्ण संघ का प्रवारणा कर्म। प्रवारणा कर्म मे कम से कम पाच भिक्षु रहना चाहिए। बाद मे चार, तीन, दो और एक भिक्षु को भी प्रवारणा करने की अनुमति दे दी गई। प्रवारणा कर्म तीन बार दोहराया जाता है, पर विशिष्ट अवस्था मे दो वचन और एक वचन की भी प्रवारणा विधेय मानी गई है। शबर भय, भिक्षु कलह, वर्षा, चोर, अग्नि, जल, मानव, अमानव, हिंसक जन्तु सरीसृप, मरण, शीलपतन आदि के भय की सभावना होने पर प्रवारणा को अधिक से अधिक सक्षिप्त किया जा सकता है। भिक्षुओ के कुछ दोष ऐसे होते है जबकि उनकी प्रवारणा को स्थगित कर दिया जाता है। जैसे—भिक्षुओ को अवकाश न करना, अथवा किसी की प्रवारणा को अनुचित रूप से स्थगित रखना। यदि कोई भिक्षु अपने दोष का निह्नव करे तो हठात् उसकी प्रवारणा करानी चाहिए। विशेष आवश्यकता होने पर प्रवारणा को संघ की स्वीकृति पूर्वक किसी अन्य समय मे भी किया जा सकता है।[२] वर्षावास और प्रवारणा के विधान को बौद्ध विनय के विकास का सप्तम चरण कहा जा सकता है।

उपानह—विनय पिटक मे भिक्षु को केवल एक तल्ले वाले (एक पलासिक) जूते पहनने का विधान मिलता है। इस प्रसंग में उस समय प्रचलित जूतो का सुन्दर आलेखन है। बुद्धकाल मे नीली, पीली, काली, मजीठिया,

---

१. महावग्ग पृ० १६७

२. महावग्ग पवारणाक्खन्धक

महारंग, और महानाम से रंगी पत्ती वाले जूते पहने जाते थे। खल्लकबद्ध, पुटबद्ध, पालिगुण्ठित, तूलपूणिक, तित्तिरपत्तिक, मेण्ड विसाणवद्धिक, विच्छिकालिक, मयूरपिच्छ-परिशिल्पित, चित्रित सिंह, व्याघ्र, चीता, हरिण, ऊदविलाव, मार्जार, कालक, उलूक आदि पशु-पक्षियों के चर्म के जूते बनते थे। ये जूते भिक्षु वर्ग के लिए असेवित थे। पुराने अनेक तल्लो के जूतो की भी स्वीकृति बाद मे दे दी गई। आराम मे भी उपानह, मसाल, दीपक और दण्ड रख सकते थे। काठ, ताडपत्र, बांस, तृण, मूँज, बल्वज, हिताल, कमल, कम्बल आदि से पादुकायें निर्मित होती थी तथा उनमे स्वर्ण, रजत, मणि, वैदूर्य, स्फटिक, कास, कांच, रांगा, सीसा, ताबा आदि भी लगाया जाता था। ऐसी पादुकाएं भिक्षु के लिए निषिद्ध की गई हैं।

वाहन और आसन—साधारणत: भिक्षु को वाहन पर चलना मना है। परन्तु बाद मे नरयान, और हस्तियान तथा शिविका और पालकी के उपयोग की भी स्वीकृति रोगी भिक्षु के लिये दे दी गई। आसदी, पर्यङ्क, गोड़क, चित्रक, पटिक (गलीचा), तूलिक, विकतिक, उद्दलोमि, एकान्त लोमि, कटिस्स, कौशेय, कुत्तक, हत्थत्थर (हाथी का भूला), अस्सत्थर, रथत्थर, मृगछाल, कदलीमृग-शय्या, सउत्तरच्छद, उभतोलोहितकूप जैसे उच्चशयनो और महाशयनो का प्रचलन था। पर उनका सेवन भिक्षु के लिए निषिद्ध था। सिंह, व्याघ्र, चीते आदि के चमड़े को भी उसे धारण नही करना चाहिए क्योकि इससे प्राणिवध की प्रेरणा मिलती है। सीमान्त देशों मे जाने पर भिक्षुओ के नियमो मे कुछ और ढिलाई कर दी गई। वहा विनयधर सहित पाच भिक्षुओं के गण से उपसंपदा करने का विधान हुआ। गणवाले उपानहों को धारण करने, नित्य स्नान करने, चर्ममय आस्तरण रखने तथा चीवरपर्याय (विकल्प) करने की भी अनुमति मिली।[1]

भैषज्य—बौद्ध भिक्षु वर्ग के लिए घी, मक्खन, तेल, मधु, और शक्कर इन पांच भैषज्यो का सेवन पूर्वाह्न—अपराह्न काल मे भी विहित है। रीछ, मछली, सुसुका, सूकर, गर्दभ आदि की चर्बी से निर्मित भैषज्य, हल्दी, सिङ्गिवेर, अदरक, वच, वचस्थ, अतीस, खस, भद्रमुका (नागरमोथा) आदि जड़वाली दवायें, नीम, कुटज, पटोल, तुलसी, कपासी आदि के पत्तों से निर्मित दवायें; विडंग, पिप्पली, मिर्चे, हर्रा, बहेरा, आँवला, गोष्ठफल आदि फल रूप दवायें, सामुद्रिक, काला, सेंधा, वानस्पतिक, विलाल आदि नमक के प्रकारों से निर्मित दवायें, हींग,

१. महावग्ग, चर्मस्कन्दक

हींगकी गोद, हींग की सिपाटिका, तक, तकपत्ती, तकपर्णी, सुज्जुलस आदि गोंद वाली दवायें, तथा खुजली, फोडा आदि के लिए चूर्ण की दवायें भी भिक्षु ले सकता है । इस प्रसंग मे अनेक रोग और उसकी दवाओं का भी उल्लेख किया गया है । उदाहरणार्थ—भूतप्रेत (अमनुष्य) के रोग मे कच्चा माँस और कच्चा खून ग्रहण करना चाहिए । नेत्ररोग के लिए काला अञ्जन, रस अञ्जन, स्रोत अञ्जन, गेरू और काजल लगाये । सिर दर्द करने पर सिर मे तेल की मालिस की जानी चाहिए । इसके अतिरिक्त नस, नस करनी, और धूमवत्ती का भी उपयोग हितकर होता है । वात रोग मे तेल मे मद्य डालकर उसे पकाकर पीना चाहिए तथा मालिस करना चाहिए । अधिक से अधिक स्वेद निकल जाने से भी वात रोग ठीक हो जाता है । सम्भार (स्वेदक पत्तो के बीच सोना), महास्वेद (गड्ढे मे अग्नि और पत्ते भरकर उस पर लेट जाना), भंगोदक उबले पत्तों से स्वेद निकालना), उदक कोष्ठक (उष्ण जलसे स्वेद निकालना) ये चार स्वेदकर्म की प्रक्रियाये है । रक्त बाहर निकाल देने से भी वात रोग का शमन हो जाता है । पैर मे मालिश करने से बिवाई (पैर फटना) मिट जाती है । शस्त्रकर्म करने से फोडा मिटता है । घाव को पट्टी बाधकर ठीक किया जाता है । घाव में खुजलाहट होने पर सरसों के लोथे से उसे सहला दिया जाता है । मास बढ़ जाने पर नमक की कंकरी से उसे काट दिया जाता है । सर्प के काटे जाने पर पुरीष (गूथ), मूत्र, राख (क्षारिक) और मिट्टी के सेवन से लाभ होता है । विष चिकित्सा के लिए भी पुरीष (टट्टी) का प्रयोग होता है । भूत-प्रेत की बाधा होने पर आमिषोदक (अनाज जलाकर बनाया गया सीरा) पिलाया जाता । पाण्डुरोग में गोमूत्र की हर्रें पिलायी जाती । छविदोष होने पर गधक का लेप कराया जाता । काय के अभिसन्न होने पर जुलाब दिया जाता । बौद्ध भिक्षुओ के लिए ये सभी दवायें निषिद्ध नही थीं । घी, मक्खन, मधु, और तेल को एक सप्ताह से अधिक रखने का उनके लिए विधान नही है । गुड, मू ग और छांछ भी लिया जा सकता है । वायगोले की बीमारी मे छाछ लाभकारी होती है । आराम के भीतर रखा, पकाया, और स्वयं बनाया भोजन करना निषिद्ध है । परन्तु दुर्भिक्ष में यह नियम शिथिल किया जा सकता है । कल्प्यकारक न होने पर भक्षणीय फल स्वीकार्य हैं । भोजनोपरान्त आनीत भक्ष्य भी ग्रहणीय है । गुप्त स्थान के चारो ओर दो अंगुल तक शस्त्रकर्म अथवा वस्तिकर्म नही करना चाहिए । बौद्ध विनय के अनुसार भिक्षु के लिए मास भक्षण भी निषिद्ध नही है । परन्तु मनुष्य, हाथी, अश्व, कुक्कुर, सर्प, व्याघ्र, भालू और तरच्छ (लकड़बग्घा) के मांस का भक्षण निषिद्ध बताया गया है । यवागू (खिचड़ी) का भोजन बुद्ध के समय लोकप्रिय रहा होगा । उसके भोजन करने में दस गुण बताये गये हैं—

वर्ण, सुख, बल और प्रतिभा का विकास होता है, क्षुधा और पिपासा दूर होती है, वायु को अनुकूल होता है, पेट साफ हो जाता है और अपच को पकाता है। यवागू अनेक रोगो की अच्छी दवा है। रोगी को गुड और नीरोग को गुड़ का रस दिया जाता। जैसा पहले लिखा गया है, बौद्धधर्म मे मांसभक्षण निषिद्ध नही था। शर्त यह थी कि वह मास 'तिकोटिपरिसुद्ध' हो। भिक्षुओ के उद्देश्य से वह न बनाथा गया हो। इसलिए अदृष्ट, अश्रुत और अपरिशङ्कित मास ही भक्षणीय की श्रेणी मे रखा गया है।[1]

पाच गोरसों का विधान पहले ही हो चुका था। आगे गहन कान्तार मे जाते समय तण्डुल, नवनीत, गुड़, उड़द, मूग, तेल, घी के पाथेय रखने की भी अनुमति दे दी गई। आम्रपान, जम्बूपान, चोचपान, मधुपान, मुद्दिक पान (अगूर), सालुकपान, और फारुसकपान, तथा अनाज के फल के रस को छोड़कर सभी फलों के रस की, मात्र ढाक के रस को छोड़कर सभी पत्तो के रसकी, महुए के पुष्प रस को छोड़कर सभी पुष्परसो के पान की अनुज्ञा दे दी गई।[2] बौद्ध विनय के विकास का यह **अष्टम चरण** कहा जा सकता है।

कठिन चीवर—वर्षावास समाप्त होने पर कुछ पाठेय्यक भिक्षु तथागत के दर्शन करने भीगते हुए श्रावस्ती पहुँचे। इसी घटना से कठिन चीवर का विधान हो गया। 'कठिन' चीवर वह है जो वर्षावास के बाद संघ की सम्मति से सम्मान प्रदर्शनार्थ किसी भिक्षु को दिया जाय। कठिन चीवर ग्रहीत भिक्षुओं को पांच बातें विहित हैं—विना आमन्त्रण के विचरना (अनामन्त चारो), बिना तीनों चीवर लिए विचरना (असमादान चारो), गण भोजन, इच्छानुसार चीवर ग्रहण करना (यावदत्थ चीवर) तथा चीवर मिलते समय जो वहाँ होगा, वह चीवर उसीका हो जायगा। कठिन चीवर के लिए संघ के समक्ष दृप्ति, अनुश्रावण और धारणा अवश्य होना चाहिए।

कठिन चीवर की उत्पत्ति मे आठ कारण हैं—पक्कनन्तिका, निट्ठानन्तिका, सन्निट्ठानन्तिका, नासनन्तिका, सवनन्तिका, आसावच्छेदिका सीमातिक्कन्तिका और सहुब्भारा। यहाँ भिक्षु इस कठिन चीवर का उद्धार कभी अनाशा पूर्वक करता है कभी आशा पूर्वक करता है, कभी करणीय पूर्वक करता है, कभी अपविनय पूर्वक करता है और कभी फासु विहार पञ्चक (सुख पूर्वक विहार वाला) पूर्वक करता है।[3]

---

१. विनय पिटक, महावग्ग, पृ० २५३
२. " " " भेसज्जक्खन्धक
३. " कठिनक्खन्धक

चीवरक्खन्धक के प्रारम्भ मे राजगृह के प्रसंग मे **जीवक** चरित दिया हुआ है। जीवक सालवती गणिका से उत्पन्न प्रसिद्ध चिकित्सक था, जिसे अभय राजकुमार ने पाला-पोसा था। यहां अनेक रोगो की दवाओ का उल्लेख मिलता है, जिनका प्रयोग जीवक ने अपनी चिकित्सा पद्धति मे किया था। विविध जडी बूटियो को घी मे पकाकर नासिका रन्ध्रो मे डालने से साकेत श्रेष्ठी की भार्या का पुराना शिर दर्द दूर हो गया था। बिम्बिसार के भगन्दर रोग को एक ही लेप में ठीक कर दिया था। राजगृह के एक सेठ के शिर की शल्य चिकित्सा कर उसमे से एक बड़े जन्तु को निकाल दिया था, जो सेठ की मृत्यु का कारण बनने वाला था। जीवक ने वाराणसी के एक श्रेष्ठी पुत्र की अतडी में शल्य चिकित्सा द्वारा ही गॉठ निकाली। प्रद्योत के पाण्डु रोग को कषाय वर्ण-रस गंध से युक्त घी पिलाकर दूर किया। तथागत के शरीर को भी विरेचन से जीवक ने शुद्ध किया तथा इसी के साथ प्रद्योत का दिया हुआ एक दुशाला जोड़ा भी बुद्ध को भेंट किया, जिसे उन्होने स्वीकार किया। इसी प्रकार गृहपति द्वारा प्रदत्त कौशेय और कोजव (कम्बल) को स्वीकार कर लिया गया। बाद मे तो भिक्षु के लिए छः प्रकार के चीवर धारण करने की अनुज्ञा मिल गयी—क्षौम, कंपास, कौशेय, कम्बल (ऊन), साण (सन), और भंग (मिश्रिन)। इन नये चीवरो के साथ पॉसुकूल चीवर भी धारण करना पडता था। बौद्ध विनय के विकास का वह **नवम् चरण** माना जा सकता है।

संघकर्म—संघ का विकास इस समय पर्याप्त हो चुका था। बुद्ध की लोकप्रियता बढ गयी थी। इसलिए चीवरदान भी बहुत अधिक आना प्रारम्भ हो गया था। फलत. उनके विभाजन के लिए सघ के कर्मचारियो का चुनाव होना आवश्यक था। इसके लिए एक चीवर प्रतिग्राहक का चुनाव होता था। चीवर प्रतिग्राहक वह हो सकता था जो छन्दागति (स्वेच्छाचारिता), दोष, मोह, भय और गुप्तागुप्त से दूर हो। इसी प्रकार इन्ही गुणो से युक्त एक चीवर निदहक भण्डागारिक और चीवर भाजक भी चुना जाता था।

चीवर—संघ के इन सभी अधिकारियो के माध्यम से समागत चीवर भिक्षुओं को बाट दिये जाते थे। अयोग्य अथवा बुरे चीवरो को रख दिया जाता था। समागत चीवरों मे उपार्ध (दो तिहाई) भाग श्रामणेरो को भी दिया जाता था। चीवर दुवर्ण होने पर मूल, स्कन्ध, त्वक्, पत्र, पुष्प और फल के रंगों से रंग दिये जाते थे। रंगने के लिए नांद, थाल, कूड़ा, घड़ा, दोषी, आदि बर्तन रखने की भी अनुमति दे दी गई थी।

इसी स्कन्धक मे चीवर बनाने की विधि भी दी हुई है। सघाटी, उत्तरासंग और अन्तर वासक को काटकर (छिन्नक) बनाया जाता। इनमे कुश, अर्धकुश, मण्डल, अर्धमण्डल, विवर्त, अनुविवर्त, ग्रैवेयक, जाघेग्रक और बाहुवन्त का ध्यान रखा जाता। चीवर अधिक मिलने पर उन्हे परिमित कर दिया गया। एक भिक्षु अधिक से अधिक तीन चीवर रख सकता था—दोहरी संघाटी, एकहरा उत्तरासंग, और एकहरा अन्तरावासक। अतिरिक्त चीवर बाद मे विकल्प के रूप मे रखे जाने लगे। पुराने कपडों के चीवरो की संख्या इससे भी अधिक निश्चित कर दी गई। मृगार माता विशाखा के कारण भिक्षुओ को वार्षिक साटिका, नवागन्तुक भोजन, गमिक भोजन, रोगी भोजन, रोगी परिचारक भोजन, रोगी भैषज्य और यवागू ग्रहण करने की तथा भिक्षुणियो को उदक साटी रखने की भी अनुमति मिल गई। इसके अतिरिक्त प्रत्यस्तरण (आसन की चादर), प्रतिच्छादन (कोपीन), मुखपुञ्छन चोलक (रूमाल), और परिष्कार चोलक (थैला) रखने का भी विधान हुआ। उपासको द्वारा दान मे दिये गये चीवरों पर संघ का अधिकार होता था और उन चीवरों का वितरण भिक्षुओं मे संघ ही करता था। परिनिर्वृत भिक्षु अथवा श्रामणेर की सम्पत्ति संघ की सम्पत्ति होती है। इसी प्रसंग मे यह भी बताया गया है कि नग्नता तीर्थिकों का आचरण है। बौद्ध भिक्षुओ को उसका आचरण नही करना चाहिए। कुश चीर, अजिन-क्षिप, अर्कनाल, पोत्थक आदि चीवर भिक्षुओ के लिए ग्रहणीय नही। इसी प्रकार सभी नीलक, पीतक, लोहितक, मंजिष्ठक, कृष्णक, हरितक, महानाम रक्तक, कञ्चुक, तिरीटक, वेठन आदि प्रकार के चीवर को धारणा करना भिक्षुओ के लिए अनुचित है।[1]

दण्ड-व्यवस्था—चांपेय स्कन्धक मे कर्मादि के प्रकार और संघ की गतिविधियो पर प्रकाश डाला गया है। भिक्षु का कर्तव्य है कि वह निर्दोष भिक्षु को उत्क्षिप्त न करे और यदि प्रमादवश उत्क्षिप्त किया हो तो अपने अपराध को स्वीकार कर ले। कर्म साधारणत छः प्रकार के हैं—अधर्म कर्म, वर्ग कर्म, समग्र कर्म, धर्म प्रतिरूपक वर्ग कर्म, धर्म प्रतिरूपक समग्र कर्म, और धर्म समग्र कर्म। भिक्षुक सघ पॉच प्रकार का होता है—चार, पाँच, दस, बीस और बीस से अधिक भिक्षुओं का संघ। चतुर्वर्ग भिक्षु संघ उपसपदा, प्रवारणा और आह्वान को छोडकर धर्म समग्र होकर सभी कर्म कर सकता है। पञ्चम वर्ग भिक्षुसंघ आह्वान और मध्यम जनपदों मे उपसंपदा को छोड़ देता है। दशवर्ग भिक्षुसंघ आह्वान को छोड़ता है और विंशति वर्ग अथवा अतिरिक्त विंशतिवर्ग भिक्षुसंघ धर्मसमग्र

१ विनय पिटक, चीवरक्खन्धक

होकर सभी कर्म कर सकते है । सघ के बीच उन्मत्त, तीर्थिकगत, मातृ-पितृ घातक आदि भिक्षुओ को प्रतिक्रोशन देना लाभ दायक नही, पर प्रकृतिस्थ साधु को प्रति-क्रोशन देना लाभदायक है । वहाँ सघ से निस्सारण और अवसरण के नियम भी दिये गये है । इसके बाद अधर्मकर्म, धर्म कर्म, तर्जनीय कर्म, नियस्स कर्म, प्रव्राजनीय कर्म, प्रतिसारणीय कर्म और उत्क्षेपणीय कर्मों का आख्यान है तथा उनकी क्षमायाचना की प्रक्रिया भी दी हुई है ।[१]

संघ-विवाद और दण्ड-व्यवस्था—कोशाम्बक स्कन्धक के प्रारम्भ मे कौशाम्बीमे हुए भिक्षु सघ के विवाद का उल्लेख है । सम्भव है, यह भाग तथागत के परिनिर्वाण के उत्तरकाल का हो। इसी प्रसग मे अधर्मवादी और धर्मवादी के चिह्न दिये गये है। वैसे, अधर्मवादी वह है जो धर्म, अधर्म, विनय, अविनय, भाषित, अभाषित, आचरित, अनाचरित, अज्ञप्त, प्रज्ञप्त, आपत्ति, अनापत्ति, अवशेष, अनवशेष आदि को प्रतिरूप मे स्वीकार करता है । और धर्मवादी इनको यथा रूप मे स्वीकार करते है । सघ मे कलह उत्पन्न होने पर सारा सघ एकत्रित होता है और ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा पूर्वक छन्द (गोट) के माध्यम से संघभेद का उपशमन करता है ।[२] छन्द के समय भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर, श्रामणेरी आदि से भी वर्ग (कोरम) की पूर्ति कर ली जाती । कुछ कर्म ज्ञप्ति द्वितीय कहे जाते हैं और कुछ कर्म ज्ञप्ति चतुर्थ (ज्ञप्ति के बाद तीन कर्म वाक्य कहना) कहे जाते है । इन दोनो से विरहित कर्म विनय विरुद्ध माना जाता । वर्ग कर्म वह, जिसमे भिक्षु अथवा उनके छन्द एकत्रित न हुए हो । समग्र कर्म वह, जिसमे सभी भिक्षु उपस्थित रहते हों । वर्ग कर्म त्याज्य माना गया है । संघ सामग्री दो प्रकार की है—अर्थ विरहित, परन्तु व्यञ्जनयुक्त एवं अर्थ युक्त तथा व्यञ्जनयुक्त । प्रथम मे सघ मे विवाद होने पर वस्तु का निर्णय किये बिना ही संघ-सामग्री करता है परन्तु द्वितीय मे वस्तु का निर्णय कर लिया जाता है ।

चुल्लवग्ग—मे सघभेद, विभिन्न कर्म और उनकी दण्डव्यवस्था के प्रसंग अधिक हैं । लगता है, भगवान् बुद्ध के जीवन समय मे ही सघ भेद प्रारम्भ होगया था । देवदत्त, पंडुक, लोहितक आदि भिक्षुओंके प्रकरण इसके उदाहरण हैं । **तर्जनीय कर्म**—के आरम्भ की कथा भी ऐसी ही कलह से प्रारम्भ होती है । तथागत ने इस कर्म को दुर्भरता, दुस्पुरुषता, महेच्छुकता, असन्तोष, सगणिका और आलस्य की प्रवृत्ति का रूप कहकर उसकी निन्दा की है । तर्जनीय कर्म

---

१. विनय पिटक, चीवरक्खन्धक

२. वही, कोसम्बकक्खन्धक

की दण्ड विधि यह है। संघ पहले कर्ता को प्रेरित करे, फिर स्मरण कराकर अपराध का आरोप करे, तदनन्तर चतुर समर्थ भिक्षु संघ को सूचित करे और ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा पूर्वक तर्जनीय कर्म करे। तीन बातो से युक्त तर्जनीय कर्म, अधर्म कर्म, अविनयकर्म, और असपादित कर्म कहे जाते हैं (१) सम्मुख न किया गया हो। (२) बिना पूछे किया गया हो, और (३) बिना प्रतिज्ञा (स्वीकृति) के किया गया हो। वहां बारह अधर्म कर्मों का वर्णन मिलता है। उनसे प्रतिकूल धर्म धर्म कर्म कहे गये है। तर्जनीय व्यक्ति वे हैं जो कलहकारी, दुश्शील, अनाचारी, निन्दक और मिथ्यादृष्टि सम्पन्न होते हैं। दण्डित व्यक्ति के लिए उपसम्पदा, निश्रय, उपस्थान, उपदेश, कर्म निन्दा, प्रवारणा आदि का स्थगन कर देना चाहिए। उस भिक्षु के तर्जनीय कर्म को क्षमा नहीं किया जाता जो उपसम्पदा देता हो, निश्रय देता हो, श्रामणेर से उपस्थान (सेवा) कराता हो, भिक्षुणियों को उपदेश देता हो, कर्म (निर्णय) की निन्दा करता हो तथा उपोसथ अथवा प्रवारणा स्थगित कराता हो। मियस्सकर्म की दण्ड-विधि आदि भी लगभग इसी प्रकार की है। प्रव्राजनीय कर्म (संघ निष्कासन) अश्वजित और पुनर्वसु भिक्षु के पापमयी अनाचारी से प्रारम्भ हुआ। अन्य प्रकार के कर्मों की आरम्भ कथा भी इसी प्रकार भिन्न भिन्न है तथा उनकी दण्डविधि, कर्तव्य आदि भी लगभग समान है।

पारिवासिक दण्ड प्राप्त भिक्षु को भी उपसम्पदा निश्रय आदि नही दिया जाता, अदण्डित भिक्षु के साथ आवास आदि नही किया जाता। शुक्र त्याग मे छः रोज का मानत्व दण्ड दिया जाता। यदि भिक्षु एक पक्ष तक इस कर्म को छिपाये तो उसे एक पक्ष का मानत्व दण्ड दिया जाता। संघादिसेस के दोष करने पर तदनुसार शुद्धान्त परिवास दिया जाता। कुछ ऐसे दुष्कर्म होते कि भिक्षु का मूल से प्रतिकर्षण कर दिया जाता।

कुछ कर्म छः विनय में सम्मिलित कर दिये गये हैं। भूल होने पर स्मरण कर लेना स्मृति विनय है। इससे भिक्षु निर्दोष शुद्ध होकर धर्म से समग्र हो जाता है। उन्मत्त अवस्था दूर होने पर अमूढ़ विनय दी जाती है। इसी प्रकार प्रतिज्ञात करण (स्वीकृति), यद्‌भूयसिक (बहुमत से उपशमन), तत्पापीयसिक और तिण्णवत्थारक (तृण जैसा आवृत कर देना) विनय भी प्रचलित थी।

अधिकरण—भिक्षु-भिक्षुणियों के बीच अनेक विषयो पर विवाद होने पर तथागत ने चार अधिकरण बताये–विवाद अनुवाद आपत्ति और कृत्य। कुशल, अकुशल कर्म विवाद अधिकरण के मूल है। इन्हीं कर्मों से भिक्षु अनुवदन,

अनुबल प्रदान (बल देकर दोषारोपण करना), काय, वचन अथवा मन से आपत्ति अधिकरण होता है और कृत्य अधिकरण का एक मूल है—संघ। ये सभी अधिकरण कुशल, अकुशल और अव्याकृत के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते है। इन अधिकरणो (मुकदमो) के उपशमन की भी प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई हैं। विवाद अधिकरण भिक्षु संघ के सम्मुख उपस्थित होकर तथा यद्-भूयसिक रीति से शान्त हो जाता। इसका निर्णय भिक्षुसंघ छन्द अथवा उद्-वाहिका (चुनी समिति) के माध्यम से करता। ऐसे समय शलाकाओ का भी प्रयोग होता था। शलाकाएँ तीन प्रकार की होती थी—गूढक, सकर्णजल्पक और विवृतक। अनुवाद अधिकरण संमुख, अमूढ, स्मृति और तत्पापीयसिक विनय से शान्त किया जाता। आपत्ति अधिकरण संमुख, प्रतिज्ञात और तिण्णावस्थापक तथा कृत्य अधिकरण संमुख विनय से उपशमित होती थी।[1]

आभूषण और साज-सज्जा—तथागत ने स्नान आदि के भी नियम निर्धारित किये। इनका समावेश क्षुद्रक वस्तुओ मे किया गया। भिक्षु को स्नान गन्धर्व हस्त अथवा चूर्ण आदि से नही करना चाहिए। बाली, लटकन, कर्णसूत्र, कटि-सूत्र केयूर, हस्ताभरण, अँगूठी अदि आभूषण धारण नही करना चाहिए। केश, कंघी, दर्पण, लेप, मालिश, नृत्य, गीत, लौमी ऊन, आम्रभक्षण, लिंगच्छेदन, महार्घ चन्दन पात्र रखना भिक्षु के लिए निषिद्ध था। हड्डी, दाँत, सीग, नल, बाँस, काष्ठ, लाख, फल, लोह, फल, शंख का दण्ड सत्थक धारण किया जा सकता है। सत्थक (कैंची), नमतक (वस्त्रखण्ड), सुई, नाली नालिका, किण्ण, और सिपाटिका (गोद) के भी रखने की अनुमति थी। कठिन चीवर का प्रसारण, सिलाई, आवेसन वित्थक, कठिनशाला, स्थविका (थैली) और परिस्रावण (जलगालन) रखना विहित था। मकसकुटिक (मसहरी), ओत्थरक, चँक्रम, जन्ताधर मे सोपान (ईंट, पत्थर, लकडी), किवाड़, पृष्ठसंपाट, उलूखल, उत्तर पाशक, अर्गलवर्त्तिक, कपिसीसक, सूची, घटक, ताल, छिद्र का निर्माण, धूमनेत्र की रचना, कोष्ठक, उदपान, चन्दनिका (हौज), उदकपुँछन, और पावड़े का उपयोग भिक्षु के लिए वर्जित नही है। घट, कतक, समर्जनी, पादघंसनि, विधूपन, तालवण्ट, छत्ता, सिक्का (छीका), दण्ड नखकाटना, केशकर्तन, कर्ण-मलहरणी, अञ्जनिदानी, रखना, विहित है। संघाटी, आयोगपट्ट, घुंडी, वस्त्रादि पहनने का ढंग भी यहाँ निर्दिष्ट है। बोझ ढोना, दन्तवन करना और आग-पशु से रक्षा करना भी विहित है। पस्सावक्ज, मालावच्छरोपण, वर्तन, पलंग का उपयोग किया जा सकता है। लसुण (लहसुन) खादन निषिद्ध है।

---

१. चुल्लवग्ग, समुच्चयक्खन्धक।

तिरिच्छान विद्याओं का अध्ययन भी वर्जित है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्धवचनों को छन्द (संस्कृत) मे करने की अनुमति बुद्ध ने नही दी। प्रत्युत यह कहा कि उन्हे अपनी भाषा (मागधी) मे सीखें—न भिक्खवे बुद्धवचन छन्दसो आरोपेतब्बं। यो आरोपेय्य, आपत्ति दुषकरस्स। अनुजानामि, भिक्खवे सकाय निरुत्तया बुद्धवचनं परिया पुणितु।[1]

बिहार निर्माण—सेनासनक्खन्धक मे बिहार के निर्माण की प्रक्रिया दी गई है। मूलत: बौद्ध भिक्षुओं के लिए अरण्य, वृक्ष, पर्वत, कन्दरा गिरिगुहा, श्मसान, वनप्रस्थ, मैदान (अज्झोकास) का विधान था। परन्तु बाद मे बुद्ध ने बिहार, अड्ढयोग, प्रासाद, हर्म्य तथा गुहा को निवास स्थान के रूप मे निश्चित किया। यहाँ द्वार, वातायन, शय्या, आसन, विस्तार आदि के विविध रूप दिये गये है। विहार-विधान के प्रसंग में दीवाल की रंगाई, भित्ति-चित्र, सोपान, मञ्चपीठ आलिन्द, उपस्थानशाला, पाठशाला, बिहार, परिवेण, आराम और प्रसाद आदि के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया गया है। अनाथ पिण्डक द्वारा जेतवन को कोटि सन्थारक हिरण्यो से खरीदकर उसे बुद्ध संघ को भेंट किये जाने का उल्लेख है। उसी जेतवन मे विहारादि बनाये गये। नये घर के निर्माण (नवकर्म) के समय भिक्षुओं को चीवर, पिण्डपात, शयनासन, और ग्लानप्रत्यय भैषज्यों से सत्कृत किया जाता। पूर्व के उपसम्पन्न भिक्षु को पीछे का उपसपन्न भिक्षु अवन्दनीय है। आराम, बिहार, चौपाई, चौकी, लोहकुम्भ आदि, तथा वल्ली, वेणु आदि वस्तुयें अदेय और अविभाज्य हैं। सघ के बारह कर्मचारियो की चुनाव पद्धति का भी यहा उल्लेख है—भक्त उद्देशक, शयनासन प्रज्ञापक, भाण्डागारिक, चीवर-प्रतिग्राहक, चीवर भाजक, यवागू भाजक, फलभाजक, खाद्य भाजक, अल्पमात्रविसर्जक, शाटिक ग्रहापक, आरामिक, प्रेषक और श्रामणेर प्रेषक।[2]

संघ-भेद—संघभेदक खंधक मे संघभेद का इतिहास दिया हुआ है। बौद्ध संघ के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि शाक्यवंशीय राजकुमारों से ही संघ भेद प्रारम्भ हुआ है। भद्दिय शाक्य राजा, अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु, किम्बिल और देवदत्त शाक्य कुमार थे। उन्होंने एक साथ दीक्षा ली। उपालि कल्पक (नाई) भी सम्मिलित हो गया। देवदत्त का प्रारम्भ से ही बुद्ध से विरोध रहा है। लाभ-सत्कार की इच्छा से देवदत्त ने अजात शत्रु को अपने दिव्य चमत्कारों से प्रभावित किया। फलत. देवदत्त के मन मे भिक्षु संघ का नेता होने की कल्पना घर कर गई।

---

१. चुल्लवग्ग, खुद्दकत्थुक्खन्धक हिन्दी।

२. चुल्लवग्ग, सेनक्खन्धक।

उसने बुद्ध से कहा भी कि आप अब जीर्ण-वृद्ध, महल्लक और अध्वगत हैं। अतः भिक्षु संघ मुझे दे दें। पर बुद्ध ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया। अधिक बात बढने पर बुद्ध को यह भी कहना पड़ा कि देवदत्त द्वारा कृत कार्यों का उत्तरदायित्व संघ पर नही है। जो भी हो, देवदत्त निश्चित ही आकर्षक व्यक्तित्व रहा होगा। उसने अजातशत्रु को बहकाकर पिता से विद्रोह कराया, बुद्ध की हत्या का प्रयत्न किया, बुद्ध पर पत्थर फेंके और उन पर नील गिरी हाथी को छुडवाया। इन दुष्कृत्यों से देवदत्त का प्रभाव संघ तथा सघ के बाहर अवश्य निस्तेज हो गया। फिर वह संघ से पृथक् हो गया और पांच सौ वज्जिपुत्तक भिक्षुओ को साथ लेकर गया चला गया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन उसे समझाने गये। उनके उपदेश से सभी भिक्षु वापिस हो गये। यह देखकर कहा जाता है, देवदत्त के मुँह से गर्म रक्त प्रवाहित हो पड़ा। देवदत्त की इस अपायिक असद्धर्मक बात को सुनकर उसके अयोग्य आठ कारण दिये हैं—लाभ, अलाभ, यश, अयश, सत्कार, असत्कार, पापेच्छता और पाप-मित्रता। यहाँ संघ की समग्रता पर चोट करना योगक्षेम नाशक बताया गया है।[1]

व्रतस्कन्धक—व्रतस्कन्धक मे नवागन्तुक, आवासिक और गमिक भिक्षु के व्रतों का आख्यान मिलता है। भोजन के समय के नियम, भिक्षाचारी के व्रत, आरण्यक के व्रत, शयनआसन के व्रत, जन्ताघर के व्रत, वच्चकुटी का व्रत, तथा शिष्य-उपाध्याय और अन्तेवासी-आचार्य के कर्तव्यों का भी उल्लेख हुआ है। प्रातिमोक्ष-स्थापन स्कन्धक मे किस भिक्षु के प्रातिमोक्ष को स्थगित करना चाहिए, यह बताया है। इसी प्रसंग मे बुद्धधर्म की विशेषताओ के रूप मे उसके आठ अद्भुत गुणों का उल्लेख किया गया है—(१) महासमुद्र जैसा क्रमशः गम्भीर, (२) महासमुद्र जैसा स्थिर धर्मशील (३) आचार भ्रष्ट भिक्षु का निष्कासक, (४) प्रव्रजित होने पर पूर्व का नाम छोड़ देना, (५) अनुपधिशेष निर्वाण प्राप्ति, (६) धर्म विनय एक रस है, (७) धर्मविनय बहुरस वाला है (८) धर्म विनय महान् प्राणियों का निवास है। निर्मूलक शील-भ्रष्टता और आचार-भ्रष्टता के कारण प्रातिमोक्ष स्थगित करना नियम विरुद्ध है। पाराजिक दोषी, शिक्षाप्रत्यास्थानीक, धार्मिक सामग्री का प्रत्यादानक आदि ऐसे बन्धक हैं, जिनके कारण प्रातिमोक्ष नियमानुसार स्थगित कर दिया जाता था।

नारी-प्रवेश—भिक्षुणी स्कन्ध मे महिलावर्ग को बौद्धधर्म मे दीक्षित होने का विधान प्रस्तुत किया गया है। मूलतः बुद्ध महिलावर्ग को धर्म मे दीक्षित

---

१. चुल्लवग्ग, संघभेदकक्खन्धक।

करने के पक्ष मे नही थे। परन्तु महाप्रजापती गौतमी की इच्छा ने आनन्द को प्रेरित किया और आनन्द ने बुद्ध के समक्ष अपना पक्ष प्रस्तुत किया। बुद्ध इस शर्त पर नारी वर्ग को दीक्षा देने के लिए तैयार हुए कि वे निम्न लिखित आठ गुरु धर्मों को स्वीकार करें—(१) पुरानी उपसपन्न भिक्षुणी को नये उपसंपन्न भिक्षु का भी अभिवादन और सत्कार करना चाहिए, (२) धर्मश्रवणार्थ भिक्षु का उपगमन करना चाहिए। (३) प्रतिपक्ष भिक्षु संघ से उपोसथ की पर्येषणा करे (४) वर्षावास की समाप्ति होने पर भिक्षुणी को दोनो संघो मे दृष्ट, श्रुत और परिशंकित स्थानो से प्रवारणा करना चाहिए। (५) गुरुधर्म स्वीकृति सपन्न भिक्षुणी को दोनो संघो मे पक्षमानता करनी चाहिए। (६) भिक्षुणी दोनो संघो से उपसंपदा ग्रहण करे। (७) किसी भी प्रकार भिक्षुणी भिक्षु को आक्रोशात्मक शब्द न कहे, और (८) आज से भिक्षुणियो का भिक्षुओ को कहने का मार्ग बन्द हुआ लेकिन भिक्षुओ का भिक्षुणियों को कहने का मार्ग खुला है। महाप्रजापति गौतम ने इन आठ धर्मों को सहर्ष स्वीकार किया। उसी समय बुद्ध ने कहा—आनन्द ! यदि तथागत प्रवेदित धम-विनय मे नारीवर्ग प्रव्रज्या न पाता तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। लेकिन चूंकि आनन्द ! नारी वर्ग प्रव्रजित हुआ अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी नही होगा। सद्धर्म पांच सौ वर्ष ही ठहर सकेगा।

न दानि आनन्द ब्रह्मचरिय चिरट्ठितिकं भविस्सति।
पञ्चेवदानि आनन्द वस्स सतानि सद्धम्भो ठस्सति ॥

आठ गुरु धर्म ग्रहण करने पर ही भिक्षुणियो की उपसंपदा हो जाती है। भिक्षुणियां भिक्षुओ से प्रातिमोक्ष सीखती और दोष का प्रतिकार करती। इसी प्रकार संघकर्म, अधिकरण शमन और विनय वाचन भी भिक्षुणियो के लिए भिक्षु ही करते हैं। भिक्षु प्रातिमोक्ष का बिकास घटनाओं के साथ और भी होता गया। भिक्षु-भिक्षुणियाँ परस्पर मे कीचड और पानी डालते थे, अपना नग्न शरीर दिखाकर कामेच्छाएँ प्रगट करते थे। यह सुनकर तथागत ने ऐसे अभद्र कृत्यो पर रोक लगायी और तत्सम्बन्धित नियमों का निर्माण किया। उपदेश श्रवण के भी नियम बनाये गये। मालिश, शरीर सज्जा, लेप, चूर्ण, तथा नीले-पीले आदि चीवरों के रखने का निषेध किया गया। असन, वसन, उपसम्पदा, भोजन, प्रवारणा, उपोसथ-स्थान, वाहन का विधान हुआ। भिक्षुणिओं को अरण्यवास का निषेध किया गया। उनके लिए विहारों का निर्माण हुआ। गर्भिणी प्रव्रजिता को सन्तान पालन करने का सीमित अधिकार मिला। मानत्व चारिणी को सहवास के लिए एक भिक्षुणी रखने का नियम बना। इसके अतिरिक्त पुन. उपसंपदा ग्रहण, शौच, स्नान आदि सम्बन्धी नियमों का भी विधान किया गया।

विनय पिटक के इस **द्वितीय खन्धक** (महावग्ग और चुल्लवग्ग) में सम्बोधि से लेकर द्वितीय संगीति तक के विनय का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यहां प्रत्येक नियम और उपनियम की पृष्ठभूमि मे घटनाओं का उपस्थापन हुआ है। अर्थात् बौद्ध विनय की उत्पत्ति और विकास घटनाओं के माध्यम से हुआ है। प्रत्येक घटना का विवरण बुद्ध के समक्ष एक ही प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है और बुद्ध प्रायः एक ही प्रकार की शैली मे नियम बनाते दिखाई देते हैं। इस भाग मे उत्तरकालीन परम्पराएँ भी दिखती हैं। अतः इसमे प्रक्षिप्ताश होना भी संभव है।

विनय पिटक का **परिवार** अथवा **परिवार-पाठ** निश्चित ही एक परिशिष्ट है। अतः उसे उत्तरकाल का होना चाहिए। इसमे शिक्षापद कहाँ, कैसे और क्यों दिये गये, तत् सम्बन्धी प्रश्नो का उत्तर प्रश्नोत्तर शैली मे उपस्थित किया गया है। विषयसूची देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे द्वितीय खन्धक के विषय को ही स्पष्ट तथा संक्षिप्त किया गया है। इस स्पष्टीकरण और संक्षिप्तीकरण मे थोड़ा बहुत वैशिष्ट्य आना स्वाभाविक ही है। कुल मिलाकर इसे हम व्याख्या ग्रन्थ कह सकते हैं।

खन्धक और परिवार के अतिरिक्त विनय पिटक का एक और भाग है जिसे **सुत्त विभंग** कहा गया है। इसमे भिक्खुपात्तिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख का विवरण है। बौद्ध भिक्षुओ और भिक्षुणिओं के विनय की दृष्टि से यह एक सुन्दर संग्रह है। सामान्यत इसमे निदान, पाराजिक, संघादिसेस, अनियत, निस्सग्गिय पाचित्तिय, पाटिदेसनिय, सेखिय और अधिकरण समथ नियमों का विवरण समाहित है। मास की प्रत्येक कृष्ण चतुर्दशी तथा पूर्णिमा को उस स्थान मे रहने वाले सभी भिक्षु उपोसथागार मे एकत्रित होकर इन प्रातिमोक्ष नियमो की आवृत्ति करते हैं।

भिक्खु पतिमोक्ख—निदान पतिमोक्ख की भूमिका जैसा है। **पाराजिक** अपराधों के करने से भिक्षु सदैव के लिए भिक्षुत्व अवस्था से दूर हो जाता है। ऐसे अपराधों मे मैथुन, चोरी, मानव-हत्या और दिव्य शक्ति (उत्तरि मनुष्यधर्म) का दावा करना प्रधान हैं। **संघादिसेस** मे संघ कुछ समय का परिवास देता है। ये अपराध तेरह हैं—वीर्यमोचन, स्त्री का अंग स्पर्श, कामवार्तालाप, मैथुनेच्छा व्यक्त करना, मैथुन के लिए दूत कार्य, कुटी निर्माण मे प्रमाण का अतिक्रमाण करना। कठिन स्थान मे कुटी बनवाना, पाराजिक का निमूर्ल दोष लगाना, ८-९ संघ मे मतभेद पैदा करना, संघ मे मतभेद करनेवालों का साथ देना। शिक्षापदों को अनसुनी कर देना, और कुलो को दूषित करना।

कुछ ऐसे अपराध हैं जो पाराजिक संघादिसेस, और पाचित्तिय दोषो मे किसी एक मे नियत नही हो पाते। इसीलिए उन्हे **अनियत** कह जाताा है। मैथुन सम्बन्धी ऐसे दो अपराधो का उल्लेख पातिमोक्ख मे हुआ है। कुछ ऐसे अपराध होते है जिनका प्रतिकार संघ, अधिकांश भिक्षु अथवा एक भिक्षु के सामने स्वीकार कर छोड़ देने पर हो जाता है। ऐसे अपराध **निस्सग्गिय-पाचित्तिय** कहलाते हैं। इसमे कठिन चीवर और चीवर सम्बन्धी ग्यारह, आसन सम्बन्धी पाँच, स्वर्ण-रजत, पैसे आदि के व्यवहार सम्बन्धी दो, क्रय-विक्रय, पात्र सम्बन्धी दो, भैषज्य, चीवर सम्बन्धी (६) संघ लाभ को अपना बताना, ये २८ दोष गर्भित है। **पाचित्तिय** दोष ६२ हैं—भाषण सम्बन्धी चार, सहवास सम्बन्धी दो, धर्मोपदेश, दिव्यशक्ति प्रदर्शन, अपराध प्रकागन, भूमि खोदना, वृक्ष काटना, सघ के पूछने पर चुप रहना, निन्दा करना, साघिक वस्तुओ मे असावधानी सम्बन्धी छः, बिना छना पानी पीना, भिक्षुणियो को उपदेश देने आदि सम्बन्धी दस, भोजन सम्बन्धी दस, अचेलक सम्बन्धी दस, मद्यपान, उपहास सम्बन्धी चार, आग तापना, स्नान, चीवर पात्र सम्बन्धी तीन, प्राणातिपात सम्बन्धी दो, कलह करना, अपराध छिपाना, बीस वर्ष से कम व्यक्ति को उपसम्पन्न करना, चोर अथवा स्त्री के साथ यात्रा करना, मिथ्या दृष्टि सम्पन्न होना—३, धार्मिक बात को अस्वीकार करना, प्रातिमोक्ष सम्बन्धी दो, पीटना, धमकाना, संघादिसेस का दोषारोपण करना, भिक्षु को सन्देह उत्पन्न करना, छन्द सम्बन्धी—३, सांधिक लाभ मे भाँजी मारना, राजप्रासाद मे प्रवेश करना, बहुमूल्य वस्तु को अन्यत्र ले जाना, अपराह्न में गांव जाना, सूचीघर, चौकी, शय्या, वस्त्र सम्बन्धी दोष—६। **पाटिदेसनीय** मे भोजनग्रहण और भिक्षुणी सम्बन्धी चार दोष हैं। **सेखिय** (शिक्षणीय) नियम वे हैं जिन्हे लोग सीखते हैं। ऐसे नियम ७५ हैं—गृहस्थो के घरों मे जाने, उठने, बैठने सम्बन्धी—२६, भिक्षान्न ग्रहण और भोजन सम्बन्धी—३०, कैसे व्यक्ति को उपदेश नही देना चाहिए—१६, और मलमूत्र सम्बन्धी—३। **अधिकरण समथ** मे विवाद शान्ति के सात उपाय बताये गये। इस प्रकार भिक्खुपातिमोक्ख के ४+१३+२+३०+६२+४+७५ +७=कुल २२७ नियम-अधिनियम हैं।

भिक्खुणी पातिमोक्ख–भिक्खुणी पातिमोक्ख भी लगभग भिक्खु पातिमोक्ख का अनुगामी है। यहाँ **पाराजिक** के ८ दोष हैं—मैथुन, चोरी, मानवहत्या, दिव्यशक्ति का प्रदर्शन, कामासक्ति के विविध कार्य, सघ से निष्कासित भिक्षु का अनुगमन तथा कामासक्ति से पुरुष का स्पर्श करना। **संघादिसेस** सम्बन्धी १७ दोष हैं—पुरुषो के साथ विहार करना, चोरनी या बध्या को भिक्षुणी बनाना, अकेले घूमना, संघ से निष्कासित भिक्षुणी का साथ करना, कामासक्ति

के कार्य, पाराजिक का दोषारोपण, धर्म का प्रत्याख्यान, भिक्षुणियों की निन्दा करना, दुराचारिणियों का सम्पर्क करना, संघ मे मतभेद पैदा करना, सुनी बात को अनसुनी करना, और कुलदूषित करना। तीस अपराध **निस्सग्गिय पाचित्तय** सम्बन्धी हैं—पात्र-संचय, चीवर, वस्तुग्रहण, कठिन चीवर और चीवर, स्वर्ण, रजत पैसे आदि का व्यवहार, क्रय-विक्रय, पात्र बदलना, भैषज्य, चीवर, संघलाभ सम्बन्धी दोष। **पाचित्तिय** मे १६६ दोषों का समाहार है। लहसुन भक्षण, कामासक्ति के कार्य, भिक्षु सेवा, कच्चा अनाज, मल-मूत्र विसर्जन, नृत्य-गान, पुरुष के साथ एकान्त मे रहना, गृहस्थो के आवासों मे जाना-बैठना, भिक्षुणी को सन्देहग्रस्त बना देना, अभिशाप देना, देहपीटकर क्रन्दन करना, स्नान, चीवर, दो भिक्षुणियों के साथ सोना, भिक्षुणी को तंग करना, रोगी शिष्या की सेवा न करना, उपाश्रय देकर निष्कासित करना, विम्वरना, तमाशा देखना, कुर्सी-पलग का उपयोग करना, सूत कातना, गृहस्थो जैसे कार्यकलाप करना, विवादशान्त न करना, स्वयं भोजन देना, आश्रय की वस्तुओं मे असावधानी करना, तिरच्छीन विद्याओ का पढ़ना-पढ़ाना, भिक्षुवाले आराम मे प्रवेश करना, निन्दा करना, तृप्ति के बाद भी खा लेना, गृहस्थो से डाह करना, भिक्षुओ रहित स्थान मे वर्षावास करना, प्रवारणा, उपदेश-श्रवण और उपोसथ, गुह्यस्थान के गण्डक को भिक्षु से निकलवाना, भिक्षुणी बनाना, छाता, जूता, वाहन, आभूषण आदि का शृङ्गार, भिक्षु के समक्ष आसन पर बैठना, प्रश्न पूछना, कंचुक बिना गाँव मे जाना, भाषण की अनियमता, उपसंपदाहीन भिक्षुणी के साथ सोना, पुरुषों को धर्मोपदेश देना, दिव्यशक्ति का प्रदर्शन, अपराध प्रकाशन, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, संघ के पूछने पर चुप रहना, निन्दा करना, बिना छना पानी ग्रहण करना, भोजन सम्बन्धी दोष, सोना, मद्यपान, उपहास, आग तापना, स्नान, चीवर-पात्र, प्राणिहिंसा, कलहवृद्धि, यात्रा के साथ चलना, मिथ्यादृष्टि धारण करना, धार्मिक बातों को अस्वीकृत करना, प्रातिमोक्ष, मारना, धमकाना, सघादिसेस का दोषारोपण, छन्ददान, सूचीघर, चौकी, चारपाई, और वस्त्र सम्बन्धी दोष। **पाटिदेसनीय** दोष केवल चार है। इनमे भक्षणीय वस्तु को माँगकर रखना विशिष्ट है। **सेखिय** ७५ है ही। **अधिकरण समथ** भी चार ही हैं। इस प्रकार भिक्खुनी पातिमोक्ख के कुल ८+१७+३०+१६६+८+७५+७ = **३११** दोष-नियम बताये गये हैं।

तुलना—भिक्खू पातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख देखने से यह स्पष्ट है कि दोनों के विनय-नियमो मे कोई विशेष अन्तर नही है। जो भी अन्तर है, वह उनकी मर्यादा और स्थिति के कारण है। विनय पिटक के अध्ययन से

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक नियम किसी घटना विशेष की पृष्ठभूमि मे स्थापित किया गया है। घटनाओं के आधार पर ही उनका उत्तरकाल मे विकास हुआ है। कुछ नियम ऐसे भी है जो मात्र उसी समय के लिए थे। शायद इसीलिए तथागत ने कहा था "इच्छा होने पर सघ मेरे बाद छोटे-मोटे (क्षुद्रानु-क्षुद्र) शिक्षापदों को छोड़ दे।[1] विनय पिटक मे द्वितीय सगीति तक का विकसित विनय तो मिलता ही है। तृतीय संगीति के काल की परिस्थितियाँ और उनसे उत्पन्न होनेवाले विनय नियमों की भी रूपरेखा विनय पिटक मे उपलब्ध है। पातिमोक्ख को विनय पिटक का संक्षिप्त सस्करण कहा जा सकता है अथवा उसे खन्धक के बाद का और परिवार के पूर्व का भी माना जा सकता है। बाद के भिक्षु सम्प्रदाय के लिए यही विनय पिटक प्रस्थानक ग्रन्थ बन गया। उत्तर कालीन सम्प्रदायों मे भी हर नियम बुद्ध के मुख से निर्धारित कराया गया है।

पालि विनय पिटक के अतिरिक्त चीनी भाषा में इसके छह संस्करण और मिलते है—१. जुजुरित्सु (सर्वास्तिवादी विनय), २. शिबुन-रित्सु (धर्मगुप्तिक विनय), ३. मकसोगि-रित्सु (महासाधिक विनय), ४. कोन-पोन-सेत्सु-इस्से-उबु (सर्वास्तिवादी विनय), ५. गोवुन-रित्सु (महिसासक विनय), और ६. विनय (सामान्य)। चीनी भाषा मे इनकी व्याख्यायें भी मिलती है—१. विनि-मो-रोन् (विनय माता वण्णना), २. मोतो-रोग-रोग् (मातिका वण्णना) ३. जेन्-केन्-रोन् (पाकट वण्णना), ४. सब्बत-रोन् (विभाषा वण्णना), और ५. म्यो-र्यो-रोन् (पाकट वण्णना)। इनमे शिबुन-रित्सु (धर्मगुप्तिक विनय) चीनी और जापानी बौद्धधर्म विनय की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। आकार-प्रकार भी इसका बड़ा है। पालि विनय से इसी की तुलना की जा सकती है। शेष संस्करण तो अल्पकायिक हैं। इनके अतिरिक्त सर्वास्तिवादियो के विनय का एक तिब्बती संस्करण (सो-सोर-थर्-पा) भी उपलब्ध है। इन तीनो संस्करणो मे उपलब्ध शिक्षापदो की तुलना इस प्रकार है[2]—

शिक्षापद	पालि सं०	चीनी सं०	तिब्बती सं०
१. पाराजिका	४	४	४
२. संघादिसेसा	१३	१३	१३
३. अनियत धम्मा	२	२	२
४. निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा	३०	३०	३०
५. पाचित्तिया धम्मा	९२	९०	९२

१. दीघनिकाय, महापरिनिव्वाण सुत्त।

२. उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ३४३-४४.

शिक्षापद	पालि सं०	चीनी सं०	तिब्बती सं०
६. पटिदेसनिया धम्मा	४	४	४
७. सेखिया धम्मा	७५	१००	१०६
८. अधिकरणसमथा धम्मा	७	७	७
कुल	२२७	२५०	२५८

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि केवल शैक्ष्य सम्बन्धी (सेखिया धम्मा), और पातयन्तिक (पाचित्तिया धम्मा) विनय मे तीनों संस्करणो मे अन्तर है। इनमे सेखिय धम्मा तो मात्र बाह्य शिष्टाचारो से सम्बन्धित नियम है। उनमे विभेद होना स्वाभाविक है। अत: यह विभेद विशेष महत्वपूर्ण नही है। महाव्युत्पत्ति मे शायद इसीलिए इन नियमो को 'सबहुलाः शैक्ष्यधर्मा' कहा गया है। इनका निर्माण देश, काल, और परिस्थितियो के अनुसार होता है। पाचित्तिय धम्मा का विभेद अवश्य महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इतनी लंबी परम्परा मे यह विभेद होना स्वाभाविक भी है। वैसे कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध विनय मे उनके विभिन्न सम्प्रदायो के बीच विशेष अन्तर नही है। जो अन्तर है भी वह समय, सीमा और परिस्थितियो के सन्दर्भ मे अनपेक्षित नही कहा जा सकता। हाँ, वज्रयान आदि उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख बौद्ध सम्प्रदाय मूल विनय से अवश्य अधिक पतित हो गये थे।

सूत्रकृताग की टीका व विवरण मे बौद्ध धर्म व दर्शन की लगभग ९–१० वी शती तक की गतिविधियो का परिचय उपलब्ध होता है। इन गतिविधियो को हम स्थूल रूप से दो भागो मे विभाजित कर सकते है—

बौद्धाचार और बौद्ध विचार

उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदाय मूल बौद्ध धर्म के आचार-विचार से बहुत कुछ भिन्न हो गये थे। आवश्यकता पड़ने पर आचार शिथिलता को बुद्ध ने क्षम्य माना था। यही शिथिलता अग्रिम आचार शिथिलता की जननी रही और एक दिन बौद्ध सम्प्रदायो के परस्पर आचार–विचार मे पूर्व–पश्चिम व उत्तर–दक्षिण जैसा भेद उत्पन्न हो गया। जैनाचार्य बौद्धो की इस शिथिलता के विरोधी प्रारम्भ से ही रहे है। सूत्रकृतांग मे भी इसी विरोध के स्वर सुनाई पड़ते है।

सूत्रकृताग मे बौद्धो पर प्राणातिपात, अदिन्नादान, मृषावाद, मैथुन व परिग्रह रखने का दोषारोपण किया गया है। इन दोषो का मुख्य कारण यह था कि बौद्ध अत्यन्त असयत हो गये थे। उनका कहना था—सुख से सुख की प्राप्ति होती है, दु:ख से सुख नही मिलता। अत. लुञ्चन आदि से मुक्ति-प्राप्ति सम्भव नही। यह आचार धारणा बन जाने पर वे उक्त

पंच पापो मे अभिरत हो जाते है।[1] जिनदास गणि और शीलाकाचार्य ने इस मत को एकमत से बौद्धमत माना है। शीलाक ने तो बौद्धों पर सावद्य अनुष्ठान करने तथा गो, महिष्यज, उष्ट्र, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पदादि परिग्रह रखने का दोषारोपण स्पष्ट रूप से किया है। आगे की गाथा मे 'एवमेगे उपासत्था' मे आये हुए पासत्थ शब्द का अर्थ पार्श्वस्थ किया गया है और इन पार्श्वस्थो मे शीलाक ने बौद्धों को भी सम्मिलित किया है। ये पार्श्वस्थ कुशील सेवक तथा स्त्री परिषह से पराजित बनाये गये है। इसलिए अनार्य कर्मकारी होने के कारण उन्हे अनार्य भी कह दिया गया। उनके अनुसार प्रियादर्शन सदैव बना रहे। उसके समक्ष अन्य दर्शनों की क्या आवश्यकता! उसी सराग चित्त से निर्वाण प्राप्ति होती है।

प्रियादर्शन मेवास्तु किमन्यै दर्शनान्तरैः।
प्राप्यते येन निर्वाण, सरागेणापि चेतसा ॥[2]

आगे की गाथाओं मे कहा गया है कि बौद्धों के अनुसार जैसे पके हुए फोड़े को फोड़ने पर राध, रुधिर निकालने से मुहूर्त मात्र मे आराम हो जाता है वैसे ही विषय भोग की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ सम्पर्क करने मे कौनसा दोष है? और भी अनेक उदाहरण दिए गये हैं। यथा—जैसे कंपिजल पक्षी आकाश मे उड़ता हुआ जल-पान करता है, पर जल को कष्ट नही देता उसी प्रकार प्रार्थना करने वाली स्त्री से कामभोग सेवन करने मे क्या दोष! जैसे भेड़ अपने घुटनों को पानी मे झुकाकर पानी को गन्दा किये बिना ही धीरे-धीरे स्थिरता पूर्वक पीता है उसी प्रकार राग रहित चित्त वाला मनुष्य अपने चित्त को दूषित किये बिना स्त्री के साथ संभोग करता है। इसमे कोई दोष नही। वृत्तिकार ने यह मत नीले वस्त्र वाले बौद्ध विशेषों (बौद्ध विशेषा. नीलपटादयो) का माना है।[3] बौद्धो मे कौनसा सम्प्रदाय नीले वस्त्र पहनता था, अज्ञात है। सम्भव है कोई वज्रयानादि बौद्ध शाखा रही हो।

अन्यत्र कहा है कि वे शाक्यादिक सचित्त जलपान, (अप्रासुक जल) सचित्त बीजयक्षज तथा उद्दिष्ट भोजन कर आर्तध्यान करते हैं। वे धर्म अवेदज्ञ तथा

---

१. इह मेगे उ भासंति, सात सातेण विज्जती।
जे तत्थ अरियं मग्गं, परमं च समाहिए (यं) ॥ ३. ४. ६.
पाणाइवाते वहंता, मुसावादे असंजता।
अदिन्नादाणे वहंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥ ३. ४. ८.

२. सूत्र. वृत्ति, पृ. ६७।१ (शीलाकाचार्य कृत विवरण सहित आगमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित, १९१७)

३. वही, ३. ४. १०-१३ वृत्ति, पृ. ९७-९८; मिलाइये, चित्तविशुद्धिप्रकरण, ४७

असमाधिवन्त है।[1] शीलांक ने लिखा है कि शाक्य भिक्षु मनोहर आहार, वसति, शय्यासनादिक राग के कारणो का ध्यान करते हैं, उपयोग करते है। संज्ञान्तर क्षमाश्रमण के कारण वे इसे निर्दोष मानते हैं।[2] जैसे ढक, कंक, कुलल, मंगु इत्यादि पक्षी मत्स्य गवेषण के लिए कलुषता युक्त ध्यान करते है वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु दुष्ट ध्यान करते है।[3]

'सातं सातेण' युक्ति का आधार लेकर बौद्ध मानते है कि जिस प्रकार शालि बीज से शाल्यङ्कुर ही होता है, यवाकुर नही, उसी प्रकार सुख से ही मुक्ति मिल सकती है, दुख से नही। कहा है—मनोज्ञ भोजन कर मनोज्ञ शय्या पर सोकर तथा मनोज्ञ घर मे रहकर मुनि ध्यान करता है—

मणुण्णं भोयण भोज्जा मणुण्ण सयणासणं।
मणुण्णसि अगारंसी मणुण्णं झायए मुणी॥

यह उल्लेख किस ग्रन्थ से शीलाकाचार्य ने किया है, अज्ञात है। यदि यह किसी बौद्ध ग्रन्थ से उद्घृत किया गया है तो और भी महत्वपूर्ण है। यह असंभव भी नहीं। उत्तरकाल मे बौद्धो ने भी अपना साहित्य प्राकृत भाषा मे निबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। प्राकृत धम्मपद इसका प्रमाण है।

उक्त आलोचना जैसी आलोचना और भी की गई है कि बौद्ध भिक्षु अत्यन्त कोमल शय्या पर सोते है। प्रात.काल उठकर दुग्धादि का पाम करते, दोपहर मे भोजन करते, अपरान्ह मे पुन: कोई पेय द्रव्य लेते तथा अर्धरात्रि मे द्राक्षा खण्ड और शर्करा लेते। इसी दिनचर्या से शाक्यपुत्र मुक्ति की प्राप्ति मानते हैं—

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया भक्त मध्ये पानक चापरान्हे।
द्राक्षाखण्ड शर्करा चार्द्ध रात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥[4]

आगे इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है और सम्यक्ज्ञान पूर्वक कृत तपस्या को मुक्ति का साधन माना गया है। परमार्थ चिन्तक महापुरुष के लिए यह कष्ट भी सुख का कारण है।[5]

---

१. ते य बीओदकं चेव तमुद्दिस्सा य जं कडं।
भोच्चा झाणं झियायंत्ति, अखेयन्ना असमाहिया॥ सूत्र. ११. २६

२. मणुण्ण भोयणं भुज्जे...............।
मसनिवति काण्ड सेवइ दतिक्क गंति धगिमेया।
इय च चइउणाएमं परववएसा कुणइ बालो। वही

३. वही, ११.२७.२८.

४. वही, १.३.४.६. की वृत्ति पृ. ९६.

५. वही

तण संथारनिवण्णो वि मुनिवरो यठ रागमय ओहो ।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि ? ।।

तथा—

दुःखं दुष्कृत संशयाय महतां क्षान्ते पदं वैरिणा ।
कायस्याशुचिता विराग पदवी संवेग हेतुर्जरा ।।
सर्व त्याग महोत्सवाय मरण जातिः सुहृत्प्रीतये '
संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थान विपत्तेः कुतः ।।

बौद्ध भिक्षुओ की आचार-शिथिलता देखकर सूत्रकृताग मे उन्हे अनार्य मिथ्यादृष्टि कहा गया है तथा यह कहा गया है कि जिस प्रकार जात्यन्ध पुरुष छिद्र वाली नौका में चढकर जब समुद्र पार करने की इच्छा करता है तो समुद्र मे ही डूब जाता है वैसे ही कितने ही मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु कर्माश्रव की अधिकता से नरकादिक के दुःख प्राप्त करते हैं। वे मुक्ति पथ से विमुख हो जाते हैं।[1]

बौद्ध साधुओ का यह आचार निश्चय ही उत्तर कालीन बौद्ध भिक्षुओ का आचार रहा होगा जिसका उल्लेख शीलाकाचार्य ने विशेष रूप से किया है। यह नवी-दसवी शती के बौद्ध जीवन का आँखों देखा वर्णन होगा। उस समय बौद्ध धर्म व दर्शन विकृत हो गया था। अत यह आचार शैथिल्य असंभव नही। थेरगाथा मे भविष्य के भिक्षुओ की आस्था व दिनचर्या का वर्णन किया गया है जो उक्त वर्णन से मिलता-जुलता है। थेरगाथा के प्रणयन काल मे बौद्ध भिक्षुओ मे यह शिथिलता आ चुकी होगी जिसकी चरम परिणति का आभास यहाँ प्रस्तुत किया गया है। वहाँ कहा गया है कि पुरुषोत्तम बुद्ध के रहते भिक्षुओ की चर्या दूसरी थी पर अब कुछ और ही हो गई है। पहिले के भिक्षु अधिक नम्र और कर्माश्रव को दूर करने मे दत्तचित्त रहते, पर अब ऐसे भिक्षु अत्यल्प है।[2]

---

१. जहा आसावणं नावं जाई अंधो दुरुहिया।
इच्छई परमागं तु अन्तराय विसीयं ।।
एव तु समणा एगे मिच्छादिट्ठी अणारिया।
सोयं कसिणमावन्ना आगंतारो महाव्ययं ।। सू. १. ११. ३०-३१.

२. अञ्ञथा लोपनाथम्हि तिट्ठन्ते पुरिसुत्तमे ।
इरियं असि भिक्खूनं अञ्ञथा दानि दिस्सति । थेरगाथा ९२१
सब्बासवपरिक्खीणा महाझायी महाहिता ।
निब्बुता दानि ते थेरा परित्ता दानि तादिसा ।। थेरगाथा ९२८

यही यह शका भी व्यक्त की गई है कि यदि ऐसी ही शिथिलता बनी रही तो बौद्ध शासन विनष्ट हो जायगा। ये पाप वासनाएँ उनके अन्दर उन्मत्त राक्षसो जैसी खेल रही हैं। वासनाओ के वश मे होकर वे सासारिक वस्तुओं की प्राप्ति मे यत्र तत्र दौड़ लगा रहे हैं। सद्धर्म को छोड़कर असद्धर्म को श्रेष्ठ मानते है। भिक्षा के लिए कुकृत्य का आचरण करते हैं। वे सभी शिल्प सीखते है और गृहस्थो से अधिकाधिक प्राप्ति की आकाक्षा करते हैं। वे भिक्षु औषध के विषय मे वैद्यो की तरह है, कामधाम मे गृहस्थो की तरह है, विभूषण मे गणिकाओ की तरह हैं और प्रताप मे क्षत्रियो की तरह है। वे धूर्त है, वाञ्चनिक हैं, ठग हैं और असयमी हैं तथा आमिष का उपभोग करने वाले है।[1] लोभ के वशीभूत होकर धनसंग्रह करते, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते, संघ के भीतर संघर्ष करते व परलाभ से जीविका करते हुए लज्जित नही होते।[2]

मांस भक्षण—सूत्रकृताग मे जिनदासगणि व शीलांक ने बौद्ध धर्म को क्रियावादी अथवा कर्मवादी दर्शन माना है। उनके इस दर्शन की कर्म विषयक मान्यता को दुःखस्कन्ध वर्धक माना है। कम्मचिंतायणट्ठाण ससारस्स पवड्ढणं (२. १. २४)। चूर्णिकार ने दुःखस्कन्ध का अर्थ कर्मसमूह माना व वृत्तिकार ने आसातोद परम्परा। दोनो व्याख्याओ मे कोई अन्तर नही है।

निर्युक्तिकार ने बताया कि परिज्ञोपचित (मनोव्यापार) अविज्ञोपचित (शरीर व्यापार) ईर्यापथ व स्वप्नान्तिक ये चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नही होते— चतुर्विध कर्म नोपचीयते भिक्षु समय।" इसी प्रसग मे उन्होने बताया कि प्राणी, प्राणिज्ञान, घातकचित, घातकक्रिया और प्राण वियोग ये पाँच कारण हिंसा के हैं। उक्त चतुर्विध कर्म मे ये पाँच कारण नही होते। अतः हिंसा नही।

जैसे दीवाल पर फेंकी गई धूलि स्पर्श के बाद ही बिखर जाती है इसी तरह ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उन कर्मों का उपचय नही होता। कर्म बन्ध के तीन कारण हैं कृत, कारित व अनुमोदन। इनमे भाव-विशुद्धि के कारण कर्म का उपचय नही होता। इसके समर्थन मे एक उदाहरण दिया गया है कि जैसे राग द्वेष रहित कोई गृहस्थ पिता किसी बड़ी विपत्ति के समय उसके उद्धारार्थ आहार के लिए अपने पुत्र को मारकर उसका माँस भक्षण

---

१. भेसज्जे सु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिही।
गणिका व विभूसायं इस्सरे खत्तिय यथा॥
नेकतिका वञ्चनिका कूटसक्खी अपाटुका।
बहूहि परिकप्पेहि आमिसं परिभुञ्जरे॥ वही. ६३८.६

२. वही, ६४०-६४२.

करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नही होता इसी प्रकार साधु भी माँस भक्षण करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नही होता—

पुत्त पिया समारम्भ अहारेज्ज अस जये।
भुञ्जमाणो य मेहावी कम्मणा नोवलिप्पई ॥[1]

संयुक्त निकाय मे इस प्रकार की एक कथा मिलती है जहाँ शरीर सामर्थ्य बढ़ाने के उद्‌देश्य से एक पिता अपने पुत्र का वध कर उसका माँस भक्षण कर लेता है फिर भी बौद्ध धर्म की दृष्टि से पिता बधक (हिंसक) नही। यह आपपातिक नियम है। नायाधम्मा कहाओ के सुंसुमा अध्ययन मे भी लगभग ऐसा ही उल्लेख आता है। सूत्रकृतांग केवल मन: प्रद्वेषो अपि अनवद्य कर्मोपचयाभाव" इस मत का खण्डन किया गया है।[2] कहा गया है कि उसके चित का विकल्प व्यापार हिंसा का कारण है। परव्यापादित पिशितभक्षणे पर" हस्ताकृष्टाङ्घरिदाहामावपन्न दोष' यह मत भी ठीक नही क्योकि परोक्ष अनुमति तो इसमे रहती ही है।

मानसिक संकल्प ही बौद्ध मत मे हिंसा का कारण है। जैसे तिल अथवा सरसों की खली के पिण्ड को पुरुष मानकर कोई उसका नाश करे तो उसे हिंसा का दोष लगेगा इसके विपरीत पुरुष को खली समझकर अथवा कुमार को अलाबु समझकर उसका नाश करने वाला प्राणिबध का दोषी नही होता। इतना ही नही इस प्रकार की बुद्धि से पकाया गया पुरुष अथवा कुमार का माँस बुद्धो के भोजन के लिए विहित माना गया है। इस प्रकार पकाए हुए माँस द्वारा जो उपासक अपने सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओ को भोजन कराते हैं वे महान् पुण्यस्कन्ध का उपार्जन करते हैं और उसके द्वारा आरोग्य नामक देवयोनि मे जन्म लेते हैं। बौद्ध मतावलम्बियो की इस मान्यता को आद्रक कुमार खण्डित करते हुए कहते हैं कि खली को पुरुष समझना अथवा अलाबु को कुमार समझना कैसे सम्भव है? ऐसा समझने वाले अज्ञानी हैं। वे औद्देशिक माँस का भक्षण करने वाले हैं, जिह्वा के स्वाद मे आसक्त हैं।[3]

सूत्रकृताग के क्रियास्थान नामक द्वितीयाध्यान में विविध क्रियास्थानों का परिचय दिया गया है। क्रियास्थान का तात्पर्य है—प्रवृत्ति का निमित्त। विविध प्रवृत्तियों के विविध काम होते हैं। इन्हीं कारणों को क्रियास्थान कहा गया है। ये क्रियास्थान दो प्रकार के हैं—धर्मक्रिया स्थान और अधर्मक्रिया स्थान। अधर्मक्रिया के १२ व धर्मक्रिया का एक भेद है। इस प्रकार कुल भेद क्रियास्थान के १३ हैं।

---

१. सूत्र. प. २. २. २८।
२. बही, १. २. २. २९ वृत्ति भी देखिये।
३. बही, २. ६. २. ४२।

बौद्ध मत के अनुसार हिंसा ५ अवस्थाओ मे संभावित है। अतएव अकस्मात् दण्ड, अनर्थ दण्ड वगैरह को वहाँ हिंसा रूप नही गिना जा सकता।

सूत्रकृतांग के इन बौद्धाचार सम्बन्धी उल्लेखो के देखने से स्पष्ट है कि उत्तर कालीन बौद्ध सम्प्रदाय अत्यधिक शिथिल हो गये थे। अपने धर्म के परिपालन में माँस भक्षण उनमे अधिक प्रचलित था। भले ही वह त्रिकोटिपरिशुद्ध रहा हो। पालि साहित्य मे भी बौद्धो को माँस भक्षण करते हुए देखा गया है। सीह सेनापति बुद्ध का उपासक हो जाने पर बुद्ध संघ के लिए मॉस मिश्रित भोजन (सीहसुत्त) देता है जिसका तीव्र विरोध निगण्ठो ने किया इसका। मूल कारण यह है कि दोनों धर्मो मे माँस-भक्षण अथवा अहिंसा की परिभाषा ही भिन्न रही है।

बौद्ध विनय की शिथिलाचार वृत्ति के इतिहास-दर्शन से यह स्पष्ट है कि विनय की विकास परम्परा महायान मे एकायक नही आयी प्रत्युत उसके सूत्र बुद्धकाल से ही जुटते रहे। भिक्खुपातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख की संरचना जिन घटनाओ के आधार पर हुई है उससे यह अनुमान लगाना सहज हो जाता है कि बौद्ध सघ मे आचारहीनता प्रारम्भ हो चुकी थी। वहाँ प्राय: षड्वर्गीय भिक्षु और सत्तरसवर्गीय भिक्षुओं तथा थुल्लनन्दा, सुन्दरीनन्दा और षड्वर्गीय भिक्षुणियो के माध्यम से विनयशैथिल्य के प्रसग एकत्रित किये गये है। पर थेरगाथा के पारापरिय और फुस्स जैसे भिक्षुओ का भविष्य के बौद्ध भिक्षुओं के आचारदर्शन के प्रति अनुमान—कथन हमे यह कहने को बाध्य करता है कि तबतक संघ मे पर्याप्त भ्रष्टाचार चल पडा था। वज्रयान आदि शाखाओ मे उसी आचार का वृद्धिङ्गत रूप उपलब्ध होता है।

स्थविरवाद के बाद सर्वास्तिवाद भी एक प्रभावक बौद्ध सम्प्रदाय हुआ है। महावस्तु उनका विनय ग्रन्थ माना जाता है (पृ. ३)। परन्तु पूरे ग्रन्थ के देखने से यह सही नही लगता। वह विनय नही बल्कि भगवान् बुद्ध की लोकोत्तरवादी जीवनगाथा है। इसका लेखक और काल भी एक नही माना जा सकता। इस महावस्तु (पृ. १) मे बोधिसत्व की चार प्रकार की चर्यायें कही गयी है—प्रकृतिचर्या (कुशलमूलों का अवरोपण), प्रणिधानचर्या (कुसलमूल प्रणिधान), अनुलोमचर्या (चक्रवर्तीभूत) और अनिवर्तनचर्या (तथागत होने की प्रतिज्ञा)। इसी प्रकार चार उपसम्पदाओ का भी उल्लेख है—स्वामी उपसम्पदा, एहिभिक्षुकाय उपसम्पदा, दशवर्गेन गणेन उपसम्पदा, और पञ्चवर्गेन गणेन उपसम्पदा।

स्थविरवाद की अपेक्षा मूलसर्वास्तिवाद मे विनय-नियमो की संख्या अधिक है। विनय पिटक (हिन्दी अनुवाद) की भूमिका मे श्री महा-राहुल साकृत्यायनने स्थविर-वाद और मूलसर्वास्तिवाद मे आगत विनय नियमो की तुलना से भी यह स्पष्ट है।

१. भिक्षु नियम	स्थविरवाद	मूलसर्वास्तिवाद
१. पाराजिक	४	४
२. सघादिसेस	१३	१३
३. अनियत	२	२
४. निस्सग्गिय-पाचित्तिय	३०	३०
५. पाचित्तिय	९२	९०
६. पाटिदेसनिय	४	४
७. सेखिय	७५	११२
८. अधिकरण-समथ	७	७
	२२७	२६२

२. भिक्षुणी नियम	स्थविरवाद	मूलसर्वास्तिवाद
१. पाराजिक	८	८
२. संघादिसेस	१७	२०
३. निस्सग्गिय-पाचित्तिय	३०	३३
४. पाचित्तिय	१६६	१८०
५. पाटिदेसनिय	८	८
६. सेखिय	७५	११२
७. अधिकरण-समथ	७	७
	३११	३७१

उक्त तुलना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भिक्खुणी विनय मे भिक्खुविनय की अपेक्षा नियमों की संख्या अधिक है। स्थविरवाद भिक्खुणी विनय मे पाराजिक चार, संघादिसेस चार, पाचित्तिय चोहत्तर, और पाटिदेसनीय चार, नियम अधिक हैं। अनियत नियम भिक्खुणी विनय मे हैं ही नही। निस्सग्गिय-पाचित्तिय, सेखिय और अधिकरणसमथ दोनो में समान है। मूलसर्वास्तिवादी विनय मे नियमों की यह संख्या और अधिक हो गई है। लगता है, भिक्षुणियों के स्वतन्त्रता देने के बावजूद उन पर प्रतिबन्ध अपेक्षाकृत अधिक थे। निष्पक्ष रूप से यदि विचार किया जाय तो भगवान् बुद्ध भी नारी वर्ग के प्रति अधिक उदार नही हो सके। पार्श्वनाथ और महावीर भी नही हुए। इसका कारण शायद यही रहा हो कि नारी की जन्मजात कमजोरियों से ये महापुरुष अपरिचित नही थे।

बौद्ध विनय के अधिकाश नियम जैन विनय से प्रभावित जान पडते हैं। वर्षावास आदि के नियम स्पष्ट रूप से जैन नियमों को देखकर बनाये गये हैं। निसीथसूत्र और पातिमोक्ख की भाषा, शैली और विषय की समानता इस सन्दर्भ मे उपेक्षणीय नही है। आवश्यकता यह है कि जैन और बौद्ध विनय का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। श्रमण संस्कृति के विवेचन के समय हमने ऐसा प्रयत्न किया है।

१. उपासक विनय

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी विनय के साथ बौद्ध उपासक विनय के सन्दर्भ मे भी विचार करना आवश्यक है। अनेक भारतीय एवं विदेशी विद्वानो का मत है कि बौद्धधर्म मे उपासक का कोई स्थान नही। तथागत की धर्मोपदेशना तो मात्र सन्यस्तो के लिए ही रही। परन्तु बौद्ध साहित्य के देखने से यह विचारणा पूर्णतया भ्रान्तिकारी सिद्ध हो जाती है। गृहस्थ का कर्तव्य क्या है और उसके जीवन की उन्नति किन उपायो से हो सकती है, इन प्रश्नो का उत्तर भगवान् बुद्ध ने अपने व्यावहारिक दृष्टिकोण से बड़ी सरल शैली मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

उपासक का महत्त्व—कोई भी धर्म केवल भिक्षु-भिक्षुणियो पर जीवित नही रह सकता। उसके जीवन के लिए उपासक का दायित्व कही अधिक गुरुतर है। सघ, विहार आदि की व्यवस्था का सम्पूर्ण भार उपासक अथवा श्रावक पर ही अवलम्बित रहता है। बुद्ध ने अनाथपिण्डिक से कहा कि आर्य श्रावक को यशो-लाभ व स्वर्ग की प्राप्ति होती है क्योकि वह भिक्षुसघ का चीवरदान, पिण्डदान (भोजनदान), शयनासन तथा औषधिदान से परिपालन करता है—

गिहिसामीचिपटिपद् पटिपज्जन्ति पण्डिता।
सम्मगते सीलवन्ते चीवरेन उपट्ठिता ॥
पिण्डिपातसयनेन गिलानप्पच्चयेन च।
तेस दिवा च रत्तो च सदा पुञ्ञं पवड्ढति ॥
सग्गं च कमतिट्ठानं कम्मं कत्वान भद्दक ॥[१]

भिक्षु की आचारिक व वैचारिक शिथिलता को दूर करने का भी दायित्व उपासक के कन्धो पर है। वर्षाकाल मे भिक्षुओं द्वारा तृणस्कन्ध के कुचले जाने पर प्राणातिपात होता था। उनके इस दुष्कृत्य की आलोचना कर उपासको ने उन्हे हिसा से बचाया। और भी अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ उपासको ने भिक्षु व संघ को सन्मार्ग दिखाया[२]। इसीलिए शायद यह विधान किया गया है कि भिक्षु गृहस्थो के प्रति क्रोधित न हो और यदि क्रोधित हो जाये तो वह प्रतिसारणीय कर्म करे तथा गृहस्थ से क्षमायाचना करे[३]।

---

१. गिहिसामीचिसुत्त, अंगुत्तर निकाय।

२. वर्षोपनायिका स्कन्धक, विनयपिटक।

३. चुल्लवग्ग, विनयपिटक।

कुछ शिलालेखों मे बौद्धगोठी[1] और सीहगोठी[2] (सिंहगोष्ठी) के उल्लेख आते है । ऐसी गोष्ठियो के अध्यक्ष व सदस्यो के नाम भी प्राप्त होते हैं[3] । साँची बोटिभ लेखो मे (द्वितीय-प्रथम शती ई० पू०) बोधगोठी[4] तथा विदिशा लेख मे बरुलमिसानगोठी[5] का भी उल्लेख मिलता है । डॉ० बूलर के अनुसार ये गोष्ठियाँ बिहारो आदि की व्यवस्था किया करती थी[6] । डॉ० अजयमित्र शास्त्री का मत है कि इन बौद्ध गोष्ठियो मे एक भिक्षु भी सदस्य के रूप मे रहता था जो विहारादि धार्मिक संस्थानो की व्यवस्था मे सहयोग देता था[7] । यह सम्भव भी है इसलिए कि एक भिक्षु अपने धर्मायतनो की जितनी अच्छी व्यवस्था कर सकता है, उतनी अच्छी व्यवस्था और कोई दूसरा नही कर सकता । अस्तु, इन उद्धरणों[8] से यह स्पष्ट है कि सघ के लिए उपासक की उपयोगिता कम न थी ।

तथागत के अधिकाश उपदेश भिक्षुओ को सम्बोधित कर दिये गये है । फिर भी चू कि सभी जन घर-परिवार नही छोड सकते थे, इसलिए उन्होंने कुछ धर्मदेशना गृहस्थो के लिए भी दी है । बौद्ध गृहस्थो की यह धर्मदेशना जैन गृहस्थो के लिए निर्धारित जैसी सुव्यवस्थित आचार-विचार देशना नही है । बौद्ध भिक्षु के निमित्त दिया गया उपदेश तो गृहस्थो के लिए भी कार्यकारी होता है, परन्तु यहाँ हम उन्ही कुछ विचारो को रखेंगे जो विशेष रूप से एक साधारण व्यक्ति के उत्थान से सम्बद्ध रहे है । इस दृष्टि से सिगालोवाद आदि सुत्त अधिक महत्वपूर्ण हैं । सुत्तनिपात मे भी गृहस्थ धर्म का वर्णन मिलता है ।

बौद्ध उपासक के कर्तव्य—बौद्ध उपासक का प्रमुख कर्तव्य यह है कि वह निम्नलिखित चार प्रकार के पाप कर्मो से विमुख रहे[9]—

---

१. एपिग्राफिया इन्डिका, भाग २, पृ. २२९ ।

२. षगणि निगमपुतानं राजपामुखो ष इषपुतो कुबिरको राजा सिहगोठिया पामुखो [।] तेष अन्नं नजूस फालिगषमुगो च पषाणषमुगो च । वही, पृ. २२८ ।

३. गोठि हिरञबधवा बुडालको कालहो विसको............उपोसथपुतो उतरो कारहपुतो, वही पृ. ३२८ ।

५. वही, पृ. ९९-१०० । ४. वही, पृ. १०२ ।

६. डॉ० अजयमित्र शास्त्री, Early Budhism, पृ. १२६ ।

७. वही, १२७ । ८. वही, पृ. १२६-१२७ ।

९. पाणातिपातो अदिन्नादानं मुसावादो च वुच्चति ।
परदारगमनञ्चेव चप्पसंसन्ति पण्डिता ॥ सिगालोवादसुत्त, दी. ८. १. ४

१. पाणातिपात (हिंसा करना)।
२. अदिन्नादान (चोरी करना) ।
३. कामेसु मिच्छाचार (स्त्री सम्बन्धी दुराचार करना)।
४. मुसावाद (असत्य बोलना)।

जैनधर्म मे श्रावक के लिए पञ्चाणुव्रत पालने का विधान किया गया है। इस विधान मे उक्त चार पापकर्मों के साथ परिग्रह से भी विरत रहना सम्मिलित है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने 'कामेसु मिच्छाचार' के स्थान पर 'परिग्रह' की गणना की थी जिसमे मिथ्याचार भी गर्भित था। इसे चातुर्याम कहा गया है। बौद्ध साहित्य मे इसके पर्याप्त उल्लेख मिलते है। बुद्ध ने अशुद्ध तपस्या को बताते हुए शुद्ध तपस्या का व्याख्यान किया और वास्तविक तपस्या मे चार भावनाओ का परिपालन प्रशंसनीय माना। इन चारो भावनाओं को 'चातुर्याम सवर' कहा गया है। इसके अनुसार तपस्वी प्राणातिपात, अदत्तादान, मृषावाद तथा कुशील (कामगुणो मे मिथ्याचार) से कृत, कारित व अनुमोदन पूर्वक दूर रहता है[1]।

उक्त चारो पापकर्म हिंसा मे अन्तर्भूत हो जाते हैं अत: स्थूल रूप से हिंसा का त्याग करना उपासक का मुख्य कर्तव्य है। सुत्तनिपात मे प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने का उपदेश दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि शान्त पद (निर्वाण) की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि वह योग्य तथा अत्यन्त सरल बनें। उसकी बात मृदु, सुन्दर और विनम्रता से आपूर हो। वह सन्तोषी हो, अल्पकृत्य व अल्पवृत्तिवान् हो, इन्द्रियसंयमी व अप्रगल्भ हो। सदैव निर्दोष रहने का प्रयत्न करे। उसकी यह प्रयत्नमय भावना रहे कि सभी प्राणी सुखी हों, सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वक रहे, (सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता) जंगम या स्थावर, दीर्घ या महान्, मध्यम या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पत्स्यमान् जितने भी प्राणी हैं, सभी सुखपूर्वक रहे[2]। एक दूसरे की प्रवञ्चना न करे, अपमान न करे, वैमनस्य के कारण परस्पर मे दु:ख देने की भावना न करे। माता

---

१. उदम्बरिकसीहनाद सुत्त, दीघनिकाय।
विशेष देखिये, मेरा प्रबन्ध—Jainism in Budhist Literature.

२. ये केचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीघा वा ये महन्ता वा मज्झिमा रस्सकाणुकथूला॥
दिट्ठा वा येव अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता वा संभवेसी वा सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता॥ मेत्तसुत्त, ४-५

जिस प्रकार स्वयं की चिन्ता न कर अपने इकलौते पुत्र का संरक्षण करती है उसी प्रकार का असीम प्रेम व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति करे[1]। शत्रुता को छोड कर अखिल संसार के प्रति असीम प्रेम बढ़ाये। खड़े रहते, चलते, बैठते, सोते व जागृत रहते समय इसी प्रकार की स्मृति सजग रखनी चाहिए। यही ब्रह्मविहार है। ऐसा प्रेमभावी व्यक्ति विशुद्ध शीलवान् हो पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है[2]।

कितना विशुद्ध व सात्विक प्रेम बनाये रखने के लिए निर्देशन दिया गया है! संयुक्तनिकाय मे "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिसा" से मिलते जुलते विचार उपलब्ध होते है। वहाँ कहा गया है कि जो शरीर, मन व वचन से हिंसा नही करता व पर को नही सताता वही अहिंसक है[3]। अहिसक की यह परिभाषा बड़ी व्यापक व मानवता से भरपूर है। चतु शतक (१२ २३) मे कहा है—"धर्मो समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता।"

भगवान् बुद्ध ने यज्ञ व बलिकर्म का घोर विरोध किया था। उनके अनुसार अश्वमेध, पुरुषमेध, वाजपेय्य आदि महारम्भी यज्ञ महाफलदायी नही होते। ऐसे यज्ञो मे गायों, बकरी-भेड़ो आदि पशुओ की घनघोर हिसा होती है। इस प्रकार के यज्ञो मे सम्यग्मार्गगामी महर्षिजन नही जाते। यज्ञ ऐसे हो जिनमे किसी भी प्रकार की हिसा न हो। दानपुण्य करना सबसे बड़ा यज्ञ है। यही प्रशंसनीय है। बुद्ध ने ऐसे ही यज्ञ को करणीय माना है[४]। संयुत्तनिकाय के यञ्ञसुत्त मे भी इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किये गये है।

हिसा, चौर्य, असत्यभाषण, मिथ्याचार तथा सुरा, मेरय, मद्य आदि नशीली चीजो से विरत रहना—ये उपासको के पञ्चशील माने गये है। इन्ही को पञ्चशिक्षापद भी कहा गया है। इन पचशिक्षापदो की पृष्ठभूमि मे दस उद्देश्य निहित हैं—१. संघ की भलाई, २. सघ की सुविधा, ३. दुष्ट व्यक्तियों का निग्रह, ४. शीलवान् भिक्षुओ का सुखपूर्वक विहार, ५. आश्रमो का संयमन, ५. श्रद्धावानो मे अधिक श्रद्धा की जाग्रति, ७. अश्रद्धावानो मे अधिक श्रद्धा सम्पन्नता, ८. भावी जन्मो के आश्रवो का प्रतिघात, ६. सद्धर्म की स्थिति तथा १०. विनय पर अनुग्रह। इन दस उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रातिमोक्ष के भी नियम बनाये गये हैं[५]।

---

१. माता यथा निय पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवं पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरियाणं॥ वही, ७

२. मेत्तसेत्त, सुत्तनिपात, १-१०। ३. अहिंसक सुत्त।

५. दसमनिपात, उपालिसुत्त, अंगुत्तरनिकाय। ४. चतुक्कनिपात, अगुत्तरनिकाय।

पचशिक्षापदो के माध्यम से पंच शैक्ष्यबल की प्राप्ति होती है—श्रद्धाबल, लज्जाबल, पापभीरुताबल, वीर्यबल और प्रज्ञाबल। इन पाँचो बलो से कुशल कर्मों मे दृढ आस्था हो जाती है। काम भोगो के प्रति लालसा समाप्त हो जाती है। चार आर्यसत्य, भावना, चार स्मृति प्रस्थान भावना, चार सम्यग्प्रधान भावना, चार ऋद्धिपाद भावना, पंचेन्द्रिय भावना, सप्तबोध्यंग भावना, आर्य अष्टाङ्गिकमार्ग भावना, आठ विमोक्ष भावना, आठ अभिभू आयतन भावना, दस कृत्सनायतन भावना एव चार ध्यान भावना का अभ्यास उपासक करने लगता है। इस अभ्यास से उपासक का चित्त अत्यन्त निर्मल और ऋजु हो जाता है[1]। श्रावक इन भावनाओं को भाकर चार प्रत्यक्ष सुखानुभव स्वरूप चैतसिक ध्यानों को प्राप्त करता है तथा बुद्ध, बुद्धधर्म, बुद्धसंघ मे निश्चल श्रद्धा कर श्रेष्ठ शीलो से युक्त हो जाता है।

भगवान् बुद्ध का प्रथम उपासक वाराणसी का यश गृहपति था जिसे उन्होंने दान, शील, स्वर्गकथा, काम वासनाओ का दुष्परिणाम, निष्कामना का माहात्म्य तथा चार आर्य सत्य का उपदेश दिया था। वत्सगोत्र परिव्राजक को दस कुशल और दस अकुशल धर्मों का व्याख्यान दिया। प्राणातिपात, अदत्तादान, मिथ्याचार मृषावाद, पिशुनवचन, परुषवचन, संप्रलाप अभिध्या (लोभ), व्यापाद व मिथ्यादृष्टि—ये अकुशल धर्म हैं और इनके विपरीत धर्म कुशल धर्म कहे गये हैं। उपासको को अकुशल धर्मों का परित्यागकर कुशल धर्मों को धारण करना चाहिए। इसी प्रसग मे यहाँ यह भी कहा गया है कि बुद्ध के भिक्षु, भिक्षुणियाँ, ब्रह्मचारी उपासक, सुब्रह्मचारिणी उपासिकायें, कामभोगी उपासक, कामभोगिनी उपासिकायें आदि सभी आराधक हैं। इसलिए बौद्धधर्म अपने आप मे परिपूर्ण है[2]।

कौसलवासियो के बोच एक बार बुद्ध ने उपदेश देते हुए कहा था कि अधर्माचरण से दुर्गति प्राप्त होती है और धर्माचरण से सद्गति मिलती है। इस धर्माचरण व अधर्माचरण के मुख्य तीन भेद हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। प्राणातिपात, अदत्तादान व मिथ्याचार ये तीन भेद कायिक अधर्माचरण के हैं। मिथ्यावाद, पैशून्य, परुषभाषण, एवं प्रलाप ये चार वाचिक अधर्माचरण हैं। अभिध्या (लोभ), व्यापन्नचित्त, मिथ्यादर्शन ये तीन मानसिक अधर्माचरण हैं। इस अधर्माचरण के कारण प्राणी नरकगामी होते है। इनसे

---

१. महासकुलदायिसुत्त, मज्झिमनिकाय।
२. महावच्छगोत्तसुत्त, मज्झिमनिकाय।

विरत होकर जीवन यापन करने से स्वर्ग प्राप्ति होती है। बुद्ध के मुख से इस प्रकार उपदेश सुनने के बाद सभी गृहस्थ उनके उपासक बन गये[१]।

बुद्ध ने प्रज्ञा की वृद्धि के चार कारण दिये है—सत्पुरुषो की सेवा, सद्धर्म का श्रवण, तथा योग्य विचार और धर्मानुसार आचरण। ये चार बातें सर्वसाधारण के लिए भी अत्यन्त उपकारी है। साथ ही यह भी आवश्यक हैं कि कोई अदृष्ट को दृष्ट न कहे, अश्रुत को श्रुत न कहे। अनाघ्रात, अनास्वादित व अस्पृष्ट को आघ्रात, आस्वादित तथा स्पृष्ट न कहे व अज्ञात को ज्ञात न कहे[२]। उसका चित्त किसी से वैर करने वाला न हो, अक्रोधी हो, असक्लिष्ट हो और शुद्ध हो। इससे आर्य श्रावक को सद्गति, सुख-साधन, पाप कर्मो से विदूरता तथा हर दृष्टि से विशुद्धि प्राप्त होती है। कालाम यही उपदेश सुनकर बुद्ध का उपासक बन गया था[३]। बुद्ध ने जीवन की अवनति के कारणो मे साधारणत तीन प्रकार के मद माने हैं—यौवनमद, आरोग्यमद और जीवनमद। तीनो मद दुर्गति, पतन और नरक के कारण हैं[४]।

भगवान् बुद्ध ने सदैव संयम पर बल दिया है। मागन्दिय परिव्राजक को उन्होंने स्वयं भुक्त भोगो का आख्यान करते हुए काम, तृष्णा आदि से दूर रहने का उपदेश दिया। यह प्राणी विषय सुखों मे निमग्न रहकर उनमे सुख है ऐसी विपरीत धारणा रखता है। परन्तु यह वस्तुत. संसार-भ्रमण का कारण है। कामगुणो का सुख वास्तविक सुख नही। वह तो मात्र सुखाभास है। इस मार्मिक और तथ्ययुक्त उपदेश को श्रवणकर मागान्दिय गद्गद हो गया और तत्काल बुद्ध का शिष्य बन गया[५]।

भगवान् बुद्ध व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक चिन्तन करते थे। यही कारण था कि जनता को उनकी बात रुचिकर हुआ करती थी। कौसलवासियो को अपर्णक (द्विविधारहित) धर्म के सन्दर्भ मे बताते हुए उन्होने मुख्य रूप से अन्य तीर्थङ्करो के दो मतो का उल्लेख किया। प्रथम वह जिसमे सत्य भाषण आदि पुण्य क्रियाओ से पुण्यबन्ध नही माना गया और द्वितीय वह जिसके अनुसार दान, यज्ञ आदि की मान्यता सही है। प्रथम मत मे सत्कर्मो के स्थान पर असत्कर्मों का बाहुल्य है और द्वितीय मत उसके प्रतिकूल है। द्वितीय मत

---

१. सालेय्यक सुत्त, मज्झिमनिकाय।
२. आपत्तिभयवग्ग, चतुक्कनिपात, अंगुत्तरनिकाय।
३. तिकनिपात, अंगुत्तरनिकाय।
४. तिकनिपात (अंगुत्तरनिकाय)।
५. मागन्दिय सुत्त, मज्झिमनिकाय।

के पोषक बुद्ध स्वयं है। उन्होंने परलोक की अपेक्षा इहलोक को सुधारने पर अधिक जोर दिया है। तदर्थं अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश वर्तमान जीवन को अधिकाधिक सक्षम और कुशल कर्मयुक्त बनाने के निमित्त एक सफल प्रयास है। ऐहिक जीवन मे सुधार हो जाने से पारिलौकिक जीवन स्वत. सुधर जाता है[१]।

अंगुत्तर निकाय में चार चक्र बताये गये हैं, जिनसे देव व मनुष्यों का जीवन अल्प समय मे ही भोग्य पदार्थों से आपूर हो जाता है। ये चार चक्र हैं—अनुकूल देशवास, सत्पुरुष आश्रय, चित्त की स्थिरता तथा पूर्वजन्मकृत पुण्य। इसी प्रसंग मे बुद्ध ने लोकसग्रह की भावनाओं का भी उल्लेख किया है और यह निर्देशन दिया है कि उपासक व भिक्षु को दान, प्रियवचन, उपकार तथा समानता का व्यवहार करना चाहिए। ये चारो लोकसंग्रहमयी भावना पुत्र, माता-पिता आदि परिजनों के साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखने मे कारणभूत रहती है।

दानं च पेय्यवज्जञ्च अत्थचरियाय च या इध।
समानता च धम्मेसु तत्थ तत्थ यथा रह ॥
एते खो सङ्गहा लोके रथस्सानीव यायते।[२]

महानाम शाक्य ने भगवान् से पूछा कि उपासक का प्रधान कर्तव्य क्या है? भगवान् ने उत्तर दिया कि बुद्ध, धर्म तथा सघ की शरण ग्रहण करना उपासक का प्राथमिक कर्तव्य है। उसके उपरान्त उसे प्राणातिपातादि से विरत रहना चाहिए। उसका यह भी दायित्व है कि वह स्वयं प्रज्ञा, श्रद्धा, शील, समाधि, त्याग आदि भावनाओं को स्वयं धारण करे तथा दूसरे को भी धारण कराये। आत्महित तथा परहित दोनो मे उसे रहना चाहिए[३]। उपासक व भिक्षु सर्वोत्तम दर्शन, श्रवण, लाभ, शिक्षा, परिचर्य्या और अनुश्रुति का अभ्यास करे। बुद्ध, धर्म, सघ, शील, त्याग तथा देवता की अनुस्मृति करे। अनित्य संज्ञा का, अनित्य के प्रति दु.ख संज्ञा का, दु ख के प्रति अनात्म संज्ञा का, प्रहाण संज्ञा का, वैराग्य संज्ञा का तथा निरोध सज्ञा का अभ्यास करे। इस अभ्यास से राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, मात्सर्य आदि दोष परिक्षीण हो जाते हैं[४]। जीवन की सफलता के लिए मेधावी व्यक्ति को बुद्धानुशासन का ध्यान कर धर्मदर्शी बनना चाहिए।

---

१. अपण्णक सुत्त, मज्झिमनिकाय।
२. चतुत्थ निपात, अगुत्तर निकाय।
३. गहपतिवग्ग, अंगुत्तरनिकाय।
४. रागपेय्याल, वही।

यस्स सद्धा तथागते अचला सुप्पतिट्ठिता ।
सीलञ्च यस्स कल्याणं अरियकन्तं पसंसितं ।
सघे पसादो यस्सत्थि उजुभूतञ्च दस्सन ।
अदलिद्दो ति त आहु अमोघ तस्स जीवित ॥
तस्मा सद्धञ्च सीलञ्च पसादं धम्मदस्सन ।
अनुयुञ्जेथ मेधावि सर बुद्धानसासन ॥[1]

भगवान् बुद्ध विविध प्रकार से जनसमुदाय को सद्धर्म की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते थे। अनाथपिण्डिक से उसके पूछने पर बुद्ध ने कहा कि संसार मे चार वस्तुएँ दुर्लभ है—१. धर्मानुसार योग्य वस्तुओ की प्राप्ति, २ यश प्राप्ति, ३ दीर्घायु तथा ४. सद्गति। इन चारो श्रेय वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा, शील, त्याग और प्रज्ञा सम्पत्ति से युक्त होना चाहिए। प्रज्ञा सम्पत्ति से करणीय-अकरणीय का भेद स्पष्ट हो जाता है। वह विषयलोभ, थीनमिद्ध (आलस्य) व चित्त के उपक्लेशो से दूर रहता है। स्वय अर्जित सम्पत्ति से परिवारादि का सम्यक्परिपालन करता, आत्मरक्षा करता, पञ्चबलिकर्म करता, क्षमाशील होता और परसेवा करता[2]। भिक्षु और उपासक के सात धन भी प्राय उक्त सम्पत्तियो से मिलते-जुलते है। सात धन ये है—श्रद्धा, शील, लज्जा, पापभीरुता, श्रुति, त्याग तथा प्रज्ञा[3]। दुश्शीलता, ईर्ष्या व मात्सर्य ये तीनो दुर्गुण नरक तुल्य है[4]।

तृष्णा जन्म मरण को बढाने वाली है। उसके होने से वस्तुओ की खोज व प्राप्ति की जाती है। प्राप्ति होने से तृष्णा का निश्चय होता है। निश्चय होने से आसक्ति, आसक्ति से ममत्व, ममत्व से मात्सर्य, मात्सर्य से सुरक्षा, सुरक्षित वस्तु के लिए खीचतान, दण्डादण्डी, शस्त्रप्रयोग, कलह, विवाद, पैशून्य तथा असत्य भाषण जैसे दोष पैदा हो जाते है[5]।

अवनति के कारण—भगवान् ने व्यक्ति की अवनति के कारणो पर भी अत्यन्त व्यावहारिक बुद्धि से विचार किया है। उन्होंने कहा है कि कार्यबहुलता, वचन-बहुलता, निद्रा-बहुलता, मण्डली-बाहुल्य (अत्यधिक सामाजिक होना), दुर्वचनीयता व कुसगति ये छ: कारण हैं जिनसे व्यक्ति की उन्नति नही हो पाती। (छक्क निपात, अगुत्तर निकाय)। इसी प्रकार भिक्षुओ का दर्शन छोड़ना, सद्धर्म मे प्रमाद करना, पंचशीलों का अभ्यास न करना, अश्रद्धावान् होना, भिक्षुओ की

---

१. चतुक्कनिपात, वही।
२. चतुक्कनिपात, वही।
३. सत्तकनिपात, धनवग्ग, वही।
४. तिकनिपात, वही।
५. नवमनिपात, तण्हामूलकसुत्त, वही।

निन्दा करना, छिद्रान्वेषी होना एव बौद्धेतर साधुओ को दान देना ये सात अवनति के कारण है (सत्तक निपात, अंगुत्तर निकाय)। दरिद्रता, ऋण, सूद, दोषारोपण आदि भी जीवन के लिए अत्यन्त दु खदायी होते हैं (छक्क निपात, अगुत्तर निकाय)। भिक्षुओं को हानि पहुँचाना, उनका अहित करने का प्रयास करना, निवास स्थान से हटाना, अशिष्ट शब्द कहना, परस्पर मे वैमनस्य पैदा करना, धर्म की निन्दा करना तथा सघ की निन्दा करना ये आठ दुर्गुण जिस उपासक मे होते है, उसकी अवनति अवश्यम्भावी है,, (अट्ठकनिपात, अंगुत्तरनिकाय)।

श्रावस्ती मे भगवान् ने व्यक्ति की अवनति के और भी कारण प्रदर्शित किए है जिनमे प्रमुख है—१. धर्मद्वेष, २. असत्पुरुष प्रियता, ३ निद्रा, अधिक सम्पर्क, अनुद्योग, क्रोध, ४. वृद्ध माता-पिता की अशुश्रूषा, ५. मिथ्या भाषण, ६. मात्र स्वादिष्ट भोजन, ७. जाति, धन तथा गोत्र का गर्व व बन्धुओ का अपमान ८. मिथ्याचार व मद्यपान, ६ पर-स्त्री संसर्ग, १० अनमेल विवाह, ११ लालची भृत्य तथा १२. अल्पसाधन सम्पन्न पर महालालची पुरुष द्वारा राज्य की इच्छा। ये पराभव के कारण ऐसे है, जिन्हे कोई भी अस्वीकार नही कर सकता[1]।

धर्म व कर्तव्य मे सुप्रतिष्ठित रहने के लिए व्यक्ति बडो का आदर करे, ईर्ष्यालु न हो, सम्मान के साथ धर्मकथा सुने, धृष्टता को दूर कर विनम्र भाव से गुरुजनो के पास पहुँचे और अर्थ, धर्म, सयम तथा ब्रह्मचर्य का स्मरण कर उनका आचरण करे, धर्मोपदेश को सुस्थिर हो श्रवण व मनन करे, अट्टहास, विलाप, कपट, लोलुपता, अभिमान, मोह आदि दुर्गुणो से दूर रह कर स्थिरचित्त हो विचरण करे, ज्ञान और श्रुति की वृद्धि करे[2]।

इन व्यक्तियो के अतिरिक्त बुद्ध ने प्रतिदिन के जीवन मे उपस्थित होने वाली बातो पर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उदाहरणार्थ, समागत अतिथि का प्रसन्न मन से उठकर स्वागत करना, अभिवादन करना, बैठने के लिए आसन देना, किसी रखी हुई वस्तु को नही छिपाना, बहुत रहने पर थोड़ी नही देना, प्रणीत (उत्तम कोटि का) पदार्थ रहने पर भी रुक्ष (घटिया) न देना, जो भी दे आदरपूर्वक देना। जिस गृहस्थ कुल मे ये सात बातें न हो वहाँ कभी नहीं जाना चाहिए[3]।

---

१. वसल सुत्त, सुत्तनिपात।
२. किसील सुत्त, सुत्तनिपात।
३. सत्तक, अंगुत्तर निकाय।

उपासक दो प्रकार के बताये गये है—चाण्डाल उपासक और मलिन उपासक। चाण्डाल, मलिन अथवा निकृष्ट उपासक वह है जो अश्रद्धावान् हो, दुश्शील हो, भले-बुरे शकुनो मे विश्वास करने वाला हो, भले-बुरे शकुनो की ओर देखता रहता हो तथा दक्षिणा के पात्रो को बौद्धेतर दर्शनों मे खोजता हो। जिस उपासक मे ये पाँच बातें नही रहती, वह उपासकरत्न कहलाता है। उपासकरत्न के लिए पाँच प्रकार के व्यापार वर्जित है—अस्त्र-शस्त्रो का व्यापार, माँस का व्यापार, मद्य का व्यापार तथा विष का व्यापार। ऐसा उपासक संयतेन्द्रिय होता है तथा चेतसिक ध्यानो को प्राप्त करता है[1]। उपोसथ प्रकारो मे से उसे भगवान द्वारा निर्दिष्ट **आर्य उपोसथ** का पालन करना चाहिए जिससे उसका मलीन चित्त निर्मल हो सके।[1] इसके पाणातिपात वेरमण आदि आठ अंग होते है।[2]

चार प्रकार के सहवास—मथुरा व वरेंजा के किनारे चलते समय भगवान् से कुछ गृहपतियों-गृहपत्नियो की भेंट हुई। भगवान् ने उन्हे चार प्रकार के सहवास बताए—

१. दोनो पति-पत्नी दुश्शील होते है, कृपण होते हैं व कृपण ब्राह्मणों को भला-बुरा कहने वाले होते हैं। इसे लाश-लाश के साथ रहने वाला दम्पति वर्ग कहा है।

२. पति दुश्शील होता है और पत्नी सदाचारिणी। इसे पत्नी का पतिरूपी लाश के साथ रहना कहा है।

३. पति शीलवान होता है और पत्नी दुराचारिणी। इसे स्वयं लाश रूप होकर देवता पति के साथ रहना कहा है। और

४. दोनों पति-पत्नी श्रद्धावान, उदार व संयत होते हैं। धर्मानुसार आचरण करने वाले व प्रियभाषी होते हैं।

इनमे दुश्शील व्यक्ति पंच पापो का कर्ता, मिथ्यादृष्टि तथा मात्सर्य आदि दोनों से संयुक्त रहता है और सदाचारी इन दोषो से विमुक्त रहता है। उक्त चार प्रकार के सहवासो में स्पष्टतः अन्तिम सहवास सर्वोत्तम है। परस्पर सुखी व समृद्ध होने का उपाय यही है कि दम्पति समान श्रद्धावान् हो, शीलवान् हो, त्यागी हो व प्रज्ञावान् हो।[3]

---

१. पंचकनिपात, वही।

२. अंगुत्तर, तिकनिपात।

३. वही, चतुक्कनिपात (हिन्दी अनुवाद)।

उभो च होन्ति दुस्सीला कदरिया परिभासका ।
ते होन्ति जानिपतयो इवासंवासमागता ।।
सामिको होति दुस्सीलो कदरियो परिभासको ।
भरिया सीलवती होति वदञ्ञु वीतमच्छरा ।।
सापि देवी संवसति छवेन पतिना सह ।।[1] इत्यादि

सात प्रकार की भार्यायें—अनाथ पिण्डिक से भगवान् ने पूछा—हे गृहपति ! तुम्हारे घर मे इतना अधिक शोरगुल क्यो हो रहा है मानो मछुवे मछलियो के लिए सघर्ष कर रहे हो ? गृहपति ने कहा—भन्ते ! वह सुजाता पुत्रवधू धनी घर की है । न वह सास का आदर करती है और न श्वसुर का, न स्वामी का आदर करती है और न भगवान् का । तब भगवान् ने सुजाता को प्रतिबोध दिया और उसे भार्याओ के सात प्रकार बताये—

१. प्रथम प्रकार की भार्या दूषित चित्तवाली होती है, अहित चाहने वाली होती है, पति की उपेक्षा कर अन्यो के प्रति अनुरक्त रहती है, धन द्वारा क्रीत के बध के लिए उत्सुक रहती है । पुरुष की इस प्रकार की भार्या बधक जैसी भार्या कहलाती है । (वधा च भरिया)

२. दूसरे प्रकार की भार्या वह है जो शिल्प, वाणिज्य व कृषि से प्राप्त स्वामी के धन मे से कुछ नही छोडती । पुरुष की इसी प्रकार की भार्या चोरिणी जैसी भार्या कहलाती है । (चोरीया भरिया)

३. निकम्मी रहने वाली, आलसी, अधिक खाने-पीने वाली, कठोर स्वभाव वाली, प्रचण्ड अपशब्द बोलने वाली तथा पति के उत्साह को दबाने वाली भार्या मालकिन जैसी भार्या है । (अय्या च भरिया)

४. जो सदैव हित चाहने वाली होती है, जो पति की इस प्रकार देखभाल रखती है जैसे माता पुत्र की, जो पति के कमाये हुए धन का सरक्षण करती है । (माता च भरिया)

५ जो छोटी या बडी बहिन के समान अपने स्वामी के प्रति गौरव का भाव रखती है, लज्जाशील होती है, पति की आज्ञा मे रहने वाली होती है । पुरुष की इस प्रकार की भार्या बहन जैसी भार्या (भगिनी च भरिया) कहलाती है ।

६. जैसे चिरकाल के अनन्तर सखा को देखकर कोई सखी प्रसन्न होती है, उसी प्रकार जो कुलीन, शीलवान् पतिव्रता नारी अपने पति को देखकर प्रमुदित होती है । पुरुष की इस प्रकार की भार्या सखी जैसी भार्या (सखी च भरिया) कहलाती है ।

---

१. वही, चतुक्कनिपात ।

७. जो मारने-पीटने का डर दिखाये जाने पर भी क्रोधित न होने वाली, शान्त रहने वाली, निर्द्वेष चित्त से पति की हर बात को सहन करती है, जिसे क्रोध नहीं आता, जो स्वामी के वश में रहने वाली है—पुरुष की इस प्रकार की भार्या दासी जैसी भार्या कहलाती है (दासी च भरिया)।

इनमें प्रथम तीन प्रकार की भार्यायें भाषा में दुश्शील व कठोर स्वभाव की होती हैं। वे पति का आदर नहीं करतीं। ऐसी भार्यायें नरकगामिनी होती हैं। शेष प्रकार की भार्यायें शीलवती होती हैं व दीर्घकाल तक संयत जीवन व्यतीत करने के कारण स्वर्गगामिनी होती हैं।[1]

उग्गह ने भगवान् से यह निवेदन किया कि मेरी ये लड़कियाँ पति के कुल जाएँगी। भगवान् इन्हें ऐसा उपदेश दें जो दीर्घकाल तक इनके हित तथा सुख का कारण हो। भगवान् ने कहा—कुमारिओ! माता-पिता तुम्हें जिस किसी भी पति को सौंपे, उसके सोकर उठने से पूर्व उठो, उसके सोने के बाद सोओ, आज्ञाकारिणी रहो, अनुकूल व्यवहार करो तथा प्रियवादिनी बनो। पति के गौरव भाजन जनों—माता-पिता, श्रमणों ब्राह्मणों—का सत्कार करो। स्वामी का जो भी शिल्पकार्य हो, चाहे ऊन का हो या कपास का हो, उसमें पूर्ण दक्षता प्राप्त करो, अप्रमादी होकर उसकी व्यवस्था करने में यथोचित सहयोग करो। स्वामी के भृत्यगणों के कार्य की पूर्ण जानकारी रखो। रोगियों की भरपूर सेवा-सुश्रूषा करो। स्वामी के धन-धान्य आदि का यथाशक्य संरक्षण करो। ऐसी नारी धर्मस्थिता, सत्यवादिनी, शीलवती कहलाती है।

योन भरति सब्बदा निच्चं आतापि उस्सुको।
सब्बकामहरं पोसं भत्तारं नातिमञ्ञति ॥
न सापि सोत्थि भत्तारं इच्छाचारेन रोसये।
भत्तु च गरुनो सब्बे परिपूजेति पण्डिता ॥
उट्ठाहिका अललसा संगहीत परिज्जना।
भत्तु मनापा चरति सम्भतं अनुरक्खति ॥
या एवं वत्तती नारी भत्तु छन्दवसानुगा।
मनापा नाम ते देवा यत्थ सा उप्पज्जति।[2]

नकुल के पिता का अन्तिम समय आ जाने पर नकुल की माता उससे निश्चिन्त हो जाने को कहती है। इस सन्दर्भ में गृहपत्नियों के विशेष रूप से पति के काल कवलित हो जाने पर क्या कर्तव्य होना चाहिए, इसकी अच्छी झाँकी मिलती है।

१. वही. सत्तकनिपात। २. वही, पंचक-अट्ठकनिपात।

१. गृहपत्नियाँ कपास कातने मे कुशल हो व भेड के बालो की बेड़ियाँ बनाने मे दक्ष हो, ताकि पति के न रहने पर वे बच्चो का पालन-पोषण कर सके।
२. द्वितीय विवाह न करे।
३. बुद्ध तथा संघ का दर्शन करे।
४ शीलों का परिपालन करे।
५. शान्तचित्त हो।
६. धर्मविनय मे प्रवेश करे।

जिस प्रकार भगवान् ने यहाँ पत्नियो के लिए कर्त्तव्य बोध दिया उसी प्रकार सन्तान के लिए भी माता-पिता के प्रति क्या उत्तरदायित्व है, इसका अनेक बार स्पष्टीकरण किया है। भगवान् ने कहा है कि वह कुल सब्रह्मकुल है जिसमे माता-पिता का आदर-सम्मान होता है क्योकि उन्होने सन्तान पर बड़ा उपकार किया है। सन्तान के लिए माता-पिता ही ब्रह्मा है, माता-पिता ही पूर्वाचार्य है और माता-पिता ही पूज्य है। इसलिए बुद्धि सम्पन्न सन्तान को चाहिए कि उन्हे नमस्कार करे, उनका सत्कार करे। अन्न, पान, वस्त्र, शयनासन, मालिश, स्नान पादप्रक्षालन आदि क्रियाओ से उनकी सेवा करे। जो पण्डित परिचर्या से माता-पिता को सन्तुष्ट करता है, उसकी यहाँ भी प्रशंसा होती है और मृत्यु होने पर वह स्वर्ग मे भी आनन्दित रहता है।

ब्रह्मा ति माता-पितरो पुब्बाचर्य्या ति वुच्चरे।
अहुणेय्या च पुत्तानं पजाय चानुकम्पका॥
तस्मा हि ते नमस्सेय्य सक्करेय्याथ पण्डितो।
अन्नेन अथ पानेन वत्थेन सयनेन च॥
उच्छादेन न्हापनेन पादान धोवनेन च।
ताय नं परिचरियाय माता पितुसु पण्डिता॥
इधेव न पसंसन्ति पेच्च सग्गे पमोदति॥[1]

दो व्यक्तियो का प्रत्युपकार करना सहज नही—माता का और पिता का। भगवान् ने कहा है कि सौ वर्ष तक एक-एक कन्धे पर माता को ढोए तथा एक-एक कन्धे पर पिता को ढोए और उनकी उबटन, मर्दन, स्नान आदि से सेवा करे, और वे भी उसके कन्धे पर ही मल-मूत्र करे तो भी उसके माता-पिता का न कोई उपकार होता है और न कोई प्रत्युपकार। इसके अतिरिक्त जो कोई

१. वही, तिकनिपात।

अश्रद्धावान् माता-पिता को श्रद्धा मे प्रतिष्ठित करता है, दुराचारी माता-पिता को सदाचारी बनाता है, कृपण माता-पिता को त्यागमार्ग मे प्रतिष्ठित करता है, दुष्प्रज्ञ माता-पिता को प्रज्ञावान् बनाता है, यही यथार्थ मे उसका उपकार व प्रत्युपकार है। अर्थात् माता-पिता को सम्यक्मार्ग पर आरूढ करना पुत्र या सन्तान का मुख्य कर्तव्य है। तथा उनके प्रति अनुचित व्यवहार करने वाला मूर्ख, अव्यक्त, असत्पुरुष वा अवगुणी, सदोष, निन्दनीय और अपुण्य का हेतु होता है।[1]

ऐश्वर्य प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य—ऐश्वर्य प्राप्ति संसार को बढाने वाली है। और वह ऐहिक सुख प्रदान करने का एक साधन है। भगवान् ने अनाथपिण्डिक को उस ऐश्वर्य-प्राप्ति के मुख्य उद्देश्य बताए—अपने व अपने परिवार को सुखी बनाना, मित्रो को सुखी बनाना, आत्मरक्षा करना, पंचबलिकर्म (ज्ञानबलि, अतिथिबलि, पूर्वप्रेतबलि, राजबलि तथा देवता बलि) करना व सत्पात्र मे दान देना। यह ऐश्वर्य सम्पत्ति अपने ही पुरुषार्थ से धार्मिक विधि पूर्वक अर्जित की जानी चाहिए।

मुत्ता भोगा भता भच्चा वितिण्णा आपदासु मे।
उद्धग्गा दक्खिणा दिन्ना अथो पंचवलीकता॥
उपट्ठिता सीलवन्तो सञ्ञता ब्रह्मचारयो।
यदत्थ भोगं इच्छेय्य पण्डिता घरमावसं॥ इत्यादि[2]

व्यापारी के सफल होने के उपाय—भगवान् ने व्यापारी को भी व्यापार मे सफलता प्राप्ति के साधन बताए हैं। उनके अनुसार व्यापारी मे तीन बाते होनी आवश्यक हैं—चक्षुमत्ता, विधुरता और आश्रययुक्तता। चक्षुमत्ता से तात्पर्य है कि व्यापारी को इस बात का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए कि वस्तु किस भाव आयी है और उसे किस भाव बेचने से लाभ होगा। विधुरता का अर्थ है कि व्यापारी वस्तु के खरीदने-बेचने में अत्यन्त दक्ष हो। तथा आश्रययुक्तता का यह आशय है कि व्यापारी अपने लेन-देन अधिक स्पष्ट रखे। वह दूसरे को ऐसा विश्वास पैदा कर सके कि वह सव्याज पैसा वापिस करने मे समर्थ है।[3]

सम्पत्ति के विनाश के कारण—गृहस्थ की सम्पत्ति के विनाश के कुछ कारण भगवान् ने इस प्रकार दिये हैं :—

---

२. वही, तिकनिपात।

१. वही, पंचकनिपात, मुण्डराजवर्ग।

२ वही तिकनिपात।

१. नशीले पदार्थों का सेवन—नशीले पदार्थो के सेवन से अनेक दुष्परिणाम हैं—अ. तत्काल सम्पत्ति की हानि, आ. कलह-वृद्धि, इ. रोग-वृद्धि, ई. अयशकारी, उ. लज्जा निवारक तथा, ऊ. प्रज्ञानाशक।

२. चौरस्ते की सैर—विकाल मे गृहपति को चौरस्ते की सैर नही करनी चाहिए। उसके छह दुष्परिणाम हो सकते हैं—१. स्वय अरक्षित होना। २. स्त्री-पुत्र आदि परिवार जनो का अरक्षित होना, ३ धन सम्पत्ति का संरक्षण न होना, ४. बुरी बातो की शकाएँ होना, ५ मिथ्यारोपण की सम्भावना और, ६. दु.खदायी अन्य कारणो का उपस्थित हो जाना।

३. समज्याभिचरण (नृत्य, तमाशा)—नृत्य, तमाशा आदि देखने मे छह दोष है—कहाँ नृत्य है ? कहाँ गीत है ? कहाँ वाद्य है ? कहाँ आख्यान है ? कहाँ पाणिस्वर है ? कहाँ कुम्भथूण है ? इसकी चिन्ता दर्शक को बनी रहती है।

४. द्यूत—द्यूतक्रीडा को प्रत्येक धर्म मे वर्जित माना गया है। भगवान् बुद्ध ने उसमे छह दोष दिये है—१. जय होने पर वैर की उत्पत्ति होती है, २. पराजित होने पर हारे धन का शोक होता है, ३. तत्काल सम्पत्ति की हानि, ४. वचन मे अविश्वस्तता, ५. मित्रो व अमात्यो द्वारा तिरस्कार, ६ कन्या देने-लेने मे बाधाएँ।

५. दुष्ट की मित्रता—दुष्ट प्रकृति वाले मित्र के साथ मित्रता रखने मे छह दोष है—जो धूर्त, शौण्ड, पियक्कड़, कृतघ्न, वचक और गुण्डे (साहसिक, खूनी) होते है, वही इसके मित्र होते हैं। (सिगालोवादसुत्त, दीघनिकाय)

६. आलस्य—आलसी व्यक्ति मे निम्नलिखित दोष उत्पन्न हो जाते है—१. इस समय बहुत ठण्डा है, सोचकर वह काम नही करता, २ बहुत गर्म है, सोचकर काम नही करता, ३. बहुत शाम हो गई, सोचकर काम नही करता, ४. बहुत सुबह है, ५. बहुत भूखा है, ६. बहुत भोजन किया है, इत्यादि प्रकार से अनेक करणीय कार्यों को उपेक्षित कर देता है प्रमादी व्यक्ति। इससे अनुत्पन्न सम्पदा उत्पन्न नही होती और उत्पन्न सम्पदा नष्ट हो जाती है।

मित्र और अमित्र—भगवान् ने शृगाल गृहपति को बताया कि निम्नलिखित चार प्रकार के व्यक्ति यदि मित्र हो तो उनकी मित्रता शत्रुता के रूप मे समझना चाहिए—१. परधनहारक, २. केवल बात बनाने वाला, ३. सदा प्रिय वचनवादी (चाटुकारिता), ४. हानिकारक कृत्यो मे सहायता करने वाला। परधनहारक व्यक्ति अल्प सम्पत्ति द्वारा बहुत अधिक सम्पत्ति पाना चाहता है, भय (विपत्ति) से आपूर कार्य करता है तथा स्वार्थ के लिए परसेवा करता है। वावदूक व्यक्ति विगत व भविष्य मे सम्भावित वस्तु की प्रशंसा करता है और उसकी यह प्रशंसा तथ्य हीन रहती है। इसके अतिरिक्त उसके कारण वर्तमान कार्यो मे विपत्तियों

के आने की भी सम्भावना बनी रहती है। चाटुकारिता से व्यक्ति बुरे कार्यो मे भी अनुमति प्रदान करता है, अच्छे कार्यों मे अनुमति देता है, सामने प्रशंसा के पूल बाँधता है और पीठ पीछे निन्दा करता है। जो मद्यपान, असमय भ्रमण, समज्याभिचरण व द्यूतक्रीड़ा करते हैं, वे सम्पत्ति के विनाश का कारण उपस्थित करते है ।

निम्नलिखित चार प्रकार के मित्रो को सच्चा मित्र समझना चाहिए—उपकारी, समान सुख-दु:खभागी, अर्थ प्राप्ति मे सहायक व अनुकम्पक । जो व्यक्ति प्रमत्त (भूल करने वाले) की रक्षा करता है, उसकी सम्पत्ति की रक्षा करता है, भयभीत का रक्षक होता है और समय आने पर दुगुना लाभ उत्पन्न करवाता है। समान सुख-दु खी वह है जो गोप्य बात बतलाये। गोप्य बात को छिपाकर रखे, आपत्काल मे उसे न छोडे तथा यथावसर प्राण निछावर करने के लिए भी तैयार रहे। जो पाप का निवारण करे व पुण्य मार्ग मे ले जाये तथा अश्रुत व श्रुत को स्वर्ग का मार्ग दिखाये, वह हितवादी है। अनुकम्पक मित्र वह है जो मित्र की धन-सम्पत्ति होने पर प्रसन्न नही होता, मित्र की निन्दा करने वाले को सहता नही तथा मित्र की प्रशसा करने पर प्रशसा करता है ।

अंगुत्तरनिकाय मे कहा है जो प्रिय हो, अनुकूल हो, गौरव-भाजन हो, पूज्य हो, वक्ता हो, वचनक्षम हो, गम्भीर बात करने वाला हो तथा अनुचित मार्ग से दूर करने वाला हो, उसकी संगति करनी चाहिए ।

पियो गरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खयो।
गम्भीर च कथ कत्ता नो चट्ठाने नियोजको ॥
यम्हि एतानि ठानाति, सविज्जन्तीध पुग्गले।
सो मत्तो मित्ताकामेन, भजितब्बो तथाविधो ॥[1]

सेवा करना—उपासक का कर्तव्य है कि वह माता-पिता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा साधु की सेवा करे। माता-पिता ने हमारा भरण-पोषण किया, काम किया, कुल परम्परा बनाये रखी, दायज्ज (विरासत) दी, श्राद्ध दान दिया, यह सोचकर उपासक उक्त सभी कार्य माता-पिता के प्रति करे क्योकि माता-पिता पुत्र को पाप से निवारित करते हैं, पुण्य पथ पर आरूढ करते हैं, शिल्प शिक्षण देते हैं, योग्य विवाह सम्बन्ध करते है, दायज्ज निष्पादन करते हैं ।

आचार्य की सेवा के सन्दर्भ मे उत्थान (तत्परता) उपस्थान (उपस्थिति), सुश्रूषा, परिचर्या व सत्कारपूर्वक शिल्प प्रशिक्षण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य

---

१. वही, सत्तनिपात ।

शिष्य को विनीत बनाता, सुन्दर शिक्षा देता, सभी प्रकार शिल्प सिखाता, मित्र का सुप्रतिपादन करता व दिशा की सुरक्षा करता।

पत्नी की सेवा उसके सम्मान से, अपमान न करने से, मिथ्याचार न करने से, ऐश्वर्य प्रदान करने से तथा अलंकार प्रदान करने से करनी चाहिए। क्योकि भार्या द्वारा कर्मान्त भले प्रकार के होते है, परिजन वश मे रहते हैं, वह स्वयं अनाचारिणी नही होती, अर्जित सम्पत्ति आदि की रक्षा करती है तथा सभी कामो मे निरालस और दक्ष होती है।

मित्रों की सेवा दान, प्रिय वचन, अर्थचर्या, समानता तथा विश्वास प्रदान करने से होनी चाहिए। क्योकि वे प्रमाद कर देने पर रक्षा कर देते हैं, भय के समय शरण देने वाले होते हैं, प्रमत्त की सम्पत्ति की रक्षा करते हैं, आपत्काल मे नहीं छोडते तथा दूसरे लोग भी ऐसे मित्र का सम्मान करते हैं।

सेवक की सेवा करके उसके बल के अनुसार कार्य देने से, भोजन-वेतन प्रदान करने से, भोगि-सुश्रूशा से, उत्तम संरक्षक पदार्थ देने से, और समय पर अवकाश (वोसग्ग) देने से करनी चाहिए। सेवक स्वामी से पूर्व बिस्तर से उठ जाने वाले होते हैं, प्रदत्त वस्तु को ही ग्रहण करने वाले होते हैं, सुव्यवस्थित कार्य करने वाले होते हैं तथा कीर्तिविस्तारक होते हैं।

साधु-ब्राह्मण की सेवा मैत्री भावयुक्त कायिक, वाचिक व मानसिक कर्म से, उनके लिए द्वार खुला रखने से, खाद्य वस्तु प्रदान करने से होनी चाहिए। ये श्रमण-ब्राह्मण गृहस्थो को पाप कार्यों से दूर रखते हैं, कल्याण-पथ दिखाते हैं, कल्याण प्रदान करते हैं, विद्यादान देते हैं तथा स्वर्ग का पथ-दर्शन कराते हैं।

पुण्य का मूल—उपासक के लिए पुण्य का मूल स्रोत यह है कि वह सर्वप्रथम बुद्धधर्म और संघ की शरण जाय तथा पाँच प्रकार का दान करे क्योकि श्रावक के दान पर ही भिक्षु-संघ आधारित है—अतिथि को दान देना, पथिक को दान देना, रोगी व दरिद्र को दान देना तथा नई उपज व नये फल शीलवानों को भेंट करना।[२] दान देने से बहुजनप्रिय, सत्संगति, वंशवृद्धि, गृहस्थधर्म का परिपालन तथा सुगति प्राप्त होती है। (वही)। दाता दायक के लिए आयु, वर्ग, सुख, बल और प्रतिभा का दान करता है—

आयुदो बलदो धीरो वण्णदो पटिभाणो।
सुखस्स दाता मेधावी सुखे सो अधिगच्छति॥
आयु दत्वा बलं वण्णं सुखं च पटिभाणकं।
दीघायु यसवा होति यत्थ यत्थुप पज्जति॥[१]

---

१. वही, पंचक निपात। २. पंचक निपात, अंगुत्तर।

मांगलिक बातें—बौद्ध साहित्य के हर पृष्ठ मे माँगलिक बातें भरी हुई हैं। परन्तु मै यहाँ सुत्तनिपात का महामङ्गलसुत्त ही उद्धृत कर रहा हूँ जिसमे भगवान् बुद्ध ने 'उत्तम मगल क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

मूर्खों की संगति न करना, पण्डितो की संगति करना और पूज्यो की पूजा करना, यह उत्तम मंगल है। अनुकूल स्थानो मे निवास करना, पूर्व जन्म का संचित पुण्य होना, स्वयं को सन्मार्ग पर लगाना, बहुश्रुत होना, शिल्प सीखना, शिष्ट होना, सुशिक्षित होना, मिष्टभाषी होना, माता-पिता की सेवा करना, स्त्री-पुत्र का पालन करना, निराकुल होकर कार्य करना, दान देना, धर्माचरण करना, बन्धु-बान्धवों का आदर-सत्कार करना, निर्दोष कार्य करना, मन, वचन व काय से पापकृत्यों को त्यागना, मद्यपान न करना, धार्मिक कार्यो मे तत्पर रहना, विनम्र रहना, सन्तुष्ट रहना, कृतज्ञ होना, यथावसर धर्मश्रवण करना, क्षमाशील होना, आज्ञाकारी होना, श्रमणो का दर्शन करना, धार्मिक चर्चा करना, तप, ब्रह्मचर्य का पालन करना, आर्यसत्यो का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मगल है। प्रत्येक जीवन के उत्थान की दृष्टि से ये मागलिक बातें यथार्थ मे अत्यन्त कल्याणकारी हैं।

असेवना च बालास पण्डितान च सेवना।
पूजा च पूजनीयान तं मगलमुत्तमं ॥
पटिरूपदेसवासो च, पुब्बे च कतपुञ्ञता।
अत्तसम्मा पणिधि च एतं मङ्गलमुत्तमं ॥
बाहुसच्च च सिप्प च, विनयो च सुसिक्खितो।
सुभाषिता च या वाचा एत मगलमुत्तमं ॥ इत्यादि

उपासक इन सब बातो का पालन कर स्रोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त कर लेता है। भगवान् के उपदेशो का मनन-चिन्तन कर उस पर दृढ आस्थावान होना स्रोतापत्ति का प्रमुख साधन है। इससे प्राणातिपातादि पंच पापो से निवृत्ति हो जाती है तथा नरकगमन, तिर्यञ्चयोनि प्रेतयोनि मे जन्मग्रहण करना क्षीण हो जाता है।[1] स्रोतापत्ति अवस्था का परिणाम यह होता है कि वह सद्धर्म मे स्थिर हो जाता है, पतनोन्मुख नही होता, मर्यादित जीवन होने से दु:ख को प्राप्त नही होता, तथा प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म का ज्ञान हो जाता है।[2]

---

१. दसमसुत्त, अंगुत्तरनिकाय।
२. वही, छक्कनिपात, अनिसंसवग्ग।

लोभ, राग और मोह रूप दोषो के दूर हो जाने पर सकदागामि अवस्था प्राप्त हो जाती है। इससे जीव को एक बार जन्म-ग्रहण करने के बाद निर्वाण प्राप्ति हो जाती है। अनागामि अवस्था मे यह जन्म-ग्रहण भी दूर हो जाता है। अश्रद्धा, निर्लज्जता, पाप कार्यों मे निर्भयता, आलस्य, मूढस्मृति तथा दुष्प्रज्ञता को छोड़ना अनागामि अवस्था प्राप्त करने के लिए अपेक्षित है।

उक्त तीन श्रेणियो को पार करने पर व्यक्ति श्रमण बनता है और बाद मे अर्हत्व अवस्था उसे प्राप्त हो जाती है। तदर्थ उसे सुस्ती, आलस्य, उद्धतपन, कौकृत्य, अवरुद्ध तथा प्रमाद को छोड़ना पड़ता है। साथ ही मान, हीनमान, (ओमान), अतिमान, अधिमान, स्तब्धता तथा अतिनिपात (स्वयं को तुच्छ समझना) से दूर रहना भी अत्यावश्यक है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म मे उपासक की दैनन्दिनी उसके साधारण जीवन के उत्थान से अधिक सम्बद्ध है। बौद्धधर्म के अनुसार धर्म चूँकि सादृष्टिक है इसीलिए भगवान् ने व्यक्ति के ऐहिक जीवन को सुधारने की ओर ध्यान अधिक दिया है। उपासिकाओ के लिए भी इन्ही धर्मों और कर्त्तव्यो की व्यवस्था की गई है।

परिवर्त ॥ ७

बौद्ध योग-साधना की उत्पत्ति और विकास

स्थविरवादी अथवा हीनयानी साधना

१—(क) योग का स्वरूप

विनय और योग-साधना का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ा हुआ है। भारतीय सास्कृतिक साधना मे योग का विशेष महत्त्व है। वैसे योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे मिलता है पर प्रस्तुत सन्दर्भ मे योग वह साधना है जो मोक्ष की प्राप्ति का कारण हो। जैन, बौद्ध एवं वैदिक सम्प्रदाय मे इस प्रकार की योग-साधना प्रचलित रही है। ऋग्वेदकाल मे योग को सम्भवत: मोक्षप्रापक नही माना गया। उत्तरकाल मे जो योग-प्रक्रिया मिलती है वह मूलत: श्रमण संस्कृति की मूल शाखा जैन साधना से अधिक प्रभावित दिखाई देती है। अतएव योग को पूर्ववैदिक और आर्येतरजन्य माना जाना चाहिए। मोहिंजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खननो मे प्राप्त योगियो और साधको का अंकन और चित्रण योग परम्परा के अस्तित्व को ईसा पूर्व के लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व सिद्ध कर देते हैं। ऋग्वेद (१०. १३६, २–३) का "मुनियो वातरशना: पिशंगा वसते मला" और भागवतपुराण (५, ३, २०) का "वातरशनाना श्रमणाना ऋषीनाम्" उल्लेख इसी का सूचक है।

बौद्ध धर्म मे योग शब्द का प्रयोग चित्त चेतसिक क्रियाओं को केन्द्रित करने के अर्थ मे हुआ है। मूलत: पालि त्रिपिटक मे इस शब्द का उपयोग इस अर्थ मे नही हुआ। अरियपरियेसेन सुत्त (म.२६) मे आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त की योग साधना का वर्णन अवश्य हुआ है पर बुद्ध ने उसे अनुपयोगी मानकर छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त जैन सच्चक के माध्यम से जैनयोग साधना का भी उल्लेख हुआ है, जहाँ कामभावना और चित्तभावना को विवाद का विषय बनाया गया है। बौद्ध ध्यान का उद्देश्य सम्मासमाधि की प्राप्ति करना है। यह सम्मासमाधि अष्टाङ्गिक मार्गों की उपलब्धि से होती है जो धम्मचक्कपवत्तन के नाम से भी प्रचलित है। इसे "मज्झिम पटिपदा भी कहा गया है। सील, समाधि और पञ्ञा मे इसके आठों अंग विभक्त हैं। "तिविधा सिक्खा" भी

इसे कहा गया है। समाधि और विपस्सना के आधार पर विकसित होनेवाला बौद्धयोग जैनधर्म के समान मानसिक और चारित्रिक शुद्धि पर आधारित है।

बौद्ध योग के सन्दर्भ मे अनेक पारिभाषिक शब्द पालि वाङ्मय मे प्रयुक्त हुए हैं। उनमे कुछ प्रमुख ये हैं[1]—

१. समाधि—सम्+आ+धा एकत्रित करने के अर्थ मे। धम्मदिन्ना और विसाखा के बीच हुए संवाद मे इसका स्पष्ट रूप मिलता है। धम्मदिन्ना ने यहाँ "चित्तस्य एकग्गता" समाधि का स्वरूप दिया है।[2] धम्मसंगणि (१०) मे इसका स्वरूप इस प्रकार मिलता है—ये चित्तस्स ठिति, स्थिति, अवट्ठिति, अविसाहारो, अविक्खेणो, अविसाहटमनसता, समथो, समाधिन्द्रियं, समाधिबलं सम्मा समाधि। अट्ठसालिनी (११८) मे बुद्धघोष ने इसकी व्याख्या मे चित्तस्स एकग्गभावो लिखा है।

२. चित्तेकग्गता—'समाधिस्स एतन्नामं' भी इसका समानार्थक है। विसुद्धिमग्ग मे उन्होने 'कुशल' शब्द देकर और अधिक स्पष्टता ला दी है—"कुसल चित्तेकग्गता समाधि"। अट्ठसालिनी मे इसे 'सम्मासमाधि' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि बौद्धसाधना मे मन की पवित्रता को प्रमुख स्थान दिया गया है। यह समाधिभावना सम्मावायाम और सम्मासति पूर्वक मिलती है। समाधि विपस्सना का पूर्व रूप है। यह विपस्सना चित्त की एकाग्रता का क्रमिक अन्तिम विकास है।

३. चेतोसमाधि—(दी–१, १३) इसमे पुव्वेनिवासानुस्मृति आ जाती है। अतः यह सम्मासमाधि के बाद की स्थिति है। चेतो विमुत्ति अथवा फलसमाधि समाधि की अंतिम स्थिति है। महालिसुत्त (दी. २-२६५) में इसे अर्हत् के चित्त से सम्बद्ध किया गया है। चेतो समथ (दी–३, २७३, म. १, ४६४), चित्तभावना, चित्तविसुद्धि और अधिचित्त संज्ञाओं का प्रयोग भी इस सन्दर्भ मे हुआ है। विपस्सना (विविध प्रकार से देखना) पञ्ञा, ञाण–दस्सन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अनिच्च, दुक्ख और अनत्ता को दूर करने पर इसकी प्राप्ति होती है।

४. झान—इस शब्द का प्रयोग ध्यान अर्थ मे आया है। बाद मे यह पच्चनीकधम्मे झायेतीति झानं (ध्यान की प्रतिकूल अवस्थाओं को भस्म करने) के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यह झान दो प्रकार का है—आरम्मण–उप–निज्झान और लक्खण उप–निज्झाण। आरम्मण मे चार रूप और चार अरूप की स्थितियाँ आती हैं। इन्हे समापत्ति और उपचार भी कहा गया है। लक्खण तीन प्रकार का है—विपस्सना, मग्ग और फल।

---

१. बुद्धिस्ट् मेडीटेसन, पृ. १७–३४

५. **भावना**—भाने के अर्थ मे आया है—कुसलं चित्तं भावेति, झानं भावेति, समाधिं भावेति। बुद्धघोष ने भावेति शब्द को भू धातु से निष्पादितकर उसका अर्थ उप्पादन और वद्धन किया है। मज्झिमनिकाय के महासकुलदायीसुत्त मे भी इसी अर्थ मे इसका प्रयोग हुआ है। संयुत्त की अट्ठकथा मे पुनप्पुनं जनेति के अर्थ मे 'भावेति' का प्रयोग मिलता है। वस्तुत: भावना का अर्थ सद्भाव अथवा सद्गुणो से आया है जो समाधि के लिए आवश्यक है।

६. **योग**—त्रिपिटक मे योग शब्द का प्रयोग जोडने के अर्थ मे आया है—पटिसल्लानयोग। बाद मे योग का प्रयोग ध्यान के सन्दर्भ मे प्रयत्न करने के अर्थ मे किया गया है। योगा वे जायति भूरि, अयोगा भूरि सख्ययो (धम्मपद, २८२) मे योग से ज्ञानप्राप्ति बतायी है। इसकी अट्ठकथा मे इसका सम्बन्ध ३८ प्रकार के कर्मस्थानो से किया गया है (धम्म. अट्ठ ३·४२१)। योगी और योगाचार शब्दो का प्रयोग अट्ठकथा मे ध्यान करने वाले के अर्थ मे आया है।

७. **पधान**—मज्झिमनिकाय मे विशिष्ट आध्यात्मिक प्रयत्न के अर्थ मे इसका प्रयोग मिलता है। बुद्धवस मे इसका प्रयोग ध्यान के अर्थ मे हुआ है। इसके अतिरिक्त कम्मट्ठाण, आरम्मण, निमित्त, अभिञ्ञा, समापत्ति, विमोक्ख, अभिभायतन आदि शब्दो का भी प्रयोग हुआ है।

जैन संस्कृति मे भी योग, भावना, समाधि, चित्तेकग्गता, ध्यान, भावना आदि जैसे शब्दो का प्रयोग ध्यान के प्रसंग मे आता है। उमास्वामी ने मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहा है। यह योग शुभ रूप और अशुभ रूप होता है। प्रवचनसार मे अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये तीन भेद किये गये हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिए श्रमण भिक्षु को शुद्धोपयोगी होना आवश्यक है।[1]

ध्यान और समाधि—झान का अर्थ ध्यान करना और बाधायें दूर करना (झायेति) है। सामञ्ञफलसुत्त मे वितक्क, विचार, पीति, सुख और एकग्गता ये ५ श्रेणियाँ ध्यान की है। सासारिक व्यामोह के कारण मन एकायक केन्द्रित नही किया जा सकता। अत. सर्वप्रथम आवश्यक है कि योगी पञ्चनीवरणों को दूर करे। **वितक्क** (सम्मासंकप्प, विभंग, २५७) सम्यक् संकल्प के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। **विचार** अनुपेक्खनता (बारम्बार परीक्षण अथवा चिन्तन) के अर्थ मे आया है। इससे साधक संदेहविमुक्त हो जाता है और **प्रीति** (वस्तु

१. विस्तार से देखिये, लेखक का निबन्ध—जैन योग साधना, जैन मिलन १९७१।

के प्रति रुचि) जाग्रत हो जाती है। विसुद्धिमग्ग मे इसके पाँच भेद किये गये हैं—खुद्दकापीति, खणिकापीति, अवेक्कंतिकापीति, उब्वेगापीति एवं फरणापीति। सुख को "सुखिनो चित्तं समाधियति" (दी. १·७५) कहा गया है। इस प्रकार नीवरणो को दूर कर एकग्गता प्राप्त होती है।

पञ्चनीवरणों और वितक्क आदि को दूर करने पर **प्रथम ध्यान** की प्राप्ति होती है। इस स्थिति मे साधक रूपावचर (ब्रह्मलोक) मे उत्पन्न होता है। निकायों मे प्रथम ध्यान मे एकग्गता की प्राप्ति नही बतायी, परन्तु विभंग (पृ. २५७) मे स्पष्टतः पाँचो अंगो का होना बताया है। सारिपुत्त और महाकोट्ठित (मज्झिम. २९४) के बीच हुए संवाद मे भी यही झलक मिलती है।

प्रथम ध्यान की प्राप्ति के बाद ध्यान के विषय (कसिण) पर चिन्तन का अभ्यास झायी (ध्यानी) करता है। इसे वसिता कहते हैं। यह पाँच प्रकार का है—आवज्जना (प्रतिबिम्ब), समापज्जना (प्रवेश), अधिट्ठान (प्रस्थापना), वुट्ठान (उत्थान) और पच्चवेक्खना (अनुवीक्षण)। चित्त की एकाग्रता की प्राप्ति के लिए वितक्क और विचार जब बाधक लगते हैं तब **द्वितीय ध्यान** की प्राप्ति होती है। 'एकोदिभाव' से वितक्क, विचार दोनो नष्ट हो जाते हैं और एकग्गता स्थायी हो जाती है। इससे भी आगे बढ़ने पर **तृतीय ध्यान** प्राप्त होने पर झायी सुखबिहारी हो जाता है। **चतुर्थ ध्यान** पाने पर चेतोविमुत्ति प्राप्त होती है और इससे ध्याता तटस्थ हो जाता है तथा दुःख और प्रसन्नता का भाव समाप्त हो जाता है। संयुत्तनिकाय (४·२१७) के अनुसार झायी प्रथम ध्यान मे वचन से दूर होता, द्वितीय ध्यान मे वितक्क–विचार से दूर होता (वचीसंखार) तृतीय ध्यान मे सांसारिक मोह से दूर होता और चतुर्थ ध्यान मे अस्सासपस्सास से दूर होता। इसे कायसंखार कहा गया है। इसके बाद झायी **अत्तनि धम्मं सम्पस्समानो विहरति** (अ. ५.२०९) हो जाता है। इस चतुर्थ ध्यान को अट्ठकथाओं मे 'पादक' कहा गया है। इस स्थिति मे आसवो से विमुक्ति होती है।

अभिधम्म मे वितक्क और विचार को पृथक् कर देने पर पाँच ध्यान हो जाते हैं। बुद्ध ने यहाँ तीन प्रकार की समाधि बतायी है—(१) वितक्क विचारयुक्त समाधि, (२) वितक्क रहित और विचारयुक्त समाधि, और (३) वितक्क विचार रहित समाधि। इनमें प्रथम और तृतीय समाधि का समाहार चार ध्यानों मे हो जाता है, द्वितीय का नही। यह अरूपध्यान है, जहाँ विचार तो रहता है, पर वितक्क नही। अभिधम्म मे ध्यान का विकास हुआ। वहाँ पाँच ध्यान वितक्क और विचार से युक्त होकर १५ ध्यान रूपावचर मे और ४० ध्यान लोकुत्तर मे हो जाते हैं (अभिधम्मत्थसगह, पृ. ३–४)। बाद मे

चार प्रकार का अरूपावचर ध्यान प्राप्त होता है। इस प्रकार आठ प्रकार का भी ध्यान हो जाता है।

जैन संस्कृति—मे ध्यान के चार प्रकार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। बौद्ध साधना मे पञ्चनीवरणों से दूर होने पर प्रथम ध्यान प्राप्त होता है, पर जैन साधना ने पञ्चनीवरणों की प्राप्ति के प्रयत्नों मे ही प्रथम दो ध्यानो को लगा दिया—आर्त और रौद्र ध्यान। इसलिए यहाँ दोनो मे कोई समानता नही दिखती। धर्मध्यान सर्व प्राणियो के प्रति करुणाभाव, पचेन्द्रियक विषयो से दूर, उपशान्त भाव, बन्ध और मोक्ष, गमन और आगमन के हेतुओ पर विचार, पञ्चमहाव्रतों का ग्रहण आदि धर्मध्यान है। यह चार प्रकार का है—आज्ञाविचय (जिनाज्ञा के गुणो का चिन्तन), अपायविचय (रागद्वेषादिजन्य दोषों की पर्यालोचना करना), विपाकविचय (कर्मफल का चिन्तन करना), और सस्थानविचय (जीवलोक आदि के संस्थान पर विचार करना)। शुक्ल ध्यान के चार लक्षण है—विवेक, व्युत्सर्ग, अव्यथा और असमोह। यह ध्यान चार प्रकार का है—पृथक्त्ववितर्कसविचारी, एकत्ववितर्क अविचारी, सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति, और समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती। धर्म और शुक्लध्यान को ध्यानतप कहा गया है।

बौद्धधर्म मे ध्यान के फल की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। उसकी सूक्ष्मता पर उतना गहन चिन्तन नही किया, गया जो जैनधर्म मे मिलता है। जैनधर्म मे ध्यान के प्रकार, लक्षण, अवलबन और अनुप्रेक्षाओ के माध्यम से ध्यान का सुन्दर और गम्भीर विश्लेषण उपलब्ध होता है। वितर्क शब्द दोनो में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। कुल मिलाकर धर्मध्यान को प्रीति के समकक्ष रखा जा सकता है और शुक्लध्यान के अन्तर्गत बौद्धधर्म के शेष ध्यान समाहित हो जाते है। जैनधर्म मे अन्तिम दो ध्यान तप के अंग हैं, परन्तु बौद्धधर्म मे चारों ध्यान तप के अंग माने गये है।

निकायों में समाधि की परिभाषा "चित्तस्स एकग्गता" की गई है। अभिधम्म मे जब इसका विकास हुआ तो इसका प्रयोग पचेन्द्रियजन्य विषय भोगों को मन से दूर करने के अर्थ मे होने लगा। व्याख्यात्मक भागो में एकग्गता के साथ कुसल और अकुशल शब्दों का उपयोग हुआ—कुशलचित्तेकग्गता और अकुसलचित्तेकग्गता। समाधि हमेशा अनुचिन्तन से प्राप्त होती है—योनिसो मनसिकारा। इसके अभ्यासकाल मे बोधिपक्षीय धर्मों का अभ्यास करना अपेक्षित है। समाधि का समुचित अर्थ है—सम् + आ + धान अर्थात् मन को एक पदार्थ पर केन्द्रित करना।

समाधि के दो भेद हैं—उपचार और अर्पणा। अर्पणा और ध्यान लगभग समानार्थक है। धम्मसंगणि मे अर्पणा और वितर्क को समानार्थक माना गया है। समाधि के अन्य दो भेद भी मिलते हैं—लोकिय और लोकुत्तर। लोकुत्तर का सम्बन्ध निर्वाण से है। समाधि प्रीति से उत्थित होती है। सप्पीतिक और निप्पीतिक भेद भी समाधि के किये गये है। इसके चार, पॉच आदि भेदो का भी वर्णन विसुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थो मे मिलता है।

जैनधर्म मे समाधि शब्द का उपयोग चित्त की चंचलता पर संयमन करने के अर्थ मे हुआ है। नायाधम्मकहाओ (८.६९) की अभयदेवटीका मे समाधि का अर्थ चित्तस्वास्थ्य किया गया है। दसवैकालिक (९.४.७–९) मे समाधि के दो भेद मिलते हैं—तपसमाधि और आचारसमाधि। कर्मक्षय के लिए किया गया तप तपसमाधि है, और कर्मक्षय के लिए ही किया गया आचार का पालन आचारसमाधि है। ये भेद बौद्धधर्म मे प्राप्त समाधि के अर्थ से भिन्न नही। चित्त की एकाग्रता से दोनों संस्कृतियो का सम्बन्ध है। बोधिपक्षीय धर्मों का पालन जैनधर्म के आचार–तपसमाधि की समकक्षता मे आता है। तप के माध्यम से ही उपचार–अर्पणात्मक स्थिति जैनधर्म में बताई गई है।

(ख) समाधि के विषय और प्रणालियाँ

१. **समाधि का विषय**—समाधि का मूल आधार चित्त की विशुद्धि है जो विचारो पर आधारित रहती है। विचारों के विषय (आरम्मण) जैसे होंगे, चित्त की प्रकृति भी वैसी ही होगी। अत· समाधिस्थ व्यक्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसका लक्ष्य और लक्ष्य-प्राप्ति का मार्ग पूर्णत: शुद्ध हो। बौद्ध साहित्य मे इस पर विविध दृष्टियो से विचार किया गया है। यह वैविध्य हम पालि निकाय, अभिधम्म, विसुद्धिमग्ग और परवर्ती ग्रन्थों के माध्यम से देखने का प्रयत्न करेंगे।[१]

१. **निकाय**—निकायो मे दो प्रकार से विचार किया गया है—प्रथमत: व्यक्तिगत रूप से समाधि के विषय और उसकी उपलब्धि की प्रणालियो का निर्देशन है और द्वितीयत सर्वसाधारण व्यक्तित्व की दृष्टि से इस पर विचार किया गया है। ये दोनो दृष्टियाँ कही पृथक् और कही समन्वित रूप मे उपस्थित की गई हैं। अंगुत्तर निकाय का एककनिपात इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहाँ निकायों मे उपलब्ध समाधि के विषयों का उल्लेख किया गया है—

१. चार ध्यान—योगी वितर्क-विचार, प्रीति, सुख और समाधि को प्राप्त करता है।

---

१. बुद्धिस्ट मेडीटेसन, पृ. ५७-७६

२. चार ब्रह्मविहार—मेत्ता, करुणा, मुदिता और उपेक्खा।

३. चार सतिपट्ठान—कायानुपस्सना, वेदनानुपस्सना, चित्तानुपस्सना और धम्मानुपस्सना।

४. चार सम्मप्पधान।

५. चार इद्धिपाद—छन्द, विरिय, चित्त और वीमंसा।

६. पाँच इन्द्रियाँ—सद्धा, विरिय, सति, समाधि और पञ्ञा।

७. पाँच बल—सद्धा, विरिय, सति, समाधि और पञ्ञा।

८. सात बोज्झंग—सतिसंबोज्झंग, धम्मविचयसंबोज्झंग, विरियसं. पीत्तिसं. पस्सद्धिसं. और समाधिसंबोज्झंग।

९. अरिय अट्ठङ्गिकमग्ग—सम्मादिट्ठि, संकप्प, वाचा, कम्मन्त, आजीव, वायाम, सति, और समाधि।

चार ध्यान और चार ब्रह्मबिहार को छोडकर शेष सभी धर्म बोधिपक्खिय धम्म कहे जाते हैं—आनापानसति।

१०. आठ विमोक्ख।

११. आठ अभिभायतन।

१२. दस कसिण—पढवी, अप, तेजो, वायो, नील, पीत, लोहित, ओदात, आकास, विञ्ञाण।

१३. बीस सञ्ञा—असुभ, आलोक, आहारे पटिक्कूल, सब्बलोके अनभिरत, अनिच्च, अनिच्चे दुक्ख, दुक्खे अनत्त, पहाण, विराग और निरोधसञ्ञा। ये संज्ञायें बाह्य विषय हैं जिन पर योगी ध्यान करता है। अनिच्च, अनत्त, मरण, आहारे पटिक्कूल, सब्बलोके अनभिरत, अट्ठिक, पुलवक, विनीलक, विच्छिद्दक, और उद्धमातक संज्ञायें हैं—जिन पर योगी चिन्तन करता है।

१४. छः अनुस्सति और चार सति बुद्ध, धम्म, संघ, सील, चाग और देवतानुस्सति, तथा अनायात मरण, कायगत, और उपसमानुस्सति इन छः स्मृतियो का ध्यान करना।

निकायों में योगी के लिए यत्र तत्र १०१ विषयों पर मनन करने को कहा गया है। महासकुलदायी सुत्त (मज्झिमनिकाय) मे एक वृहत् सूची दी गई है जिसमे ७५ विषयों को उन्नीस भागों मे वर्गीकृत किया गया है। ये विषय ध्यान की प्रणालियों से सम्बद्ध हैं—सेतीस बोधिपाक्षिक धर्म, आठ विमोक्ख, आठ अभिभायतन, दस कसिणायतन, चार ध्यान, विपस्सना, पञ्च अभिञ्ञा, असवक्खयमाण, और चेतोविमुत्तिञाण।

१. विपस्सना ज्ञाण—मज्झिमनिकाय के रथविनीत सुत्त मे पुण्ण को सात प्रकार से विसुद्धि (निर्वाण) प्राप्त करने का मार्ग बताता है—सील, चित्त, दिट्ठि, कखावितरण, मग्गामग्गञाणदस्सन, पटिपदाञाणदस्सन, और ञाणदस्सन विसुद्धि। विसुद्धिमग्ग और अभिधम्मत्थसंगह मे भी इसका वर्णन आया है।

२. अभिधम्म साहित्य—अभिधम्म साहित्य मे चित्त के आधार पर समाधि के विषयो एवं प्रणालियो पर विवेचन किया गया है—आठ कसिण, आठ अभिभायतन, विमोक्ख (प्रथम तीन), चार ब्रह्मबिहार, दस असुभ—उद्धमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्दक, विक्खायितक, विक्खित्तक, हेतुविक्खत्तक, लोहितक, पुलबक, और अट्ठिक तथा चार अरूप ध्यान (शेष विमोक्ख)। इनमे दस कसिण के स्थान पर आठ कसिण का उल्लेख आया है। इसलिए कि अन्तिम दो कसिण अरूप से सम्बन्धित है। दस अशुभो का उल्लेख भी यहाँ है जो निकाय की सूची मे नही दिखते। उनमे पाँच अशुभ पाँच संज्ञाओं (१६–२०) के समानान्तर है। महासतियट्ठानसुत्त मे भी शव के सन्दर्भ मे विविध रूप से चिन्तन करने का निर्देशन मिलता है। इस तरह इस विषय सूची मे ध्यान के ३७ विषय, रूप ध्यान के ३३ विषय और अरूप ध्यान के चार विषयो का आख्यान है।

३. विसुद्धिमग्ग—विसुद्धिमग्ग मे बुद्धघोष ने कम्मट्ठान के रूप मे चालीस विषयो का निर्धारण किया है—दस कसिण, दस असुभ, दस अनुस्मृतियाँ, चार ब्रह्मबिहार, चार अरूपआकास, विञ्ञाण, आकिञ्चन, और नेवसञ्ञा नासञ्ञायतन, आहारे पटिक्कूल सञ्ञा एवं चतुधातुववत्थान। यहाँ बुद्धघोष ने दस कसिणो मे विज्ञान कसिण के स्थान पर आलोक कसिण को रखा है और आकास कसिण के स्थान पर परिच्छिन्नाकास शब्द का उपयोग किया है। चतुधातुक्वत्थान का वर्णन महाहत्थिपदोपम धातु विभंग आदि जैसे सुत्तो में उपलब्ध होता है। विमोक्ख और अभिभायतनो को बुद्धघोष ने पृथक् स्थान नही दिया। विपस्सना के विकास के सन्दर्भ मे पञ्ञाभावना के प्रकरण मे पाँच विसुद्धियो का विवेचन किया है। पटिपदा ञाणदस्सना नामक छठी विसुद्धि मे नव प्रकार का अन्तर्ज्ञान होता है—उदय वयानुस्सना, भगानुपस्सना, भयतुपट्ठान, आदीनवानुपस्सना, निब्बदानुपस्सना, मुञ्चितुकम्यताञाण, पटिसंखानुपस्सना, संखारुपेक्खा एव अनुलोमञाण। पटिसंभिदामग्ग मे दस प्रकार का ज्ञान बताया गया है। वहाँ ञाणदस्सनविसुद्धि का स्थान पृथक् वर्णित है।

बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी (१६८) मे ३८ प्रकार के कर्मस्थान बताये हैं। थेरवाद परम्परा मे ४० कर्मस्थानो का वर्णन आता है जो समाधि-प्राप्ति के लिए

सहायक होते हैं। धम्मसंगणि मे अन्तिम दो कसिणों को स्थान नही दिया गया। शायद इसीलिए बुद्धघोष ने ३८ कर्मस्थान कहे हो। अभिधम्मत्थ संगह मे अनुरुद्ध ने भी प्राय: विसुद्धिमग्ग का ही अनुसरण किया है।

४. उत्तरवर्त्ती साहित्य—सिंहली भाषा मे लिखे गये विदर्सणापोत नामक उत्तरवर्त्ती ग्रन्थ मे विसुद्धिमग्ग का ही अनुकरण दिखाई देता है पर विषय विभाजन मे कुछ अन्तर है पारिभाषिक शब्दावली भी कुछ भिन्न है। दसकसिण, (प्रथम चार भूतकसिण और शेष वण्ण कसिण), दस असुभ, कायगतासति (३२ प्रकार), दस अनुस्सति, चार अरूप, चार ब्रह्मविहार। इन १८ प्रकारों मे आनापानसति को प्रथम स्थान दिया गया, कायगतासति को ३२ प्रकारो मे सम्मिलित कर दिया गया तथा आहारेपतिक्कूलसंज्ञा और चतुधातुववत्थान को अनुस्सति के रूप मे स्वीकार किया गया।

२. शीलविसुद्धि

शील अथवा चारित्रिक विसुद्धि बौद्धधर्म की आधारशिला है। सयुक्तनिकाय मे इसी को पूर्ण विशुद्धि के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इसकी दो प्रमुख विशेषतायें हैं (१) समाधान—चित्त को केन्द्रित करना और (२) उपधारण—श्रेष्ठ गुणों को धारण करना। विधेयात्मक प्रवृत्तियों का पालन करना और निषेधात्मक प्रवृत्तियो को दूर करना योगी का विशिष्ट कर्तव्य है। शील का प्रारम्भ भी यही से होता है।

श्रमण को सर्वप्रथम सील विसुद्धि, इन्द्रिय संवरण, सति संप्रज्ञा, और सन्तुट्ठि का अभ्यास करना चाहिए। निकायो का वर्णन विशेषत: इन्ही गुणों पर आधारित है। विसुद्धिमग्ग मे इन्हीं को पातिमोक्खसंवरण, इन्द्रियसंवरण, आजीवपरिसुद्धि, और पच्चयसन्निसित के नाम से व्याख्यायित किया गया है।

१. पातिमोक्ख—जैसा हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं, श्रमण भिक्षु के लिए निर्धारित नियम पातिमोक्ख कहलाते हैं। इनकी संख्या २२७ है। इनका सम्बन्ध, शब्दो, कृत्यों और विचारो की पवित्रता से है। आचार-गोचर की सम्पन्नता भिक्षु की विशेषता है।

२. इन्द्रिय संवरण—निर्धारित नियमों मे शुद्धि प्राप्त करने के बाद भिक्षु का कर्तव्य है कि वह चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन रूप द्वारों के क्रमश: रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म रूप आलम्बनों पर संयमन करे।

३. आजीवपारिसुद्धि—पातिमोक्ख नियमों का पालन करते हुए जो भिक्षु इन्द्रिय संयमन करता है उसकी आजीव-भरण-पोषण विषयक परिशुद्धि

आवश्यक है । इस दृष्टि से भिक्षु को पाराजिक (अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन), संघादिशेष (स्त्री-पुरुष के प्रेम के बीच दूतकार्य करना), थुल्लच्चय (अर्हत् न होने पर भी अर्हत् बताना), पाचित्तिय (अस्वस्थ का बहाना कर उत्तम कोटि का भोजन ग्रहण करना), पाटिदेसनीय, और दुक्कट दोषों से विनिर्मुक्त रहना चाहिए । कुहन (प्रवञ्चना), लयन (चाटुकारिता), नैमित्तिकता (किसी का बहाना लेकर कहना), निप्पेसिकता (अवज्ञा करना), और निजिगिसनता (आमिष से आमिष की खोज करना—लाभ से लाभ खोजना) लाभ, सत्कार आदि की प्राप्ति के लिए ही प्राय: किये जाते हैं। इन कारणो से स्वयं को दूर रखना बौद्ध भिक्षु का कर्तव्य है । उलाहना, उक्काचना, अक्कोसना, सम्पापना आदि दोष भी इन्ही कारणो कें अन्तर्गत आते हैं ।

४. पच्चय सन्निस्सित सील—चीवर आदि पर विचार करना । भिक्षु यह विचार करे कि वह चीवर का उपयोग मात्र इसलिए करता है कि उससे शीत, डास, मच्छड़ आदि से अपने को बचाया जा सके तथा गुप्तागो को ढाका जा सके । इसी प्रकार पिण्डपात का उपयोग द्रव (क्रीडा), मद, मण्डन, विभूषण के लिए नही प्रत्युत रूपकाय की स्थिति के लिए, यापन और बुभुक्षा-शान्ति के लिए किया जाता है । शयनासन का प्रयोग ऋतु-परिश्रम को विगलित करने तथा गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खार का उपयोग रोग की शान्ति के लिए किया जाता है ।

इस प्रकार बौद्धधर्म मे भिक्षु अपने जीवन को अधिक से अधिक शुद्ध और आलम्बनविहीन बनाने का प्रयत्न करता है। चीवर, पिण्डपात, शयनासन तथा भैषज्य का ग्रहण उसे वर्जित नही ।

चीवर—प्राचीन काल मे वैदिक भिक्षु वल्कल पहनते और जैन भिक्षु नग्न रहते । बुद्ध ने इन दोनो प्रकारो को अस्वीकार किया और बौद्ध भिक्षु के लिए पासुकूल धारण करने का नियम निर्धारित किया । बाद मे इस नियम को ढीला किया गया । बुद्ध ने चिथड़ों से निर्मित काषाय अथवा गेरुय वस्त्र धारण करने को कहा । इन वस्त्रो मे दो अधर वस्त्र (उत्तरासंग और अन्तर-वासक) और एक संघाटी सम्मिलित है । इन्हे कासाव कहा जाता है । भिक्षु के पास कुल आठ चीजें होनी चाहिए—तीन वस्त्र, कमरबन्ध, पिण्डपात्र, रेजर, सुई, और जलपात्र । यही उनकी सम्पत्ति है । अपवाद की स्थिति मे यष्टिका, चप्पल, चटाई, छतरी भी वे धारण कर सकते हैं । परन्तु इन सभी का उपयोग चित्तज्ञानपूर्वक होना चाहिए ।

पिण्डपात—भोजन अथवा आहार ग्रहण करने का उद्देश्य जीवन की स्थिति और प्रवाह को बनाये रखना है । इस दृष्टि से पिण्डपात की महती

उपयोगिता है। रोग की शान्ति, जीवन यात्रा की सुसंगति, निर्दोष प्राशुविहार, और ईर्यापथ को अनुकूल बनाना पिण्डपात ग्रहण का लक्ष्य है।

शयन और आसन ऋतु-परिश्रम को दूर करने तथा चित्त को एकाग्र करने के लिए (उतुपरिस्सयविनोदनपटिसल्लानारामत्थ) उपयुक्त होता है। परिश्रय (उपसर्ग) दो प्रकार के होते है—प्रगट परिश्रय और प्रतिच्छन्न परिश्रय। प्रगट परिश्रय सिंह, व्याघ्र आदि द्वारा कृत उपसर्ग है और प्रतिच्छन्न परिश्रय मे राग, द्वेष आदि भावो द्वारा उत्पन्न विघ्न आते हैं। उत्पत्तिजन्य या व्याधिजन्य (धातु प्रकोप से उत्पन्न होने वाले रोग) एवं वेदनाजन्य दुःखो से मुक्त होने के लिए ग्लान, प्रत्यय और भैषज्य सेवन से भिक्षु परिरक्षित होता है।

इस प्रकार चीवर, पिण्डपात आदि का उपयोग प्रज्ञापूर्वक निरासक्त भाव से किया जाना चाहिए। जिस प्रकार टिटहरी अपने अण्डे की, चमरी अपने पूँछ की, माता अपने एकलौते प्रिय पुत्र की और एक नेत्रविहीन अपनी अकेली शेष एक आँख की मनोयोग पूर्वक रक्षा करती है उसी प्रकार शील की भलीभाँति रक्षा करते हुए भिक्षु को सदैव कोमल, प्रेम और गौरववान् होना चाहिए—

किकीं व अण्ड चमरीव बालेधिं, पिप व पुत्तं नयन व एककं ।
तथेव सीलं अधनुरक्खमानका सुपेसला होथ सदा सगारवा ॥

प्रातिमोक्ष-संवर-शील की प्रपूर्ति एवं संरक्षण की दृष्टि से अथवा उसे चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से शील का परिपालन किया जाना चाहिए। एतदर्थ इन्द्रियों का संयमन उसी प्रकार उपयोगी है, जिस प्रकार गोपुरो के सुसंवृत्त हो जाने से नगरवासी सुरक्षित हो जाते हैं।

कुछ नियमों मे विनयधर और सूत्रधर अथवा विनयपिटक और सूत्रपिटक के बीच मतभेद भी दिखाई देते हैं। उदाहरणतः प्रत्यय, निमित्त, अवभास अथवा परिकथा के माध्यम से प्राप्त भैषज्य आदि को ग्रहण करना विनयधरों की दृष्टि से अनुचित नहीं। परन्तु सूत्रान्तिक इसे स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार अपेक्षित सामग्री को इन माध्यमों से एकत्रित करने मे आजीव की परिशुद्धि नही होती। उन्हें मृत्यु प्राप्त करना स्वीकार है परन्तु आजीव को निन्दित करने का कार्य स्वीकार्य नही—

वची विञ्ञत्ति विप्फारा उप्पन्नं मधुपायासं ।
सचे भुत्तो भवेय्याहं साजीवो गरहितो मम ॥
यदिपि मे अन्तगुण निक्खमित्वा बहि चरे ।
नेव निन्देय्यमाजीव न च जमानोपि जीवितं ॥[1]

---

१. विसुद्धिमग्ग, पृ. २८, मिलिन्दपञ्ह, ६. १. ५

परिभोग चार प्रकार का होता है—स्तेय, ऋण, दायाद और स्वामी परिभोग। इनका परिभोग करते समय भिक्षु को प्रत्यवक्षण करना अपरिहार्य है। प्रत्यवेक्षण के साथ ही उसे चार शुद्धियो का भी ध्यान रखना चाहिए—देशनाशुद्धि, पर्येष्टिशुद्धि, संवरशुद्धि और प्रत्यवेक्षणशुद्धि। इनके अतिरिक्त अपर्यन्तशुद्धि और प्रतिप्रश्रब्धिपारिशुद्धि का भी उल्लेख है। प्रतिप्रश्रब्धि-पारिशुद्धि की प्राप्ति के लिए पञ्चशीलो का अनुकरण, पञ्चनीवरणो से दूरीकरण चतुर्ध्यान की प्राप्ति आदि आवश्यक है। इस प्रकार के शील का परिपालन पश्चात्तापकारी नही होता। उससे तो वस्तुत प्रमोद, प्रीति, प्रश्रब्धि, सौमनस्य, ध्यानाभ्यास, भावना, आधिक्य, अलंकार, परिष्कार, परिवार, परिपूर्ति, एकान्त निर्वेद, विराग, निरोध, उपशमन, अभिज्ञा, ज्ञात और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार जैनाचार मे व्रतो के अतिचार गिनाये जाते है, उसी प्रकार बौद्धाचार मे ऐसे अतिचारों की गणना की गई है जिनसे व्रत खण्डित हो जाते है। इसे 'संक्लेस' शब्द कहा गया है। लाभ, यश अथवा सप्तप्रकार के मैथुन भोग से शील खण्डित हो जाता है। शील के खण्डन से भिक्षु को अप्रेम, निन्दा, पश्चात्ताप, दुर्वर्ण, संताप, जन्म-मरण की परम्परा, नरक गमन आदि से उत्पन्न दु खो को भोगना पडता है।

३. विघ्न-निवृत्ति

शील परिशुद्धि के बाद योगी का यह प्रयत्न हो कि लक्ष्यप्राप्ति मे समुपस्थित विघ्न (पलिबोध) उसे किसी भी प्रकार विचलित न कर सकें। पालि साहित्य मे ऐसे दस प्रकार के विघ्नो का उल्लेख आया है—आवास, कुल, लाभ, गण, कम्म, अद्धान, ञाति, आबाध, गन्थ, और इद्धि।[1]

आवास—का तात्पर्य है गृह, परिवेण अथवा सघाराम। सासारिक पदार्थों के इच्छुक योगी के लिए यह आवास एक विघ्न ही है। योगी के लिए एकान्तवास अपेक्षित है, जो इस प्रकार के आवास मे सम्भव नहीं। ब्रह्मचर्य की पूर्ति भी यहाँ नही हो पाती। अत योगी आवास को छोडकर परिव्राजक बन जाता है। बुद्धवंस (३२–३४) मे गृहावास के आठ दुर्गुण बताये गये हैं—निर्माण, पुनर्नवीनीकरण, आतिथ्य, सुकुमारता, अशुभकर्मग्रहणता, ममत्वबुद्धि, दुःखदायित्व और सामाजिकता। इन दोषों के कारण योगी केशादि मुडाकर एकान्त मे वृक्ष के नीचे रह कर ध्यान करता है। जातक अट्ठकथा (पृ. ९-१०) मे वृक्ष के नीचे रहने के दस गुण प्रस्तुत किये गये हैं—सुलभता, सहजता,

---

१. अवासो च कुलं लाभो गणो कम्मञ्च पञ्चमं।
अद्धानं ञाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दस॥ विसुद्धिमग्ग, पृ. ६१

निर्बाधता, अकुशल कर्मो की असंभाविता, शरणप्राप्ति, निर्ममत्व, गृहहीनता, असंरक्षण, संतोष एवं नि शङ्कत्व। योगी के लिए शान्त और निश्चिन्त वातावरण अपेक्षित है जो निस्परिग्रही होने के कारण उसे यहाँ उपलब्ध हो जाता है।

कालान्तर मे बिहारो का निर्माण होने लगा। बुद्ध ने विविध प्रकार के बिहार बनाने की अनुमति दी। यह शायद इसलिए कि एकाएक गृहावास छोडकर आने वालो को कठिनाई न हो। बिहार-निर्माण से निर्वाण की प्राप्ति मे सहयोग एवं भिक्षुणियों को भिक्षुओ से शिक्षा लाभ होता है। इसके बावजूद वृक्षावास को ही प्राधान्य दिया गया है।[1]

कुल—का तात्पर्य सम्बन्धियों से है। सम्बन्धियों के सुख-दुःख मे योगी का सुख-दुःख बंधा रहता है। जब कभी उसे बुद्धोपदेश सुनने का भी अवकाश नहीं मिल पाता। इसके लिए बुद्ध ने रथविनीत (मज्झिम. १-३-४) नालक (सुत्त. ३-११), तुवटक (सुत्त. ४-१४) और महार्यवंश (अगु. ४-३-८) का उपदेश दिया है। फलस्वरूप योगी का ममत्व नि:शेष हो जाता है। इसी प्रकार लाभ—सामाजिक ससर्ग भिक्षुत्व अवस्था मे लक्ष्य-प्राप्ति के लिए बाधक बना रहता है। गण मे तात्पर्य है उन श्रमण भिक्षुओ से जो सुत्त, अभिधर्म आदि की शिक्षा-ग्रहण करने आये। उनको पढ़ाने मे स्वभावत: धर्मपालन के लिए समय कम मिल सकेगा। बिहार आदि के सुधारने का काम, दीक्षादि देने के लिए की गई यात्रा, रोगग्रस्त होने वाले ज्ञातिजन, रोग, ग्रन्थ-स्वाध्याय, और ऋद्धियाँ शमथ भावना की प्राप्ति मे विघ्नकारी होती हैं। अत. योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह ये सभी परिबोध दूर करने का प्रयत्न करता रहे।

४. कल्याण मित्र की खोज

योगी परिबोधो से दूर रहकर कर्मस्थान को देने वाले कल्याण मित्र की पर्येषणा करता है। कल्काण मित्र वह है जो प्रिय, गौरवनीय, आदरणीय, वक्ता, वचन सहने वाला, गम्भीर उपदेश देने वाला और अनुचित कार्यों से दूर करने वाला हो।

पियो गरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।[1]
गभीरञ्च कथं कत्ता नो चठाने नियोजये॥

भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने आपको कल्याण मित्र माना है।[2] मेघियसुत्त मे कल्याण मित्र की प्राप्ति, चित्तविशुद्धि, निर्वाण-प्राप्ति में सहायक षण्डितवाद,

१. मिलिन्दपञ्ह, ३-१२
२. अंगुत्तर, ४-३२; विशुद्धि पृ. ६६

असद्विचार निर्मुक्ति, और अन्तर्दृष्टि—ये छ: साधन योगी के लिए लक्ष्य-प्राप्ति में साधक बताये गये हैं।[1] प्रथम साधन के प्राप्त होने पर शेष साधन स्वत: उपलब्ध हो जाते हैं। एतदर्थ मोहादि दूर करने के लिए असुभ, मेत्ता, आनायातसति और अनिच्चसंञ्ञा की भावना करनी चाहिए। विशुद्धिमग्ग मे बुद्ध को सर्वश्रेष्ठ कल्याण मित्र के रूप मे स्वीकार किया गया है। इसके बाद क्रमश: अस्सी महाश्रावक, क्षीणाश्रवप्राप्त व्यक्ति, अनागामी, सकदागामी, सोतापन्न, ध्यान प्राप्त पृथकजन त्रिपिटकधारी, द्विपिटकधारी, एकपिटकधारी, एकनिकायधारी तन्तिधर, और स्वयंलज्जी परम्परापालक आचार्य को सर्वश्रेष्ठ कल्याणमित्र समझना चाहिए। उस कल्याण मित्र के पास जाकर कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद उसे व्रत-प्रतिव्रत करना चाहिए।[2]

चरित भेद—व्यक्ति के छ: प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित और वितर्कचरित। ये चरित प्रकार पूर्वकर्म पर आधारित रहते हैं। इसके साथ ही निम्नलिखित विशेषताओं के माध्यम से उनके व्यक्तित्व को पहचाना जाता है[3]—

(१) चलना, खडे होना, बैठना और सोना जैसी क्रियायें।

(२) शारीरिक क्रियायें—स्वच्छ करना, झाड़ना अथवा वस्त्र धारण करना।

(३) भोजन का चुनाव और भोजन करने की प्रक्रिया।

(४) दर्शन प्रकार—प्रशंसा, निन्दा आदि।

(५) मानसिक क्रियायें—क्रोध, ईर्ष्या, राग, धर्मोपदेशश्रवण।

इन सभी चरित प्रकारों के विशिष्ट लक्षणो का भी उल्लेख मिलता है जिनसे वे पहचाने जा सकते हैं।[4]

(ग) कर्मस्थान का चुनाव

कर्मस्थान दो प्रकार के होते हैं—अभिप्रेत और परिहरणीय। भिक्षुसंघ के प्रति मैत्री और मरणस्मृति आदि प्रथम वर्ग में आते हैं तथा वर्जनीय कार्य द्वितीय वर्ग में आते हैं। विशुद्धिमग्ग में इस सन्दर्भ में सुन्दर विवेचन प्राप्त होता है। वहाँ कर्मस्थान का विनिश्चय दस प्रकार से बताया गया है—संख्या, उपचार

---

१. अंगुत्तर निकाय, ४-३५४-३५८

२. विशुद्धिमग्ग, पृ. ६६-६७

३. पपञ्च सूदनी, मागन्दियसुत्त।
इरियापथतो किच्चा भोजना दस्सनादितो।
धम्मप्पवत्तितो चेव चरियायो विभावये। विसुद्धिमग्ग. पृ. ७१

४. विशुद्धिमग्ग पृ. ७१–७४

अर्पणा ध्यान (समाधि), ध्यान, समतिक्रमण, परिवर्धनपरिहीन, आलम्बन, भूमि, ग्रहण, प्रत्यय एवं चर्या।

१. संख्या के निर्देश से चालीस कर्मस्थानो को सात भागो मे विभाजित किया गया है—

(१) दस कसिण—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात आलोक और परिच्छिन्नाकाश।

(२) दस अशुभ—ऊर्ध्वमातक, विनीलक, विपुब्वक, विच्छिद्रक, विक्खायितक, विक्षिप्तक, हृत-विक्षिप्तक, लोहितक, पुलुवक, एवं अस्थिक।

(३) दस अनुस्मृतियाँ—बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता मरण, कायगता, आनापान और उपशम।

(४) चार ब्रह्मविहार—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।

(५) चार आरूप्य—आकाश, विज्ञान, आकिञ्चन्य, और नैवसंज्ञानासंज्ञा।

(६) एक संज्ञा—आहार मे प्रतिकूलता, एवं

(७) एक व्यवस्थान—चारों धातुओं का व्यवस्थान।

२. उपचार अर्पणा ध्यान (समाधि)—कर्मस्थान के विषय दो प्रकार के हैं—उपचार समाधि से सम्बन्धित और उपचार तथा अर्पणा समाधि से सम्बन्धित। उक्त ४० विषयो मे दस उपचार से सम्बन्धित हैं—कायगता और आनापान स्मृति को छोड़कर शेष आठ स्मृतियाँ तथा आहार मे प्रतिकूलता की संज्ञा और चारो धातुओ का व्यवस्थान। शेष ३० कर्मस्थान अर्पणा से सम्बन्धित हैं।

३. ध्यान—अनापान स्मृति के साथ दस कसिण, चार ध्यान वाले होते हैं। कायगता स्मृति के साथ दस अशुभ विषय प्रथम ध्यान से सम्बन्धित हैं। प्रथम तीन ब्रह्मविहार (मैत्री, करुणा एवं मुदिता) तृतीय ध्यान से सम्बन्धित हैं। चतुर्थ ब्रह्मविहार तथा चारो आरूप्य चतुर्थ ध्यान से सम्बन्धित हैं।

४. समतिक्रमण—समतिक्रमण दो प्रकार का होता है—अङ्ग का समतिक्रमण और आलम्बन का समतिक्रमण। उनमे सभी तीसरे चौथे ध्यान वाले कर्मस्थानों मे अङ्ग का समतिक्रमण होता है। चारो आरूप्यो मे आलम्बन का समतिक्रमण होता है।

५. परिवर्धन-परिहीन—मे दस कसिणों का परिवर्धन करना चाहिए और कायगता स्मृति तथा अशुभ को नही बढ़ाना चाहिए[1]। दस कसिण, दस अशुभ, अनापान स्मृति, कायगता स्मृति ये बाईस प्रतिभाग निमित्त वाले आलम्बन हैं। इसी प्रकार अन्य निर्देशो के विषय में विवेचन मिलता है।

१. विस्तार से देखिये—विसुद्धिमग्ग, पृ. ७६।

(घ) धुताङ्ग

उक्त प्रकार से शील का परिपालन करने वाले योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह अल्पेच्छा, सन्तोष, संलेख, प्रविवेक, क्लेशक्षय, उद्योग, सुन्दरता आदि गुणों से मण्डित हो। शील की परिशुद्धि के लिए उसे लोकामिष (लाभ-सत्कार आदि) का परित्याग, शरीर और जीवन के प्रति निर्ममत्व तथा विपश्यना भावना की प्राप्ति भी अपेक्षित है। इसकी प्रपूर्ति के लिए बौद्धधर्म मे तेरह धुताङ्गों का पालन करना उपयोगी बताया गया है।[1]

१. पांसुकूलिकाङ्ग—श्मशानिक, पार्पंषिक, रथियचोल, संकारचोल स्वस्तिवस्त्र, स्नानवस्त्र, तीर्थकवस्त्र, गतप्रत्यागत, अग्निदग्ध, गोभक्षित, दीमकभक्षित ध्वजाहृत तथा स्तूपगतव स्त्रों को लेकर उन्हे यथोचित फाडकर अपना चीवर बनाना चाहिए। यह चीवर तीन प्रकार का होता है—उत्कृष्ट, मध्यम और मृदु। पाशुकुलिक चीवर धारण करने से स्वतन्त्रता, निर्भयता, तृष्णाभाव, अल्पेच्छा, सन्तोष आदि गुणों की उपलब्धि होती है। काम को दग्ध करने के लिए उसे कवच माना गया है।[2]

२. चीवरिकाङ्ग—संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरवासक, ये चीवर के तीन अङ्ग हैं। इन्हें धारण करना चाहिए। इससे लोभादि दोषों का विनाश होता है।

३. पिण्डपातिकाङ्ग—भिक्षावृत्ति के माध्यम से उदर-पूर्ति करना। इसके भी कुछ नियम हैं। बौद्ध भिक्षु के लिए उद्देश्य भोजन, निमन्त्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक भोजन, उपोसथ भोजन, प्रतिपदा भोजन, आगन्तुक भोजन, गमिक भोजन, ग्लान भोजन, ग्लान सेवक भोजन, विहार भोजन, गृह भोजन, एवं क्रमिक भोजन से विरक्त रहना चाहिए। इससे प्रमाद, तृष्णा, अनुग्रहवृत्ति, मान आदि दोषों का नाश होता है।

४. सापदानचारिकाङ्ग—बिना अन्तर दिये प्रत्येक घर से भिक्षाग्रहण करना तथा विघ्नादि पर विचार न करना। इससे समान अनुकम्पा, कुलूपक से उत्पन्न दोषों का अभाव, सन्तोष आदि गुणों की प्राप्ति होती है।

५. एकासनिकांग—यथायोग्य एक आसन पर बैठकर भोजन करना। इससे निरोग, स्फूर्ति, बल, रसास्वादन की तृष्णा का अभाव आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

---

१. विसुद्धिमग्ग, धुतङ्गनिद्देस

२. मारसेनविघाताय पंसुकूलधरो यति।
सन्नद्ध कवचो युद्धे खत्तियो विय सोभति॥ विसुद्धिमग्ग, पृ. ४२

६. पात्रपिण्डिकांग—दूसरे वर्तन को छोड़कर एक ही पात्र मे लिये गये भोजन को ग्रहण करना।

७ खलुपच्छाभत्तिकांग—अतिरिक्त भोजन का त्याग करना। इससे अधिक खाने की वृत्ति दूर हो जाती है।

८. आरण्यकांग—गाँव के शयनासन को त्यागकर अरण्यवास करना। अरण्य का प्रारम्भ कहाँ से मानना चाहिए, इस विषय मे अनेक मत हैं। साधारणत: गाँव के बाहर अरण्य का प्रारम्भ मानते हैं। एकान्तचिन्तन मे लीन, संसर्ग रहित भिक्षु चित्त को वश मे करने के योग्य हो जाता है।

९. वृक्षमूलिकांग—सदन अथवा प्रासाद को छोड़कर वृक्ष के नीचे आवास ग्रहण करना। अनित्यता का चिन्तन एवं तृष्णा का उच्छेद इसका फल है।

१०. अभ्यपकाशिकांग—छाये हुए वृक्ष को त्यागकर उन्मुक्त आकाश में रहना। वर्षा आदि का काल इस व्रत का अपवाद है। आवास की बाधाओं का उपच्छेद तथा मानसिक और शारीरिक आलस्य से विनिमुक्ति इस व्रत के गुण हैं।

११. श्मशानिकांग—श्मशान मे वास करना। मरण का ध्यान बना रहना, अप्रमाद के साथ विहार करना, अशुभ निमित्त का लाभ, कामराग का दूरीकरण, शरीर-स्वभाव का चिन्तन, सवेग का आधिक्य, आरोग्यता आदि मदों का त्याग, भय और भयानकता की सहनशीलता, मनुष्येतरो के गौरवनीय होना, अल्पेच्छ वृत्ति आदि गुणो का विकास होता है।

१२. यथसंस्थरिकांग—शयनासन का त्यागकर जो उपलब्ध हो उसमे सन्तुष्ट होना। हीन-उत्तम, अनुरोध-विरोध आदि भावों से निरासक्त हो जाना इस व्रत का उपयोग है।

१३ नैषद्यकांग—शयनासन को त्यागकर बैठने के आसन को स्वीकार करना। शय्यासुख, निद्रासुख, आदि सुखों से असक्ति का अभाव होना इसका फल है।

धुताङ्ग का तात्पर्य है—क्लेशावरण को दूर करने की ओर ले जाने वाला मार्ग (किलेसधुननतो वा धुतं)। राग और मोह चरित वालों के राग, मोह आदि को दूर करने की दृष्टि से इनका उपयोग निर्दिष्ट है। इन तेरह धुताङ्गों का समावेश चार आर्यवंश में हो जाता है—चीवर से सन्तोष, पिण्डपात से सन्तोष, शयनासन सन्तोष, और भावना रमण। दीघनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं विनयपिटक में इसका विशेष वर्णन उपलब्ध होता है।

(ङ) बोधिपाक्षिक भावना

समाधिस्थ व्यक्ति के लिए दिव्यज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से कुछ विशेष भावनाओं का अनुग्रहण करना चाहिए। इन्ही विशिष्ट भावनाओं को बोधिपक्खिय भावना कहा जाता है। इनकी संख्या सेंतीस है। महासकुलदायीसुत्त (मज्झिम. ७७) मे उन्हे योगी के अभ्यास-योग्य विषयों मे गिनाया गया है और महावग्ग (संयुत्तनिकाय) मे पृथक् रूप से उनकी गणना की गई है। 'बोधिपक्खिय धम्म' शब्द इस अर्थ मे त्रिपिटक मे नही मिलता। विभग (पृ. २४४) मे "बोधिपक्खियानं भावनानुयुत्तो विहरति" के रूप मे इस शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है परन्तु वह सात बोध्यंगों के लिए आया है। वस्तुतः समूचा बौद्धधर्म सेंतीस बोधिपाक्षिक भावना के अन्तर्गत आ जाता है। उपकारक होने के कारण उनको बोधिपाक्षिक कहा जाता है—पक्खे भवत्ता ति उपकार भावे ठितत्ता। बोधिपाक्षिक धर्म इस प्रकार है—

१. चार स्मृति प्रस्थान—(सतिपट्ठान)—काय, वेदना, चित्त और धर्मों मे अशुभ, दु ख, अनित्य और अनात्म रूप तत्त्वों पर चिन्तन करना।

२ चार सम्यक् प्रधान—(सम्मापधान)—श्रेष्ठ प्रयत्न होने के कारण सम्यक् प्रधान कहा जाता है। यह प्रयत्न चार प्रकार का है—उत्पन्न और अनुत्पन्न अकुशलो को दूर करना, तथा उत्पन्न न होने देने के कृत्य और अनुत्पन्न एवं उत्पन्न कुशलों को उत्पन्न करने और बनाये रखने के कृत्य को सिद्ध करना। इन्हे 'समाधिपारिक्खार' भी कहा गया है। योगी को राग, द्वेष आदि से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

३. चार ऋद्धिपाद—(इद्धिपाद)—ऋद्धि प्राप्त होने के आधारभूत कारण होने से इन्हे ऋद्धिपाद कहा गया है। ये चार हैं—छन्द, वीर्य, चित्त और मीमासा। इनको प्रधान रूप से मानकर चित्त की एकाग्रता प्राप्त करना इसका मुख्य उद्देश्य है।

४. पाँच इन्द्रियाँ—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा।

५. पांच बल—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा।

६. सात बोध्यंग—(सत्त बोज्झङ्ग)—स्मृति, धर्मविजय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा।

७. आर्याष्टांगिक मार्ग—(अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो)—सम्मादिट्ठि, सम्मा संकप्प, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्त, सम्मा आजीव, सम्मा वायाम, सम्मा सति और सम्मा समाधि।

सम्मासम्बोधि प्राप्त करने के लिए इन बोधिपाक्षिक धर्मों का अनुसरण आवश्यक है। अभिधम्मत्थ सगह मे अन्य प्रकार से इनका वर्गीकरण किया गया है—स्मृति, वीर्यं, छन्द, चित्त, प्रज्ञा, श्रद्धा, समाधि, प्रीति, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, सकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, और सम्यक् अजीविका ये चौदह प्रकार हैं। भाग से ये सात प्रकार के हैं—स्मृति प्रस्थान, सम्यक् प्रधान, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय बल, बोध्यंग और मार्ग। प्रभेद से बोधिपाक्षिकधर्म सैंतीस प्रकार के है।

(च) समाधि का समय और आसन

समाधि का सर्वोत्तम समय ब्रह्ममुहूर्त माना गया है। उसके बाद योगी को दोपहर तथा सायकाल का समय भी समाधि के लिए देना चाहिए। चित्त को एकाग्र करने की दृष्टि से ये समय अधिक उपयोगी हैं। इसके लिए योगी बुद्धासन अथवा वज्रासन का उपयोग करे। दीघनिकाय (भाग १, पृ. ७१) मे कहा है—पल्लक आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा। पल्लङ्क को हम पद्मासन कह सकते हैं। अट्ठकथा मे उसकी व्याख्या पर्यङ्कासन के रूप मे की गई है।

(छ) कसिण भावना

कसिण का अर्थ है—कृत्स्न अर्थात् समस्त। समाधि के सन्दर्भ मे उसका उपयोग विशेषण और संज्ञा के रूप मे हुआ है। उदाहरणार्थ-कसिणायतन, पृथ्वीकसिण आदि। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के लिए भी प्रतीकात्मक रूप मे उसका प्रयोग किया गया है। अट्ठकथाओ मे 'सकलट्ठेत्त कसिणं' कहा है जिसका अर्थ है कि प्रतीक पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला है। इसका अर्थ मण्डल, निमित्त और ध्यान भी है।

कसिण शब्द आयतन के साथ आया है। सुत्तपिटक मे आयतन का अर्थ है क्षेत्र) जिसका सम्बन्ध चित्त और विचारों से है। उसका उपयोग कारण, आवास आदि के अर्थ मे भी हुआ है। उनकी सख्या दस है। धम्मसगणि (२०२) के अनुसार रूप ध्यान मे आठ कसिण साधन है, अन्तिम आकाश और विज्ञानायतन नही। विसुद्धिमग्ग मे इन दो कसिणो के स्थान मे आलोक और परिच्छिन्नाकाश शब्द आये हैं। मण्डल वृत्ताकार को कहते हैं।

आरम्मण का अर्थ है—आलम्बन अथवा निमित्त। अभिधम्मत्थसंगह मे निमित्त को तीन भागो मे विभाजित किया गया है—परिक्कम, उग्गाह और पटिभाग। कम्मट्ठान के विषय को परिकम्म निमित्त कहा गया है। उग्ग निमित्त को चित्त मे वस्तु का अधिष्ठान करना बताया है। यहाँ कसिण दोष—(नीला, पीला, लाल, श्वेत) विद्यमान रहते हैं। पटिभाग निमित्त में बार-बार

निमित्त ग्रहण कर ध्यान करने से नीवरण दूर हो जाते हैं और उपचार समाधि से चित्त एकाग्र हो जाता है। यह परिशुद्ध निमित्त की प्राप्ति पटिभाग निमित्त कही जाती है। विसुद्धिमग्ग के अनुसार चालीस कर्म स्थानों (समाधि के विषयों) मे से बत्तीस विषय पटिभाग निमित्त बन जाते हैं—दस कसिण, दस अशुभ, आनापानसति और कायगता सति। अट्ठकथाओं मे प्रथम चार कसिण को भूतकसिण, और उसके बाद के चार को वण्णकसिण कहा है। अंगुत्तरनिकाय में दस कसिण रूपध्यान, विपश्यना, अभिज्ञान एवं निरोध को उत्पन्न करने वाले कहे गये हैं।

विसुद्धिमग्ग मे कसिण भावना की सुन्दर व्याख्या की गई है। उसके आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत है—

पृथ्वी—(पठवि) कसिण—साधक कर्मस्थान को बनाकर आचार्य की अनुमति पूर्वक योग्य बिहार मे वास करे। योग्य बिहार वे हैं जो गाँव से न बहुत दूर हो और न पास हो, शयनासन आदि उपलब्ध हों, मच्छड़ आदि की बाधायें न हों। अठारह दोषों से युक्त बिहार अयोग्य होते हैं—महाबिहार, नया बिहार, पुराना बिहार, मार्गवर्ती, प्याऊ के पास वाला, पत्ती, पुष्प, फलयुक्त, पूजनीय स्थान, नगरवाला, दारुवाला, खेतों से घिरा, अनमेल व्यक्तियों वाला, बन्दरगाह और स्टेशन, निर्जन प्रदेश, राज्यसीमा, अननुकूल स्थान और कल्याणमित्र का अभाव।

अनुकूल बिहार पाने के बाद योगी केश और नख काटे, भोजन के बाद भोजन से उत्पन्न परिश्रम को दूरकर एकान्त स्थान मे आराम के साथ बैठ गोल बनाये हुए या नही बनाये हुए पृथ्वी के निमित्त को ग्रहण करे। अरुण रंग की मिट्टी से कसिण को निर्मित करे। आकार मे वह गोल हो। उसे खूंटों को गाड़कर लताओं से बाँधकर स्थापित करे। उससे ढाई हाथ की दूरी पर स्थित चौकी पर स्वयं बैठे और चिन्तन करे। चिन्तन करते समय वह पृथ्वी आदि शब्दों का उच्चारण करे। प्रतिभाग निमित्त तक पहुँच कर योगी उपचार समाधि से चित्त एकाग्र करे। इसके लिए वह आवास, गोचर, वार्तालाप, व्यक्ति, भोजन, ऋतु एवं ईर्यापथ इन सात विपरीत बातो का त्याग करे। तदन्तर अर्पणा समाधि (अपतनीय समाधि) को वह प्राप्त करेगा। कदाचित् वह प्राप्त न हो तो साधक अर्पणा की कुशलता को दस प्रकार से प्राप्त करे—

(१) वस्तुओं को स्वच्छ करना, (२) पञ्चेन्द्रियोको एक समान करना, (३) निमित्त की कुशलता, (४) चित्त को यथासमय वश मे करना, (५) चित्त को यथासमय दबाना, (६) चित्त को यथासमय हर्षित करना, (७) यथासमय

उपेक्षा करना, (८) चचल चित्तवान् व्यक्ति का त्याग करना, (९) एकाग्रचित्त वाले व्यक्ति की संगति करना, और (१०) समाधि मे चित्त लगाये रखना।

वीर्य—सम्बोध्यंग की उत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है—अपाय आदि के भय का सम्यक् विचार करना, लौकिक एव लोकोत्तर विशिष्ट गुणों को प्राप्त करना, बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मार्ग को देखना, भिक्षा का सत्कार करना, शास्ता के महत्व पर विचार करना, उत्तराधिकार के महत्व को समझना, प्रमाद दूर करना, आलसी व्यक्ति का मनन, योगाभ्यासी की सगति करना, सम्यक् प्रधान को भली प्रकार देखना, वीर्य मे चित्तसंगति करना।

प्रीति सम्बोध्यंग प्राप्ति का मार्ग—बुद्ध, धर्म, सघ, शील, त्याग, देवता और उपशम अनुस्मृतियो का पालन, निर्दयी व्यक्ति का त्यजन, स्निग्ध व्यक्ति का साहचर्य, हर्षोत्पादक सुत्तो का श्रवण, और प्रीति मे चित्त का विष्फालन। इन भावनाओं से चित्त एकाग्र कर लिया जाता है।

प्रश्रब्धि सम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के मूल कारण है—उत्तम भोजनग्रहण, ऋतु–सुख–सेवन, ईर्यापथसुखसेवन, त्रियोग, परितप्त चित्तवान् व्यक्ति का त्याग, शान्तकाय व्यक्ति का साहचर्य, प्रश्रब्धि (शान्ति) मे चित्त की अनुरक्ति। समाधि बोध्यंग की उत्पत्ति ग्यारह कारणो से होती है—वस्तु की पवित्रता, निमित्त की कुशलता, इन्द्रियो का वशीकरण, चित्त को यथासमय वश मे करना, उसे पकड़ना, उसे श्रद्धा, संवेग युक्त करना, उपेक्षा करना, विक्षिप्त चित्तवान् का त्याग, एकाग्र चित्तवान् का साहचर्य, ध्यान और विमोक्ष का दर्शन तथा समाधि मे चित्त को एकाग्र किये रखना। उपेक्षा सम्बोध्यंग की प्राप्ति के मूल कारण ये हैं—समस्त प्राणियो के प्रति तटस्थ भाव रखना, ममत्ववान् व्यक्ति का त्याग, तटस्थ चित्तवान् व्यक्ति का साहचर्य, और उपेक्षा मे चित्त को झुकाना।

आठ कारण ऐसे हैं जिनसे संवेग उत्पन्न होता है—जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अपाय दुःख, भूतकालीन जन्म-मरण दुःख, भविष्यत्कालीन जन्म-मरण दुःख, एवं वर्तमान मे आहार अन्वेषणज दुःख।

इन निमित्तों की ओर मनको केन्द्रित कर, भवाङ्गचित्त को काटकर, पृथ्वी कसिण का आलम्बन करे। इसमे रूप और अरूप मे भवाङ्ग का परिमाण नही है। इसके बाद एक चित्तक्षणवाली अर्पणा, भवाङ्गपात, आवर्जन और ध्यान का प्रत्यवेक्षण किया जाता है। तदनन्तर साधक क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम ध्यान प्राप्त करता है।

इसके उपरान्त साधक अप, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात, आलोक, परिच्छिन्नाकाश, और प्रकीर्णक कर्मस्थानों का आधार लेकर भी ध्यान करता है।

बौद्धधर्म में ध्यान का स्वरूप

जैनधर्म के समान बौद्धधर्म मे भी ध्यान का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। साधना ध्यान से विलग होकर नही की जा सकती। बौद्ध साधना में ध्यान के साथ ही समाधि विमुत्ति, समथ, भावना, विसुद्धि, विपस्सना, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, पधान, निमित्त, आरम्मण आदि शब्दो का भी उपयोग और विश्लेषण किया गया है। इनमें ध्यान और समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द माने गये हैं। वस्तुत ध्यान का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसमे समाधि का विषय भी अन्तर्भूत हो जाता है।

ध्यान का अर्थ—ध्यान (पालि-झान) का अर्थ है—चिन्तन करना। बुद्धघोष ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—झायत्ति उपनिज्झायतीति झानं अथवा इमिना योगिनो झायन्ती ति झान अर्थात् किसी विषय पर चिन्तन करना। इसका दूसरा अर्थ भी किया गया है—पच्चनीकधम्मे झायेतीति झानं अथवा "पच्चनीकधम्मे दहति, गोचरं वा चिन्तेती ति अत्थे।" यहाँ ध्यान का अर्थ अकुशल कर्मो का दहन करना (झापन करना) भी किया गया है।[1]

समाधि (सम्+आ+धा) शब्द का प्रयोग चित्त की एकाग्रता (चित्तस्स एकग्गता) के सन्दर्भ मे किया गया है।[2] बुद्धघोष ने इस परिभाषा मे कुसल शब्द और जोड दिया है—कुसलचित्तेकग्गता। यहाँ "सम्मा समाधी ति यथा समाधि, कुसलसमाधि"[3] कहकर बुद्धघोष ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि समाधि का सम्बन्ध शुभ भावो को एकाग्र करने से है।

ध्यान और समाधि की उक्त व्याख्या से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहाँ समाधि मात्र कुशल (शुभ) कर्मों से ही सम्बद्ध है वहाँ ध्यान कुशल और अकुशल (शुभ और अशुभ) दोनों प्रकार के भावो को ग्रहण करता है। अत: समाधि की अपेक्षा ध्यान का क्षेत्र बड़ा है।

ध्यान के भेद और उनकी व्याख्या—बौद्धधर्म मे ध्यान के मूलत: दो भेद किये गये हैं—आरम्मण उपनिज्झान (आलम्बन पर चिन्तन करने वाला) और लक्खण उपनिज्झान (लक्षणों पर चिन्तन करने वाला)[4] आरम्मण उपनिज्झान आठ प्रकार का है—चार रूपावचर और चार अरूणावचर।

---

१. समन्तपासादिका, पृ. १४५-६

२. धम्मसंगणि, पृ. १०

३. विसुद्धिमग्ग,

४. दीघनिकाय, ३. पृ. २७३; मज्झिम, १, पृ. ४९४; संयुत्त, पृ.३६० इत्यादि।

इन्हे समायत्ति भी कहा जाता है। उपचार समाधि की प्रारम्भिक भूमिका है और शेष उसकी विकसित अवस्थायें हैं।

लक्खण उपनिज्झान के तीन भेद हैं—विपस्सना, मग्ग और फल। विपस्सना मे प्रज्ञा, ज्ञान और दर्शन होता है। साधारणत: त्रिपिटक मे विपस्सना का प्रयोग समथ के साथ मिलता है—समथो च विपस्सना।[१] इसमे विषय-वस्तु के लक्षणो पर विचार किया जाता है, मार्ग मे उसका कार्य पूर्ण होता है ओर उसकी निष्पत्ति फल मे होती है। इसी को लोकोत्तर ध्यान कहते हैं जो निर्वाण का विशिष्ट रूप माना गया है।[२] विपस्सना मे सात प्रकार की विशुद्धि पायी जाती है—शीलविशुद्धि, चित्त विशुद्धि, दृष्टि विशुद्धि, काङ्क्षावतरण विशुद्धि, मार्गामार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि, पतिपदाज्ञान दर्शन विसुद्धि तथा ज्ञान दर्शन विशुद्धि।[३]

ध्यान का भेद-भेदाङ्ग विवाद का विषय रहा है।। सुत्त पिटक मे ध्यान के चार भेद मिलते हैं, जबकि अभिधम्म पिटक मे उसे पाँच भागो मे विभाजित किया गया है। रूपालम्बन पर चित्त की ये विभिन्न अवस्थायें है जिन्हे वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि कहा गया है।

वितर्क का अर्थ है—तर्क-वितर्क करना, चित्त का अभिनिरोपण करना तथा सम्यक् संकल्प करना। आरम्मण मे चित्त का आरोपण करना इसका मुख्य विषय है। ध्यान मे इसका उसी प्रकार का उपयोग है जिस प्रकार भूपति के पास पहुँचने के लिए उसके किसी निकट सम्बन्धी का उपयोग होता है।[४]

आलम्बन के विषय मे विचार करना विचार है। चित्त बार-बार विचार करता हुआ विषय के पास अनुमज्जन करता रहता है और वितर्क के द्वारा आरूढ सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन के समीप रखकर उसी के पास घूमता रहता है।[५] अर्थात् आलबन मे चित्त का सयुक्त हो जाना वितर्क है और उसका वही बना रहना विचार है। वितर्क का जन्म विचार के पूर्व होता है और वह विचार की अपेक्षा स्थूल भी है। विचार का स्वभाव भ्रमण करना है, सूक्ष्म होने के कारण। उदाहरणार्थ-पक्षी का आकाश में उड़ना वितर्क है तथा आकाश मे पंख फैला देना विचार है।

---

१. सद्धम्मपकासिनी, पृ. १६६
२. अभिधम्मत्थ संग्रह, कम्मट्ठान संग्रह।
३. धम्मसंगणि, पृ. १६, अट्ठसालिनी, पृ. ६४
४. अट्ठसालिनी, पृ. ६४

प्रीति का अर्थ प्रफुल्लित होना है।[1] प्रीति होने पर चित्त विकसित कमल की तरह प्रसन्न हो जाता है। यह प्रीति पाँच प्रकार की है—क्षुद्रिका प्रीति, क्षणिका प्रीति, आवक्रान्तिका प्रीति, उद्वेगा प्रीति, और स्फुरणा प्रीति।[2]

सुख भी एक मानसिक आनन्द की अनुभूति का नाम है। उसमे सभी प्रकार की मानसिक और शारीरिक बाधायें दूर हो जाती हैं। इस विषय की उपलब्धि से समुत्पन्न तृप्ति से प्रीति होती है और उस प्रीति से उत्पन्न सुख होता है।

कुशल चित्त की एकाग्रता समाधि है। इसे एकाग्रता, समाधि अथवा उपेक्षा भी कहा जाता है। यहाँ कुशल चित्त का सम्बन्ध रूपावचर, अरूपावचर एव लोकुत्तर चित्तो से ही है। कुशल चित्त के आलम्बन को कम्मट्ठान भी कहा गया है। कम्मट्ठानो (कर्मस्थानो) की सख्या बौद्धधर्म मे चालीस कही गयी है—दस कसिण (कृत्स्ण), दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मबिहार, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान तथा चार आरूप्य हैं। इनकी प्राप्ति मे बाधक तत्त्व हैं पाँच—कामचछन्द, व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्च, कुक्कुच्च एवं विचिकिच्छा।[3] इनका उपशम क्रमशः समाधि, प्रीति, वितर्क, सुख और विचार से होता है।[4]

नीवरणो के उपशमन और ध्यान की प्राप्ति मे साधक चित्त को एक निश्चित आरम्मण मे केन्द्रित करता है। उस विषय को परिकम्म निमित्त कहा गया है और उस अभ्यास को परिकम्म समाधि कहा जाता है। अभ्यास के बल पर परिकम्म निमित्त के बिना भी मात्र अन्तर्मन मे प्रतिष्ठापित उसकी प्रतिकृति पर चित्त एकाग्र किया जाता है। इस अवस्था को उग्गह निमित्त कहा गया है। निमित्त का अनुचिन्तन-अनुमनन करने पर नीवरणो और क्लेशो का उपशमन होने लगता है तथा उपचार समाधि से चित्त एकाग्र होने लगता है। तब प्रतिभाग निमित्त उत्पन्न होता है। उग्गह निमित्त और प्रतिभाग निमित्त

---

१. धम्मसंगणि, पृ. २२
२. अट्ठसालिनी, पृ. ९५
३. अभिधम्मत्थ सगह, नवनीत टीका
४. नीवरणानि हि झानंगपच्चनीकानि तेसं झानंगा नेव पटिपक्खानि। विद्धंसकानि विघातकानी ति वुत्तं होति। तथाहि समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो, पीति व्यापादस्स, वितक्को थनमिद्धस्स सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चस्स विचारो विचिकिच्छाया ति पेटके वुत्तं, विसुद्धिमग्ग, पृ. ९५

में अन्तर यह है कि उग्गह निमित्त में कसिण का दोष बना रहता है जबकि प्रतिभागनिमित्त दर्पण के समान सुपरिशुद्ध होता है।

बौद्धधर्म मे समाधि के दो भेद हैं—उपचार समाधि और अर्पणा समाधि। इन्हें चित्त को एकाग्र करने के दो साधन भी माने जा सकते हैं। उपचार मे नीवरणो का प्रहाण हो जाता है और अर्पणा मे ध्यान प्राप्ति हो जाती है। उपचार ध्यान मे चित्त कभी निमित्त का आलम्बन करता है और कभी भवाग में उतर जाता है परन्तु अर्पणा (ध्यान) मे यह स्थिति दूर हो जाती है। इसकी प्राप्ति होने पर चित्त की एकाग्रता मे स्थिरता आ जाती है। इसके लिए साधक को आवास, गोचर, संलाप (भस्सं). व्यक्ति, भोजन, ऋतु और ईर्यापथ इन सात विपरीत बातो का त्याग करना चाहिए।

आवासो गोचरो भस्स पुग्गलो भोजन उतु ।
इरियापथो ति सत्तेते असप्पाये विवज्जये ॥[1]

अर्पणा (ध्यान) का सस्कार करने वाला परिकर्म (पकिरोति अप्पनं अभिसंखरोति ति परिकम्मनं) होता है। परिकर्म हो जाने पर हमारा चित्त ध्यान की ओर प्रवृत्त हो जाता है। अर्पणा के बाद उपचार, अनुलोम और गोत्रभू होता है। इसके बाद चित्त एकाग्र हो जाता है।

१. रूपावचर ध्यान

प्रथम ध्यान—चित्त जब रूप का ध्यान करता है, तब उसे रूपावचर चित्त कहा जाता है। इस अवस्था मे ध्यान के बाधक तत्त्व नीवरणों का प्रहाण हो जाता है और वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और उपेक्षा ये ध्यान के पाँचो अंग चित्त को अपने आलम्बन पर स्थिर बनाये रखते हैं। इसी को द्वितीय ध्यान कहा जाता है (विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुशलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचार विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसंपज्ज विहरति)[2]। नीवरणो और अकुशल धर्मों से दूर चित्त वितर्क के माध्यम से रूपालम्बन पर अपने को स्थिर किये रहता है। विचार से वह अनुसचरण करता है। प्रीति से तृप्ति और सुख से हर्षातिक पैदा करता है। इन सभी के माध्यम से वह अपने को चचलता से दूर किये रखता है। यही यह चित्त कायप्रश्रब्धि और चित्त प्रश्रब्धि को पूर्ण करता है तथा क्षणिक समाधि, उपचार समाधि और अर्पणा

---

१. विसुद्धिमग्ग, पृथ्वीकसिण निर्देश

२. विसुद्धिमग्ग, पृथ्वीकसिण निर्देश; वितक्क विचारं पीतिसुखेकग्गता सहितं पठमज्झानं कुशलचित्तं, अभिधम्मत्थसंगहो, पृ. १६

समाधि को प्राप्त करता है। साधक ध्यान की इस प्रथम अवस्था में पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास करता है—आवर्जन, सम, अधिष्ठान, व्युत्थान और प्रत्यवेक्षण। साधक इन पाँचो अगों से चित्त को ध्यान के पूर्वोक्त पाँचों अंगों मे निरन्तर लगाये रखने की शक्ति एकत्रित कर लेता है।

द्वितीय अध्याय—प्रथम रूपावचर ध्यान की प्राप्ति के बाद साधक स्मृति और सप्रजन्य से युक्त होकर ध्यानागो का प्रत्यवेक्षण करता है। उसे वितर्क-विचार स्थूल जान पड़ने लगते हैं और प्रीति, सुख और एकाग्रता शान्तिदायी प्रतीत होते हैं। इस अवस्था मे पृथ्वी कसिण पर अनुचिन्तन के द्वारा भवाङ्ग को काटकर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न हो जाता है। उसी पृथ्वीकसिण मे चार-पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। केवल अन्तिम जवन रूपावचार का है और शेष कामावचर के होते हैं। ध्यान की इस द्वितीय अवस्था मे वितर्क और विचारों का उपशम हो जाता है। इसी को वितर्क और विचारों के उपशम होने से आन्तरिक, प्रसाद, चित्त की एकाग्रता से युक्त समाधि से उत्पन्न प्रीति-सुख वाला द्वितीय ध्यान कहा जाता है। इसके प्रमुख तीन अंग है—प्रीति, सुख और एकाग्रता। इस ध्यान को सम्पसादन अर्थात् श्रद्धा और प्रसाद युक्त तथा एकोदिभाव कहा गया है—वितवकविचारानं वूपसमा अज्झत्तं सम्पासनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचार समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहारति।[1] वितर्क और विचार का अभाव हो जाने से उत्पन्न होने वाला सम्पसादन और एकोदिभाव इस ध्यान की विशेषता है।

तृतीय ध्यान—साधक की ध्यान अवस्था जब विशुद्धत्तर हो जाती है तो उसे द्वितीय ध्यान भी दोषग्रस्त प्रतीत होने लगता है। वितर्क विचार प्रथम दो ध्यानो मे शान्त हो जाते हैं। और प्रीति चूँकि तृष्णा सहगत होती है अत: उसे भी छोड़ दिया जाता है। प्रीति यहाँ स्थूल होती है और सुख-एकाग्रता सूक्ष्म होती है। प्रीति रूप स्थूल अंग के प्रहाण के लिए योगी पृथ्वी कसिण का पुन: पुन: चिन्तन करता है और उसी आलम्बन मे चार या पाँच जवन दौड़ाते हैं जिनके अन्त मे एक रूपावचार तृतीय ध्यान वाला और शेष कामावचर ध्यान होते है। इस ध्यान मे प्रीति तो होती नहीं, मात्र सुख और एकाग्रता शेष रह जाती है। उपेक्षा स्मृति और संप्रजन्य इसके परिष्कार है—पीतितया च विरागा उपेक्खको च विहरति, सतो च सम्पजानो सुखञ्च कायेन पटिसंवेदेति, यं तं अरिया आचक्खन्ति, उपेक्खको सतिमा सुखविहारी ति ततियं झानं उपसंपज्ज विहरति। साधक इस ध्यान की प्राप्ति

---

१. विसुद्धिमग्ग : दी, नि, १, पृ. ६५-६

के हो जाने पर उपेक्षा भाव धारण करने वाला होता है, समभावी हो जाता है। यह उपेक्षा दस प्रकार की है—षडगोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यगोपेक्षा वीर्योपेक्षा, संस्कारोपेक्षा, वेदनोपेक्षा, विपश्यनोपेक्षा, तत्रमाध्यस्थोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्ध्युपेक्षा।

क्षीणाश्रव भिक्षु अथवा साधक की वृत्ति उदासीन नहीं होती। वह स्मृति और सम्प्रजन्य युक्त होकर उपेक्षक हो जाता है। सर्व प्रथम छ इन्द्रियो के प्रिय-अप्रिय आलबनो के प्रति परिशुद्ध रूप से उपेक्षा भाव रखता है। यह षडंगोपेक्षा है। प्राणियो के प्रति मध्यस्थ भाव रखना ब्रह्मविहोपेक्षा है। अपने साथ सप्रयुक्त धर्मों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना बोध्यंगोपेक्षा है। अत्यधिक और शिथिल भाव से विरहित उपेक्षासदन वीर्य (प्रयत्न) उपेक्षा है। नीवरणो के प्रहाण हो जाने पर संस्कारो के ग्रहण करने मे उपेक्षा संस्कारोपेक्षा है। यह संस्कारोपेक्षा समाधि से उत्पन्न होने वाली आठ (चार ध्यान और चार अरूप्य) तथा विपश्यना से उत्पन्न होने वाली दस (चार मार्ग, चार फल, शून्यताविहार और अनिमित्तकविहार) प्रकार की है। दुःख और सुख की उपेक्षा वेदनोपेक्षा है। पंचस्कन्धो आदि के विषय मे उपेक्षा विपश्यनोपेक्षा है। छन्द, अधिमोक्ख आदि येवापनक धर्मों मे उपेक्षा वृत्ति तत्रमध्यस्थोपेक्षा है। तृतीय ध्यान मे अग्र सुख मे उपेक्षा भाव ध्यानोपेक्षा है। नीवरण, वितर्क आदि विरुद्ध धर्मों के उपशम के प्रति भी उपेक्षा भाव परिशुद्ध्युपेक्षा है।

इन उपेक्षा के प्रकारों में षडंगोपेक्षा ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, मध्यस्थोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुध्द्युपेक्षा अर्थत एक है, मात्र अवस्थाओं का भेद है। सस्कारोपेक्षा और विपश्यनोपेक्षा भी ऐसी ही हैं। यहाँ ध्यानोपेक्षा अधिक अभिप्रेत है।

चतुर्थ ध्यान—ध्याता की चतुर्थ अवस्था मे तृतीय ध्यान भी सदोष दिखाई देने लगता है। इसमे भी पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास किया जाता है। उस समय साधक विचारता है कि तृतीय ध्यान का सुख स्थूल है, अन्य भाग दुर्बल है और चतुर्थ ध्यान शान्तिदायी है, उपेक्षा, वेदना तथा चित्त की एकाग्रता शान्तिकर है। यह विचारकर स्थूल अंगों का प्रहाण और शान्त अंगों की प्राप्ति के लिए पृथ्वीकसिण का अनुचिन्तनकर उसे आलम्बन बनाकर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन मे चार या पाँच जवन दौड़ते हैं, जिनके अन्त मे एक रूपावचर चतुर्थध्यान का रहता है।

विसुद्धिमग्ग मे चतुर्थ ध्यान का लक्षण इस प्रकार मिलता है—सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थङ्गमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसंपज्ज विहरति। चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति

के पूर्व ही कायिक सुख–दुःख नष्ट हो जाता है, सौमनस्य-दौर्मनस्य समाप्त हो जाता है। सौमनस्य चतुर्थ ध्यान के उपचार के क्षण मे प्रहीण होता है और दुःख, दौर्मनस्य, सुख प्रथम उपचार के क्षण मे।

विविध आवर्जनो में प्रथम ध्यान के उपचार मे शान्त हुई दुखेन्द्रियो की उत्पत्ति डास मच्छड आदि के काटने से हो सकती है, पर अर्पणा से नही होती। द्वितीय ध्यान के उपचार क्षण मे यद्यपि चैतसिक दुःख का प्रहाण होता है तथापि वितर्क और विचार के कारण चित्त का उपघात हो सकता है, पर अर्पणा मे वितर्क और विचार के अभाव से इसकी कोई सम्भावना नही है। इसी प्रकार यद्यपि तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण मे कायिक सुख का निरोध होता है, तथापि सुख के प्रत्यय रूप प्रीति के रहने से कायिक सुख की उत्पत्ति सभव है। पर अर्पणा मे प्रीति के अत्यन्त निरोध से इसकी संभावना नही रह जाती। इसी तरह चतुर्थ ध्यान के उपचार क्षण मे अर्पणा प्राप्त उपेक्षा के अभाव तथा भलीभाँति चैतसिक सुख का अतिक्रम न होने से चैतसिक सुख की उत्पत्ति संभव है पर अर्पणा मे इसकी संभावना नही है।[1]

यह चतुर्थ ध्यान अदुःख और असुख रूप है। उपेक्षा भी इसे कहा जा सकता है। इसी उपेक्षा से स्मृति मे परिशुद्धि आती है। यद्यपि प्रथम तीनों ध्यानो मे भी यह उपेक्षा रहती है, पर परिशुद्ध अवस्था मे नहीं रहती।

इस प्रकार प्रथम ध्यान मे सुत्तपरम्परा की दृष्टि से वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पाँचो अंग विद्यमान रहते हैं। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार समाप्त हो जाते हैं। तृतीय ध्यान मे प्रीति नही रहती और चतुर्थ मे सुख का अभाव होकर मात्र एकाग्रता शेष रह जाती है।

ध्यान भेद की एक अन्य परम्परा—बौद्ध साहित्य मे ध्यान के भेदो को एक अन्य परम्परा भी मिलती है। अभिधर्म के अनुसार ध्यान के पाँच भेद होते हैं। उसका प्रथम भेद ध्यान के चतुष्क भेद की परम्परा से पृथक् नहीं है। चतुष्क ध्यान परम्परा का द्वितीय ध्यान पञ्चक ध्यान परम्परा में द्वितीय और तृतीय भेद में विभक्त हो जाता है। इस तरह चतुष्क ध्यान का तृतीय और चतुर्थ ध्यान पञ्चक ध्यान का चतुर्थ और पञ्चम ध्यान है।

२. अरूप ध्यान

रूपावचार ध्यान की चतुर्थ अथवा पञ्चम ध्यान की अवस्था के बाद यद्यपि निर्वाण का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है, फिर भी साधक निर्वाण और

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृ. ७४; विसुद्धिमग्ग (हिन्दी), भाग १, पृ. १४६

निराकार आलम्बन पर ध्यान करता है यही अरूपावचर ध्यान है। इसकी चार अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था मे साधक अनन्त आकाश पर विचार करता है। द्वितीय अवस्था मे अनन्त आकाश को स्थूल प्रतीत होने लगता है और विज्ञान सूक्ष्म लगने लगता है। अरूप ध्यान की विज्ञानायतन रूप यह द्वितीय अवस्था है। तृतीय अवस्था मे आकिञ्चन्यायतन और चतुर्थ अवस्था में नेवसञ्ञानासञ्ञायतन पर ध्यान किया जाता है। साधक यहाँ क्रमश पूर्वंतर आलंबन को स्थूल और पश्चात्तर आलंबन को सूक्ष्म मानता चला जाता है।

३. लोकोत्तर ध्यान

उपर्युक्त रीति से रूपध्यान और अरूपध्यान के माध्यम से साधक परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है। इसके निर्वाण रूप फल को लोकोत्तर ध्यान से उपलब्ध किया जाता है। इसी सन्दर्भ मे लोकोत्तर भूमि अथवा अपरियापन्न का कथन किया गया है।

रूपावचर और अरूपावचर ध्यान मे संयोजन के बीजों का सद्भाव संभावित रहता है जो लोकोत्तर ध्यान मे उसका प्रहाण कर दिया जाता है। सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा शीलव्रतपरामर्श, कामच्छन्द, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या ये दस संयोजन है। यद्यपि उनका प्रहाण नीवरण के रूप में हो जाता है फिर भी जो बीज शेष रह जाते हैं उनका विनाश लोकोत्तर ध्यान से हो जाता है। लोकोत्तर ध्यान मे ही क्रमशः स्रोतापत्ति सकदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त होती है। लोकोत्तर भूमि मे चित्त की आठ अवस्थाओं मे प्रत्येक अवस्था मे पाँच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास साधक करता है। इस प्रकार लोकोत्तर चित्त के चालीस भेद हो जाते हैं। लोकोत्तर ध्यान ही परिशुद्ध ध्यान कहा जाता है।

जैन एवं बौद्धमतों के ध्यान-स्वरूप की तुलना—बौद्धधर्म में वर्णित उक्त ध्यान के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में ध्यान को मात्र निर्वाण साधक माना है। जैनधर्म में भी यद्यपि ध्यान के चार भेद किये गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान, पर ये संसार और निर्वाण दोनो के साधक हैं। प्रथम दो ध्यान, संसार के परिवर्धक है और अन्तिम दो ध्यान निर्वाण के साधक हैं। धर्मध्यान शुभध्यान है और शुक्ल ध्यान शुद्ध ध्यान हैं।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं—पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति। प्रथमकत्ववितर्क ध्यान मन, वचन और

काय, इन तीन योगो के धारी आठवें गुणस्थान से ग्यारहवे गुणस्थान तक के जीवो के होता है। द्वितीय एकत्व वितर्कध्यान तीनो मे से किसी एक योग के धारी बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के होता है। तृतीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान मात्र काय योग के धारण करने वाले तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग मे होता है। और चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योग रहित (अयोगी) जीवो के चौदहवें गुणस्थान मे होता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामि ने वितर्क को श्रुतज्ञान कहा है[1] और अर्थ व्यञ्जन और योग का बदलना विचार बताया है।[2] प्रथम पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान वितर्क-विचार युक्त होता है और द्वितीय एकत्ववितर्क विचार रहित और वितर्क सहित मणि की तरह अचल है। प्रथम भेद शुक्लध्यान प्रतिपाति और अप्रतिपाति, दोनो होता है। बौद्धधर्म मे वितर्क की अपेक्षा विचार का विषय सूक्ष्म माना गया है। उसकी वृत्ति भी शान्त मानी गई है। प्रथम शुक्लध्यान मे वितर्क और विचार दोनो का ध्यान किया गया है। द्वितीय शुक्लध्यान मे विचार नही है। बौद्धधर्म मे सभी ध्यान प्रतिपाति कहे गये है। जबकि जैनधर्म मे प्रथमध्यान ही प्रतिपाति और अप्रतिपाति, दोनो है।

इस प्रकार श्रमण सस्कृति की जैन एव बौद्धधर्म इन दोनो शाखाओ मे ध्यान को साधना के क्षेत्र मे पर्याप्त महत्व दिया गया है। जैनधर्म मे ध्यान को संसार तथा निर्वाण, इन दोनो के क्षेत्र मे नियोजित किया गया है पर बौद्धधर्म मे उसे निर्वाण प्राप्ति तक ही सीमित रखा है। इसके बावजूद दोनो साधनाओ मे ध्यान की परिपूर्ण उपयोगिता और उसका विश्लेषण किया गया है।

(ज) अशुभ कर्मस्थान

ससारी जीव संसार से जन्म-मरण के चक्र मे घूमता रहता है। राग, द्वेष, मोह आदि दोषो के वश से उसका चित्त और कलुषित होता रहता है। चित्त की उस कलुषता को दूर करने के लिए अशुभ वस्तुओ पर तात्त्विक ध्यान किया जाता है। विनय पिटक के अनुसार अशुभ कर्मस्थानो की भावना पर प्रारम्भ से ही ध्यान किया गया है। धम्मसगणि मे इसके १० भेद बताये गये हैं—उद्धमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्दक, विक्खित्तक, हतविक्खित्तक, लोहितक, पुलवक, एवं अट्ठिक। ये मृत एव जीवित शरीर की स्थिति के विषय मे विविध रूप से चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ—यह काय दुर्गन्धित है, अपवित्र है,

---

१. वितर्क. श्रुतम्, तत्वार्थसूत्र, ९-४३

२. वीचारोऽर्थव्यजनयोगसंक्रान्तिः, वही, ९-४४

मलगृह के समान है, प्रज्ञावानों से निन्दित है, आर्द्र चर्माच्छादित है, नवद्वारों से महाव्रण वाला यह काय चारों ओर से दुर्गन्ध प्रवाहित करता है—

दुग्गन्धो, असुचि कायो कुणयो उक्करूपमो ।
निन्दितो चक्खूभूतेहि कायो बालाभिनन्दितो ॥
अल्लचम्मपटिच्छन्नो नवद्वारो महावणो ।
समन्ततो पग्घरति असुचि पूति गन्धियो ॥[1]

(५) अनुस्मृति भावना

साधक अशुभ कर्मस्थानों की अनुस्मृति के पश्चात् पूर्व निर्दिष्ट बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता, मरण, कायगता, आनापान एवं उपशम के विषय में बार-बार चिन्तन करता है। यही अनुस्मृति है। जैनधर्म में इसे **अनुप्रेक्षा** शब्द दिया गया है।

बुद्धानुस्मृति—में अर्हत्, सुगत, लोकचित्, अनुत्तर, पुरुषदम्यसारथी, शास्ता, बुद्ध, भगवान्, सम्मासम्बुद्ध, विज्जाचरण सम्पन्न, सुगत, तथागत, आदि शब्दों पर विशेष चिन्तन किया जाता है। विसुद्धिमग्ग (परिच्छेद ६) में इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं। इसी प्रसंग में लोक की जो परिकल्पना बौद्ध दृष्टि से की गई है वह जैन गणना से मिलती-जुलती है। योजन आदि शब्दों का भी यहाँ उपयोग मिलता है।

भगवान् का धर्म स्वाख्यात (आरम्भ, मध्य एवं अन्त में कल्याण कारक) है, सान्दृष्टिक (तत्कालफलदायक) है, समयानन्तर में नहीं, यहीं दिखाई देनेवाला है, निर्वाण तक पहुँचाने वाला है, और विज्ञों द्वारा स्वतः जानने योग्य है—स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको एहिपस्सिको ओपनेय्यको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही ति। इसी प्रकार अन्य स्मृतियों के विषय में भी साधक चिन्तन करता है।

इसके बाद योगी मरण पर अनुचिन्तन करता है। जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद मरण है। भवचक्र का निरोध समुच्छेद मरण है। संस्कारों का क्षणभंगुर हो जाना क्षणिकमरण है। वृक्ष मर गया आदि में संवृतिमरण है। पुण्य अथवा आयु का क्षय होना कालमरण है तथा चित्तप्रवाह अथवा कर्मच्छेदजन्य मरण अकालमरण है। मृतक व्यक्ति को देखकर योगी स्मृति, संवेग, और ज्ञानपूर्वक 'मरण होगा' यह विशेष विचार करता है। ऐसा करने से उसके नीवरण दब

---

१. विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद ६

आते हैं और मरणालम्बन की स्मृति उत्पन्न हो जाती है। जिस योगी को इतना विचार पर्याप्त नही होता वह वधक, संपत्ति, उपसंहरण, शरीर, आयु, अनिमित्त, कालपरिच्छेद एवं क्षणस्वल्पता के आधार पर मरण का अनुस्मरण करता है। सात प्रकार से उपसंहरण (दूसरे के साथ अपने चरण को देखता) करते हुए मरण का अनुस्मरण होता है—यश, पुण्य, स्थान, ऋद्धि, प्रज्ञा, प्रत्येकबुद्ध एवं सम्यक् सम्बुद्ध। अनिमित्त के अन्तर्गत जीवन, व्याधि, काल, शरीरत्याग, और गति आते हैं।

तदनन्तर योगी कायगता स्मृति करता है। वह केश, लोम, नख, दाँत, त्वक्, माँस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आत, उदरस्थ वस्तुएं, मल-मूत्र, मस्तिष्क, पित्त, कफ, पीव, लोहू, स्वेद, मेद, आँसू, वसा, थूक, लासिका, आदि पर विचार करता है।

आनापानस्मृति मे अरण्य मे वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाकर श्वासोच्छवास लेना और ध्यान करना वर्णित है। इसमे योगी चित्त को स्मृति रूप आलम्बन बाँधकर उसे रूपालम्बन से हटाकर काय संस्कार को शान्त करता है। उग्गह, परिपुच्छा, उपट्ठान, अप्पना और लक्खणा रूप पाँच कर्मस्थानो को सीखता है। त्रिरत्न का गुणानुस्मरण कर आनापानस्मृति कर्मस्थान का मनसिकार करता है तथा गणना, अनुबन्धना, स्पर्श, स्थापन, संलक्षण, विवर्तन, पारिशुद्धि और उनका प्रत्यवेक्षण करता है।

आनापानस्मृति के पश्चात् साधक समस्त दुखो के उपशमस्वरूप निर्वाण के गुणो का अनुस्मरण करता है। संस्कृत अथवा असस्कृत धर्मों के प्रति विराग (निर्वाण) मद को विनष्ट करने वाला होता है, तृष्णा को बुझाने वाला और राग एवं संचारचक्र का उपच्छेद करने वाला होता है। उपशमानुस्मृति मे भिक्षु सुख पूर्वक विहार करता है तथा शान्त इन्द्रिय और शान्त मन वाला होता है।

(ज) ब्रह्मविहार निर्देश

अनुस्मृति के उपरान्त विघ्न दूरकर, कर्मस्थान ग्रहणकर, भोजनकर, आसन पर बैठकर प्रारम्भ मे हर्ष मे अवगुणो ओर शान्ति में गुणों का प्रत्यवेक्षण करे एवं ब्रह्मविहार की भावना करे। ब्रह्मविहार चार है—मैत्री, करूणा, मुदिता और उपेक्षा। सारे सत्व सुखी, कल्याणप्राप्त हो, एवं सुखी चित्तवाले हों—"सुखिनो वा खेमिनो होन्तु, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता, यह मेत्ता की मूल भावना है। जैनधर्म में भी "सब्बे भवन्तु सुखिन: सब्बे सन्तु निरामय" कहा गया

है। क्षमा (खन्तिबल) इसका आधार है। 'खम्मामि सब्बजीवाण सब्बे जीवा खमन्तु मे' जैन संस्कृति का भी अभिवचन है। क्रोध से मुक्त होने के लिए जीव यह विचार करे कि वह कर्मस्वक है, कर्मदायाद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु, और कर्मप्रतिक्षण है। शान्त व्यक्ति एकाग्रता जल्दी प्राप्त करता है। मैत्री के गुणो का स्मरण करते हुए धातु का विभाजन कर उसे दान का संविभाग करना चाहिए।

करुणा की भावना की इच्छावाले को करुणा रहित होने के दोष और करुणा के आनृशस का प्रत्यवेक्षण करके करुणा भावना का आरम्भ करना चाहिए। विसुद्धिमग्ग मे करूणा के पात्र क्रमश. ये हैं—सुखी, प्रिय, मध्यस्थ, और शत्रु। अंगुत्तर अट्ठकथा मे यह क्रम दूसरा है—वैरी, निर्धन, प्रिय और स्वयं। इसी प्रकार मुदिता और उपेक्षा भावनाओ की प्राप्ति भी साधक करे।

(ट) आरूप निर्देश

ब्रह्मबिहारो के बाद चार आरूप्यो मे प्रथम आकाशानन्त्यायतन की भावना करे। रूप (दण्ड, अस्त्र आदि) दोष कारक है, अत साधक उनके प्रति निर्वेदी होकर उनके समतिक्रमण के लिए परिच्छिन्न आकाश-कसिण को छोडकर नव पृथ्वी-कसिण आदि मे से किसी एक मे चतुर्थ ध्यान को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार विज्ञानन्त्यायन मे विज्ञान की अनत्ता पर, आकिञ्चन्यायतन मे वस्तु की अनित्यता एव शून्यता पर, नैवसज्ञानासज्ञायतन मे सज्ञा-असंज्ञा के दोषो पर बह योगी विचार करता है।

(ठ) समाधि निर्देश

आहार में प्रतिकूल-संज्ञा—समाधिस्थ व्यक्त के लिए यह आवश्यक है कि वह लालच आदि दोषकारक दुर्गुणों से दूर रहे। आहार इन दुर्गुणो का उत्पादक है अत: योगी को इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। आहार का अर्थ है आहरण करनेवाला। वह आहार चार प्रकार का है—कवलीकाराहार, (ग्रास करके खाने योग्य आहार), स्पर्शाहार, मनोसञ्चेतनाहार, और विज्ञानाहार। इनमे मुख्य है कवलीकाराहार जिसमें निम्न दस प्रकार से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए—गमन, पर्येषण, परिभोग, आशय, निधान, अपरिपक्व, परिपक्व, फल, निष्यन्द और संम्रक्षण।

योगी कर्मस्थान का ग्रहणकर, अरण्य-वन को छोडकर कर्मस्थान को ग्रहणकर आहार के लिए गाँव मे प्रवेश करे। कपाल को हाथ से लिये घर की परिपाटी से गाँव की गलियों मे भ्रमण करे। आहार का पर्येषण कर गाँव के बाहर उचित स्थान पर बैठकर उसे ग्रहण करे। इन सभी के प्रतिकूल होने का

प्रत्यवेक्षण करे। अन्न, पेय, खादनीय, भोजन एक द्वार से प्रवेश कर नव द्वारो से निकलता है।[1] "आहार मे प्रतिकूल सज्ञा" मे संलग्न भिक्षु का चित्त रस-तृष्णा से विमुक्त हो जाता है। उसके पाँच काम-गुण सम्बन्धी राग दूर हो जाता है। फलत. योगी भिक्षु रूपस्कन्ध का परिज्ञानकर कायगता स्मृति की भावना मे परिपक्वता प्राप्त करता है। इसके बाद वह चातुर्धातु के स्वभाव पर विचार करता है। इस विचार से उसे शून्यता का ज्ञान हो जाता है। सत्त्व की अस्तित्वहीनता का भान होने से भय, अरति, रति, खेद, इष्ट, अनिष्ट, हर्ष आदि को सहने की शक्ति उसमे बढ जाती है। सुगति प्राप्ति का यही मार्ग है। इस प्रकार समाधि की भावना भाने से उपचार और अर्पणा, दोनों समाधियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

(ड) विपस्सना भावना

बौद्ध साधना मे समाधि भावना (चित्त की एकाग्रता) और विपस्सना भावना (अन्तर्ज्ञान) का विशेष महत्त्व है। विपस्सना का तात्पर्य है वह विशिष्ट ज्ञान और दर्शन जिनके द्वारा धर्मो की अनित्यता, दु.खता और अनात्मता प्रगट होती है—अनिच्चादिवसेन विविधाकारेन पस्सतीति विपस्सना (अभिधम्मत्थसगह टीका)। विपस्सना सङ्खारपरिग्गाहकत्राण (अगुत्तरनिकायट्ठकथा, वालवग्ग, सुत्त ३)। विसुद्धिमग्ग मे भी कहा है—सङ्खारे अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो विपस्सति।

मुक्ति प्राप्ति के दो यान हैं—शमथयान और विपस्सनायान। इनका सम्बन्ध दो प्रकार के व्यक्तियो से है—तण्हाचरित और दिट्ठिचरित। तण्हाचरित वाले शमथपूर्वक विपस्सना के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते हैं और दिट्ठिचरितवाले विपस्सना पूर्वक शमथ के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते हैं। यहाँ श्रद्धा और प्रज्ञा तत्त्व का महत्त्व है। श्रद्धा तत्त्व के माध्यम से समाधि की प्राप्ति होती है। ऐसा साधक कर्मस्थान का अभ्यास करते हुए, ऋद्धियों की प्राप्ति पूर्वक विपस्सना मार्ग की उपलब्धि करता है और प्रज्ञा प्राप्ति कर अर्हत् बनता है। प्रज्ञाप्रधान साधक विपस्सना मार्ग का अभ्यास करता है और अन्त मे प्रज्ञा-प्राप्त कर अर्हत् प्राप्ति करता है। इससे स्पष्ट है कि विपस्सना का सीधा सम्बन्ध अर्हत्प्राप्ति एवं निर्वाणप्राप्ति से है। समाधि का उनसे सीधा सम्बन्ध नही। शमथ

---

१ अन्नं पानं खादनीयं भोजनञ्च महारहं।
एकद्वारेन पविसत्वा नवहि द्वारेहि सन्दति ॥ विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद ११.

का मार्ग (समथो हि चित्तेकग्गता) लौकिक समाधि का मार्ग है और विपस्सना को लोकोत्तर समाधि कहते हैं।

पंच नीवरण रूप विघ्ननिवृत्ति से लौकिक समाधि मे, प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है। प्रथम ध्यान मे पचाङ्गो का प्रादुर्भाव होता है तथा द्वितीय-तृतीय ध्यान मे उनका अतिक्रमण हो जाता है। फलत: ध्यान के पाँच अग वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता की प्राप्ति होती है। वितर्क आलम्बन मे चित्त का आरोप करता है वहाँ चित्त का परिस्पन्दन होता है। विचार सूक्ष्म होते हैं। वहाँ चित्त की वृत्ति प्रशान्त होती है।[1] तदनन्तर प्रीति उत्पन्न होती है। उससे शरीर रोमाञ्चित् हो जाता है और उसमे आकाश-लङ्घन का सामर्थ्य आ जाता है। प्रीति के परिपाक से काय-प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि होती है। प्रश्रब्धि (शान्ति) के परिपाक से काय और चित्त-सुख होता है। सुख के परिपाक से क्षणिक, उपचार और अर्पणा इस त्रिविध समाधि की प्राप्ति होती है। पंचाङ्गो का अतिक्रमण होते-होते अन्तिम ध्यान मे समाधि उपेक्षा सहित होती है। लौकिक समाधि के द्वारा ऋद्धिबल भी प्राप्ति होता है, परन्तु निर्वाण-प्राप्ति के लिए विपस्सना के मार्ग का अनुसरण करना अत्यावश्यक है। निर्वाण का इच्छुक साधक शमथ भावना के उपरान्त विपस्सना की वृद्धि करता है और तभी अर्हत्पद मे प्रतिष्ठा होती है, अन्यथा नही।

समाधि मे अर्पणा समाधि उपचार समाधि पूर्वक होती है। उपचार समाधि मे वितर्कादि पाँच अंगों का प्रादुर्भाव नही होता, परन्तु अर्पणा मे उनकी उत्पत्ति होकर उनमे सुदृढता आ जाती है। उपचार मे चित्त कभी निमित्त का आलम्बन बनाता है तो कभी भवाङ्ग मे अवतीर्ण हो जाता है, परन्तु अर्पणा मे चित्त पूर्णत. स्थिर हो जाता है। चालीस कर्मस्थानों मे से बुद्ध-धर्म-संघ-शील-त्याग-देवता ये छह स्मृतियाँ, मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार में प्रतिकूलसंज्ञा और चतुर्धातुव्यवस्थान ये दस कर्मस्थान उपचार समाधि का और शेष तीस कर्मस्थान अर्पणा समाधि का आनयन करते हैं। तीस कर्मस्थानों मे से दस कसिण और आनापानस्मृति चार ध्यानो के आलम्बन होते हैं, दस अशुभ और कायगतास्मृति प्रथम ध्यान के आलम्बन हैं, प्रथम तीन ब्रह्मविहार तीन ध्यानों के और चतुर्थ ब्रह्मविहार तथा चार आरूप्य चार ध्यानों के आलम्बन हैं। प्रथम ध्यान के पाँच अंग हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि (एकाग्रता)। इसे सवितर्क-सविचार कहते हैं। ध्यान की परिगणना दो प्रकार से होती है—चार ध्यान या पाँच ध्यान। पाँच की परिगणना के द्वितीय

---

१. वितर्कविचारावौदार्य सूक्ष्मते, अभिधर्मकोश, २—३३।

ध्यान को अवितर्क-विचार मात्र कहते हैं। चार की परिगणना के द्वितीय ध्यान मे और पाँच की परिगणना मे तृतीय ध्यान में वितर्क और विचार दोनों का अतिक्रम होता है। पाँच की परिगणना के चतुर्थ ध्यान मे और चार की परिगणना के तृतीय ध्यान मे प्रीति का अतिक्रम होता है, केवल सुख और समाधि अवशिष्ट रह जाती है। दोनो प्रकार के अन्तिम ध्यान मे सुख का अतिक्रम होता है। अन्तिम ध्यान की समाधि उपेक्षा-सहगत होती है।[1]

विसुद्धिमग्ग मे प्रज्ञा को विपस्सना के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। वहाँ कुशलचित्त से युक्त विपश्यना–ज्ञान को **प्रज्ञा** कहा है। आलम्बन को जानना मात्र संज्ञा है। उसके लक्षण को जानना विज्ञान है तथा मार्ग का ज्ञान होना प्रज्ञा है। प्रज्ञा चरम उपलब्धि है। इसके स्वरूप को हेरञ्ञिक (सराफ) के उदाहरण से समझाया गया है। एक अबोध बालक कार्षापण के चित्र-विचित्र रूप को ही जानता है, पर ग्रामीण उसे उपभोग-परिभोग के साधन के रूप मे भी समझता है। इन दोनो से भी अधिक ज्ञान हेरञ्ञिक को है जिसे कार्षापण के उक्त दोनो रूपों के साथ ही उसके चोखे, खोटे होने का भी सम्यग्ज्ञान है। प्रज्ञा की भी यही स्थिति है। वह आलम्बन के आकार और लक्षण का ज्ञाता होने के साथ ही मार्ग का भी ज्ञाता होता है। इसीलिए प्रज्ञा का प्रयोग प्रजानन के अर्थ मे हुआ है।

प्रज्ञा के भेद अनेक प्रकार से किये गये है। प्रज्ञा स्वत. एक प्रकार की है। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार की है। चिन्ता, श्रुत और भावना के भेद से उसके तीन प्रकार हैं तथा चार आर्यसत्यो के ज्ञान और चार प्रतिसम्भिदा से वह चार प्रकार की है। स्कन्ध, धातु, आयतन, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के समुचित्त ज्ञान से प्रज्ञा का विकास होता है। प्रज्ञा के इस विकसित रूप से आश्रवो का क्षय होता है।

विपस्सना प्राप्ति के लिए तथा कर्मस्थान के अभ्यास के लिए यह आवश्यक है कि साधक पदार्थ के स्वरूप को भलीभाँति समझे। बौद्धधर्म की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अनित्य, दुःख और अनात्मक है—यदनिच्च तं दुक्ख, यं दुक्खं तदनत्ता, यदनत्ता, तन्न मम यथा भूतं।

१. अनित्य का लक्षण—पदार्थ अनित्य है। पञ्चस्कन्ध भी अनित्य है। पञ्चस्कन्ध रूप पदार्थ मे उत्पाद, व्यय, और परिवर्तन दिखाई देते हैं। उसे सत्त, पुग्गल अथवा जीव कहा जा सकता है।

---

१. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ. ४१–५५, देखिये पीछे "बौद्धधर्म मे ध्यान का स्वरूप" प्रकरण।

२ अनित्य का लक्षण—उपादान स्कन्ध दु ख रूप माने गये हैं। रूप वेदना, सज्ञा सस्कार एव विज्ञान ये पाञ्चस्कन्ध हैं। रूप निष्पन्न और अनिष्पन्न दो प्रकार का है। निष्पन्न रूप अठारह हैं—चार भूत रूप (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु), पाँच प्रसाद रूप (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय), चार विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस), दो भाव (स्त्रीत्व और पुरूषत्व), एक हृदय, एक जीवितेन्द्रिय और एक कवलिङ्ककाराहार, और अनिष्पन्न रूप दस हैं—एक परिच्छेद (आकाशधातु), दो विज्ञप्ति रूप (काय और वची विज्ञप्ति), तीन विकार रूप (लघुता, मृदुता, कर्मण्यता), चार लक्षण रूप (उपचय, सन्तति, जरता, अनित्यता)।

विज्ञान जानने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। विज्ञान, चित्त मन ये इसके समानार्थक शब्द है। कुशल, अकुशल और अव्याकृत ये वेदना के तीन भेद है। कुशलभूमि के चार भेद हैं—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर। अकुशल तीन प्रकार का है—लोभ, द्वेष और-मूल। अव्याकृत के दो भेद हैं—विपाक और क्रिया। कुल मिलाकर २१ कुशल, १२ अकुशल, ३६ विपाक, और २० क्रिया—सभी नवासी विज्ञान होते हैं। ये प्रतिसन्धि, भवाङ्ग, आवर्जन आदि चौदह प्रकार स प्रवर्तित होते हैं।

वेदना अनुभवात्मक होती है। उसके सुख, दु ख, सौमनस्य, दौर्मनस्य और उपेक्षा ये पाँच भेद हैं। संज्ञा पहचानने रूप होती है। वह कुशल, अकुशल और अव्याकृत के भेद से तीन प्रकार की है। संस्कार राशि रूप है। उसके ३६ प्रकार हैं—स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, प्रीति, वीर्य, जीवित, समाधि, श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अमोह कार्यप्रश्रब्धि, चित्तप्रश्रब्धि, कायलघुता, चित्तलघुता, कायमृदुता, कायकर्मण्यता, चित्तकर्मण्यता, कायप्रागुण्यता, चित्तप्रागुण्यता, एवं कायऋजुता, ये २७ संस्कार स्वरूपत: आये हुए, छन्द, अधिमोक्ष, नमस्कार, तत्रमध्यस्थता ये चार सस्कार येवापनक, करुणा, मृदुता, काय-वाक्-मिथ्या-आजीव से विरति, ये ५ अनियत संस्कार संस्कार को अभिधम्म मे संचेतना तथा चेतना कहा गया है।

३. अनत्त का लक्षण—आत्मा (अनत्त) नाम का कोई पदार्थ नही। उसकी प्रतीति भ्रम मात्र है। अधिानप्पदीपिका मे अन्त शब्द के चार अर्थ दिये हैं—चित्त, काय, स्वभाव, और परमत्त चित्ते काये स्वभावे च सो अत्ता परमत्तनि। सम्भव है, यहाँ अनत्त शब्द का अर्थ मेरा नही अथवा क्षणभगुर रहा हो।

विपस्सना की प्राप्ति के लिए साधक को आयतन, धातु तथा इन्द्रियो का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए। आयतन १२ हैं—चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय, स्पर्श, मन और धर्म। धातु १८ हैं—चक्षु,

रूप, चक्षु विज्ञान, श्रोत्र, शब्द, श्रोतविज्ञान, घ्राण, गन्ध, घ्राणविज्ञान, जिह्वा, रस, जिह्वाविज्ञान, काय, स्पर्श, कायविज्ञान, मन, धर्म, और मनोविज्ञान। इन्द्रियाँ २२ हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा काय, मन, स्त्री, पुरुष, जीवित, सुख, दु:ख सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा अनज्ञात, आज्ञा और आज्ञात।

योगी को चार शब्दो का ज्ञान भी अपेक्षित है। चतुरार्यसत्य बौद्धधर्म की आधारशिला है। दु ख, दुखसमुदय, दु:खनिरोध और दु:खनिरोधगामिनीप्रतिपदा ये चार आर्यसत्य हैं। जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु:ख, दौर्मनस्य, उपायास, अप्रिय का सम्प्रयोग, प्रिय का वियोग इत्यादि दु:ख है। तृष्णा, अविद्या आदि के कारण दु ख की उत्पत्ति होती है। दु ख की उत्पत्ति के कारणो का निरोध होने से दु.खनिरोध होता है। इस दु खनिरोध का उपाय हैं सम्यक् दृष्टि-सकल्प-वचन-कर्मान्त-आजीव-व्यायाम-स्मृति-समाधि रूप आष्टाङ्गिक मार्ग का पालन।

इसी सन्दर्भ मे प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान भी आवश्यक है। इसका समावेश चतुरार्यसत्य मे हो जाता है। परन्तु इसका विशेष महत्त्व होने के कारण पृथक् वर्णन ही प्राय. किया गया है। प्रतीत्यसमुदाय का तात्पर्य है कारण पूवक उत्पत्ति होना और निरोध होना। अविद्या के प्रत्यय से सस्कार, संस्कारो के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से षडायतन, षडायतनो के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (जन्म), जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु ख, दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं। यह दु:खसमुदय का अनुलोमात्मक ज्ञान है। इसी प्रकार दु:ख निरोध का भी ज्ञान होना चाहिए। प्रत्ययों की संख्या २४ बतायी गई है—हेतु, आलम्बन, अधिपति, अनन्तर, समानन्तर, सहजात, अन्योन्य, निश्रय, उपनिश्रय, पुरेजात, पश्चात्जात, आसेवन, कर्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मार्ग, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त, अस्ति, नास्ति, विगत और अविगत। प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धधर्म का कर्म सिद्धान्त है। उसका सम्यग्ज्ञान होने पर निर्वाण सद्य:प्राप्त हो जाता है।

(ढ) विपस्सना और सत्तविसुद्धि

विसुद्धिमग्ग के अनुसार चित्त और ज्ञान की परम विशुद्धि निर्वाण-प्राप्ति का मूल कारण है। रथविनीतसुत्त (मज्झिम निकाय) मे निम्न सात प्रकार की परिशुद्धियाँ निर्दिष्ट हैं जिनके पालने से 'अनुपादा परिनिर्वाण' की प्राप्ति होती है—सीलविसुद्धि, चित्तविसुद्धि, दिट्ठिविसुद्धि, कंखावितरणविसुद्धि,

मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि, पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धि, और ञाणदस्सनविसुद्धि। विपस्सना की प्राप्ति के लिए काय, मन और विचारो की पवित्रता अपेक्षित है। यह पवित्रता उक्त विशुद्धियो के पालने से सहजता पूर्वक उपलब्ध हो जाती है।

१ शीलविशुद्धि—पातिमोक्ख, आहार आदि की विशुद्धि।

२. चित्तविशुद्धि—चार रूप और चार अरूप ध्यानो की प्राप्ति से उत्पन्न विशुद्धि।

३. दृष्टिविशुद्धि—नाम-रूप के यथार्थ स्वभाव को देखना। शमथ या विपश्यना मार्गी को नैवसंज्ञायतन छोडकर शेष रूपावचर, अरूपावचर ध्यानों मे से किसी एक से उठकर वितर्क आदि ध्यान के अङ्ग और उनसे सम्प्रयुक्त धर्मों को लक्षण कृत्य आदि से भली प्रकार जानना चाहिए। यह सत्त्व नही, नामरूप मात्र है। सत्त्व की कल्पना मात्र व्यवहार के लिए होती है—

यथापि अंग सम्भारा होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति॥

४. कांखावितरणविशुद्धि—सन्देह दूर करना। साधक नाम-रूप के हेतु-प्रत्यय पर विचार कर हर सन्देह दूर करने का प्रयत्न करता है। रूप-काय हेतु-प्रत्यय पर चिन्तन करता है। शरीर की अशुचिता पर विचार कर कर्मों के स्वरूप का परिभावन करता है। कर्म चार प्रकार के हैं—दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदनीय, अपदापर्यवेदनीय और अहोसि कर्म। एक अन्य प्रकार से भी विभाजन मिलता हैं—यद्‌गरुक, यद्‌बहुल, यदासन्न और कृतत्वतात् कर्म। जनक, उपस्तम्भक, उपपीडक और उपघातक, कर्म के ये चार भेद भी वर्णित हैं। बौद्धधर्म के अनुसार मृत्यु के अन्तिम क्षण मे जैसा कर्म-भाव रहेगा उसी के अनुसार आगामी जन्म मे फल मिलेगा।[1] जैनसिद्धान्त मे भी ऐसा ही कहा गया है। बौद्धधर्म मे कहा है—कर्म का कर्ता नही है और न विपाक को भोगने वाला है। शुद्धधर्म मात्र प्रवर्तित होते हैं। इस प्रकार जानना सम्यग्दर्शन (सम्मा दस्सन) है।[1] जैनधर्म मे भी लगभग यही कहा है कि सप्ततत्त्वों को भलीभाँति पहचानना सम्यग्दर्शन है—तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। कांक्षावितरणविशुद्धिवान् व्यक्ति को अतीत, वर्तमान, भविष्यत् के धर्म, च्युति और प्रतिसन्धि के अनुसार विदित होते हैं। वह उसकी ज्ञानवती-प्रज्ञा होती है। सभी विचिकित्सायें और मिथ्यादृष्टियां दूर हो जाती हैं। इसी को धर्मस्थितिज्ञान, यथाभूतज्ञान अथवा सम्यग्दर्शन कहते हैं।

---

१. विसुद्धिमग्ग-परिच्छेद, १९

५ मार्गामार्गज्ञान—दर्शनविशुद्धिमार्ग और अमार्ग को जानकर प्राप्त हुआ ज्ञान मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि है। तीन लौकिक परिज्ञायें हैं—ज्ञातपरिज्ञा, तीरणपरिज्ञा और प्रहाणपरिज्ञा। पञ्चस्कन्धो मे अनित्य, दु:ख, और अनात्म का विचार करने से योगी आनुलोमिक क्षान्ति को प्राप्त करता है। अनित्य, प्रलोक, चंचल, प्रभङ्गुर, अध्रुव, विपरिणाम-स्वभाव, असार, विभव, संस्कृत और मरण-स्वभाव के तौर पर एक-एक स्कन्ध मे दस-दस करके पचास अनित्यानुपश्यनायें होती हैं। परवश, रिक्त, तुच्छ, शून्य और अनात्म के तौर पर एक-एक स्कन्ध मे पच्चीस-पच्चीस आत्मानुपश्यनाये होती है। शेष दु:खादि के आधार पर एक सौ पच्चीस दु:खानुपश्यनाये होती है। रूप-अरूप का सम्मसन करनेवाले योगी को रूप, चित्त, कर्म, आहार, ऋतु, आदि से उत्पन्न स्थिति पर त्रिलक्षण (अनित्य, दु:ख और अनात्म) का आरोपण करके प्रज्ञा-भावना का सम्पादन करना चाहिए।

रूपसप्तक और अरूपसप्तक के अनुसार संस्कारो पर त्रिलक्षण का आरोपण करके विपश्यना की जाती है। यह रूपसप्तक मे विपश्यना आदाननिक्षेपण, वयवृद्ध अस्तगमन, आहारमय, ऋतुमय, कर्मज, चित्तज, और धर्मता इन सात आकारो से करणीय होती है। और अरूपसप्तक मे कलाप, यमक, क्षणिक, दृष्टि उद्घाटन, मान समुद्घाटन और निकन्ति परियादान से करणीय होती है।

इस प्रकार अभ्यस्त कर्मस्थान वाला योगी अठारह महाविपश्यनाओ को प्राप्त करता हुआ विरोधी धर्मों का परित्याग करता है। अनित्य, दु:ख, अनात्म, निर्वेद, विराग, निरोध, प्रीतिनि:सर्ग, क्षय, व्यय, विपरिणाम, अनिमित्त, अप्रणिहित, शून्यता, अधिप्रज्ञा, यथाभूतज्ञानदर्शन, आदीनव, प्रतिसंख्या, और विवर्त की अनुपश्यना, ये अठारह महाविपश्यना है। इन महाविपश्यनाओ मे अनित्यानुपश्यना आदि के विरोधी नित्य संज्ञा आदि के प्रहाण से शुद्ध ज्ञान वाला योगी उदय-व्यय का अनुपश्यनात्मक ज्ञान प्राप्त करता है।

अनुपश्यनात्मक ज्ञान-प्राप्ति के बाद विपश्यक योगी को विपश्यना के दस उपक्लेश उत्पन्न होते हैं—अवभास, ज्ञान, प्रीति, प्रश्रब्धि, सुख, अधिमोक्ष, प्रग्रह, उपस्थान, उपेक्षा, और निकन्ति। इन दस उपक्लेशो से परिचित होकर योगी धर्म के औद्धत्य मे कुशल होता है और विक्षिप्त नही होता। उस स्थिति मे वह उपक्लेश की जटा को काटकर अवभास आदि धर्म मार्ग नही, किन्तु उपक्लेश

---

१. कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति, एवेतं सम्मदस्सन ॥ विसुद्धिमग्ग, वही,

२. तत्त्वार्थ सूत्र, १—१

से रहित वीथि मे प्रतिपन्न विपश्यनाज्ञान मार्ग है, ऐसे मार्ग और अमार्ग का निरूपण करता है।

६ प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि—उपक्लेश से रहित, विधि मे लगे हुए विपश्यना वाले उदय-व्यय, भङ्ग, भयतोपस्थान, आदीनव, निर्वेद, मुञ्चितुकम्यता, प्रतिसंख्या और संस्कारोपेक्षा, इन आठ ज्ञानो का जानकार योगी को अवश्य होना चाहिए। इनके अतिरिक्त सत्य का अनुलोमात्मक नवा ज्ञान भी उसे होना चाहिए। यह ज्ञान होने पर योगी अनिमित्त, अप्रणिहित और शून्यता इन तीन विमोक्षसुख को प्राप्त करता है।

७. ज्ञानदर्शनविशुद्धि—स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी और अर्हत्, इन चार मार्गों का ज्ञान ज्ञानदर्शन विशुद्धि है। इसके लिए बोधिपक्षिकधर्मों का परिपूर्ण होना, उत्थान और बल का समायोग, प्रहातव्यधर्म और उनका प्रहाण (संयोजन, क्लेश, मिथ्यात्व, लोकधर्म, मात्सर्य, विपर्यास, ग्रन्थ, अगति, आश्रव, ओघ, योग, नीवरण, परामर्श, उपादान, अनुशय, मल, अकुशल कर्मपथ, अकुशल चित्तोत्पाद), तथा परिज्ञा आदि कृत्य की परिपूर्ण जानकारी होनी चाहिए।

विपश्यना प्राप्त योगी के सात सोपान हैं—श्रद्धाविमुक्त, कायसाक्षी, उभतोभागविमुक्त, धर्मानुसार ही, दृष्टि प्राप्त और प्रज्ञाविमुक्त। उनका विभाजन संस्कारोपेक्षा ज्ञान पर आधारित है।

(ग) पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति

सप्त विशुद्धियो की प्राप्ति से योगी का ज्ञान विशुद्ध हो जाता है और उसके समस्त आश्रवो का क्षय हो जाता है। विपश्यना का यही परिपाक है। चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति हो जाने पर साधक ऋद्धिविध, दिव्यश्रोत्र, चेतोपर्यज्ञान, पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान, तथा सत्त्वो की च्युति-उत्पत्तिज्ञान का अनुभव करता है।

ऋद्धिप्राप्ति—विसुद्धिमग्ग मे दस ऋद्धियो का उल्लेख है—अधिष्ठान, विकुर्वण, मनोमय, ज्ञानविस्फार, समाधिविस्फार, आर्य, कर्मविपाकज, पुण्य, विद्यामय, और सम्यग्प्रयोग। पटिसम्भिदामग्ग मे भी इनका वर्णन आया है। छन्द, वीर्य, चित्त और मीमासा, ये ऋद्धि के चार पाद विशारदता की प्राप्ति की दिशा म योगी को आगे बढाते हैं। आलस्य, औद्धत्य, राग, द्वेष, निश्रय, प्रतिवन्ध, कामराग, क्लेश आदि सोलह कारणों मे चित्त प्रकम्पित हो जाता है। अत: ऐसे कारणो को दूर रखना चाहिए और उनपर विजय प्राप्त करना चाहिए।

त्रिपिटक, अट्ठकथाओ तथा विसुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थों मे विभिन्न ऋद्धियो का वर्णन किया गया है—एक से अनेक होना, प्रगट और अन्तर्ध्यान होना, दीवाल, प्राकार, गृह, विहार, पर्वत आदि के पार जाना, पृथ्वी मे गोता लगाना,

जल पर चलना, आकाश से जाना, चन्द्र सूर्य का स्पर्श करना, ब्रह्मलोकगमन, दूर को पास करना, बहुत को थोड़ा करना, थोडे को बहुत करना, प्रभृति। इनमे कुछ विकुर्वण और कुछ मनोमय ऋद्धियाँ है।

अभिज्ञाप्राप्ति—अभिज्ञा की प्राप्ति ज्ञान की पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। दीघनिकाय मे षड् अभिज्ञाओ का वर्णन मिलता है। त्रिपिटक मे विविध प्रसंगो पर इनका विविध रूप से निर्देश हुआ है। विशेष रूप से अभिज्ञा की वहाँ दो सूचियाँ मिलती हैं। प्रथम को प्रज्ञा कहा है जो समाधि से सम्बन्वित है। वे ५ हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। ये बोधिसत्त्वों और साधारण ऋषियो द्वारा भी प्राप्य हैं। दूसरी विषय सूची मे षड्अभिज्ञायें है। जो विपश्यना से सम्बन्धित हैं उनकी प्राप्ति आश्रवक्षयजन्य है। इसे अर्हत् साधना भी कहा है। इन अभिज्ञाओ को साक्षात्कार (सच्छिकातब्ब) किया जाता है। प्रथमा ऋद्धि अथवा अभिज्ञा ऋद्धिविध का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त २. दिब्बसोतधातु, ३. चेतोपरिञ्ञाण, और ४. पुब्बेनिवासानुस्सतिञाण हैं। चतुर्थ ज्ञान के अन्तर्गत सवर्त और विवर्त का परिज्ञान भी सम्मिलित है। संवर्तकल्प मे प्रलय और बुद्धक्षेत्रों का ज्ञान तथा विवर्तकल्प मे सृष्टि का ज्ञान अन्तर्भूत है। पञ्चम अभिज्ञा सत्त्वो की च्युति और उत्पत्ति का ज्ञान (सत्तानं चुतूपपातञाण) है। इसमे यथाकर्मोपगज्ञान और अनागतवंशज्ञान गर्भित है।

(त) समापत्ति और निर्वाण

विपश्यना की प्राप्ति और अभिज्ञा की उपलब्धि के उपरान्त योगी समापत्ति सुख का अधिकारी होता है। ध्यान समापत्ति, फलसमापत्ति, एवं निरोध समापत्ति के बाद योगी निर्वाण प्राप्त करता है। शरीर के रहने पर वह सोपधिशेष और शरीर नष्ट हो जाने पर निरूपधिशेष कहा जाता है।

निर्वाण (पालि निव्वान) भौतिक इच्छाओं की समाप्ति का सूचक है। यह निर्वाण का निषेधात्मक रूप है। उसका विधेयात्मक रूप मोक्ख, निरोध, सन्त, सच्च, सिव, अमत, ध्रुव सरण, परायण, अकन्त, खेम, केवल, पद, पणीत, अच्चुत, मुत्ति, विमुत्ति, सन्ति, विसुद्धि, निब्बुति आदि शब्दो मे व्यक्त होता है।

निर्वाण की प्राप्ति योगी को चरम उपलब्धि है और समस्त क्लेशों का उपशमन उसका साध्य है। साधनाये उसके साधन हैं।

स्थविरवादी योग साधना का यह रूप हीनयान सम्प्रदाय मे भी हीनाधिक रूप से प्रचलित रहा है। सिद्धान्तो और साधनाओ के विकास मे स्थविरवाद के अतिरिक्त हीनयान के अन्य सम्प्रदायो मे विकास के सोपान दृष्टव्य हैं। उनकी चरम परिणति महायानी साधना मे दिखाई देती है।

२. महायानी साधना

स्थविरवादी (हीनयानी) साधना मे साधक आत्मकेन्द्रित रहता है पर महायानी साधना इस सीमा को स्वीकार नही करती। उसमे तो साधक बहुमुखी व्यक्तित्व सम्पन्न और लोकपरायण हो जाता है। बौद्ध साधना का यह आध्यात्मिक क्रान्तिकारी दर्शन निःसन्देह आकर्षक, सुखदायक और अनुभूतिजनक था। उसकी लोकप्रियता का प्रधान कारण भी यही है।

महायानी विचारधारा के साथ ही उसकी साधना का उदय हुआ। यह समय ई० पू० की लगभग तृतीय शताब्दी निश्चित किया जा सकता है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापरमिता महायानी साधना का सम्भवतः आद्यग्रन्थ होगा। उसके बाद तो महावस्तु, दिव्यावदान, अवदानशतक, बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो का सृजन हुआ। विज्ञानवाद और शून्यवाद नाम की दो शाखाओ मे उसका विभाजन किया गया। इन दोनो शाखाओ मे नागार्जुन, आर्यदेव मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, अर्चट और शान्तरक्षित प्रधान है।

महायानी साधना के प्रमुखत तीन भेद है—बोधिचित्त के द्वारा पारमिताओं की प्राप्ति, दशभूमिया तथा त्रिकायवाद। महायानी साधना को बोधिसत्त्वसाधना भी कहा गया है।

बोधिसत्व—साधना मे बोधिसत्त्व समस्त विश्व का परोपकार और परित्राण करने का प्रणिधान करता है। यह प्रणिधान उसे अचित्तता अथवा परार्थचित्तता की स्थिति मे लाकर खड़ा कर देता है। अचित्तता के अन्तर्गत महाकरुणा और महाप्रज्ञा का समन्वित रूप विद्यमान रहता है। बुद्धत्व की प्राप्ति का यह आधार स्तम्भ है। अचित्तता का सामान्यतः अर्थ पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकार करना अथवा उसे शून्य मानना है या यही शून्यतामयी दृष्टि महायान की विशेषता है। उपायकौशल तथा पुण्यसभार और ज्ञानसभार से से इस दृष्टि मे अधिक विशुद्धि आती है। पुण्यसभार की प्राप्ति कुशलकर्मो की विधेयता तथा अकुशल कर्मो की निशेधता अथवा प्रहाणता पर निर्भर है। दृढ़ अध्यवसाय और दृढ़ आशय इसके लिए अपेक्षित हैं। ज्ञानसभार की उपलब्धि असंगता, निःस्वभावता एवं नैरात्म्य चिन्तन पर अधारित है। प्रज्ञापारमिता ज्ञानसंभार है और दान, शील, क्षान्ति, वीर्य एवं ध्यान पारमितायें पुण्य संभार

की सीमा मे आती हैं। दोनो संभारो की प्राप्ति होने के उपरान्त क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय हो जाता है और फलत: शेष पारमितायें—उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञानपूर्ण हो जाती हैं। स्थविरवादी परम्परा मे क्लेशावरण की प्रहीणता चरमोत्कर्ष की प्राप्ति मानी जाती है, परन्तु फिर भी बाह्य जगत् के प्रति नैरात्म्य भावना पूर्णत: जाग्रत नही हो पाती। यह कर्म पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य की भावना द्वारा सम्पन्न हो जाता है। पारमिताओ की साधना इसी भावनाप्राप्ति का साधन है।

दस पारमिताओ की साधना के साथ दश भूमियों की व्यवस्था की गई है। ये दस भूमिया है—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दुरगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेधा। प्रमुदिता भूमिमे साधक को परार्थवृत्ति मे प्रसन्नता होती है और वह दश प्रकार के प्रणिधान, निष्ठायें और निपुषायें प्राप्त करता है। विमला भूमि मे साधक ऋजुता, मृदुला, कर्मण्यता, दम, शम, कल्याण, अनाशक्ति, अनपेक्षता, उदारता और आशय नामक दश चित्ताशयो को पाता है। प्रभाकरी भूमि विविध ऋद्धिओ और अभिज्ञाओ की उत्पादिका है। इसमे चार ब्रह्मविहारो का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। अर्चिष्मती मे सेंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का परिपालन किया जाता है। सुदुर्जया भूमि चित्त की विशुद्ध स्थिति का नाम है। इसमे आर्यसत्यो का बोध एवं महाकरुणा तथा शून्यतामयी दृष्टि का विकास होता है। अभिमुखी भूमि मे साधक दश प्रकार की समतायें प्राप्त करता है—अनिमित्त, अलक्षण, अनुत्पाद, अजात, विविक्त, आदिविशुद्धि, निष्प्रपञ्च, अनाव्यूहानिव्यूंह, प्रतिबिम्ब निर्माण और भावाभाव-द्वयसमता। इन समताओं को प्राप्त करने से प्रतीत्य समुत्पाद स्पष्ट हो जाता है और शून्यता विमोक्षमुख नामक समाधि प्राप्त हो जाती है। दूरंगमा भूमि मे साधक एक विशेष स्थिति तक पहुँच जाता है जहा उसके समस्त कर्म अपरिचित अर्थ सिद्धि के लिए उपायकौशल का उपभोग करते हैं। अचला भूमि मे ससारी प्राणियो के दु:खों की परिसमाप्ति करने का पुन: प्रणिधान किया जाता है। इस भूमि की यह विशेषता है कि साधक अपनी भूमि से च्युत नही होता तथा दशवल और चार वैशारद्यों की प्राप्ति करता है। साधुमती भूमि मे कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत धर्मों का साक्षात्कार, चार प्रतिसंविदो की प्राप्ति, धर्मों की स्वलक्षणता का ज्ञान एवं अप्रमेय बुद्धों की देशना को श्रवण करने का अवसर साधक को मिल जाता है। अन्तिम भूमि धर्ममेधा है। यहा तक पहुँचते-पहुँचते साधक पुण्य और ज्ञान सम्भार की प्राप्ति, महाकरुणा की पूर्णता सर्वज्ञता और समाधियों को अधिगत कर लेता है। इस स्थिति मे प्रादुर्भूत 'महारत्नराज' नामक पद्म पर बोधिसत्व आसीन होता है। विविध दिशाओं और क्षेत्रो से

समागत बोधिसत्व उसके परिमण्डल मे बैठ जाते है। उसके कायो से उत्थित महारश्मियो से साधक बोधिसत्त्व का अभिषेक होता है। तदनन्तर वह महाज्ञान से परिपूर्ण होकर धर्मचक्रवर्ती बन जाता है और संसारियो का उद्धार करना प्रारम्भ कर देता है। उक्त भूमियो मे क्रमश: दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय कौशल, प्रणिधान, बल और ज्ञान पारमितायें प्रधान रहती है। इन भूमियो को जैन परिभाषा मे गुणस्थान कहा जा सकता है।

महायानी साधक का तृतीय रूप है, **त्रिकायवाद**। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद बुद्ध अवेणिक आदि धर्मों से परिमण्डित हो जाते है और ससारियो के उद्धार करने का कार्य बुद्धकाय के माध्यम से प्रारम्भ कर देते है। बुद्धकाय अचित्तता एव शून्यता धर्मों का एकाकार रूप है। कायभेद से उसके तीन भेद हैं— स्वभावकाय, सम्भोगकाय, और निर्माणकाय। **स्वभावकाय** बुद्धकी विशुद्धकाय का पर्यायार्थक है।[1] ज्ञान की सत्ता को स्वभावकाय से पृथक् मानकर काय के चतुर्थ भेद का भी उल्लेख मिलता है। इस भेद को **ज्ञान धर्मकाय** कहा गया है। इसका फल है—मार्गज्ञता, सर्वज्ञता और सर्वाकारज्ञता की प्राप्ति। स्वभावकाय और ज्ञानधर्मकायके सयुक्तरूप को ही **धर्मकाय** की सज्ञा दी गई है। सम्भोगकाय के माध्यम से बुद्ध विभिन्न क्षेत्रो मे देशना देते है, अत उनकी सख्या अनन्तानन्त भी हो सकती है। **निर्माणकाय** के द्वारा इहलोक मे जन्म लिया जाता है। बुद्ध इन त्रिकायो द्वारा परमार्थकार्य करते है—

करोति येन चित्राणि हितानि जगत. समम्।
आभवान् सोऽनुपच्छिन्न कायो नैर्माणिको मुने. ॥[2]

तन्त्रिक साधना—

साधारणत: तान्त्रिक साधना के बीज त्रिपिटककालीन बौद्धधर्म मे मिलने लगते है पर उसका व्यवस्थित रूप ईसा पूर्व लगभग द्वितीय शताब्दी से उपलब्ध होने लगता है। गुह्यसमाज आदि तन्त्रो का अस्तित्व इसका प्रमाण है। सुचन्द्र, इन्द्रभूमि, राहुलभद्र, मैत्रेयनाथ, नागार्जुन, आर्यदेव आदि अचार्यों की परम्परा बौद्ध तान्त्रिक साधना से जुड़ी हुई है। श्रीधान्यकूट, श्रीपर्वत., श्रीमलयपर्वत आदि इसी साधना से सम्बद्ध है।

---

१. Tibetan Yoga, लेखक—W. Y. Evans. Wentz, Buddhism is Tibet, लेखक—सुशील गुप्त आदि ग्रन्थ।

२. Japani Buddism Essays in Zen Buddhism आदि ग्रन्थ।

तन्त्र साधना का प्रमुख लक्ष्य दैवी शक्तियों को वश में करके बुद्धत्व प्राप्ति करना है। इसमे प्राय: किसी शक्ति विशेष की उपासना की जाती है और उसे अत्यन्त गोपनीय रखा जाता है। इससे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। आटानाटीयसुत्त मे इस प्रकार के अलौकिक प्रदर्शन दिखाई देते हैं। वैसे मूल बौद्धधर्म मे मन्त्र, जप अथवा प्रतिष्ठा का कोई भी उल्लेख नही है पर वहाँ बुद्ध की चार ऋद्धियाँ अवश्य बताई गई हैं। छन्द (इच्छा), वीर्य (प्रयत्न), चित्त (विचार) तथा वीमंसा (परीक्षा)। इसके अतिरिक्त प्राण एवं चित्त के साधन भी बताये गये हैं। इन्ही भावनाओं एवं विकसित अवस्थाओं को यहा विभिन्न नाम दे दिये गये हैं। उनमे तन्त्रयान, वज्रयान, मन्त्रयान, सहजयान प्रमुख हैं।

तान्त्रिक साधना के अनुसार दुष्कर और तीव्रतप की साधना करनेवाला सिद्धि नही पाता। सिद्धि वही पाता है जो यथेष्ट कामोपभोगो के साथ साधना भी करे। यही उसका योग है।[1] साधना की दृष्टि से तन्त्रों के चार भेद हैं– क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर योग। क्रियातन्त्र कर्मप्रधान साधना है। इसमे धारणी तन्त्रो का समावेश हो जाता है। यहाँ बाह्य शारीरिक क्रियाओ का विशेष महत्त्व है। चर्यातन्त्र समाधि से सम्बंधित है। वैरोचन अभिसम्बोधि नामक ग्रन्थ मे इस साधना का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। सनैमित्तक एवं अनैमित्तिक योग इसके विशिष्ट प्रकार है। योगतन्त्र मे महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा योग अधिक प्रचलित है। अनुत्तरतन्त्र वज्रसत्त्वसमाधि का दूसरा नाम है। साधना की दृष्टि से इसके दो भेद है—मातृतन्त्र और पितृतन्त्र। इन तन्त्रो की विधियों मे प्रधान हैं –विशुद्धयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग। इनको वज्रयोग भी कहा जाता है।

तिब्बत और चीन में प्रचलित बौद्ध साधना

बौद्ध तान्त्रिक साधना भारत के बाहर अधिक लोकप्रिय हुई। तिब्बत, चीन और जापान ऐसे देश हैं जिनमे महायानी साधना का विकास अधिक हुआ है। तिब्बत मे ईसा की सप्तम शताब्दी मे सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो के राज्यकाल मे बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। थोनमी सम्भोट आदि अनेक तरुण

---

१. दुष्करै र्नियमस्तीव्रै: सेव्यमानो न सिद्धयति

सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्धयति।

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानै र्यथेच्छत:

अनेन खलुयोगेन लघु बुद्धत्वयोगत: ॥

गुह्यसमाज, पृ० २७,

तिब्बत से भारत आये और आचार्य विमलमित्र आदि अनेक विद्वान भारत से तिब्बत पहुँचे। यही से तिब्बत मे भाषा, लिपि, धर्म और साधना का प्रचार प्रारम्भ होता है। सम्राट् स्रोङ्चन स्वयं प्रथम धर्मज्ञ और तन्त्रज्ञ थे। उन्ही के काल मे 'मणिकाबुम' नामक तिब्बती साधना का ग्रन्थ लिखा गया।[1]

तिब्बती साधना की दो प्रणालियाँ है--पारमितानय और तान्त्रिकनय। पारमितानय मे करुणा और प्रज्ञा का आधार होता है तथा तान्त्रिकनय मे महाकरुणा का ही आधार होता है। इन साधनाओं से तिब्बती साधकों का मुख्य उद्देश्य वज्रपद प्राप्त करना बताया गया है। कुछ और भी साधनाएँ है। महामुद्रायोग, हठयोग, पञ्चाङ्गयोग, षष्ठयोग, सहजयोग, उत्पत्ति-क्रमयोग, प्रत्याहारयोग आदि। लोकेश्वर, अक्षोभ्य, कालचक्र, लामाई नलजोर आदि नाम की साधनाएँ भी प्रचलित है।

जापान में प्रचलित बौद्ध साधना

सामान्यत: ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की सप्तम शताब्दी मे ही बौद्धधर्म जापान मे सम्भवत. कोरिया से पहुँचा। वहा सम्राट् शोतोकु ने उसे अशोक के समान संरक्षण प्रदान किया। कालान्तर मे जापान मे बौद्धधर्म का पर्याप्त विकास हुआ और फलत: ग्यारह सम्प्रदाय खडे हो गये—कुश (अभि-धार्मिक) और जोजित्सु (अभिधार्मिक) थेरवादाश्रयी है तथा सनरान (शून्यतावादी) होस्सो (आदर्शवादी), केगोन (प्रत्येक बुद्धानुसारी), तेण्डई (प्रत्येक बुद्धानुसारी) , जेन (प्रत्येक बुद्धानुसारी), जोड़ो (सुखावती व्यूहानुसारी), शिग़ु (सुखावतीव्यूहानुसारी और निचिरेन (सद्धर्मपुण्डरीकानुसारी)। इन मे शिंगोन, जेन और निचिरेन सम्प्रदाय साधना की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। ये सभी साधनायें भारत मे प्रचलित बौद्ध साधना के समानान्तर अथवा किञ्चित् विकसित रूपान्तर लिये हुए है।[2]

बौद्ध योगसाधना के उक्त समग्ररूप[3] को देखने से यह स्पष्ट है कि वह मूल बौद्धधर्म की भित्ति पर प्रस्थापित एक योग प्रक्रिया है। उसका विकसित रूप तत्तद्देशीय संस्कृति और सभ्यता के तत्वो पर आधारित रहा है। भारतीय बौद्धेतर संस्कृतियो मे स्वीकृत योगसाधना से भी बौद्धयोग साधना का आदान-प्रदान हुआ है। इसकी परिधि और विश्लेषण अभी शेष है। इस दृष्टि से पातिमोक्ख की सभी परम्पराओ का विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

---

१. तिब्बजन योग, बुद्धिज्म इन तिब्बते आदि ग्रन्थ देखिये।

२. Japani Buddism Essays in Zen Buddhism

३. बौद्ध साधना का विकास, पृ. २३–७३

पातिमोक्ख की विभिन्न परम्परायें—पातिमोक्ख के नियमों की विभिन्न परम्परायें साहित्य में उपलब्ध होती हैं।[1]

	पाराजिक I	संघादिशेष II	अनियत III	नि:सर्गिक IV	पाचि. V	प्रतिदे. VI	शैक्ष्य VII	अधिकरण. VIII	कुल
सर्वातिवादिन्	४	१३	२	१३	९०	४	११३	७	२६३
संस्कृत	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	२६३
विनय निदान सूत्र	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	२६३
सर्वास्तिवाद विनय	,,	,,	,,	,,	,,	,,	१०७	,,	२५७
सर्वास्तिवाद विनय विभाषा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	९१	,,	२४१
मूल सर्वास्तिवादिन् और व्याख्या	,,	,,	,,	,,	,,	,,	९८	,,	२४८
तिब्बतन	,,	,,	,,	,,	,,	,,	१०८	,,	२५८
महाव्युत्पत्ति	,,	,,	,,	,,	,,	,,	१०५	,,	२५५
धर्मगुप्त और टीका	,,	,,	,,	,,	,,	,,	११०	,,	२५०
महीशासक और व्याख्या	,,	,,	,,	,,	९१	,,	१००	,,	२५१
काश्यपीय	,,	,,	,,	,,	९०	,,	९६	,,	२४६
उपालि परिपृच्छा	,,	,,	(२)	,,	९२	,,	७२	(७)	(२२४)
सूत्र			...				...	...	२१५
पालि	,,	,,	२	,,	,,	,,	७५	७	२२७
महासांघिक	,,	,,	,,	,,	,,	,,	९६	,,	२१८

१. A comparative study of the pratimoksa, pichow' Ph. D., शान्तनिकेतन, १९५५ ।

रचना काल—प्रातिमोक्ष के इन नियमों की संख्या से यह स्पष्ट है कि सुर्वास्तिवादी सम्प्रदाय मे भिक्षु नियमों की संख्या सर्वाधिक थी–२६३ और महीसांघिकों मे सबसे कम थी–२१८। बुद्ध के समय मे इनमे से कितने नियम प्रचलित थे, कहना कठिन है। इनके सन्दर्भ मे सुत्तविभंग मे जो कथायें दी गई हैं वे प्राय: कल्पनात्मक मानी गई हैं। पर उनमे तथ्यांश तो अवश्य होना चाहिए। पालि प्रातिमोक्ष से सम्बद्ध घटनाओं ने ही पातिमोक्ख का निर्माण किया है। अत: इसकी रचना मे एक नहीं, अनेक भिक्षुओं का हाथ हैं। अशोक के समय तक पातिमोक्ख स्थिर हो चुका होगा क्योंकि भाब्रू शिलालेख मे जिन सात ग्रन्थों का उल्लेख है, उनमे **विनय समुकस** का प्रथम स्थान है। इसका सम्बन्ध पातिमोक्ख से ही होना चाहिए। अत: पातिमोक्ख की रचना की ऊपरी सीमा ५०० ई. पू. और निचली सीमा २५० ई. पू. मानी जा सकती है।

पातिमोक्ख का उद्भव और विकास—पातिमोक्ख का उद्भव परम्परानुसार विपस्सी से माना जा सकता हैं। उनके कथन को ही आगे के बुद्धों ने दुहराया है। पञ्ञत्ति कथा मे पूछा गया है कि विपस्सी आदि तथागतों के समक्ष ब्रह्मचर्य चिरकाल तक क्यों नही ठहरा? भगवान् बुद्ध ने इसका उत्तर दिया कि उन लोगो ने श्रावकों को विस्तार से उपदेश दिया, संक्षेप से नही। अत: तथागतों के अन्तर्धान हो जाने पर वह सब विस्मृत हो जाता था। प्रातिमोक्ष भी नहीं बताया जाता था। तब सारिपुत्त ने भगवान् से संक्षेप मे शिक्षापदों एवं प्रातिमोक्ष सूत्रों को बताने का आग्रह किया। प्रस्तुत पालि पातिमोक्ख उसी परम्परा पर आधारित है। वैसे इसका प्रादुर्भाव विपस्सी की निम्न गाथाओ मे खोजा जा सकता है।

> खन्ति परमं तपो तितिक्खा
> निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
> सब्बा पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
> सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ॥

पातिमोक्ख का **विकास** संगीतियों के माध्यम से हुआ है। भाषा और संस्कृति की विभिन्नता भी इसमे एक बड़ा कारण रहा होगा। इसी सन्दर्भ मे स्वर्ण आदि रखने के १० नियमों की कहानी भी जुड़ी है। रजत और स्वर्ण का विधान यश ने संगीति मे उठाया था जो मान्य कर लिया गया था। यह नि:सर्गिक–पात्यन्तिक का १८ वां नियम है। महासांघिकों के शेष ९ नियमों का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। सम्भव है वे ९ नियम उत्तरकालीन रहे हों।

१. महावग्ग, (रोमन), भाग २, ३. २.

द्वितीय संगीति मे महादेव के सिद्धान्त भी इसी प्रकार के विघटन के कारण बने। अतः लगता है, आचार की अपेक्षा विचार वैभिन्न्य संघभेद का मूल कारण रहा होगा। लोकोत्तरवाद, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, आदि सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव भी विचारो की विविधता की पृष्ठभूमि मे ही हुआ है।

पातिमोक्ख का संकलन क्रमिक रूप से नहीं हुआ बल्कि अपराधों की गम्भीरता के आधार पर हुआ है। सबसे बडा अपराध पाराजिक है जिसके कारण भिक्षु संघ से निष्कासित कर दिया जाता है। इसी प्रकार उससे कम गम्भीर अपराध क्रमशः संघादिशेष, अनियत, निःसर्गिक-पात्यन्तिक, प्रातिदेशनीय, शैक्ष और अधिकरणशमथ। पर यह निष्कर्ष भी सही नही क्योकि अनियत, शैक्ष और अधिकरणशमथ नियम परिस्थितियो आदि पर निर्भर करते हैं। शायद यही कारण है कि अन्य सम्प्रदायों मे पातिमोक्ख के नियमों का यही क्रम नही रखा गया।

वर्ग विभाजन—पातिमोक्ख के नियमो को वर्गों मे भी विभाजित कर दिया गया है। **भिक्खु पातिमोक्ख** का वर्ग विभाजन इस प्रकार है। पाराजिक, संघादिशेष और अनियत मे कोई वर्ग नही। निस्सग्गिय-पाचित्तिय मे ३ वर्ग हैं—

१. चीवरवग्ग (१०), २. कोसियवग्ग (१०), और ३. पत्तवग्ग (१०)। पाचित्तिय मे ६ वर्ग हैं—१ मुसावादवग्ग (१०), २. भूतगामवग्ग (१०), ३. भिक्खुनोवादवग्ग (१०), ४. भोजनवग्ग (१०), ५. अचेलकवग्ग (१०), ६. सुरापानवग्ग (१०), ७. सप्पाणकवग्ग (१०), ८. सहधम्मिकवग्ग (१२), और ६. रतनवग्ग (१०)। पाटिदेसनीय मे कोई वर्ग नही। सेखिय मे ७ वर्ग है—१. परिमडलवग्ग (१०), २. उज्जग्घिकवग्ग (१०), ३. खम्भकवग्ग (१०), ४. सक्कच्चवग्ग (१०), ५. कबलवग्ग (१०), ६. सुरुसुरुवग्ग (१०), और ७. पादुकावग्ग (१५)। अधिकरणसमथ मे कोई वर्ग नही।

भिक्खुनी पातिमोक्ख—मे पाराजिक और संघादिशेष मे वर्ग विभाजन नही है। निस्सग्गिय-पाचित्तिय मे ३ वर्ग हैं—१. पत्तवग्ग (१०), २. चीवरवग्ग (१०), और जातरूपवग्ग (१०)। पाचित्तिय मे १६ वर्ग हैं—१. लसुनवग्ग (१०), २. रत्तन्धकारवग्ग (१०), ३. नग्गवग्ग (१०), ४. तुवट्टवग्ग (१०), ५. चित्तागारवग्ग (१०), ६. आरामवग्ग (१०), ७. गाब्भिनीवग्ग (१०), ८. कुमारिभूतवग्ग (१३), ६. छत्तवग्ग (१३), १०. मुसावादवग्ग (१०), ११. भूतगामवग्ग (१०), १२. भोजनवग्ग (१०), १३. चरित्तवग्ग (१०), १४. जोतिवग्ग (६), १५. दिट्ठिवग्ग (११), और १६. धम्मिकवग्ग (१०)।

इन दोनो प्रातिमोक्षगत नियमो के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भिक्षुओं और भिक्षुणियो के नियमो के विधानक्रम मे एकरूपता अथवा समान क्रम नही रखा गया है। मूलसर्वास्तिवाद सम्प्रदाय मे यह विभाजन अधिक वैज्ञानिक है। अन्य सम्प्रदायो मे भी क्रमवैभिन्न्य है। यह ठीक भी है, क्योकि उत्तरकाल मे हर सम्प्रदाय के अपने-अपने केन्द्र बन चुके थे। जैसे सर्वास्तिवाद कश्मीर मे, महासाधिक पाटलिपुत्र मे, स्थविरवाद राजगृह मे। विशेष रूप से शैक्ष धर्म्मो मे विभिन्नता आना स्वाभाविक थी। इसका कारण था, जैसा ऊपर कह दिया गया है, उस समय स्थविर नियमो के अर्थों मे और परम्पराओ मे परिवर्तन कर रहे थे। भाषा और संस्कृति की विविधता भी इसमे कारण थी। विनीतदेव (८ वी शती) ने लिखा है कि सर्वास्तिवादी संस्कृत महासाधिक प्राकृत, सम्मितीय अपभ्रश और स्थविरवादी सम्प्रदाय पैशाची का उपयोग किया करते थे। शैक्षधर्म कभी भी नियतसंख्यक नही रहे। उनमे यथासमय लोकव्यवहार की दृष्टि से परिवर्धन होता रहा है। सामान्यतः भिक्षुशीलनिर्देश से प्रातिमोक्ष का विकास मानने पर उपोसथ आदि का विकासक्रम भी संगत बन जाता है।

अन्य विनय नियमों का प्रभाव--बौद्ध विनय पर जैन और वैदिक विनय का पर्याप्त प्रभाव रहा है। प्रातिपक्ष विनयपाठ जीवन की शुद्धि के लिए किया जाता था। इसके लिए भिक्षु-भिक्षुणी को संघ के समक्ष जाना आवश्यक था पर कुछ ऐसे भी उद्धरण मिलते हैं जहाँ अपवित्र अथवा पापकृत भिक्षु को संघ मे इस निमित्त प्रवेश नही दिया गया।[१] जैनविनय मे प्रायश्चित आदि की विधि इस सन्दर्भ मे स्मरणीय है।

पंचशील बौद्धों मे बहुत प्रचलित है। पर वह केवल उसी की सम्पत्ति नही। जैन और वैदिक सम्प्रदाय मे भी लगभग उसी प्रकार के आचार का विधान है। जैनधर्म के पाँचव्रत तो बिलकुल वैसे ही हैं--अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। बुद्ध बहुत भी पूर्व उनका विधान जैन धर्म मे हो चुका था।[२] वर्षावास का विधान जैन भिक्षुओं मे स्वीकृत विधान के आधार पर हुआ ही था। खान-पान आदि सम्बन्धी विधान भी इसी प्रकार है जो जैन विनय से भावित रहे हैं। संघ विधान भी मिलता-जुलता सा है। इसका विशेष अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जायगा।

---

१. महापदान सुत्त, ३–२८

२. देखिए लेखक का प्रबन्ध—**Jainisn in Buddhist Literature.**

बौद्ध विनय सम्बन्धी प्राचीन साहित्य

बौद्ध विनय (पातिमोक्ख) पर पालि, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओ मे बहुत साहित्य लिखा गया है। उसका किञ्चित् विवरण निम्न प्रकार है—

स्थविरवाद (पालि) विनयपिटक—सं० Oldenberg, ५ भाग, P. T S., लन्दन आदि १८७६–१८७३। अंग्रेजी में अनुवादित—I. B. Horner, ६ भाग, P. T. S., १९३८–५२। नागरी संस्करण–सं० भिक्षु जगदीश कश्यप, १९५६, हिन्दी अनु. राहुल सांकृत्यायन, सर्वास्तिवादी विनय पिटक–(संस्कृत) प्रातिमोक्ष, सं० Finot, JA., १९१३, Waldschmidt भिक्षुप्रातिमोक्ष, Leipzig, १९२६, Rosen (विनयविभंग), Berlin, १९५६, Hartel (विनयवस्तु: कर्मवाचना), Berlin, १९५६, Ridding, (विनयवस्तु, भिक्षुणी कर्मवाचना), JA. १९३८, Rouren ने विनयोत्तरग्रन्थ की उपालिपरिपृच्छा को भी सम्मिलित किया है। सर्वास्तिवादिन्—(चीनी) T. १४३५, T. १४३६, T. १४३७ और T. १४४१। मूलसर्वास्तिवादिन–(संस्कृत)—प्रातिमोक्षसूत्र—सं० वनर्जी, I. H. Q. १९५३, विनयविभंग—सं० Rosen; विनयवस्तु—सं० दत्त (गिलगिट मेन्सक्रप्ट्स), कलकत्ता, १९४२–५०, चतुष्परिषत्सूत्र—सं० Tucci। तिब्बतन्—Rockhill द्वारा The life of the Buddha मे अनुदित। चीनी—T. १९४२–५१, और १४५४–५, धर्मगुप्तक (संस्कृत)—Ritsuzo no kenkyu मे कुछ भाग Hirakawa द्वारा उल्लिखित। चीनी—T. १४२८–३१। महीसांसक (चीनी) T. १४२१–४। काश्यपीय (हैमवत, चीनी, केवल विनयमात्रिका) T. १४६३, महासांघिक (चीनी) T. १४२५–७, सारिपुत्रपरिपृच्छा, T. १४६५। लोकोत्तरवादिन्—(संस्कृत)—प्रातिमोक्षसूत्र—सं० Pa-chow और मिश्र, इलाहाबाद, १९५६. महावस्तु—सं० Senart, पेरिस, १८८२–९७। अनु. Jones P.T.S. १९४९–५६ (तीन भाग)। टीकायें–अट्ठकथा–समन्तपासादिका (बुद्धघोष), सं०—Takakusu आदि, ७ भाग, P. T. S. १९२४–४७. भूमिका भाग का अनुवादन Jayawickrama ने Inception of Discipline के नाम से किया है, P. T. S. १९६२। टीका—पोराण (वजिरबुद्ध) सं० Rangoon, १९४९–२१. नया संस्करण, १९६१ छट्ठसंगायन। सारत्थदीपनी (सारिपुत्त), ४ भाग, १९०२–

T. का तात्पर्य है Taisho. (Hobogirin; इन्डेक्स) संस्करण, महायान त्रिपिटक भी देखिए।

२४. देवरक्खित्त और मेधंकर द्वारा अपूर्व टीका, कोलम्बो, १९१४–१९३३। विमतिविनोदनी (काश्यप)—सं० Rangoon, २ भाग, १९१३, धम्माधरतिस्स द्वारा १ भाग, कोलम्बो १९३५। अट्ठयोजना (नानकित्ति), Bangkot १९२७–८। विनयत्थमञ्जूसा (बुद्धनाग), सं० एकनायक, कोलम्बो, १९१२।

खुद्दकसिक्खा (धर्मश्री), सं० Muller J. P. T. S. १८८३। पोराण (धर्मश्री)—अप्रकाशित। नव (संघरक्खित), अप्रकाशित। सुमंगलप्पसादनी (वचिस्सार), अप्रकाशित। मूलसिक्खा (धर्मश्री), सं० Muller, J. P. T. S. १८८३ पोराण (विमलसार), अप्रकाशित। अभिनव (वचिस्सार), अप्रकाशित, विनयविनिच्छय (बुद्धदत्त), सं० बुद्धदत्त, P. T. S. १९२८ और उत्तर विनिच्छय (बुद्धदत्त)—सं० बुद्धदत्त, P. T. S. १९२८। पोराण (उपतिस्स), अप्रकाशित। विनयसंघ (सारिपुत्त), अप्रकाशित। विनय समुट्ठानदीपनी (सद्धम्मजोतिपाल), अप्रकाशित। पातिमोक्खविसोधनी (सद्धम्मजोतिपाल) अप्रकाशित। विनयविभंगपदव्याख्यान (विनीतदेव) तिब्बतन। विनयवस्तुटीका (कल्याणमित्र), तिब्बतन। विनयसंग्रह (विशेषमित्र), श्रामेणेरकारिका (शाक्यसुभ) आदि टीकायें प्रातिमोक्षसूत्र पर तिब्बती भाषा मे उपलब्ध हैं। समन्तपासादिका (बुद्धघोष), सारत्थदीपनी, निदान कथा आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। विनयसूत्र (गुणप्रभ) विनयसूत्रटीका (धर्ममिश्र) आदि महायानी विनय के ग्रन्थ है।

ये सभी विनय ग्रन्थ मूलतः पालि विनयपिटक के अन्तर्गत पातिमोक्ख पर आधारित हैं। उत्तरकालीन सम्प्रदायो का विनय स्वभावत. उत्तरकालीन साहित्य मे प्रतिबिम्बित होगा ही। उपर्युक्त विनय साहित्य मे भी बौद्ध सम्प्रदाय के लगभग सभी प्रमुख सम्प्रदायो का आचार विधान उल्लिखित है। सास्कृतिक वातावरण की पृष्ठभूमि मे उनकी उत्पत्ति और विकास हुआ है। इस दृष्टि से पातिमोक्ख (प्रातिमोक्षसूत्र) विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है।

प्रस्तुत संस्करण—



परिवर्त ८

अहिंसा के प्राचीन सन्दर्भ

अहिंसा श्रमण-संस्कृति की आधारशिला है। उसका प्रत्येक सिद्धान्त अहिंसात्मक भावना से अनुप्राणित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और माध्यस्थ भावो का अनुवर्तन, समता और अपरिग्रह का अनुचिन्तन, नय और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा के प्रधान स्तम्भ हैं। श्रमण-संस्कृति का समूचा साहित्य अहिंसा की साधना से आपूर है। उसकी पुनीत पृष्ठभूमि अहिंसा से अनुरंजित है।

अहिंसा और धर्म—अहिंसा और धर्म ये दोनो शब्द पर्यायार्थक कहे जा सकते हैं। वे परस्पर सम्मिलित और अवलम्बित हैं। धर्म का स्वरूप विविध आचार्यों ने विविध प्रकार से किया है। शायद इसीलिये किसी विवेचक ने उसकी भिन्नता को स्वीकारते हुए उसे रहस्यमय बताया और महापुरुष द्वारा अपनाये गये मार्ग को ही धर्म माना।

श्रुतिर्विभिन्ना. स्मृतिर्विभिन्ना: नैको मुनिर्यस्य वच: प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहित गुहाया महाजनो येन गत. स पन्था॥

धर्म तत्त्व विवादग्रस्त भले ही बना रहे पर उसकी सभी व्याख्याएँ अहिंसा एवं सर्वधर्मसमभाव के आसपास मड़राती है। ऋग्वेद मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह के सामासिक रूप को धर्म कहा है।[1]

धर्मे रत: सत्पुरुषै. समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधाना:।
अहिंसा वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या: मुनय: प्रधाना:॥[2]

धर्म और सत्य की एकाकारता भी आचार्यो ने प्रदर्शित की है। "यो वै स धर्म:, सत्य वै तत्" (मनुस्मृति १-४-१४) "सत्याद्धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:।
एतत् सामासिको धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मुनि:।
यन्नूनमस्या गति मित्रस्य यामा पथा
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥ ऋग्वेद ५-६४-३.

२. बाल्मीकि रामायण ३६–१०९.

प्रतिष्ठितम्'' (महाभारत, शान्तिपर्व) आदि जैसे कथन इस एकाकारता के ही पोषक हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध ने धर्म को और अधिक सार्वभौमिक बनाया। महावीर ने धर्म को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, इन तीनों तत्त्वों का समन्वित रूप माना है[1] और इसी को संसार को पवित्र करने वाला बताया है।[2] दान, सत्य, तप, शौच, कारुण्य आदि मानवीय गुण व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध सुदृढ करने में सहायक सिद्ध होते हैं।[3] अशोक का सातवाँ स्तम्भ-लेख भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जहाँ उसने दया, दान, सत्य, शौच, मार्दव, साधन आदि गुणों की प्राप्ति के साधन निर्दिष्ट किये है। ये साधन मुख्यतः धर्मनियम और धर्ममनन (धम्मनिज्झति) हैं। 'अभिहिसाभूताना, अनारम्भप्राणानां' का उद्घोष यहाँ किया गया है। आचार्य उमास्वामी ने भी "उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपत्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः"[४] लिखकर इसी उदार कथन का समर्थन किया है।

भगवान् बुद्ध ने 'धम्मचक्कपवत्तन' कर विश्व नियम (Universal truth) को स्पष्ट किया है। भिक्षुओं को 'धम्मदायाद' का आदेश दिया है और इसके निमित्त सम्पत्ति, अंग, जीवन आदि सब कुछ छोड़ देने का निर्देश दिया है।

धनं चजे अंगवरस्य हेतु अगं चजे जीवितं रक्खमाणि।
अगं धनं जीवितचापि सब्ब चजे नरो धम्ममनुस्सरन्तो॥[५]

धर्म के इस प्रकार के सम्बन्ध से ही सभी सम्पर्क उत्तरदायित्वपूर्ण तथा स्नेहमय बने रहते है। अन्यथा पिता पुत्र का और पुत्र पिता का वधक हो जाता है। सभी सामाजिक नियमों को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिये धर्म (अन्तःकरणप्रसूत मानवता) का आश्रय नितान्त आवश्यक है। सामाजिकता की स्वीकृति का भी यह आश्रयस्थल है।

---

१. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः—रत्नकरण्ड, समन्तभद्र

२. पवित्री क्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयाद्राय धर्मकल्पाङ्घ्रियाय वै॥ वही.

३. नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा।
उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहृद क्षमा॥
सत्यं दान तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वतेष्वभवत् प्रभौ॥ महा० शान्तिपर्व

४. तत्वार्थसूत्र, ९—६

५. जातकट्ठकथा, विसुद्धिमग्ग, सीलनिद्देस मे उद्धृत।

धर्म की उक्त व्याख्या के साथ ही उसका एक सार्वजनिक रूप भी उपलब्ध होता है, जिसमे वस्तु (पदार्थ) के स्वभाव पर गम्भीरता से विचार एवं चिंतन किया गया है। धर्म का यह सार्वजनिक रूप है।

धम्मो वत्थुसहाओ खमादि भावो दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाण रक्खयं धम्मो ॥[1]

इस परिभाषा मे धर्म की चार विशेषताएँ प्रस्तुत की गई हैं—१. वस्तु स्वभाव धर्म है, २. क्षमादिक दस गुण धर्म है, ३ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय का पालन धर्म है, और ४ जीवो का सरक्षण धर्म है। वस्तु का स्वभाव अपरिवर्तनीय रहता है। जल का शीतत्व व अग्नि का उष्णत्व कभी बदला नही जा सकता। जितने समय के लिए उसमे विकार भाव आता है, वह किसी वाह्य वस्तु के संसर्ग का परिणाम है। इसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव मनुष्यता है। अहिसक होना है। उसमे हिसा के भाव जाग्रत होना राग, मोह, द्वेष, लोभ आदि परिणामो का विकार है जो आत्मा का मूल रूप नही है। आत्मा का मूल रूप तो है समभाव होना व स्वरूप मे रमण करना (चारित्तं)। यही मोह-क्षोभ से विरहित आत्मा का परिणाम है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्धिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हू समो ॥
चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सी हयइ अप्पसमभावो।
सो रागदोसरहिओ जीवस्स अणण्ण परिणामो ॥[2]

मोक्खपाहुड, गा, ५०

बुद्ध ने भी 'सब्बे धम्मा अनिच्चा' कहकर धर्म का अर्थ पदार्थ लिया है। "ये धम्मो हेतुप्पभवो" मे धर्म का अर्थ स्वभाव, अवस्था, गुण, कर्तव्य, विचार आदि किया गया है। बौद्धधर्म मे धर्म को त्रिरत्नों मे परिगणित किया है। बाद मे बुद्ध और उनके धर्म मे तादात्म्य स्थापित किया गया—"यो धम्मं पस्सति सो मम पस्सति, यो मम पस्सति सो धम्मं पस्सति।" महायान सम्प्रदाय मे धर्मकाय की स्थापना कर बुद्ध और धर्म को और भी अधिक एकाकार कर दिया गया। आचार्य बुद्धघोष ने धर्म के चार अर्थ किये है—१. परिणत्ति या सिद्धान्त, २. हेतु ३. गुण और ४. निस्सत्त–निज्जीवता (विसुद्धिमग्ग)।

इस प्रकार धर्म वस्तुत. आत्मा का एक स्पन्दन है जिसमे कारुण्य, सहानुभूति, सहिष्णुता, परोपकार वृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति

---

१. कत्तिगेयाणुवेक्खा, गाथा ४७६.

२. प्रवचनसार १–७, तुलनार्थ देखिये।

या सम्प्रदाय से सम्बद्ध नही। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमाङ्गलिक है। व्यक्ति समाज व राष्ट्र का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा मे सम्भव है।

अहिसा का स्वरूप—धर्म और अहिंसा मे शब्दभेद है, गुणभेद नही। धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है। क्षेत्र उसका व्यापक है। अहिंसा एक निषेधार्थक शब्द है। यह अधिक संभव है कि वह विधिपरक हिंसा के अनन्तर प्रयुक्त हुआ होगा। इसलिए संयम, तप, दया, आदि जैसे मानवीय शब्दों का प्रयोग पूर्वतर रहा होगा। क्योकि विधेयावस्था के बाद ही निषेधावस्था का उदय होता है।

हिंसा का मूल कारण है प्रमाद अथवा कषाय। इसी के वशीभूत होकर जीव के मन, वचन, काय मे क्रोधादि एवं रागादि भाव प्रकट होते हैं, जिनसे स्वयं के शुद्धोपयोग रूप भावप्राणो का हनन होता है। कषायादिक की तीव्रता के फलस्वरूप उसके आत्मघात रूप द्रव्य प्राणो का भी हनन संभव है। इसके अतिरिक्त दूसरे को मर्मान्तिक वेदनादान अथवा परद्रव्यव्यपरोपण भी इन्ही भावो का कारण है।[1] इस प्रकार हिसा के चार भेद हो जाते है।—स्वभाव-हिंसा, स्वद्रव्यहिंसा, परभावहिंसा और परद्रव्यहिसा। आचार्य उमास्वामी इसी को संक्षेप मे 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यरोपण हिसा' कहते हैं[2] इसलिये भिक्षुओ को कैसे चलना फिरना चाहिये, कैसे बोलना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि उसे बत्नपूर्वक-अप्रमत्त होकर उठना बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन-भाषण करना चाहिए।

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे कहं सए ?
कथं भुञ्जन्तो भासन्तो ? पावं कम्मं न बधई ?
जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुञ्जन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधई ॥[3]

---

१. यत्खलु कषाययोगात प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ पुरूषार्थ सिद्ध्युपाय, ४३
२. तत्वार्थ सूत्र, ७.६, तुलनार्थ देखिये
हिंसायामविरमण हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ पुरूषार्थसिद्ध्युपाय, ४८
३. दशवैकालिक ४.७–८

गीता में इस प्रश्न की भाषा है।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधी' किं प्रभाषेत् किमासीत् व्रजेत् किम् ॥२५४॥

इतिवुत्तक (१२) में इस प्रश्न का उत्तर दशवैकालिक से मिलता-जुलता दिखाई देता है—

यतं चरे यतं तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये ।
यतं सम्मिज्जये भिक्खू यतमेनं पसादए ॥

हिंसा का प्रमुख कारण रागादिक भाव है।[1] उनके दूर हो जाने पर स्वभावत: अहिंसा भाव जाग्रत हो जाता है। दूसरे शब्दो में समस्त प्राणियों के प्रति संयम भाव ही अहिंसा है—"अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूयेसु संजमो।"[2] जगत् का हर प्राणी अधिकाधिक सुख प्राप्ति के साधन जुटाता है। उसे मरने की आकांक्षा नही होती।[3] उसके ये सुख प्राप्ति के साधन अहिंसा व संयम की पृष्ठभूमि मे जुटाये जाने चाहिये। व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वे परस्पर एकात्मक कल्याण मार्ग से आबद्ध रहे। उसमे सौहार्द, आत्मोत्थान, स्थायी शान्ति, सुख और समृद्धि के पवित्र साधनों का उपयोग होता रहे। यही यथार्थ मे उत्कृष्ट मंगल है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवावित नमंसंति जस्स धम्म सया मणो ॥[4]

अहिंसा के एक देश का पालन गृहस्थ वर्ग करता है और सर्व देश का पालन मुनि वर्ग करता है। उसी को जैन शास्त्रीय परिभाषा मे क्रमश: अणुव्रत और महाव्रत कहा गया है। सकलचारित्र और विकलचारित्र इसी के पर्यायार्थिक शब्द हैं। गृहस्थ वर्ग संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी रूप स्थूल हिंसा का त्यागी नही रहता जबकि मुनिवर्ग सूक्ष्म और स्थूल, दोनो प्रकार की हिंसा से दूर रहता है।

मन, वचन और काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील-संयमादि गुणो से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष

---

१. अप्रादुर्भाव: खलु रागादीना भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्ति: हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप: ॥ पुरुषार्थ; ४४

२. दशवैकालिक, ६.८

३. वही, ६.१०, संयुत्तनिकाय, १.३.८

४. वही, १.१, देखिए, धम्मपद, १९.६

है। जिसका चित्त मलीन व पापों से दूषित रहता है वह अहिंसा का पुजारी कभी नही हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और ताड़ना इन चार उपायों से सुवर्ण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दयारूप गुणो के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है।

संजमु सीलु सउच्चु तवु जसु सूरि हि गुरू सोई।
दाह छेदक सघायकमु उत्तमु कंचणु होई॥[1]

जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग मे इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। वहाँ बताया गया है कि जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता-फिरता है किन्तु भय की आशंका होने पर शीघ्र ही अपने अग-प्रत्यंग प्रच्छन्न कर लेता है और भय विमुक्त हो जाने पर पुन: अंग-प्रत्यंग फैलाकर चलना-फिरना प्रारम्भ कर देता है उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधनामार्ग पर बड़ी सतर्कतापूर्वक चलता है। संयम की विराधना का भय उपस्थित हो जाने पर पंचेन्द्रियो व मन को आत्मज्ञान-अंतर मे ही गोपन कर लेता है।[2]

बुद्ध ने सुत्तनिपात मे प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि शान्तपद (निर्वाण) के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह योग्य तथा अत्यन्त सरल बने। उसकी बात मृदु, सुन्दर और विनम्रता से भरपूर हो। वह सन्तोषी व इन्द्रियसंयमी हो। उसकी यह सप्रयत्न भावना रहे कि सभी प्राणी सुखी हों, सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वक रहे (सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता।[3] संयुत्तनिकाय मे कहा है कि जो शरीर, मन और वचन से हिंसा नहीं करता और पर को नही सताता, वही अहिंसक है।[4] अहिंसक की यह परिभाषा बड़ी व्यापक व मानवता से आपूर है। हिंसामय यज्ञो का विरोध कर दान-पुण्य

---

१. भावपाहुड, गाथा १४३ की टीका

२. जहा कुम्भे सअंगाइं सए देहे समाहरे।
एव पावाइ मेहावी अज्झप्पेण समाहरे॥ सू. १.८-१६

३. ये केचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीना वा ये महान्ता वा मज्झिमा रस्मकाणुकथूला॥
दिट्ठा वा येव अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता वा संभवेसी वा सब्बे सत्ता भवन्ति सुखितत्ता॥ मेत्तसुत्त ४-५

४. अहिंसक सुत्त।

कर्म को ही सबसे बड़ा यज्ञ उन्होंने बताया।[1] अंगुत्तरनिकाय मे यह कहा गया है कि व्यक्ति को तीन प्रकार की शुचिता प्राप्त करनी चाहिए।[2]

१. शरीर शुचिता—प्राणिहिंसा, चोरी, मिथ्याचार से विरति।

२. वाणी शुचिता—मृषावाद, पैशून्य, कठोर वचन तथा व्यर्थ वचन से विरति।

३. मानसिक शुचिता—क्रोध, लोभ, मिथ्यादृष्टि, आलस्य, औद्धत्य, कौकृत्य, विचिकित्सा आदि से विरति।

संयमी व्यक्ति सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं को अनुकूल रहता हो।[3] तदर्थं इसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना का पोषक होना चाहिए। सभी सुखी और निरोग रहे, किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करे।

सर्वेऽपि सुखिन: सन्तु सन्तु सर्वे निरामय:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खमाप्नुयात्॥
मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत कोऽपि दु:खित:।
मुच्यता जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥[4]

विशिष्ट ज्ञानी और तपस्वियों के शम, दम, धैर्य, गाभीर्य आदि गुणों में पक्षपात करना अर्थात् विनय, वन्दना, स्तुति आदि द्वारा आन्तरिक हर्ष व्यक्त करना प्रमोद भावना है।[5] इस भावना का मूल साधन विनय है। जिस प्रकार मूल के बिना स्कन्ध, शाखायें, प्रशाखायें, पत्ते, पुष्प, फल आदि नही हो सकते उसी प्रकार विनय के बिना धर्म व प्रमोद भावना मे स्थैर्य नही रह सकता।[6] इसी प्रकार मज्झिमनिकाय मे भी आर्य विनय का उपदेश दिया गया है।[7]

कारुण्य अहिंसा भावना का प्रधान केन्द्र है। उसके बिना अहिंसा जीवित नहीं रह सकती। समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करना इसकी मूल भावना है।

---

१. चतुक्कनिपात, अंगुत्तर निकाय। २. तिकनिपात, अंगुत्तर निकाय।

३. जं इच्छसि अप्पणत्तो जं च न इच्छति अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि मा वा एत्तियगं जिणसासणयं॥ वृहत्कल्पभाष्य

४. यशस्तिलकचम्पू, उत्तरार्ध।

५. अपास्तशेषदोषाणा वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो य: स: प्रमोद: प्रकीर्तित:॥ योगशास्त्र, ४.११.

६. एस धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो, दशवैकालिक, ३–७.

७. पोतलियसुत्त।

हेयोपादेय ज्ञान से शून्य दीन पुरुषों पर, विविध सांसारिक दु:खों से पीड़ित पुरुषों पर, स्वयं के जीवन-याचक जीव-जन्तुओ पर, अपराधियो पर, अनाथ, बाल, वृद्ध, सेवक आदि पर तथा दु:ख-पीडित प्राणियों पर प्रतीकात्मक बुद्धि से उनके उद्धार की भावना ही कारुण्य भावना है। यह योगशास्त्र का कथन है। आर्यदेव ने समासत: अहिंसा को ही धर्म स्वीकार किया है।[१]

माध्यस्थ्य भावना के पीछे तटस्थ बुद्धि निहित है। नि:शंक होकर क्रूर कर्मकारियों पर, देव, धर्म व गुरु के निन्दको पर तथा आत्मप्रशंसकों पर उपेक्षा भाव रखने को माध्यस्थ्य भावना कहा गया है।[२]

इसी को समभाव भी कहा है। समभावी व्यक्ति निर्मोही, निरहंकारी, निष्परिग्रही, त्रस—स्थावर जीवों का संरक्षक तथा लाभ-अलाभ मे, सुख-दु:ख मे, जीवन-मरण मे, निन्दा-प्रशंसा मे, मान-अपमान मे विशुद्ध हृदय से समद्रष्टा होता है। समभावी व्यक्ति ही मर्यादाओ व नियमों का प्रतिष्ठापक होता है। वही उसकी समाचारिता है।[३] बौद्ध दर्शन मे मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओ को ब्रह्मविहार कहा है।[४] जैन दर्शन मे वर्णित चार, भावनाओं और इन ब्रह्मविहारों मे कोई विशेष अन्तर नही।[५]

जैन दर्शन ने पाँच महाव्रतों को स्वीकारा है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मविहार और अपरिग्रह। अन्य व्रतो का अन्तर्भाव इन्ही पाँचों मे किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन मे भी लगभग ऐसे ही व्रत स्वीकार किये गये हैं—प्राणातिपात वेरमण, अदिन्नादान वेरमण, कामेसु मिच्छाचार वेरमण, मुसावाद वेरमण, सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठानादिवेरमण।

श्रमण-संस्कृति की निगण्ठ (जैन), सक्क (बौद्ध) तावस, गेरुय और आजीव-ये ५ प्रधान शाखायें मानी जाती है।[६] इनमे से आज प्रथम दो शाखायें जीवित है। इन पाँच शाखाओ मे जैनधर्म प्राचीनतम है, इसमे कोई सन्देह नही। पालि साहित्य उपलब्ध श्रमण साहित्य मे प्राचीनतम साहित्य है। अत: अहिंसा के प्राचीन सन्दर्भ उसमे दृष्टव्य हैं।

---

१. धर्म: समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागत:, चतु.शतक, २९८।

२. योगशास्त्र ४. १२१, ३. दशवै.५-१३,मूला १२३, ४. मज्झिम २-५-६।

३. दशवैकालिक ५. १३ ५. मूलाचार, गाथा १२३.

४. सुभ सुत्तन्त, मज्झिमनिकाय २.५.६.

५. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यभावा: सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमान विनयेषु, तत्वार्थसूत्र, ७-११।

६. ठाणाग, पृ० ९४९

सामञ्ञफलसुत्त में पार्श्वनाथ के चातुर्याम संवर का उल्लेख है पर उसे निगण्ठनातपुत्त के नाम पर चार महाव्रत ये हैं .—

१. सव्ववारि वारितो, २. सव्ववारि युतो, ३. सव्ववारि धुतो, ४. सव्ववारि फुतो।

यह उल्लेख नि सन्देह भ्रमपूर्ण है। सामञ्ञफलसुत्त के विभिन्न रूप मिलते हैं। तिब्बती दुल्वा मे निगण्ठ नातपुत्त के अनुसार कर्मो की निर्जरा कैसी होनी चाहिए इसका उल्लेख है, जब कि चीनी साहित्य के एक पाठ मे (४१२-१३ A. D.) निगण्ठनातसुत्त अपने सर्वज्ञत्व को सिद्ध करने मे लगे दिखाई देते हैं और दूसरे पाठ में (३८१-३६५ A. D.) उन्हे कर्म सिद्धान्त से सम्बद्ध बताया गया है।

वस्तुत. पार्श्वनाथ के चातुर्याम निम्न प्रकार से थे—

१. सर्वप्राणातिपाति विरति, २. सर्वमृषावाद विरति, ३. सर्वादत्तादान-विरति, ४. सर्ववहिद्धादान विरति।[1]

यहाँ अन्तिम व्रत मे मैथुन और परिग्रह, दोनों से विरत रहना सम्मिलित था। किन्तु शिथिलतावश उसे मात्र सम्पत्ति आदि से सम्बद्ध कर दिया गया। महावीर ने इस शिथिलता को दूर करने के लिए चतुर्थव्रत मे से ब्रह्मचर्यव्रत पृथक् कर दिया और इस प्रकार पंच महाव्रतो का निर्देश किया जाने लगा।

पालि साहित्य इन पाँच महाव्रतों से भी परिचित है। असिबन्धक पुत्त गामिनी ने बुद्ध को निगण्ठ नातपुत्त के अनुसार पापो को कर्माश्रय के रूप मे बताया है। वहाँ कामेसु मिच्छाचार भी नियोजित है। इससे स्पष्ट है कि महावीर द्वारा किये गये परिवर्तन से पालि साहित्य अपरिचित नही।[2] अंगुत्तरनिकाय मे भी लगभग ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[3] यहाँ भी परिग्रह का उल्लेख नही। उसके स्थान पर सुरा, मद्य, मास आदि का उल्लेख है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पालि साहित्य पार्श्वनाथ और महावीर दोनों महापुरुषों की परम्पराओं से परिचित रहा है। बुद्ध ने भी इसे स्वीकारा है। उन्होंने अशुद्ध तपस्या को बताते हुए शुद्ध तपस्या का व्याख्यान किया और वास्तविक तपस्या मे चार भावनाओ के परिपालन को प्रशंसनीय माना।[4]

अनेकान्तवाद—किसी पदार्थ अथवा व्यक्ति के विषय मे छद्मस्थ जीव परिपूर्ण रूप से नही जान सकता। चिन्तक अपने-अपने दृष्टिकोण से उसके विषय

---

१. ठाणांग, पृ. ४.१. टीका। २. संयुत्त. (रो.) ५, पृ. ३१७।

३. अंगुत्तर. (रोमन संस्करण) भाग ३, पृ० २७६-७.

४. देखिये लेखक का प्रबन्ध—Jainism in Buddhist Literature.

मे सोचते हैं। विचारों मे भिन्नता होने पर विचार-संघर्ष जन्म लेता है जो अनेक नये संघर्षों का जन्मदाता सिद्ध होता है। इन्ही सघर्षो को दूर करने के लिए स्याद्वाद (भाषागत) और अनेकान्तवाद (विचारगत) की प्रस्थापना की गई है। इसमे प्रत्येक दृष्टिकोण का समादर है। हठ और कदाग्रह इससे दूर है। पालि साहित्य मे इसके बीज उपलब्ध होते हैं।[1] सूत्रकृताग मे इसे **'विभज्यवाद'** कहा गया है।[2] बुद्ध ने भी चतुष्कोटिक प्रश्नो मे एक शैली **'विभज्यव्याकरणीय'** की रखी है।[3] यह स्याद्वाद और अनेकान्तवाद का पालन अहिंसा की साधना के लिए अत्यावश्यक है।

इन चारों भावनाओ को वहाँ चातुर्यामसवर कहा गया है। उसके अनुसार तपस्वी प्राणातिपात, अदिन्नादान, मृषावाद तथा कामगुणो मे मिथ्याचार के लिए कृत, कारित व अनुमोदनपूर्वक दूर रहता है।

सापेक्ष दृष्टि से विचारो को स्वीकारते हुए किसी का आदर करने पर संघर्ष स्वयमेव दूर हो जाता है। इस सिद्धान्त मे संशयवाद को कोई स्थान नही। हर दृष्टि अपनी सीमा तक निश्चित है।

अपरिग्रह और समाजवाद—जैनधर्म की यह अन्यतम विशेषता है कि उसमे अपरिग्रह को व्रत के रूप मे स्वीकार किया गया है। अपरिग्रह का तात्पर्य है आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का संग्रह न करना। पदार्थ विशेष में आसक्ति रखना परिग्रह है।[4] इच्छा, प्रार्थना, कामाभिलाषा, आकाक्षा, गृद्धि, मूर्च्छा ये सभी शब्द एकार्थक हैं।[5] किसी भी पदार्थ से ममत्व न रखे, यही अपरिग्रह है।[6] यहाँ दीन-दुःखी जीवों के प्रति कारुण्य जाग्रत करना और उनके प्रति कर्तव्य बोध कराना मुख्य उद्देश्य है। समाजवाद का भी यही सिद्धान्त है कि सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति या वर्ग विशेष मे केन्द्रित न होकर समान रूप से हर घटक मे विभाजित हो। यह समाजवाद जैनाचार्यों ने २५०० वर्ष पहले लाने का प्रयत्न किया था। समन्तभद्र ने इसी को "सर्वात्मवद्

---

१. उदम्बरिक सीहनाद सुत्त, दीघनिकाय। विशेष देखिए, इस प्रकरण के लिए मेरा निबन्ध—The Rudiments of Anekantavada in Early Pali Literature—Nagpur University Journal.

२. विभज्जवायं च वियागरेज्ज, १. ४. २२.

३. अंगुत्तर निकाय (रोमन संस्करण) भाग २. पृष्ठ ४६.

४. मूर्च्छा परिग्रहः—तत्वार्थसूत्र, ७. १७। ५. तत्वा० ७.१२ भाष्य

६. दशवैकालिका ४.१५

तद्गुणमुख्यकल्प सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव" कहकर सर्वोदयवाद की स्थापना की थी। प्रारम्भिक बौद्धधर्म मे भी यह अपरिग्रह और समाजवाद था।

भावप्राधान्य—श्रमण-सस्कृति मे भावो की प्रधानता पर जोर दिया गया है। जिसके परिणाम हिंसात्मक हो गये हो वह हिंसा भले ही न कर सके पर पाप का भागी अवश्य होगा और जिसके हिंसा के भाव न हो किन्तु शरीर से किसी कारणवश हिंसा हो गई हो तो वह हिंसा के फल का भागी कदापि न होगा।

अभिधायापि हि हिसा हिंसाफलभाजनं भवत्येक.।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥[1]

मज्झिमनिकाय मे निगण्ठनातपुत्त के सिद्धान्त 'दण्ड-दण्ड' पर आधारित बताते हैं। इसमे कायदण्ड (कायिक-हिंसा) सर्वाधिक पापोत्पादक है।[2] इस उद्धरण की व्याख्या यद्यपि वहाँ भ्रमोत्पादक है पर उसका वास्तविक तात्पर्य यही है कि भावपूर्वक शरीर से हिंसा करना घोर पाप का कारण है।

सारा संसार जीवों से आपूर है। कोई कितना भी अहिंसक हो, इन सूक्ष्म जीवों जी हिंसा से विरत नही हो सकता। इस स्थिति मे भावों की प्रधानता ही हिंसक-अहिंसक की विभेदक-रेखा मानी जाती है।

विष्वग्जीवचितो लोके क्व चरन् कोप्य मोक्ष्यत्।
भावैकसहनौ बन्धमोक्षौ चेन्न भविष्यताम् ॥[3]

भावों की प्रधानता को यदि स्वीकार न किया जाय तो एक ही व्यक्ति द्वारा कान्ता और दुहिता के साथ की गई चुम्बन-क्रिया मे कोई अन्तर नहीं होगा।[4] अत. हमारी सभी क्रियायें शुभ-अशुभ अथवा कुशल अकुशल कर्मों और भावों पर आधारित हैं।[5]

अहिंसा पर विचार करते समय एक और प्रश्न खडा होता है। वह यह कि ससार मे युद्ध जब आवश्यक हो जाता है तो उस समय अहिंसा का साधक कौन-सा रूप अपनायेगा? यदि युद्ध नही करता तो आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा दोनों खतरे में हो जाती है और यदि युद्ध करता है तो अहिंसक कैसा? इस प्रश्न

---

१. पुरुषार्थ० ५१. २. मज्झिम० (रोमन संस्करण) भाग १, पृ० ३७२

३. मिलाइए—जले जन्तु: थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक: ॥

४. अवशुद्धिर्मनुष्याणां विज्ञेया सर्वकर्मसु।
अन्यथा चुम्ब्यते कान्ता भावेन दुहितान्यथा ॥ सुभाषितावली, पृ. ४९३

५. पंचाध्यायी, ८१३.

का भी समाधान आचार्यो ने किया है और कहा है कि आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। चन्द्रगुप्त, चामुण्डराय, खारवेल आदि जैसे धुरन्धर जैन अधिपति योद्धाओ ने शत्रुओ के शताधिक बार दात खट्टे किये हैं। जैन-बौद्ध साहित्य मे जैन-बौद्ध राजाओं की युद्धकला पर बहुत कुछ लिखा मिलता है। बाद में उन्ही राजाओं को वैराग्य लेते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। अत: यह सिद्ध है कि रक्षणात्मक हिंसा पाप का कारण नही। ऐसी हिंसा को तो वीरता कहा गया है।

य: शस्त्रवृत्ति: समरे रिपु. स्याद् य: कण्टको वा निजमण्डलस्य।
तमैव अस्त्राणि नृपा: क्षिपन्ति न दीनकानीनकदाशयेषु ॥ यशस्तिलकचम्पू

इस प्रकार श्रमण–संस्कृति की अहिंसा मानवता की आधार-शिला है। इस पर अनेक ग्रन्थ आचार्यो ने लिखे हैं। समूचा जैन और बौद्ध धर्म अहिंसा पर ही आधारित है। इनमे भी अहिंसा की जितनी अधिक गहराई तक जैनाचार्य पहुँचे हैं, उतने बौद्धाचाय नही। जैनो ने मद्य, मास, मधु, पंचोदम्बरफल, रात्रिभोजन आदि का भी पच पापो के साथ-साथ त्याग करने का निर्देश दिया है, जबकि बौद्ध धर्म इतना अधिक सीमावद्ध नही। बौद्ध धर्म मे मास-भक्षण आदि की सीमाये काफी अधिक शिथिल कर दी गई, पर जैनधर्म मे यह शिथिलता नही मिलती। जैनाचार्यों ने तो प्रत्येक व्रत की भावनाओ तथा उनके अतिचारो का भी सागोपांग सुन्दर विवेचन किया है। वस्तुत: जैनाचार्यो ने अहिंसा को परम धर्म मानकर शेष धर्मों–व्रतों को उसी के प्रकार के रूप मे स्वीकार किया है[1] और उनका परिपालन करने के लिए विविध मार्गो को भी सुझाया है। इन मार्गों पर चलने से नि:सन्देह विश्वशान्ति स्थापित हो सकती है और अधिकांश विश्व समस्याओं का समाधान भी संभव है।

इस सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि साधक धर्म को राजनीतिक हथकण्डा न बनाकर उसे आध्यात्मिक साधन का एक केन्द्रविन्दु माने। अहिंसा का सही साधक वह है जिसकी समूची साधना मानवता पर आधारित हो और मानवता के कल्याण के लिए उसका मूलभूत उपयोग हो। एतदर्थ खुला मस्तिष्क, विशाल दृष्टिकोण, समधर्म समभाव और सहिष्णुता अपेक्षित है। श्रमण-संस्कृति की मूल आत्मा ऐसे ही पुनीत मानवीय गुणो से सिञ्चित है और उसकी अहिंसा वन्दनीय तथा विश्व कल्याणकारी है।

●

१. अहिंसा परमो धम्मो, महव्वताणि एतस्सेवं अत्थविसेसगाणि-अगस्त्य चूर्णि-दशवैकालिक: एक समीक्षात्मक अध्ययन में उद्धृत, पृ. ८३

परिवर्त ‖ १

अभिधर्म दर्शन

अभिधर्म दर्शन बौद्ध चिन्तन का प्रधान स्तम्भ है। कर्म उसका धरातल है। आचार और तत्वज्ञान उसकी समन्वित साधना से निर्मित एक प्रासाद है जिसकी मनोरम कलात्मक शिखरों मे अभिधर्म, कोश, व्याकरण, व्याख्याग्रन्थ, न्याय आदि के हृदयस्पर्शी मणि जटित हैं। उन मणियो का प्रकाश व्यक्ति के व्यक्तित्व की विविध दिशाओं को प्रारम्भ से ही आलोकित करता रहा है।

अभिधर्म की उत्पत्ति—परम्परानुसार प्रस्तुत अभिधर्म बुद्धकालीन है। इसे यदि समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है अभिधर्म दर्शन की भूमिका भगवान् बुद्ध के काल मे बन चुकी थी। यह सही भी है क्योंकि सुत्तपिटक और विनयपिटक मे, विशेष रूप से सुत्तपिटक मे अभिधर्म के प्रारम्भिक स्तर मिलते ही हैं। इस दृष्टि से यह सम्भावना अधिक बढ़ जाती है कि तथागत का ध्यान अभिधर्म पर अवश्य था। और फिर तो अभिधर्म आज का मनोविज्ञान है जिस पर बुद्ध की देशना का प्रकार निर्भर रहा है। तथागत बुद्ध व्यक्ति के अध्याशय, अनुशय और अधिशक्ति आदि को पूर्णरूप से समझकर ही धर्मदेशना दिया करते थे।

उसी भूमिका पर उत्तरकाल मे अभिधर्म पर चिन्तन बढ़ता गया और तृतीय संगीति तक आते-आते उसका एक सुचिन्तित रूप हमारे सामने आ गया। इसका उदाहरण है समूचा **अभिधर्म पिटक**। उसमे सात ग्रन्थ हैं—धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु यमक तथा पट्ठान। इन सभी ग्रन्थों का रचनाकाल एक नही है, फिर भी साधारणतः हम यह कह सकते हैं कि अभिधम्म पिटक सुत्त और विनय का उत्तरवर्ती है। बुद्ध के उपदेशो के आधार पर उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने उसे विकसित किया है। अतएव वर्तमान में उपलब्ध अभिधम्म को बुद्धवचन नही कहा जा सकता।

अभिधम्म पिटक पर बुद्धघोष ने कुछ अट्ठकथायें लिखी हैं। धम्मसंगणि की अट्ठकथा अट्ठसालिनी, विभंग की अट्ठकथा संमोहविनोदनी, और शेष

पाँच ग्रन्थों (धातुकथा, कथावत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, यमक और पट्ठान) की अट्ठकथाओं का संयुक्त नाम "पञ्चप्पकरणट्ठकथा" है। धम्मसंगणि पर आनन्द की लीनत्थवण्णना अथवा अभिधर्ममूलटीका और धम्मपाल की अनुटीका भी प्रसिद्ध है।

अभिधर्म की आचार्य-परम्परा—आचार्य बुद्धघोष ने अभिधर्म के विषय में उठनेवाले प्रश्नों का समाधान उपस्थित किया है। **अट्ठसालिनी** में ऐसे प्रश्न और उनके उत्तर दर्शनीय हैं। वहाँ कहा गया है कि अभिधम्म भगवान् बुद्ध का वचन है (भगवतो वचनं अरहतो सम्मा संबुद्धस्स)। उन्होंने सर्वप्रथम त्रायस्त्रिंश स्वर्ग मे अपनी माता को उसका उपदेश दिया। तदनन्तर उसे धम्म सेनापति सारिपुत्त के समक्ष अनोतप्त सरोवर पर दुहराया। सारिपुत्त ने बाद में उसी अभिधम्म को अपने ५०० शिष्यों को सिखाया। तृतीय संगीति तक सारिपुत्त, भद्दजि, सोभित, पियजालि, पियपाल, पियदस्सि, कोसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, विसुदत्त, धम्मिय, दासक, सोणक, रेवत आदि स्थविरों ने अभिधम्म का अध्ययन-अध्यापन कराया। इसके बाद इन आचार्यों की शिष्य-परम्परा ने अभिधर्म के अध्ययन को आगे बढ़ाया। कहा जाता है कि महिन्द भारत से श्रीलंका में अभिधम्म पिटक भी ले गये थे। उन्ही के अनुकरण पर इद्धिय, उत्तिय, भद्दनाम, और सम्बल ने उसके अध्ययन को लोकप्रिय बनाया। तभी से वर्तमान में उपलब्ध अभिधम्म यथावत् है। बुद्धघोष का यह कथन किसी सीमा तक सही हो सकता है। वट्टगामणि अभय के राज्यकाल मे २९ ई–पू. में सम्पूर्ण त्रिपिटक श्रीलंका मे लिपिबद्ध हो गया। लगभग प्रथम शताब्दी ई–पू. के मिलिन्दपञ्ह मे उक्त सातों ग्रन्थों के नामों का भी उल्लेख मिलता है। अतः अभिधम्म पिटक का वर्तमान रूप लगभग प्रथम शताब्दी ई. पू. तक स्थिर हो चुका था।

अभिधर्म का अर्थ—अभिधम्म मे **अभि** उपसर्ग विशेष अर्थ का सूचक है (अतिरेक विसेसत्थ दीपको हि एत्थ अभिसद्दो)।[1] सुत्तपिटक से अभिधर्म पिटक में यह विशेषता है कि अभिधम्म पिटक में कुशल, अकुशल, अव्याकृत आदि धर्मों का प्रतिपादन विविध विभाजनों एवं नयों से किया गया है। आर्य असंग ने अभिधर्म शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ मे यह बताया कि अभिधर्म निर्वाण का अभिमुखी है। धर्म के विविध वर्गीकरणों को प्रस्तुत करता है, विरोधी मतों का खण्डन करता है तथा सुत्तपिटक का अनुगमन करता है।[2]

---

१. अट्ठसालिनी, पृ. १

२. अभिमुखतोऽथाभीक्ष्णवादभिभवगतितोऽभिधर्मः, महा. सूत्रा. ११'३.

अर्थ विनिश्चय सूत्र के अनुसार अभिधर्म पिटक पृथक् पिटक नही, अपितु उसका अन्तर्भाव सूत्र पिटक मे हो जाता है।[1]

अभिधर्म साहित्य—अभिधम्म पिटक मे बौद्ध मनोविज्ञान का वर्णन अधिक क्रमबद्ध नहीं हो पाया। अत: उत्तरकालीन आचार्यों ने उसे अपने अध्ययन का विषय बनाया। फल स्वरूप अभिधम्म पर पालि और संस्कृत मे कतिपय टीकायें और मौलिक ग्रन्थ लिखे गये।

१ पालि अभिधम्म साहित्य—सर्वप्रथम अभिधर्म (पालि) साहित्य पर बुद्धदत्त ने अभिधम्मावतार और रूपारूपविभाग नामक ग्रन्थ लिखे। अभिधम्मावतार मूलत: पद्यबद्ध है, यद्यपि यत्र-तत्र व्याख्या के रूप मे गद्य का भी वहाँ प्रयोग किया गया है। डा० भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार बुद्धघोष की अभिधम्म सम्बन्धी अट्ठकथाओं के आधार पर इसका प्रणयन हुआ है।[2] परन्तु उनका कथन अधिक उपयुक्त प्रतीत नही होता। क्योंकि बुद्धघोसुप्पत्ति के अनुसार उस समय बुद्धदत्त अपनी अन्तिम अवस्था मे पहुँच चुके थे। दूसरी ओर बुद्धघोष युवक थे। श्रीलंका में पहुँचकर अध्ययन करना और फिर उतने गम्भीर ग्रन्थो का प्रणयन करना समय सापेक्ष है। अत: यह अधिक सम्भावित है कि बुद्धदत्त बुद्धघोस के ग्रन्थो को इच्छा होते हुए भी नही देख सके होंगे। फलत: बुद्धदत्त ने श्रीलंका के अध्ययन के आधार पर अभिधम्म पिटक के विषय को ही संक्षेप मे अभिधम्मावतार मे निबद्ध कर दिया होगा। रूपारूप विभाग भी इसी प्रकार का ग्रन्थ है। बुद्धघोष के ग्रन्थो की अपेक्षा बुद्धदत्त के ग्रन्थों की भाषा अधिक प्रसादमयी और सरल है। इस दृष्टि से बुद्धदत्त का योगदान अविस्मरणीय है।

२. अभिधम्म पिटक के आधार पर पालि मे अभिधम्म साहित्य की सर्जना का विशेष श्रेय आचार्य बुद्धघोष को दिया जा सकता है। उन्होने अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठकथा), संमोहविनोदिनी (विभंग की अट्ठकथा), और पंचप्पकरणट्ठकथा (शेष ५ अभिधम्म ग्रन्थो पर अट्ठकथा) लिखी हैं। इनके अतिरिक्त विसुद्धिमग्ग को भी इसी श्रेणी मे रखा जा सकता है। इसके लेखन का आधार बौद्ध दर्शन का एक मूलभूत प्रश्न है। श्रावस्ती मे विहार करते समय रात्रि में किसी देवपुरुष ने आकर भगवान् बुद्ध से अपना सन्देह दूर करने के लिए प्रश्न पूछा कि अन्तर और बाहर, चारों ओर व्यक्ति अपनी और परायी

---

१. अभिधर्मकोश व्याख्या, १-४, पृ. १३ (Lave) अर्थ वि. पृ. २८।
२. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ५३५।

वस्तुओं की तृष्णा (जटा) में बाँस की शाखा–जाल (जटा) के समान जकड़ा हुआ है। इसलिए हे गौतम ! मैं आपसे यह पूछता हूँ कि इस तृष्णा को कौन काट सकता है ?

अन्तो जटा बहि जटा, जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम ! पुच्छामि, को इमं विजटये जटं ॥[1]

भगवान् बुद्ध ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि जो व्यक्ति प्रज्ञावान् है, वीर्यवान् है, पण्डित है, भिक्षु (संसार से भयवीत होनेवाला) है, वह शील पर प्रतिष्ठित होकर चित्त (समाधि) और प्रज्ञा की भावना करते हुए इस जटा (तृष्णा) को काट सकता है—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खू, सो इयं विजय्ये जटं ॥[2]

बुद्धदत्त और बुद्धघोष के बाद और भी अनेक आचार्य हुए जिन्होंने पालि भाषा में अभिधम्म दर्शन को समझाने का अथक प्रयत्न किया है। उनमें प्रमुख ग्रन्थ और ग्रन्थकार इस प्रकार हैं—

३. आनन्द (८–९ वीं शती)—मूल टीका अथवा अभिधम्म मूल टीका (लीनत्थवण्णना)

४. अनिरूद्ध (१०–११ वीं शती)—(i) परमत्थ विनिश्चय, (ii) नामरूपपरिच्छेद और (iii) अभिधम्मत्थसंगहप्पकरण।

५. महाकास्सप (१२वीं शती)—(i) पोराण टीका, (ii) पठमपरमत्थप्पकासिनी अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्कथा टीका), (iii) दुतिय परमत्थप्पकासिनी— सम्मोहविनोदनी (विभंगणट्ठकथा), (iv) ततिय परमत्थप्पकासिनी–पञ्चप्पकरगट्ठकथा (धातुकथा, पुग्गलपञ्चत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान की अट्ठकथा)।

६. वाचिस्सर (१२ वीं शती)—(i) नामरूपपरिच्छेदटीका, (ii) अभिधम्मावतारटीका।

७. सुमंगल (१२ वीं शती)—(i) अभिधम्मत्थविभाविनी, (ii) अभिधम्मत्थविकासिनी।

---

१. संयुत्तनिकाय, १·३·३, २. वही, १–३–३,

८. छपद (१२ वी शती)—( ) मातिकत्थदीपिनी, (ii) पट्ठान गणनानय, (ii)
नामचारदीप अथवा नाम–चार–दीपनी, अभिधम्म-
त्थसंगहसखेपटीका ।

९. अरियवंश (१५ वी शती)—(i) मणिसारमञ्जूसा (अभिधम्मत्थविभावनी
की टीका, (ii) मणिदीप (अट्ठसालिनी की
टीका) (iii) अभिधम्म अनुटीका ।

१०. सद्धम्मालंकार (१६ वी शती)—पट्ठानसारदीपकी ।

११ महानाम (१६ वी शती)—अभिधम्ममूल टीका की अनुटीका ।

१२. प्रोम (१७ वी शती)—वीसतिवण्णना (अट्ठ. की प्रारम्भिक २० गाथाओं
की टीका) ।

१३ तिलोकगुरू (१७ वी शती)—(i) धातुकथा टीका वण्णना (ii) धातुकथा
अनुटीका वण्णना (iii) यमक वण्णना, और
पट्ठान वण्णना ।

१४. सारदस्सी (१७ वी शती)—(i)गूळहत्थदीपनी,(ii)विसुद्धिमग्गगण्ठिपदत्थ ।

१५. महाकस्सप (१७ वी शती)—अभिधम्मत्थ गण्ठिपद ।

१६. सारदस्सी (१८ वी शती) धातुकथा योजना ।

१७. लेदि सहदाव (१९ वी शती)—परमत्थदीपनी टीका ।

१८. धर्मानन्द कोसम्बी (२० वी शती)—(i) विसुद्धिमग्गदीपिका (ii) नवनीत
टीका (अभिधम्मत्थसंगह पर) ।

इनके अतिरिक्त गन्धवंश (१९ वी शती) मे कुछ ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का और भी उल्लेख मिलता है—

१९ नवमोग्गलान	अभिधानप्पदीपिका ।
२०. वाचिस्सरो	रूपारूपविभाग ।
२१. नवविमलबुद्धि	अभिधम्मपण्णरसट्ठान ।
२२. ?	विसुद्धिमग्गगन्धि ।
२३. ?	अभिधम्मगन्धि ।
२४. ?	विसुद्धिमग्गचुल्लनव टीका ।

आचार्य अनिरुद्ध और उनका अभिधर्म दर्शन

पालि भाषा मे अभिधर्म पर लिखने वाले इन दार्शनिक आचार्यों मे आचार्य अनिरुद्ध का स्थान मूर्धन्य है। उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता और चुम्बकीय व्यक्तित्व का दर्शन उनके ग्रन्थों में उपलब्ध है। दक्षिण भारत का यह स्थविरवादी आचार्य किस शताब्दी मे हुआ, यह अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है। ५ वी शताब्दी से लेकर ११–१२ वी शताब्दी तक का समय अनिरुद्ध के लिए

दिया जा रहा है। विद्वानो की धारणा है कि वे इसी समय के बीच हुए होंगे। यह एक लम्बी सीमा है। मेरा मत है कि आचार्य अनिरुद्ध १०–११ वी शती के होना चाहिए। उन्होने आचार्य बुद्धघोष का विसुद्धिमग्ग, वसुवन्धु का अभिधर्म कोश, तथा आनन्द की अभिधम्म मूलटीका आदि ग्रन्थो का भलीभाँति पारायण किया होगा। अभिधम्म पिटक का स्वरूप तबतक स्थिर हो ही चुका था। इन सभी के आधार पर उन्होंने अभिधम्मत्थ संग्रह की रचना की है। भाषा, शैली तथा विषय के आधार पर उन्हे ४–५ वी शताब्दी का नही माना जा सकता, जैसा कि सर्व श्री भदन्तरेवतधम्म और रामशंकर त्रिपाठी ने निश्चित किया है।[1] उन्हे बुद्धदत्त का 'कनिष्ठभ्राता' कहा गया है यह परम्परा भी इससे प्राचीन नही।

ईसा शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे ही पालि साहित्य के अध्ययन के लिए श्रीलंका ने अपना विशेष स्थान बना लिया था। और भारत में पालि साहित्य के स्थान को बौद्ध संस्कृत साहित्य ने ले लिया था। यही कारण है कि समय-समय पर भारत से बुद्धदत्त, बुद्धघोष जैसे प्रकाण्ड आचार्य पालि के अध्ययन के लिए श्रीलका पहुँचे। परमत्थविनिच्छय के निगमन वाक्य के आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि अनिरुद्ध दक्षिण भारत के काञ्ची राज्य के अन्तर्गत कावेरी नगर के निवासी थे। उन दिनों कावेरी स्थविरवादी बौद्धधर्म का एक अच्छा केन्द्र था। बुद्धदत्त भी यही के निवासी थे और बुद्धघोष ने भी यहाँ अपना कुछ अमूल्य समय व्यतीत किया था। अनिरुद्ध भी उसी परम्परा मे आते हैं। ये भी श्रीलंका विशेष अध्ययन के लिए गये थे। उन्होंने अपने अभिधम्मत्थसंगह की रचना श्रीलंका के अनुराधपुर के मूलसोम नामक महाविहार मे की थी।

चारित्तसोभितविसालकुलोदयेन
सद्धाभिवुड्ढपरिसुद्धगुणोदयेन।
नम्बव्हयेन पणिधाय परानुकम्पं
यं पत्थितं पकरणं परिनिट्ठितं तं॥
पुञ्ञेन तेन विपुलेन तु मूलसोमं
धञ्ञाधिवासमुदितोदितमायुगन्तं।
पञ्ञावदातगुणसोभितलज्जिभिक्खू
मञ्ञन्तु पुञ्ञविभवोदयमङ्गलाय॥[2]

---

१. अभिधम्मत्थसंगह, हिन्दी अनुवाद, भा. १, प्रस्तावना, पृ. ३३।
२. अभिधम्मत्थसंगह, निगमन वाक्य।

अनिरुद्ध के अभिधर्म सम्बन्धी तीन ग्रन्थ मिलते हैं—परमत्थ विनिच्छय नामरूप परिच्छेद और अभिधम्मत्थ संगह। उनमे अभिधम्मत्थसंगह अधिक लोकप्रिय हुआ है। वर्मा मे तो यह गीता के समान घर-घर मे पढ़ा जाता है। अनिरुद्ध का एक और ग्रन्थ मिलता है – अनिरुद्ध सतक।

अनिरुद्ध के इन ग्रन्थों मे **अभिधम्मत्थसंगह** पर सर्वाधिक टीकायें लिखी गई है। वर्मी और सिंहली भाषाओं के अतिरिक्त पालि मे निम्नलिखित लगभग ६ टीकायें मिलती हैं।

१. अभिधम्मत्थ संगहटीका	नवविमलथेर	१२-१३वीं शती
२. अभिधम्मत्थ विभावनी टीका	सुमंगल	१२वीं शती
३. अभिधम्मत्थसंगह टीका	धम्मकेतु (छपद)	१२वी शती
४. परमत्थदीपनी टीका	लेदी सयाडो	१९वीं शती
५. अंकुर टीका	विमल सयाडो	१९वीं शती
६. नवनीत टीका	धर्मानन्द कोसम्बी	१९४१ ई०

संस्कृत अभिधर्म साहित्य

अभिधर्म पर संस्कृत मे भी बहुत साहित्य लिखा गया है। टायसो मे प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार उल्लिखिन है—

१. धर्मस्कन्ध	सर्वास्तिवादी	**Taisho**	१५३०
२. धातुकाय	,,	,,	१५४०
३. विज्ञानकाय	,,	,,	१५३९
४. संगीतिपर्याय	,,	,,	१५३६
५. सारिपुत्राभिधर्मशास्त्र	,,	,,	१५४८
६. ज्ञानप्रस्थान (कात्यायनीपुत्र)	,,	,,	१५४३
७. प्रज्ञप्तिशास्त्रपाद	,,	,,	१५३८
८. प्रज्ञप्तिपाद (वस्तुमित्र)	,,	,,	१५४१
९. अभिधर्मसार (धर्मश्री)	,,	,,	१५५०
१० संयुक्ताभिधर्मसार	,,	,,	१५५२
११. अभिधर्मसार व्याख्या (उपशान्त)	,,	,,	१५५२
१२. अभिधर्मामृतसार शास्त्र (घोषक)	,,	,,	१५५३
१३. अभिधर्मावतार (स्कन्धिल)	,,	,,	१५५४
१४. सारसमुच्चय			

१५.	न्यायानुसार (संघभद्र)	सर्वास्तिवादी	Taisho	१५६२
१६.	समयप्रदीपिका (संघभद्र)	,,	,,	१५६३
१७.	अभिधर्मदीप और विभाषाप्रभावृत्ति (विमलमित्र)			
१८.	अभिधर्मकोष (वसुबन्धु)	सौत्रान्तवादी	,,	१५५८
१९.	अभिधर्म कोश भाष्य	,,	,,	
२०.	सूत्रानुरूपवृत्ति (विनीतभद्र)	,,	,,	
२१.	स्फुटार्थ व्याख्या (यशोमित्र)	,,	,,	
२२.	लक्षणानुसारी टीका (पूर्णवर्धन)	,,	,,	
२३.	उपयिका टीका (समथदेव)	,,	,,	
२४.	मर्मप्रदीपवृत्ति (दिङ्नाग ?)	,,	,,	
२५.	तत्वार्थ भाष्य टीका (स्थिरमति)	,,	,,	
२६.	लक्षणानुसार (गोमती)	,,	,,	
२६.	क्रमसिद्धि प्रकरण (वसुबन्धु)	,,	,,	
२८.	क्रमसिद्धि टीका (सुमतिशील)	,,	,,	
२९.	सत्यसिद्धि शास्त्र	वहुश्रुतीय		
३०.	अभिधर्म समुच्चय (नागार्जुन)			
३१.	योगाचारभूमिशास्त्र (असंग)			
३२.	अभिसमयालंकार (मैत्रेय)	माध्यमिक		
३३.	अभिसमयालकार टीका			
३४.	अभिधर्म समुच्चय (असंग)—	विज्ञानवादी		
३५.	माध्यन्तविभंग और टीका			
३६.	धर्माधर्मविभंग			
३७.	अभिधर्म समुच्चय (स्थिरमति)			
३८.	अभिधर्म समुच्चय टीका (जिनपुत्र)			
३९.	अर्थविनिचश्य सूत्र और टीका			
४०.	अभिधर्म समयालंकारालोक (हरिभद्र)			

अभिधर्म दर्शन

उक्त अभिधर्म साहित्य मे आचार्य अनिरुद्ध का **अभिधम्मत्थसंगह** ग्रन्थ सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनने ९ परिच्छेद हैं जिनमे स्थविरवादी अभिधर्म की लगभग सभी परम्पराओ का समावेश किया गया है। यहाँ हम उसी के आधार पर अभिधर्म दर्शन के सन्दर्भ में विचार करेंगे।

१. चित्त संगह

अभिधर्म दर्शन मे मूलतः चार अर्थ निर्दिष्ट है—चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण। उन्हे परमार्थ भी कहा गया है क्योंकि उनका अपलाप नही किया जा सकता। **चित्त** स्पर्शादिक चेतसिकों द्वारा आलम्बनों का ज्ञान करता है। **चेतसिक** चित्त मे उत्पन्न होने वाले धर्म है। **रूप** सीत, उष्ण आदि विरोधात्मक तत्वों से विकार ग्रस्त हो जाने वाला तत्व है तथा **निर्वाण** तृष्णा का उपशमन है। चित्त ४ प्रकार का होता है - कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर।

१. **कामावचर चित्त**—प्राय: काममूमि मे उत्पन्न होने के कारण ये चित्त कामावचर चित्त कहे जाते है। कामभूमि मे विकार भावो के मूलकारण तीन है- लोभ, द्वेष और मोह। इसलिए इन्हे हेतुक चित्त अथवा अकुशल चित्त कहा जाता है। इनकी संख्या १२ है।

१. कामावचर चित्त—५४

१. अकुशल चित्त (१२)

१. लोभमूल चित्त--८

क. सोमनस्स सहगत दिट्ठिगतसम्प्रयुक्त	असङ्खारिक
ख. ,,	सङ्खारिक
ग. सोमनस्स सहगत दिट्ठगत विप्रयुक्त	असङ्खारिक
घ. ,,	सङ्खारिक
ङ. उपेक्खा सहगत दिट्ठगत सम्प्रपुक्त	असङ्खारिक
च. ,,	सङ्खारिक
छ. उपेक्खा सहगत दिट्ठगत विप्रयुक्त	असङ्खारिक
ज. ,,	सङ्खारिक

२. द्वेषमूल चित्त ८

ट. दोमनस्ससहगतपटिघसंपयुक्त	असङ्खारिक
ठ. ,,	सङ्खारिक

३. मोहमूल चित्त— २

क. उपेक्खा सहगतविचिकिच्छसपयुक्त

ख. उपेक्खासहगत उद्धच्च सम्पयुक्त

जिनमे लोभ, द्वेष और मोह कारण नही होते वे कुशलचित्त अथवा अहेतुकचित्त कहे जाते है। अहेतुकचित्तो की संख्या १८ है—

२. अहेतुकचित्त (१८)

१. अकुसल विपाकचित्त—७

अ. उपेक्षासहगत चक्षुर्विज्ञान
आ. „ स्रोतविज्ञान
इ. „ घ्राण विज्ञान
ई. „ जिह्वा विज्ञान
उ. दु.ख सहगत कायविज्ञान
ऊ. उपेक्षासहगत सम्प्रतिच्छन चित्त
ए. „ सन्तीरण चित्त

२. अहेतुक कुशलविपाक—८

प. उपेक्षासहगत कुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान
फ. „ „ स्रोत्रविज्ञान
ब. „ „ घ्राण विज्ञान
भ. „ „ जिह्वा विज्ञान
म. सुखसहगत काम विज्ञान
य. उपेक्षासहगतसंप्रतिच्छन चित्त
र. सौमनस्ससहगत सन्तीरण चित्त

३. अहेतुकक्रियचित्त - ३

ट. उपेक्षासहगत पञ्चद्वारावर्जनचित्त
ठ. मनोद्वारावर्जन चित्त
ड. सौमनस्स सहगत हसितोत्पाद चित्त

३. शोभनाचित्त—५९

शोभनचित्त का तात्पर्य है विशुद्ध चित्त। ऐसा चित्त अलोभादि गुणों से संप्रयुक्त हो जाता है। अभिधर्मप्रदीप मे शोभन चित्तों का सम्बन्ध चित्त से न कर चेतसिक से किया गया है। पर यह उपयुक्त नहीं क्योकि चेतसिक का दोष अथवा अदोष चित्त की अशुद्धि अथवा विशुद्धि पर अवलम्बित है। इन शोभनचित्तों की संख्या ५९ है।

२. कामावचर शोभन चित्त - २४

१. कामावचर कुशलचित्त - ८

य.	सौमनस्ससहगत ज्ञान सम्प्रयुक्त	असंस्कारिक
र.	,, ,,	ससंस्कारिक
लं.	,, ज्ञान विप्रयुक्त	असंस्कारिक
व.	,, ,,	ससंस्कारिक
स.	उपेक्षा सहगत ज्ञान संप्रयुक्त	असंस्कारिक
ष.	,, ज्ञान विप्रयुक्त	ससंस्कारिक
श.	,, ,,	असंस्कारिक
ह,	उपेक्षा सहगत ज्ञान विप्रयुक्त	ससंस्कारिक

विभावनी टीका मे कुशलचित्तो की उत्पत्ति श्रद्धा, प्रज्ञा आदि से बतायी गई है। उसकी सख्या अतीत आदि भेद से भिन्न 'करके असङ्ख्य तक निर्दिष्ट है।

कम्मेन पुञ्ञवत्थूहि गोचराधिपतीहि च।
कम्महीनादितो चेव गणेय्य नयकोविदो ॥

२. सहेतुक कामावचर विपाकचित्त (८)

१	सौमनस्य सहगत ज्ञान संप्रयुक्त	असंस्कारिक
२.	,, ,,	ससंस्कारिक
३.	,, ज्ञानविप्रयुक्त	असंस्कारिक
४.	,, ,,	ससंस्कारिक
५.	उपेक्षा सहगत ज्ञानसंप्रयुक्त	असंस्कारिक
६.	,, ,,	ससंस्कारिक
७.	,, ज्ञान विप्रयुक्त	असंस्कारिक
८.	,, ,,	ससंस्कारिक

सामान्य व्यक्ति के समान अर्हन्त भी दानादिक पुण्य कार्य करते हैं परन्तु उनका फल न होने से उनके कर्म कुशलकर्म नहीं होते, क्रियामात्र होते हैं। ये सहेतुक कामावचर विपाकचित्त आठ कामावचर कुशल चित्तो के विपाक (फल) हैं। वे लोभादि हेतुओ से उत्पन्न होते है। इसीलिए उन्हे सहेतुक कहा गया है।

१. सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त (८)

पूर्वोक्त सौमनस्य वेदना सहगत आदि के भेदो के समान सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त भी ८ प्रकार के होते है। अर्हन्तो मे अविद्या, तृष्णा आदि अनुशयो के अभाव से ये क्रियाचित्त मात्र क्रियात्मक रहते है, फलोत्पादक नही होते।

इस प्रकार १२ अकुशल चित्तो तथा १८ अहेतुक चित्तो को छोडकर शेष ५६ चित्त शोभनचित्त कहलाते है। उक्त ५४ कामावचर शोभन चित्तों (अकुशल १२, अहेतुक १८, शोभन २४), मे विपाक २३ (कुशल ७, अहेतुक कुशल ८, महाविपाक ८), कुशल-अकुशल २० (अकुशल १२, महाकुशल ८,) तथा क्रियाचित्त ११ (अहेतुक ३, महाक्रियाचित्त ८) होते है।

२ रूपावचर शोभन चित्त (१५)

रूपावचर का तात्पर्य है रूप अर्थात् आकार का आवलम्बन कर चित्त मे एकाग्रता लाना। एकाग्रता का अर्थ है ध्यान। ये ५ है वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता। ध्यान के इन पाँच अंगो के आधार पर रूपापवचर कुशलचित्त ५ प्रकार के है। इसी प्रकार रूपावचर विपाक चित्त के ५ और रूपावचर क्रियाचित्त के भी ५ भेद होते है। कुल मिलाकर रूपावचर शोभनचित्त के १५ भेद हुए।

३. अरूपावचर शोभन चित्त (१२)

अरूपावचर शोभनचित्त चित्त की वह अवस्था है जिसमे चित्त आकारहीन विषयों पर एकाग्र होने लगता है। यह चित्त भी एक विशुद्ध अवस्था का प्रतीक है। अरूपावचर कुशल चित्त मे चित्त आकाश, विज्ञान, आकिञ्चन्य एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन, इन चार निराकार आलम्बनो पर अपना ध्यान एकाग्र करता है। इसी प्रकार अरूपावचर विपाक चित्त और अरूपावचर क्रियाचित्त भी चार-चार प्रकार के होते हैं। इस प्रकार अरूपावचर शोभनचित्त के १२ भेद हुए है। ये चित्त आलम्बन के भेद से ४ प्रकार के होते हैं और कुशल, विपाक एवं क्रिया के भेद से १२ प्रकार के होते है।

४. लोकुत्तर शोभनचित्त (८)

अरूपावचर चित्त - चित्त के शुद्ध रूप का प्रतीक है। फिर भी उसमे चंचलता बनी रहती है। उस चंचलता को दूर करने के लिए १० संयोजनों का समूल विनाश होन चाहिए। ऐसा ही चित्त निर्वाण का साक्षात्कार करने वाला होता है। स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी और अर्हत्, ये चार मार्गचित्त लोकुत्तर कुशलचित्त के चार भेद हैं। इसी प्रकार लोकोत्तर विपाक चित्त के भी चार भेद हैं।

इस प्रकार अकुशल, कुशल एवं अव्याकृत जाति के आधार पर चित्तों की कुल संख्या ८९ होती है।

अकुशल			१२
कुशल	कामावचर	८	२१
	रूपावचर	५	
	अरूपावचर	४	
	लोकोत्तर	४	
	विपाक		
	अकुशल विपाक	७	३६
	अहेतुक कामावचर कुशल विपाक	८	
	सहेतुक कामावचर कुशल विपाक	८	
	रूपावचर विपाक	५	
	अरूपावचर विपाक	४	
	लोकोत्तर विपाक	४	
	क्रिया		
अव्याकृत	अहेतुक	३	२०
	कामावचर	८	
	रूपावचर	५	
	अरूपावचर	४	
			चित्त की कुल संख्या ८९

भूमियो के अनुसार चित्तो की संख्या इस प्रकार है—

भूमि	चित्त
कामभूमि	५४
रूप भूमि	१५
अरूप भूमि	१२
लोकोत्तर भूमि	८
	कुल ८९

ये ८९ प्रकार के चित्त १२१ भी हो जाते हैं। स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हतमार्ग चित्त के ध्यान के पाच भेदों से ५ × ४ = २० भेद होते हैं। फलचित्त भी इसी प्रकार २० भेद वाला हो जाता है। इस प्रकार लोकोत्तर चित्त के ४० भेद हुए। इस प्रकार पुण्यचित्त ३७ और विपाक चित्त ५२ हुए अथवा कुशलचित्त ३७, अकुशल चित्त १२, विपाकचित्त ५२ तथा क्रियाचित्त २० (३७ + १२ + ५२ + २०)। इस प्रकार कुल १२१ भेद कुशल चित्त के हुए।

२. चैतसिक संग्रह

चैतसिकों के चार लक्षण होते हैं—(१) एकोत्पाद (जिन धर्मों का समान आलम्बन आदि प्रत्ययों से चित्त के साथ उत्पाद होता है) । (२) एकनिरोध (जो चित्त के साथ निरुद्ध होते हैं) (३) एकालम्बन (जो चित्त का आलम्बन होता है), और (४)अवस्तुक (जो पञ्चवोकारभूमि (पञ्चस्कन्धः) में चित्त के साथ रहता है) । इस प्रकार चैतसिक वह है जिसकी एक साथ ही उत्पत्ति एवं निरोध होता है तथा जिसका एक ही आलम्बन एवं वस्तु होती है ।

एकुप्पाद निरोधा च एकालम्बनवत्थुका ।
चेतोयुत्ता द्विपञ्ञास धम्मा चेतसिका मता ॥

इन चैतसिकों की संख्या ५२ है । अनिरुद्ध ने इसके तीन भेद किये हैं—अन्यसमान, अकुशल और शोभन स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय एवं मनसिकार, ये ७ चैतसिक सर्वचित्तसाधारण (सभी चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होने वाले) कहे जाते हैं । वितर्क, विचार, अधिमोक्ष, वीर्य, प्रीति एवं छन्द, ये ६ प्रकार के चैतसिक प्रकीर्णक हैं । इस प्रकार अन्यसमान चैतसिक (अन्य प्रकार के चैतसिकों के समान) के १३ भेद होते हैं—मोह, आह्लीक्य, अनपत्राप्य, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध एवं विचिकित्सा, ये १४ चैतसिक अकुशल हैं । श्रद्धा, स्मृति आदि, ह्री आदि १९ चैतसिक शोभन साधारण हैं ।

सम्यग् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, एवं सम्यग् आजीव ये तीन विरतियां हैं । करुणा एवं मुदिता नामक दो चैतसिक अप्रामाण्य (प्रमाणाभाव वाले) है । तथा प्रज्ञेन्द्रिय को मिलाकर २५ चैतसिक (१९+३+२+१) शोभन चैतसिक कहे जाते हैं । इस प्रकार चैतसिकों की कुल संख्या ५२ हो जाती है—

अन्यसमान चैतसिक	१३	५२
अकुशल चैतसिक	१४	
शोभन चैतसिक	२५	

(१) सर्वचित्त साधारण चैतसिक सभी ८९ अथवा १२१ चित्तों मे सम्प्रयुक्त होते हैं ।

(२) प्रकीर्णक (शोभन-अशोभन, दोनो मे संप्रयुक्त होने वाले) चैतसिकों से सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त चित्तों की संख्या इस प्रकार है—

चैतसिक	विप्रयुक्तचित्त	सम्प्रयुक्तचित्त
१. वितर्क	६६	५५
२. विचार	५५	६६
३. अधिमोक्ष	११	७८
४. वीर्य	१६	७३
५. प्रीति	७०	५१
६. छन्द	२०	६९

(३) १४ अकुशल चैतसिक १२ अकुशलचित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं।

(४) श्रद्धा, स्मृति आदि, १९ शोभन साधारण चैतसिक सभी ५९ शोभनचित्तों में, ३ विरति चैतसिक १६ चित्तों में, २ अप्रमाण्य चैतसिक २८ चित्तों में, तथा प्रज्ञा ४७ चित्तों में सम्प्रयुक्त होती है। इनमें सम्प्रयुक्तचित्त के उत्पन्न होने पर जो चैतसिक चित्त के साथ उत्पन्न होते हैं वे नियतयोगी हैं और जो चित्त के साथ कभी उत्पन्न होते हैं और कभी उत्पन्न नही होते वे अनियत योगी हैं। नय दो प्रकार के होते हैं—सम्प्रयोगनय और संग्रहनय। सम्प्रयोगनय मे चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होने वाले चित्तों को बताया जाता है और संग्रहनय मे चित्तों से सम्प्रयुक्त होने वाले चैतसिकों को कहा जाता है। संग्रहनय की दृष्टि से चित्त दो प्रकार के होते हैं—सहेतुक और अहेतुक। उनमे चैतसिक इस प्रकार होते हैं—

सहेतुक	अनुत्तर (लोकोत्तर) चित्तो मे	३६ चैतसिक
	महग्गत (रूपावचर-अरूपावचर) चित्तों मे	३५ चैतसिक
	कामावचर शोभनचित्तो में	३८ चैतसिक
	अकुशल चित्तों में	२७ चैतसिक
अहेतुक	अहेतुक चित्त में	१२ चैतसिक

(५) लोकोत्तर चित्तों मे चैतसिक इस प्रकार से होते हैं—

१. प्रथम ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३६
२. द्वितीय ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३४
३. तृतीय ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३४
४. चतुर्थ ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३३
५. पंचम ध्यान मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३३

(६) महग्गत चित्तों मे चैतसिक इस प्रकार से होते हैं—

१.	महग्गत	प्रथम ध्यान	मे	सम्प्रयुक्त	चैतसिक	३५
२.	,,	द्वितीय	,,	,,	,,	३४
३.	,,	तृतीय	,,	,,	,,	३३
४.	,,	चतुर्थ	,,	,,	,,	३२
५.	,,	पंचम	,,	,,	,,	३०

(७) कामावचर शोभनचित्त मे चैतसिक ।

	कुशल	क्रिया	विपाक
प्रथम द्विक	३८	३५	३३
द्वितीय द्विक	३७	३४	३२
तृतीय द्विक	३७	३४	३२
चतुर्थ द्विक	३६	३३	३१

(८) अकुशल चित्त मे चैतसिक ।

	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पंचम
असंस्कारिक	१९	१९	१८	१८	२०
ससंस्कारिक	२२	२१	२०	२०	२२

(९) अहेतुक चित्तों मे चैतसिक ।

१.	हसितोत्पाद से सम्प्रयुक्त	१२
२. ३.	वोट्ठपन, सन्तीरण } से सम्प्रयुक्त	११
४.	मनोधातुत्रय एवं प्रतिसन्धियुगल से सम्प्रयुक्त	१०
५.	द्विपञ्चविज्ञान से सम्प्रयुक्त	७

३. प्रकीर्ण संग्रह

प्रकीर्णक संग्रह मे अनिरुद्ध ने स्वभावभूत ५३ (चित्त १+चैतसिक+ ५२=५३) धर्मों का ६ प्रकार से संग्रह बताया है--वेदनासंग्रह, हेतुसंग्रह, कृत्यसंग्रह, द्वारसंग्रह, आलम्बनसंग्रह और वस्तुसंग्रह । ये सभी संग्रह परस्पर सम्बद्ध हैं । वीथियो का सम्यग्ज्ञान प्रकीर्णक संग्रह के ज्ञान के बिना सम्भव नही । चित्त और चैतसिको का यहाँ संयुक्त वर्णन किये जाने के कारण इसे प्रकीर्णकसंग्रह कहा गया है ।

१. वेदना के साथ चित्त चैतसिकों का सम्प्रयोग ।

			सम्प्रयुक्तचित्त	चैतसिक
इन्द्रियो के भेद से	१. सुखावेदना	आलम्बन के भेद से	१	६
	२. दु खावेदना		१	६
	३. उपेक्षावेदना		५५	४६
	४. सौमनस्य वेदना		६२	४६
	५. दौर्मनस्यवेदना		२	२१

२. मूल हेतु दो प्रकार के हैं--अकुशल हेतु और कुशल हेतु । अकुशल हेतु ३ हैं—लोभ, द्वेष और मोह, तथा कुशल एवं अव्याकृत हेतु ३ हैं—अलोभ,

अद्वेष एवं मोह। ये सहेतुक और अहेतुक दो प्रकार के हैं। इन हेतुओ के साथ चित्तचैतसिको का सम्प्रयोग इस प्रकार होता है—

	चित्त	चैतसिल
अहेतुक	१८	१३
एकहेतुक	२	२०
द्विहेतुक	२२	४८
त्रिहेतुक	४७	३५

३. कृत्य संग्रह मे चित्त-चैतसिकों को प्रतिसन्धि आदि १४ कृत्यो के द्वारा संग्रहीत किया गया है। कृत्य का तात्पर्य है–एक भव से दूसरे भव मे जन्मग्रहण आदि करना। कृत्य के १४ प्रकार ये हैं—प्रति–सन्धि, भवङ्ग, आवर्जन, दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्शन, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन, तदालम्बन, एवं च्युति। स्थान के भेद से ये कृत्य १० प्रकार के हैं—प्रतिसन्धि, भवङ्ग, आवर्जन, पंचविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन, तदालम्बन एवं च्युति। स्थान का तात्पर्य है—किन्हीं तीन वीथि चित्तो के मध्यवर्ती चित्त से अविच्छिन्न काल।

४. द्वार ६ हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं मन। वीथिचित्तों के प्रमुख उत्पत्ति के कारण होने से ही इन्हे 'द्वार' कहा जाता है। चक्षुर्द्वार मे ४६ चित्त उत्पन्न होते है और पाँचो द्वारों मे ५४ चित्त होते हैं। प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करने वाले १६ चित्त 'द्वारविमुक्त' कहलाते हैं तथा द्विपञ्चविज्ञानचित्त १०, महग्गत एवं लोकोत्तर जवन २६, इस प्रकार ३६ चित्त 'एकद्वारिक' हैं।

५. आलंबन संग्रह मे चित्त चैतसिकों का संग्रह आलम्बन के माध्यम से किया जाता है। ये आलम्बन ६ प्रकार के हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य एवं धर्म। चित्त चैतसिक धर्मो के लिए ये 'रमण स्थान' कहे गये हैं। आलम्बन के चार विभाग हैं—काम, महग्गत, लोकोत्तर एवं प्रज्ञप्ति। उनमे २५ चित्त कामालम्बन, ६ चित्त महग्गतालम्बन, २१ चित्त प्रज्ञप्ति आलम्बन तथा ८ लोकोत्तर चित्त निर्वाणालम्बन करते है। वे किसी एक विभाग का ही आलम्बन करने वाले होते हैं। अत: उन्हे 'एकान्तालम्बन चित्त' कहा जाता है। कुछ ऐसे भी चित्त होते हैं जो दो या तीन विभागों का आलम्बन करने वाले होते हैं। उन्हे 'अनेकान्तालम्बनचित्त' कहा जाता है।

६ वस्तु संग्रह मे चित्तचैतसिकों का विभाग वस्तु भेद के आधार पर किया गया है। चक्षु, श्रोत्र आदि रूपी धर्मों को चित्तचैतसिक धर्मों के आधार

होने के कारण 'वस्तु' कहा गया है। वस्तुएँ ६ प्रकार की है—चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काम एवं हृदय।

४. वीथिसंग्रह

वीथि का तात्पर्य है "द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो"। अर्थात् नियमानुसार होनेवाली चित्त की प्रवृत्ति को 'वीथि' कहा जाता है। वीथि का अर्थ मार्ग है। अत: यहाँ उन द्वारों अथवा मार्गों का संग्रह किया गया है जिनकी अपेक्षा चित्तसन्तति उत्पन्न होती है। इस वीथिसंग्रह मे ६ षट्कों का निर्देश है—६ वस्तुएँ, ६ द्वार, ६ आलम्बन, ६ विज्ञान, ६ वीथियाँ, एवं ६ प्रकार की विषय-प्रवृत्तियाँ। वस्तुएँ, द्वार आदि के भेद पूर्वोक्त अनुसार ही है। अतिमहद् आलम्बन, महद् आलम्बन, परीत्त आलम्बन, एवं अतिपरीत्त आलम्बन, ये पञ्चद्वार में, विभूत आलम्बन एवं अविभूत आलम्बन, दो मनोद्वार मे, इस प्रकार कुल ६ प्रकार से विषयों मे प्रवृत्तियाँ होती हैं।

ये वीथियाँ चित्त की स्थितियों का सूक्ष्मतम विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। मानव चित्त के व्यापार को जानने के लिए उनका ज्ञान होना अत्यावश्यक है। मुख्यतया ये वीथियाँ दो प्रकार की होती हैं—पञ्चद्वारवीथि और मनोद्वारवीथि। पञ्चद्वारवीथि द्वारा पाँच इन्द्रियो के आलम्बन से विषयो का ज्ञान प्राप्त होता है और मनोद्वारवीथि द्वारा मन के माध्यम से विषयो का ज्ञान प्राप्त होता है।

पञ्चद्वारवीथि--मे ज्ञात विषयों को देखते ही "यह अमुकवस्तु है" यह ज्ञान चक्षु आदि पंचेन्द्रियों एवं मन की प्रवृत्ति का फल है। यह ज्ञान होने के पूर्व उसे निम्नलिखित एन्द्रियक और मानसिक क्रियायें करनी पड़ती हैं—(१) भवङ्ग—रूपालम्बन के दृष्टिगत होने से पूर्व की मानसिक दशा, (२) भवङ्गचलन—रूपालम्बन का प्रादुर्भाव हो जाने पर उत्पन्न चित्तप्रवाह, (३) भवङ्गविच्छेद—चित्तप्रवाह की पूर्व अवस्था की समाप्ति, (४) पञ्चद्वारावर्जन—विषय प्रवृत्ति के लिए पाँचों इन्द्रियों का सजग हो जाना, (५) चक्षुर्विज्ञान—चक्षु द्वारा रूप का दर्शन, (६) सम्पटिच्छन—रूप का सम्यग्ग्रहण, (७) सन्तीरण—दृष्ट विषय पर सम्यग् विचार, (८) वोट्ठपन—इष्ट विषय पर निर्धारण अथवा व्यवस्थापन, (९) जवन—इष्ट विषय के परिभोग अथवा त्याग की ओर वेग पूर्वक गया चित्तप्रवाह, तथा (१०) तदारमण—इष्ट विषय की अनुभूतियों में लग जाना। वस्तु के जानने की यह प्रक्रिया जैनदर्शन मे अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, इन चार मार्गों से बतायी गयी है।

मनोद्वारवीथि—द्वारा, प्रसाद, सूक्ष्म, रूप, चित्त, चैतसिक, निर्वाण तथा प्रज्ञप्ति रूप विषयों का ज्ञान होता है। यहाँ मन पूर्वज्ञान और सुपरिचित विषयों की ओर ही प्रवृत्ति करता है। अतः इसमे भवंग, भवंगचलन, भवग-विच्छेद, मनोद्वारावर्जन, जवन तथा तदारमण नामक ६ अवस्थायें होती हैं। मनोद्वारवीथि मे दो प्रकार के आलम्बन होते हैं—विभूत (स्पष्ट) और अविभूत (अस्पष्ट)। मन मे इन आलम्बनों की प्रवृत्ति के निम्न कारण हैं—इष्ट, श्रुत, उभयसम्बद्ध, श्रद्धा, रुचि, आकारपरिवितर्क, दृष्टिनिध्यानक्षान्ति, ऋद्धिबल, धातुक्षोभ, अनुबोध आदि। यह कामजवनकार मनोद्वारवीथि है। अर्पणाजवन मनोद्वारवीथि मे अर्पणा (वितर्क) सम्प्रयुक्त चित्त को आलम्बन मे अभिनिरोपित करता है। अनिरुद्ध ने इन दोनो वीथियों के अतिरिक्त और भी वीथियों के नाम दिये हैं—स्वप्नवीथि, मरणासन्नवीथि, ध्यानवीथि, अवज्ञावीथि, निरोध समापत्तिवीथि, मार्गवीथि, फलवीथि आदि। इन सभी के जवन नियम और तदारमण नियम भी दिये गये हैं।

किस पुद्गल की सन्तान मे कौन वीथिचित्त उपलब्ध होते हैं, इसका वर्णन 'पुद्गलभेद' मे किया गया है। ये पुद्गल १२ प्रकार के होते हैं—४ पृथक्जन—दुर्गति–अहेतुक, सुगति–अहेतुक, द्विहेतुक, और त्रिहेतुक, तथा ८ आर्यपुद्गल—स्रोतापत्तिमार्गस्थ, सकृदागामि, मार्गस्थ, अनागामिमार्गस्थ, एवं अर्हत्मार्गस्थ तथा स्रोतापत्तिफलस्थ, सकृदागामिफलस्थ, अनागामिफलस्थ एवं अर्हत्फलथ। उनमे कौन–कौन वीथिचित्त प्रादुर्भूत होते हैं, इसके ज्ञान के लिए अभिधम्मत्थ संगह में पुद्गलभेद का तथा किस भूमि मे कौन–कौन वीथियां होती है और उनमे कितने चित्त होते हैं, इसकी जानकारी के लिए भूमिविभाग का प्रतिपादन किया गया है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अध्याय विशेष उपयोगी है। इसमे व्यक्ति की प्रवृत्तियों का परिज्ञान होता है। साथ ही क्षणिकवाद मे ये सब किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, इसका ज्ञान भी वीथियों के माध्यम से हो जाता है।

५ वीथिमुक्त संग्रह

प्रतिसन्धि, भवङ्ग और च्युति ये **वीथिवाह्य चित्त** कहे गये है। वीथिमुक्त संग्रह में इन चित्तों की उत्पत्ति का क्रम वर्णित है। इसे चार चतुष्कों मे नियोजित किया गया है—भूमिचतुष्क, प्रतिसन्धिचतुष्क, कर्मचतुष्क और मरणोत्पत्ति चतुष्क।

१. भूमिचतुष्क—प्राणी जहाँ उत्पन्न होते है वह भूमि कहलाती है। ये भूमियाँ चार प्रकार की हैं—अपाय, कामसुगति, रूपावचर और अरूपावचर।

१. अपाय का अर्थ है—अय (सुख) से विरहित। यह भूमि चतुर्विध है—निरय, निरश्चीनयोनि, पैत्रविषय एवं असुर। निरय (नरक) आठ प्रकार के होते हैं-१. सञ्जीव (खण्ड-खण्ड किये जाने पर भी पुनः जीवित हो जाने वाला), २. कालसुत्त (जहाँ शरीर छिन्न-भिन्न किया जाता है), ३. संघात (जहाँ सत्त्वो को पीसा जाता है), ४. धूमरौरव (जहाँ नव द्वारों से धूम का प्रकोप होता है), ५. तापन (आग मे सन्तप्त होना), ६. पतापन (तीक्ष्ण अस्त्रो पर जहा गिराया जाता है), ७. अवीचि (जहाँ अविराम दुःख होता है), और ८. उस्सद निरय (सर्वाधिक जहाँ दुःख दिया जाता है)।

कामसुगत भूमि—वह है जहाँ काम-तृष्णा के कारण सुख-भोग की सामग्री उपलब्ध होती है। यह भूमि सात प्रकार की है—१. मनुष्य भूमि, २. चातुर्महाराजिक भूमि (धृतराष्ट्र, विरुकहक, विरुपाक्ष एवं कुबेर, इन चार देवराजो की निवास भूमि), ३. त्रायस्त्रिसभूमि (३३ माणवको का उत्पत्ति स्थान, सुमेरु पर्वत के समीपस्थ , ४. यामाभूमि (दिव्य सुखी देवो का स्थान), ५. तुसिता (संतुष्ट देवों का स्थान), ६. निर्माणरति (अधिकाधिक सुख प्राप्ति का उद्योग और ७. परनिर्मितवशवर्ती। पूर्वोक्त चार अपायभूमि एवं सात काम सुगति भूमि को मिलाकर ११ कामावचर भूमि कहलाती है।

रूपावचर भूमि मे ३ प्रथम ध्यान भूमि (ब्रह्मपरिषद्या, ब्रह्मपुरोहिता और महाब्रह्मा), ३. द्वितीय ध्यान भूमि (परित्ताभा, अप्रमाणाभा, एवं आभास्वरा), तृतीय ध्यान भूमि (परित्तशुभा, अप्रमाणसुभा, और शुभाकीर्णा), और ४. चतुर्थ ध्यान भूमि (वृहत्फला, असंज्ञिसत्त्वा एव शुद्धावासा), इस प्रकार रूपावचर भूमि १६ प्रकार की होती है। इनमे रहने वाले रूपी ब्रह्माओं को लौकिक कामगुणो के प्रति अनुराग नही होता।

इन रूपी ब्रह्माओ के ऊपर ४ अरूपी भूमिका होती है—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानान्त्यायन, अकिञ्चन्यायतन एव नैवसज्ञानासंज्ञानायतनभूमि। इन भूमियों मे आकाशानन्त्यायन विपाक आदि चित्त चैतसिको से प्रतिसन्धि होती है।

२. प्रतिसन्धि चतुष्क—प्रतिसन्धि का तात्पर्य है नवीन भवों मे चित्त, चैतसिक एवं कर्मज रूपो की उत्पत्ति अर्थात् जन्म ग्रहण करना। प्रतिसन्धि ४ प्रकार की होती है—अपाय प्रतिसन्धि, कामसुगति प्रतिसन्धि, रूपावचर प्रतिसन्धि एवं अरूपावचर प्रतिसन्धि। अपाय भूमि मे चूंकि दुर्गति अहेतुक पुद्गल एक अकुशल कर्म विपाक ही होता है अतः प्रतिसन्धि भी यहाँ एक ही है। काम सुगति भूमि में मनुष्यों और असुरों की प्रतिसन्धियों पर विचार किया गया है।

यहाँ सभी का परम्परागत आयुप्रमाण भी दिया गया है। रूपावचर भूमि मे ब्रह्माओ–महाब्रह्माओ की प्रतिसन्धि और आयु आदि का वर्णन है असख्यात कल्पो और महाकल्पो की गणना मे। अरूप भूमियो मे उत्पन्न होना आरूप प्रति सन्धि है।

३ **कर्म चतुष्क**—कर्म चार प्रकार के होते हैं। जनक, उपष्टम्भक, उप-पीडक और उपघातक। **जनक कर्म** कुशल-अकुशल चेतना से उत्पन्न वे कर्म है जो जन्म ग्रहण के कारण होते हैं। **उपष्टम्भककर्म** जनक कर्मों की फलदायक शक्ति को प्रबल बनाता है। **उपपीड़क कर्म** जनक कर्म की फलदायक शक्ति को कुशल कर्मों से कम करता है और **उपघातक** कर्म उस शक्ति को समूल नष्ट कर देता है। गुरूक, आनन्तर्य, आसन्न मरणावस्था मे कृत), आचिण्ण (बुद्धिगत), औरकटत्ताकर्म ये चार कर्म विपाक दान की दृष्टि से होते है। इष्ट धर्म वेदनीय, उपपद्यवेदनीय, अपर पर्यायवदनीय और अहोसिकर्म (फल देने से बचे हुए कर्म), ये ४ कर्म पाक काल की दृष्टि से है। इसी प्रकार अकुशल कर्म, कामा-वचर कुशल कर्म, रूपावचर कुशल कर्म एवं अरूपावचर कुशल कर्म–ये ४ कर्म भेद विपाक स्थान के आधार पर है। अकुशल कर्म के ३ भेद है—१. कायकर्म (प्राणतिपात, अदिन्नादान, कामेसुमिच्छाचार) २. वाक्कर्म (मृषावाद, पिशुनवाक्, पुरुषवाक्, सम्प्रलाप), और मनोकर्म (अभिध्यालोभ व्यापाद, एव मिथ्यादृष्टि)। इसी प्रकार कामावचर कुशल कर्म भी ३ प्रकार के है। उनके १० भेद भी मिलते है दान, शील, भावना, अपचायन (सम्मान करना), वैयावृत्य, पत्तिदान (प्राप्त वस्तुका दान करना), प्राप्तानुमोदन धर्मश्रवण, धर्मदेशना एव दृष्टि ऋजुकर्म। रूपावचर कुशल कर्म केवल मन: कर्म ही होते है। भावनामय होने से ध्यानागो के आधार पर वे ५ प्रकार के होते है। अरूपावचर कुशल कर्म भी मन.कर्म ही होता है। आलम्बन के भेद से वे कर्म ४ प्रकार के होते है।

४. मरणोत्पत्ति चतुष्क—मरण के ४ कारणो की अपेक्षा से इसके ४ भेद है। ये चार कारण है—आयुक्षय, कर्मक्षय, आयु-कर्मक्षय, एवं उपच्छेदक (उप-घातक) कर्म। इन चारो प्रकारो मे से किसी एक प्रकार से ही प्राणियो का मरण सम्भव है।

६ रूपसंग्रह

यहाँ रूपो के विविध प्रकार से भेद-प्रभेद किये गये है। अभिधर्म दर्शन मे साधारणत. चार प्रकार से इनका संग्रह किया गया है—समुद्देश, विभाग, समुत्थान, कलाप एवं प्रवृत्तिक्रम।

रूप समुद्देश—पृथ्वी, अप, तेजस् और वायु, इन४ महाभूत तथा इनसे उत्पन्न रूपों का विभाग ११ प्रकार से किया गया है—

१. निष्पन्न रूप (१८)

१. भूत रूप (४)—पृथ्वी, अप् तेजो और वायु

२. प्रसाद रूप (५)—चक्षुष् स्रोत, घ्राण, जिह्वा एवं काय

३. गोचर रूप (४)—रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा अप् धातुवर्जित भूतत्रय

४. भाव रूप, (२)—स्त्रीत्व और पुरुषत्व

५. हृदयरूप (१)—हृदयवस्तु

६. जीवित रूप (१)—जीवितेन्द्रिय

७. आहाररूप (१)—कवलीकार आहार

ये १८ रूप स्वभावरूप, सलक्षण (अनित्यता, दुःखता, अनात्मता से युक्त) रूप, निष्पन्न (जिनका उत्पादन किया जाता है) रूप, रूपरूप (विकार-जन्य), और सम्मसन (योगियो द्वारा विपस्सन्न ज्ञान से स्पृष्टव्य) रूप भी कहे जाते है।

२. अनिष्पन्न रूप (१०)

८. परिच्छेद रूप (१)—आकाश

९. विज्ञप्ति रूप (२)—काय विज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्ति

१०. विकार रूप (३)—रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता एवं विज्ञप्तिद्वय।

११. लक्षण रूप (४)—रूप का उपचय, सन्तति, जरता एवं अनित्यता।

इस प्रकार कुल मिलाकर रूपो के २८ (१८+२८) प्रकार होते है।

२. रूप विभाग—यह रूप अहेतुक, सप्रत्यय, साश्रव, लौकिक, कामावचर अनालम्बन एवं अप्रहातव्य ही है। अप्रत्यय, अनाश्रव आदि नही। और भी अनेक प्रकार से इनके भेद किये गये है—

१. आध्यात्मिक रूप—आत्मा के रूप मे व्यवहृत होने वाले पञ्चस्कन्ध रूप पाँच प्रसाद रूप। शेष २३ रूप बाह्य रूप है।

२. वस्तु रूप—पाँच प्रसाद और एक हृदय रूप।

३. द्वार रूप—५ प्रसाद और २ विज्ञप्ति।

४. इन्द्रिय रूप—५ प्रसाद, २ भाव, १ जीवित।

५. औदारिक रूप-५ प्रसाद एवं रूपालम्बन आदि विषयगत १२ रूप औदारिक रूप, सन्तिके रूप एवं सप्रतिघरूप है।

६. उपादिण्ण रूप—तृष्णा, दृष्टि आदि द्वारा उपादकत्त रूप।

७. सनिदस्सन रूप—रूपायन सनिदर्शन रूप है।

८. गोचर ग्राहक रूप—चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, एवं काय नामक ५ प्रसादरूप आलम्बन का ग्रहण करने वाला।

९. अविनिर्भोग रूप—वर्ण, गन्ध, रस, ओजस, एवं भूतचतुष्क।

३. **रूप समुट्ठान**— रूप समुट्ठान मे रूप धर्मो की उत्पत्ति के कारण बताये गये है। ये कारण ४ है—कर्म, चित्त ऋतु, एवं आहार। इनमें कर्म-समुट्ठान रूपो को २५ प्रकार के कुशल अकुशल कर्म और चित्त समुट्ठान रूपो को ७५ प्रकार के चित्त उत्पन्न करते है। ऋतु और आहार यथा समय स्थिति-क्षणको प्राप्त करने पर रूपो को उत्पन्न करते है।

४. **रूपकलाप विभाग**—अवयव धर्मों के कलाप (समूह) को रूपकलाप कहा जाता है। रूप की उत्पत्ति अन्योन्याश्रित है। यहा एक शब्द 'एक साथ' तथा 'एक' अर्थ मे आया है। अर्थात् इन रूप कलापो की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध एक साथ होता है तथा एक रूप कलाप मे एक ही उत्पाद स्थिति और भङ्ग होते है। ये रूप कलाप २१ प्रकार के होते हैं।

रूपों के उक्त २८ प्रकारो की उत्पत्ति यथायोग्य कामलोक मे होती है। प्राणि चार प्रकार के होते है—सस्वेदज (पसीने से उत्पन्न होनेवाले) औपपातिक (पूर्व भव से वर्तमान भव मे उत्पन्न होने वाले, जैसे देव, नारकी आदि), और गर्भशयक के दो भेद है अण्डज और जरायुज। अण्डज मे पक्षी वगैरह आते हैं। और जरायुज मे मनुष्य, हाथी, घोड़ा, आदि आते है।

सत्त्व परम्परा मे प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण से लेकर कर्मज रूप उत्पन्न होते है। उसके बाद भवङ्ग चित्त उत्पन्न होता है। उनमे प्रथम भवङ्गचित्त को द्वितीय चित्त कहा गया है। द्वितीय चित्त के उपादान से चित्तरूपकलाप उत्पन्न होते है। उन रूपकलापो मे तेजो धातु होती है। उससे ऋतुज रूपकलाप उत्पन्न होते है। बाह्य ऋतुज (हवा आदि) से संपर्क होने पर बाह्य ऋतुज रूप उत्पन्न होते है और ओस्जफरण के उपादान से आहार रूप उत्पन्न होते हैं। यह क्रम उसी प्रकार से बना रहता है जिस प्रकार से दीपक की लौ अथवा नदी के प्रवाह मे अविच्छिन्नता देखी जाती है।

कर्मज रूपो का निरोध होने पर मरण होता है। मरण काल मे च्युति चित्त से पूर्व १७ वें चित्त के स्थिति-काल से कर्मज रूप उत्पन्न नही होते। स्थिति-काल से पूर्व उत्पन्न कर्मज रूप च्युति चित्त के समकाल ही प्रवृत्त होकर निरुद्ध हो जाते है। तदन्तर चित्तज और आहारज रूप भी समाप्त हो जाते हैं। इन तीन प्रकारों से उत्पन्न होने वाले रूपो के निरुद्ध हो जाने पर शरीर मृत मान लिया जाता है। इस प्रकार काम भूमि मे २८ असंबर्ज्ञजित रूप भूमि मे २३ एवं असंज्ञि भूमि मे १७ रूप होते है तथा अरूप भूमि मे कुछ भी रूप नही होते।

अन्त मे अनिरुद्ध ने **निर्वाण** के विषय मे कहा है कि **वान** का अर्थ है—तृष्णा। तृष्णा के विनष्ट हो जाने पर निर्वाण प्राप्त हो जाता है (वानतो निक्खन्तं ति निब्बानं)। वस्त्र अथवा धागे के समान ताना-बाना बुनने के कारण भी तृष्णा को **वान** कहा गया है। उसके दूर होने पर निर्वाण मिलता है। निर्वाण को अमृत, असंस्कृत एव परमसुख कहा है। इसके दो भेद है-सोपधिशेष और निरुपधिशेष। **सोपधिशेष निर्वाण** मार्ग द्वारा क्लेशो का सर्वथा प्रहाण हो जाने पर होता है। अर्हन्तो के पञ्चस्कन्ध ही उपाधिशेष है। जब परिनिर्वाण हो जाता है तब यह विपाक विज्ञान और कर्मज रूप समाप्त हो जाता है। इसी को **निरुपधिशेष निर्वाण** कहा गया है। आकार भेद से इस निर्वाण को तीन प्रकार का भी माना गया है--शून्यता निर्माण (राग, द्वेषादि के साथ रूपस्कन्ध का समाप्त हो जाना), अनिमत्ति निर्वाण (निराकार) और अप्रणिहित निर्वाण (तृष्णा से विरहित)। निर्वाण के स्वरूप के विषय मे बौद्धधर्म मे अनेक कल्पनायें हैं जिन पर आचार्यों ने सयुक्तिक मन्थन किया है।

७ समुच्चय संग्रह

अनिरुद्ध ने इस संग्रह मे रूपो का स्वभावानुसार संग्रह कर दिया है। यहां चित्त १, चैतसिक ५२, निष्पन्न रूप १८ एवं निर्वाण १, इन ७२ रूप धर्मों को वस्तुधर्म कहा गया है। इसे उन्होने अकुशल, मिश्रक, बोधिपक्षीय और सर्व संग्रह के आधार पर चार भागो मे विभाजित किया है।

१. अकुशल संग्रह—अकुशल कर्मों की उत्पत्ति मे मुख्य रूप से लोभ, दृष्टि और मोह कारण होते हैं। इन्ही को **आस्रव** कहा गया है। ये चार प्रकार के है—कामास्रव, भवास्रव, दृष्टि आस्रव एवं अविद्यास्रव। ऐसे ही ४ **ओघ** होते है जो सत्त्व को भवों मे घुमाते रहते है। इन्ही को **योग** भी कहा गया है जो सत्त्वो को संसार दु.खो मे जुटाते हैं। इसी संदर्भ मे ४ **ग्रन्थों** का भी उल्लेख

आया है—अभिध्या, व्यापाद, शीलगत परामर्श (मिथ्या धारणा) और इदं सत्त्वाभिनिवेश (यही सत्य है इस प्रकार का सिद्धान्त)। इन्ही को चार उपादानो के रूप मे भी स्मरण किया जाता है। **नीवरण** ६ है—कामच्छन्द व्यापाद, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य , विचिकित्सा, एवं अविद्या। ये कुशल धर्मों का निवारण करने वाले धर्म है। ७ **अनुशय** है–कामराग, भवराग, प्रतिघ, मान, दृष्टि, विचिकित्सा और अविद्या। ये क्लेशोत्पादक होते है। १० **संयोजन** है जो ससार चक्र में बाधने वाले होते है कामराग, रूपराग, अरूपराग, प्रतिघ, मानस, दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श, विचिकित्सा, औद्धत्य एवं अविद्या। १० **क्लेश** है - लोभ, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्त्यान, औद्धत्य, आह्लीक्य, एवं अनपत्राप्य।

२ **मिश्रक संग्रह** – यहा कुशल, अकुशल एव अव्याकृत धर्मों का मिश्रित रूप मे सग्रह किया गया है। इसमे ६ हेतु है—लोभ,द्वेष, मोह, अलोभ, अद्वेष, ध्यान, अमोह। **ध्यानाङ्ग**के ७ अवयव,है–वितर्क,विचार,प्रीति,एकाग्रता,सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा। मार्गाङ्ग (मार्ग के अङ्ग , १२ है–सम्यग्यदृष्टि-संकल्प-वाक्-कर्मान्त-आजीव-व्याम-स्मृति-समाधि, मिथ्यादृष्टि, संकल्प, व्यायाम और समाधि। **इन्द्रियां** २२ है, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण जिह्वा, काय, स्त्री, पुरुष, जीवित, मन, श्रद्धा, सुख, दु ख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि,प्रज्ञा, अनाज्ञातमाज्ञास्यामि, आज्ञा, तथा आज्ञात। ९ **बल** है—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि प्रज्ञा, ह्री, अपत्राप्य, आह्लीक्य और अनपत्राप्य। **अधिपति** (सबद्ध धर्मों के स्वामी) ४ है—छन्द, वीर्य, चित्त एव मीमासा। **आहार** (विपाक धर्मों के उपकारक) ४ है— कवलीकार, स्पर्श, मन. सञ्चेतना तथा विज्ञान।

३. **बोधिपक्षीय संग्रह**—**बोधि पक्षीय** (आर्यसत्यो का ज्ञान कराने वाला मार्ग) धर्म ३७ है-–४ **स्मृति प्रस्थान** (काय वेदना, चित्त और धर्मा नुपश्यना), ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद (छन्द, वीर्य, चित्त तथा मीमासा। ५ **इन्द्रियां** और ५ बल है-श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा। ७ **बोध्यंग**–स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा। ८ **मार्गाङ्ग**–-सम्यग्दृष्टि आदि। ये धर्म प्राय: लोकोत्तर चित्त मे होते है।

४. **सर्वसंग्रह**--इसमे चित्त और चैतसिक, रूप, एव निर्वाण, इन चारो परमार्थ धर्मोका सग्रह किया गया है। इस संग्रह मे ५ **स्कन्ध** (राशि) है-–रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार और विज्ञान। **उपादान स्कन्ध** (धर्मों के आलम्बन) ५ है--रूप, वेदना, संज्ञा, सस्कार और विज्ञान। **आयतन** (असाधारण कारण) १२ है–चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन रूप, शब्द, गन्ध, रस स्प्रष्टव्य, तथा

धर्म। धातु (अपने स्वभाव को धारण करने वाले धर्म, १८ है–चक्षु, श्रोत्र,घ्राण, जिह्वा, काय, रूप शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान जिह्वा विज्ञान, कायविज्ञान, मनोधातु, मनोविज्ञान धातु, एवं धर्म धातु।

आर्य सत्य ४ है— दु:ख, दु:ख सघुदय, दु:खनिरोध और दु:खनिरोध गामिनी प्रतिपदा। इस प्रकार यहाँ ७२ वस्तुसत् धर्मों का विभाजन किया गया है।

८. पच्चय संग्रह

प्रत्यय (पञ्चम) का अर्थ है कारण, जितने संस्कृत धर्म होते है, सभी प्रत्यय पूर्वक उत्पन्न होते है। कर्म, चित्त, ऋतु, आहार, एवं आलम्बन आदि कारण रूप धर्मों द्वारा अभिसंस्कृत किये जाने वाले चित्त, चैतसिक एवं रूप धर्मों को संस्कृत कहा जाता है। इस संग्रह मे दो प्रकार के प्रत्ययो का संग्रह किया गया है— प्रतीत्यसमुत्पादनय और पट्ठाननय। **प्रतीत्य समुत्पाद नय** मे प्रत्यय (कारण) और प्रत्ययोत्पन्न (कार्य) ये दो धर्म है। अत: जो कारण सामग्री की अपेक्षा करके प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को उत्पन्न करता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद है। **पट्ठाननय** मे प्रत्यय और प्रत्ययोत्पन्न के अतिरिक्त प्रत्यय शक्ति का विशेष सम्बन्ध है (पट्ठान नयो पन आहच्चपच्चयट्ठितिमारब्भ पवुच्चति)।

प्रतीत्य समुत्पाद—मे अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण शोक-परिदेव-दु:ख-दौर्मनस्य-उपायास, ये १२ परस्पर कारण होते है जिनसे दु:खस्कन्ध की उत्पत्ति होती है। अविद्या की उत्पत्ति मे आस्रव कारण होते है और आस्रव की उत्पत्ति तृष्णा, उपादान और कर्म भवो से होती है। इनमे अविद्या और तृष्णा प्रधान है। इन दोनो मे भी अविद्या प्रधान है क्योकि अविद्या से आच्छन्न होकर तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

इस प्रतीत्यसमुत्पाद मे तीन अध्य (**अतीत**-अविद्या और संस्कार, **अनागत**-जाति और जरामरण, तथा **मध्य**-विज्ञान, नामरूप आदि ८ धर्म), अविद्या आदि **१२ अंग, २० आकार** (अतीत और प्रत्युत्पन्न भव मे ५ फल और ५ हेतु,) **३ सन्धियां** (आदि, मध्य और अन्त, और **३ वर्त** (क्लेश, कर्म एवं विपाक) होते है। इन सभी मे अविद्या और तृष्णा ये सम्पूर्ण प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के मूल है।

पट्ठाननय में—२४ प्रत्यय हैं–हेतु, आलम्बन, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात, अन्योन्य, निश्रय, उपनिश्रय, पश्चाज्जात, पुरोजात, आसेवन.

कर्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मार्ग, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त, अस्ति, नास्ति, विगत और अविगत। इन सभी प्रत्ययो का अन्तर्भाव आलम्बन, उपनिश्रय, कर्म एवं अस्ति मे हो जाता है।

६. कम्मट्ठान संग्रह

कर्मस्थान का अर्थ है भावना आदि कर्म का अधारभूत आलम्बन। यह कर्म स्थान दो प्रकार का होता है—शमथ एवं विपश्यना। **शमथ कर्मस्थान** कामच्छन्द आदि नीवरण क्लेशो को शमन (विनाश) करता है। यहा समाधि की प्रधानता है। महाकुशल एवं रूप कुशल प्रथमध्यान मे सम्प्रयुक्त 'समाधि चैतसिक' ही शमथ है। महाकुशल एवं महाक्रिया चित्तो मे सम्प्रयुक्त प्रज्ञा विशेष ही विपश्यना है। शमथ और विपश्यना की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना 'भावना है।

शमथ कर्म स्थान मे १० कसिण, १० अशुभ, १० अनुस्मृतिया, ४ अप्रमाण्य, १ संज्ञा, १ व्यवस्थान, एवं ४ आरूप्य होते हैं। ६ चरित (राग, द्वेष, स्नेह, श्रद्धा, बुद्धि एवं वितर्क), ३ भावनाये (परिकर्म, उपचार एव अर्पणा), ३ निमित्त (परिकर्म, उद्ग्रह एवं प्रतिभाग) होते है। **विपश्यना** कर्मस्थान मे शील, चित्त, दृष्टि, काङ्क्षावितरण, मार्गामार्गज्ञानदर्शन, प्रतिपदाज्ञानदर्शन, एवं ज्ञान दर्शन, इन सात विशुद्धियों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त ३ लक्षण (अनित्य, दु.ख एवं अनात्म), ३ अनुपश्यना (अनित्य, दुःख और अनात्म), १० विपश्यना ज्ञान (सम्मर्शन, उदय, व्यय, भङ्ग, भय, आदीनव, निर्विदा, मोक्तुकाम्यता, प्रतिसख्या, संस्कारोपेक्षा, एवं अनुलोमज्ञान) को भी साधक के लिए जानना चाहिए। इन सभी का विस्तार से वर्णन योग साधना के सन्दर्भ मे किया जा चुका है।

अभिधर्म का तुलनात्मक अध्ययन

बौद्ध धर्म मे दो ही ऐसे सम्प्रदाय है जिन्होंने अभिधर्म पर सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन किया है। वे है थेर वाद और सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय। थेरवादियो के मत को प्रकट करने वाला अभिधर्म का मुख्य ग्रंथ है—'अभिधम्मत्थ सगहो, जो संक्षेपत. अभिधर्म मे आए हुए धर्मो का वर्णन प्रस्तुत करता है। सर्वास्तिवादियो का अभिधर्म विषयक सर्वोत्तम ग्रंथ आचार्य वसुबन्धु (५ वीं शती) द्वारा रचित 'अभिधर्म कोश' है। 'अभिधर्म कोश' बौद्धधर्म का विख्याततम एव सर्वाधिक उपयोगी ग्रंथ है। इसमे आठ कोश स्थान और ६०० कारिकाए है। आचार्य वसुबन्धु ने स्वयं इन कारिकाओं पर 'भाष्य' भी लिखा है। आचार्य यशोमित्र ने अभिधर्म भाष्य' पर व्याख्या ग्रंथ भी लिखा है।

जहा 'अभिधम्मत्थसगहो' का विषय चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण है वहाँ 'अभिधर्म कोश' धातु, इन्द्रिय, लोक, कर्म, अनुशय, आर्य पुद्गल, ज्ञान एवं ध्यान पर विशद प्रकाश डालता है। इसके अतिरिक्त वात्सीयपुत्रियो के पुद्गलवाद के खण्डन के लिए पृथक् कोशस्थान (७ वा कोशस्थान) 'पुद्गल विनिश्चय' नाम से परिशिष्ट के रूप मे अन्त मे दिया गया है। 'अभिधम्मत्थ-सगहो' अपनी विषय वस्तु के अन्तर्गत ही धातु, इन्द्रिय इत्यादि का विवेचन प्रस्तुत करता है जबकि 'अभिधर्म कोश' इन सबका पृथक्-पृथक् वर्णन करता है।

बौद्धधर्म मे धर्म की कल्पना उसकी अपनी विशेषता है। धर्म यद्यपि कई अर्थों मे प्रयुक्त होता है जैसे-सत्य, कर्तव्य, नियम और धर्म विशेष इत्यादि, परन्तु बौद्धधर्म एव दर्शन मे धर्म शब्द की कल्पना अन्तिम वस्तु के रूप मे की गई है। विशेष रूप से अभिधर्म मे धर्मों की गणना की ओर ही अधिक झुकाव है। धर्मों के विभाजन पर ही विभज्यवादी जैसे अनेक सम्प्रदाय खडे हो गए है।

थेरवादी परम्परा धर्मों को मुख्यत. दो विभागो मे विभाजित करती है—सस्कृत एवं असस्कृत। पुन: थेरवादी सस्कृत धर्मों के तीन विभाग और असस्कृत धर्मों का एक ही विभाग करते है। वे सस्कृत में—चित्त, चैतसिक और रूप की गणना करते है तथा असंकृत मे निर्वाण मात्र मानते है।

सर्वास्तिवादी परम्परा भी थेरवाद की तरह ही धर्मों के मुख्य दो भाग करती है। सस्कृत मे व चार प्रकार के धर्म मानते है और असस्कृत मे तीन धर्मों को प्रधानता देते है। चित्त, रूप, चित्त सम्प्रयुक्त संस्कृत सस्कार एव चित्त विप्रयुक्त सस्कृत सस्कार ये ४ सस्कृत धर्म है। अभाव, प्रतिसख्या निरोध और अप्रतिसख्या निरोध ये तीन असस्कृत धर्म है।

धर्मों की कुल गणना मे थेरवादी १७० और सर्वास्तिवादी ७५ धर्म मानते है जैसे.—

धर्म		थेरवाद मे	सर्वास्तिवाद मे
१. असस्कृत-निर्वाण		१	३
२. सस्कृत	चित्त	८९	१
	चैतसिक	५२	४६ (चित्तसप्रयुक्त सस्कार)
	रूप	२८	११
	चित्तविप्रयुक्तसस्कार	×	१४
	कुल	१७०	७५

उपरोक्त मानचित्र से यह स्पष्ट है कि जहां थेरवादी असंस्कृत निर्वाण को एकविध ही मानते है वहा सर्वास्तिवादी असस्कृतधर्म त्रिविध—आकाश, प्रतिसख्या निरोध और अप्रतिसख्यानिरोध, बतलाते है। थेरवाद मे आकाश परिच्छेद रूप माना गया है। अत यहा यह सस्कृत है। यहा एक और बात ध्यान देने योग्य है। वह है—अभिधम्मत्थसंगहोकार आचार्य अनुरुद्ध ने निर्वाण को एक रूप मानकर भी दो प्रकार का बतलाया है—सोपधि शेष निर्वाण और निरुपधिशेष निर्वाण। सर्वास्तिवाद मे प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध उपरोक्त विविध निर्वाण के समकक्ष बैठते हैं। प्रतिसख्या प्रज्ञा विशेष है। प्रतिसख्या निरोध और अप्रतिसख्या निरोध दोनो ही जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त की अवस्था विशेष है।

जहां सर्वास्तिवादी चित्त को एकविध ही मानते है वहां थेरवादी चित्त के ८६ भेद करते है। ये सभी चित्त चार भूमियों पर अवलम्बित हैं–कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर चित्त भूमि। कामावचर चित्त अकुशल, कुशल, अहेतुक, विपाक और क्रिया रूप ५४ प्रकार के होते है। रूपावचर और अरूपावचर कुशल चित्त हैं। ये कुशलविपाक और क्रिया की अपेक्षा क्रमश. १५ और १२ प्रकार के होते हैं। लोकोत्तर चित्त ८ ही हैं। ये कुशल और विपाक रूप होते हैं। क्रिया रूप नही होते है। ये ही जब पांच ध्यानों की अपेक्षा से होते हैं तब ४० प्रकार के हो जाते हैं। ४० लोकोत्तर चित्तो को मिलाने पर चित्तो की संख्या १२१ हो जाती है।

थेरवादी चैतसिकों की संख्या ५२ मानते हैं और सर्वास्तिवादी ४६। ५२ चैतसिक मे साधारण चैतसिक ७, प्रकीर्ण चैतसिक ६, अकुशल १४, कुशल २५, जिनमे साधारण कुशल १६, विरति ३, और अप्रामाण्य ३ आते है। ४६ चित्त सम्प्रयुक्त संस्कारो मे चित्त महाभूमिक धर्म १० है–वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श, छन्द, प्रज्ञा, स्मृति, मनसिकार, अधिमोक्ष एव समाधि और कुशल महाभूमिक धर्म १०, हैं—श्रद्धा, वीर्य, उपेक्षा, ह्री, अप्रत्रपा, अलोभ, अदोष, अहिसा, प्रश्रब्धि एवं अप्रमाद। क्लेश महाभूमिक धर्म ६ है, मोह, प्रमाद, कौसीद्य, अश्रद्धा, स्त्यान और औद्धत्य। अकुशल महाभूमिक धर्म २ है, अह्री और अपत्रपा। उपक्लेशभूमिकधर्म १० है–क्रोध, म्रक्ष, मात्सर्य, इर्ष्या, प्रदास, विहिसा, उपनाह, माया, शाक्य एवं मद। अनियतभूमिक धर्म ८ है—कौकृत्य, मृद्धि, वितर्क, विचार, राग, द्वेष, मान एवं विचिकित्सा। यहां हम देखते है कि दोनो मे चैतसिको के ६ विभाग किये गये हैं। उनके नामो मे कुछ विभिन्नता है, किन्तु विभागो मे वर्गीकृत चैतसिक

प्रायः समान हैं। जहां थेरवाद साधारण कुशल चेतसिकों की संख्या १९ है वहां सर्वास्तिवाद मे १० कुशल चेतसिक है। सर्वास्तिवाद मे जहां कायचित्त की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, प्रागुण्य और ऋजुता रूप १० धर्म हैं वहां कुछ नये चैतसिक जैसे वीर्य, अहिंसा, और अप्रमाद मिलते है। सर्वास्तिवादी चित्त—संप्रयुक्त संस्कारो मे थेरवादी विरतित्रय और अप्रामाण्य आदि तीन चैतसिक बिलकुल ही नही मिलते।

सर्वास्तिवादी ११ प्रकार का रूप मानते है—५ इन्द्रिय, ५ इन्द्रिय विषय और अविज्ञप्ति। अविज्ञप्ति की कल्पना इनकी सर्वथा अपनी मौलिक देन है जो थेरवाद मे नही मिलती, थेरवाद परम्परा रूप को ११ प्रकार की मानती है। पुनः वहां इन्हे निष्पन्न रूप १८ प्रकार और अनिष्पन्न रूप १० प्रकार, इस तरह कुल १८ प्रकार स्वीकार किया गया है। ग्यारह भेदो मे भूत रूप ४, प्रसादरूप ५, गोचर रूप ४, भाव रूप २ जीवितेन्द्रिय १, हृदयवस्तु १, आहार १, परिच्छेद रूप १, विज्ञप्तिरूप २, विकार रूप ३, और लक्षण रूप ४, कुल २८ रूप गिनाये गये हैं। यहां सर्वास्तिवाद मे ५ इन्द्रिय प्रसाद रूप और ५ विषय गोचररूप मे गृहीत है। इस तरह सर्वास्तिवादी पुरुष इन्द्रिय, आकाश आदि धर्मों को रूप के अन्तर्गत नही मानते। थेरवादियो के २८ धर्मों में से कुछ धर्मों को सर्वास्तिवादियो ने अपने चित्त विप्रयुक्त संस्कार विभाग के अन्तर्गत स्वीकार किया है जैसे जीवितेन्द्रिय आदि।

चित्त विप्रयुक्त संस्कार सर्वास्तिवादियो की निजी कल्पना है जो थेरवादियों मे नही पायी जाती। सर्वास्तिवादियों के १४ चित्त विप्रयुक्त सस्कार है—प्राप्ति, अप्राप्ति, आसंज्ञिक, निरोधसमापत्ति, जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता, नाम-काय, पदकाय, व्यञ्जनकाय, आसंज्ञिक समापत्ति सभागता, और जीवितेन्द्रिय। ये धर्म चित्त से नितरां असम्प्रयुक्त है तथा रूप स्वभाव भी नही है। इसी से ये चित्त विप्रयुक्त संस्कार कहलाते हैं।

इस प्रकार थेरवादी और सर्वास्तिवादी अभिधर्म दर्शन का सिंहावलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जहा दोनो संप्रदायो के अभिधर्म मे धर्मों को लेकर काफी मतभेद है वहा उनके वर्गीकरण मे किञ्चित अन्तर को छोडकर अधिकाधिक समानता ही दृष्टिगोचर होती है। जहा कही दोनों की धर्म विषयक वृद्धि और न्यूनता दिखाई देती है वह केवलमात्र अभिधर्म के विकाश का ही द्योतक है।

अभिधर्म के समूचे रूप को उक्त पृष्ठभूमि में देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध आचार्यों ने इस विषय को संसार और संसार से मुक्त होने की वास्तविक स्थिति को समझने-समझाने के साथ सम्बद्ध किया है। संसरण का मूल कारण है— मन अथवा भावो मे विकार आ जाना। मन एक ऐसा कर्म-स्थल है जहा से कुशल और अकुशल आदि सभी प्रकार के कार्य प्रस्फुटित होते हैं। मृग-मरीचिका तृष्णा का जन्म मूलत: मानसिक स्थिति पर ही आधारित रहता है। इसी तरह विरात की स्थिति भी मन के माध्यम से होती है। यही कारण है कि प्राय. प्रत्येक दर्शन प्रणाली मे मन पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया है।

बौद्ध परम्परा मे, जैन परम्परा के समान, मन के सन्दर्भ मे गहन चिन्तन किया गया है। 'मनोपुब्बंगमा धम्मा' और 'फन्दनं चपलं चित्तं' जैसे वाक्य मन के स्वरूप को भली-भाति स्पष्ट कर देते हैं। मन की वृत्ति चपला के समान चंचल बता देने से आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषा के समकक्ष अभिधर्म खड़ा हो जाता है। अभिधर्म के मन को चित्त एवं चैतसिको का समन्वित रूप कहा जा सकता है।

यहा मन का सन्दर्भ दृष्टि से भी सम्बद्ध है। सत्-असत् कर्मों की उत्पत्ति का कारण यही दृष्टि अथवा भाव है। इसी दृष्टि अथवा भाव से समस्त मानसिक क्रियायें उत्पन्न होती है जिनका अध्ययन आज की परिभाषा मे हम मनोविज्ञान के अन्तर्गत करते है। आधुनिक मनोविज्ञान का क्षेत्र अपेक्षाकृत बढ़ गया है। उसमे संवेदन, स्मृति, कल्पना आदि प्रवृत्तियो का अध्ययन लौकिक सोपान पर खडे होकर किया जाता है पर बौद्ध मनोविज्ञान का सम्बन्ध विशेष रूप से आध्यात्मिक है। उसमें अकुशल भावों से कुशल भावो की ओर बढ़ने पर विशेष ध्यान दिया गया है। चित्त-चैतसिक भेदो की गणना उसी पर खड़ी की गई है। प्रतिसन्धि से मरण तक यह क्रम बना रहता है। इस दृष्टि से बौद्ध मनोविज्ञान का अपना महत्त्व है जैन मनोविज्ञान मे बौद्ध मनोविज्ञान की अपेक्षा गम्भीरता और स्पष्टता अधिक है। उसमे ई० पू० द्वितीय शताब्दी से ही कर्म पर षट्खण्डागम जैसे विशाल काय ग्रन्थो का निर्माण होने लग गया था। इस विषय मे और भी अनेक ग्रन्थो मे यत्र तत्र विस्तार से चर्चा की गई है। कर्म के सम्बन्ध मे जैन और बौद्धों की मान्यता समान-सी प्रतीत होती है। मात्र उनके भेद-प्रभेदों मे शब्दो तथा विश्लेषण पद्धति का अन्तर माना जा सकता है।

जैन और बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह अधिक सम्भव लगता है कि बौद्ध मनोविज्ञान जैन मनोविज्ञान से अधिक प्रभावित रहा होगा। अभी अध्ययन का यह क्षेत्र अधूरा है। विद्वानो को इस पर चिन्तन कर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहिए।



परिवर्त ॥ १०

बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार और कला

१. भारत में बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार

भगवान् बुद्ध ने अपना धर्मचक्र प्रवर्तन ऋषिपत्तन (सारनाथ–मृगदाव) मे प्रारम्भ किया जहा उन्होंने अञ्चात कोंडञ्ञ, भद्दिय, वप्प, महानाम एवं अस्सजि नामक पुराने पञ्चब्राह्मण साथियों को चतुरार्यसत्यों का उपदेश दिया। महावस्तु के अनुसार पूर्ण नालक और सभिय ने भी कुछ समय बाद यही दीक्षा ली थी। श्रेष्ठिपुत्र यश भी अपने मित्र-परिवार सहित बौद्धधर्म की शरण मे पहुँचा। अब तक बुद्ध का शिष्य कुल ५९ की सख्या तक पहुँच चुका था।

ऋषिपत्तन से भगवान् बुद्ध ने उरुबेला की ओर बिहार किया। बीच मे ही कापासियवन (सासाराम के समीप) मे भद्रवर्गीय क्षत्रियो को धर्मोपदेश देकर दीक्षित किया। उरुबेला मे उरुबेलकाश्यप, नदी काश्यप और जटा काश्यप अपने लगभग ८०० शिष्यों सहित यज्ञक्रिया मे संलग्न थे। बुद्ध ने वहाँ पहुँचकर अपनी अलौकिक चमत्कृति के बल पर काश्यप बन्धुओ को पराजित किया और सशिष्य उनको अपना अनुयायी बना लिया। इस अद्वितीय शक्ति का उल्लेखन साँची स्तूप के तोरण मे भी द्रष्टव्य है।

बुद्ध इस समय तक एक प्रभावक व्यक्तित्व के रूप मे सामने आ चुके थे। राजगृह पहुँचने पर राजा बिम्बिसार भी उनके प्रभाव से बच नही सके। उन्होंने भी बुद्ध का शिष्य होना स्वीकार किया और बेणुवन दान मे समर्पित किया। यही राजगृह मे संजयबेलट्ठिपुत्त भी अपने धर्म और दर्शन के प्रचार मे संलग्न थे। उनके प्रधान शिष्य दो थे—सारिपुत्र और मौद्गल्यायन। बुद्ध के शिष्य अश्वजित् (अस्सजि) से भिक्षाटन काल मे सारिपुत्र की भेंट हुई और उससे निम्नलिखित गाथा सुनकर बुद्ध से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वह अपने मित्र मौद्गल्यायन के साथ बौद्धधर्म मे दीक्षित हो गया। कालान्तर मे ये दोनों व्यक्तित्व बुद्ध और बौद्धधर्म के प्रधान स्तम्भ बन गये। गाथा इस प्रकार है—

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह ।
तेसञ्च यो निरोधो एवं वादी महासमणो ।।

तदनन्तर कुछ समय बाद बुद्ध ने नालान्दा की ओर बिहार किया । बीच मे ही बहुपुत्रक चैत्य मे महाकाश्यप (काश्यप अग्निदत्त, पालि—पिप्फलि माणव) से भेंट हुई । वह उस क्षेत्र का एक प्रभावशाली ब्राह्मण था । वार्तालाप के बीच बुद्ध ने सम्यक् प्रहाण का चतु:सूत्री उपदेश दिया—(१) वर्तमान पाप वासनाओं का क्षय करना, (२) भविष्य मे उनकी वृद्धि को रोकना, (३) वर्तमान पुण्यो की सुरक्षा करना, और (४) यथाशक्ति उनकी वृद्धि करना । यह उपदेश सुनकर महाकाश्यप का सारा सन्देह समाप्त हो गया और वह बुद्ध का अनुचर बन गया । बौद्ध साहित्य मे महाकाश्यप को बहुत सम्मान दिया गया है । बुद्धधर्म मे उनका स्थान सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बाद ही आता है । भगवान् बुद्ध के लिए ये तीनो व्यक्ति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए ।

राजा शुद्धोदन उदायी, छन्दक आदि राजपुरुषो के माध्यम से बुद्ध के पास अपना स्नेह निमन्त्रण राजगृह मे ही पहुँचा चुके थे । बुद्ध ने इसे सहर्ष स्वीकार भी कर लिया था । राजगृह से ६० दिन मे लगभग १६० मील पदयात्रा करते हुए वे कपिलवस्तु मे पहुँचे । वहाँ पूरे नगरवासियो ने उनका स्नेहिल स्वागत किया और उनके पद-चिह्नो पर अपनी आँखें बिछा दी । बुद्ध के उपदेशो को सुनकर राजा शुद्धोदन और महारानी महाप्रजापति ने उनका धर्म-ग्रहण किया । इनके अतिरिक्त यशोधरा, आनन्द, अनुरुद्ध, भद्दिय, नन्द, देवदत्त, उपालि, छन्दक, और राहुल ने भी बुद्धधर्म की दीक्षा को स्वीकार किया ।

भगवान् कपिलवस्तु से लौटे और राजगृह के पास सीतावन चैत्य मे श्रावस्तीवासी अनाथपिण्डक से भेंट हुई । सृष्टि, आत्मा, कर्म आदि के विषय मे बुद्ध के विचार सुनकर अनाथपिण्डक का मन सहसा उनकी ओर आकर्षित हो गया और श्रावस्ती आने का निमन्त्रण देने के साथ ही वहाँ बुद्धबिहार निर्माण कराने की भी इच्छा व्यक्त की । सारिपुत्त श्रावस्ती गये । और स्थल के चुनाव मे उन्हे राजकुमार जेत का वन उपयुक्त दिखाई दिया । राजकुमार जेत की दृष्टि मे उस वन की भूमि का कण-कण स्वर्णमुद्राओ के समकक्ष थी । अनाथपिण्डक ने इसे सहर्ष स्वीकार किया । इस प्रकार जेतवन बौद्धधर्म का प्रधान स्थल हो गया । प्राचीन मुद्राओ मे भी इसका अंकन हुआ है ।

श्रावस्ती पहुँचने पर राजा प्रसेनजित ने बुद्ध का अथक हार्दिक स्वागत किया । बुद्ध ने उसे सासारिक अनित्यता तथा यज्ञादि की अनुपयोगिता पर सुन्दर विवेचन किया । यही शाक्यो और कोलियो के बीच उत्पन्न संघर्ष को शान्त करने का भी अवसर उन्हे मिला । पिता के अन्तिम दर्शन करने के लिए बुद्ध को एक

बार पुनः कपिलवस्तु जाना पडा । वहाँ से फिर वैशाली आये और वैशाली में आनन्द के आग्रह से महाप्रजापति के नेतृत्व मे भिक्षुणी संघ का निर्माण किया ।

इस प्रकार बुद्ध ने ४५ वर्ष तक उत्तर प्रदेश और बिहार मे परिभ्रमण कर अपने धर्म का प्रचार-प्रसार किया । इस बीच उक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त असिबन्धकपुत्त गामणी, महाकात्यायन, ज्योतिस्क, जीवक, अभयराजकुमार, न्यग्रोध, उपालि, पत्वशिख, विशाखा, सोणदण्ड, अगुलिमाल, महालि, सीह, सच्चक, सुनक्खत्त, देवदत्त आदि अनेक और भी व्यक्तियों से उनका सम्पर्क हुआ । और जो बाद मे उनके शिष्य बने वैशाली से भंडगाम, हत्थिगाम, जम्बुगाम, भोगनगर आदि नगरो मे भ्रमण करते हुए पावा पहुँचे । यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते बुद्ध का शरीर जर्जरित हो गया था । और चुन्द द्वारा दिये गये 'सूकरमद्दव' से उनका काल और निकट आ गया । उसे वे पचा नही सके और यहीं वे कालकवलित हो गये । इस महामानव की यही अन्तिम यात्रा थी ।

त्रिपिटक के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध ने उत्तरप्रदेश और बिहार, विशेष रूप से, मगध एवं कोशल तक ही अपनी चारिका सीमित रखी थी । विनय पिटक मे इस प्रदेश को 'मज्झिमाजनपदा' कहा गया है और इसके सीमावर्ती प्रदेश को पच्चन्तिम जनपद (अवन्ति आदि) कहा गया है ।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद ही संघभेद प्रारम्भ हो गया । फलत. पाठनिर्धारण के लिए राजगृह मे एक सम्मेलन बुलाया गया जो प्रथम संगति के नाम से विश्रुत है । लगभग सौ वर्ष बाद दस वस्तुओ की विधेयात्मकता पर विचार करने के लिए वैशाली मे द्वितीय संगति का आयोजन किया गया । इस समय तक थेरवादी (परम्परावादी) और महासांघिक (सुधारवादी) प्रतिद्वन्दी निकाय के रूप में सामने आ चुके थे । इन्हे पाचेय्यक और पाच्छमक भी कहा गया है । इनके वैशाली, अवन्ती, कौशाम्बी और मथुरा प्रधान केन्द्र थे । बौद्धधर्म इन प्रादेशिक केन्द्रों के माध्यम से विस्तार पाने लगा । फलस्वरूप प्रादेशिक भेद भी उभरने लगे । कौशाम्बी से अवन्ति-दक्षिणापथ की ओर स्थविरवादी, मथुरा से उत्तरापथ की ओर सर्वास्तिवादी और मगध से आन्ध्रपथ की ओर महासांघिक सम्प्रदाय अपने विचारो के प्रचार-प्रसार मे प्रवृत्त हो गये । महासंघ से ही उत्तरकाल मे महायान की उत्पत्ति हुई । चौथी पाँचवी ई० शती तक उत्तर भारत मे महायान बहुत लोकप्रिय हो गया । लगभग सातवी शती मे महायान से वज्रयान जैसी अनेक शाखायें-प्रशाखायें निकली जिसे तान्त्रिक बौद्धधर्म कहा गया । यही तान्त्रिक बौद्धधर्म बौद्धधर्म की अवनति का मूल कारण बना ।

अशोक के समय (ई० पू० २७४–२३२) तक स्थविरवादी सम्प्रदाय मे ही अठारह भेद हो गये थे। अशोक स्वयं बौद्ध था या नही इसमें मतभेद ;हो सकता है पर उसने बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार मे जिन विविध उपायों का अवलम्बन लिया, उससे अशोक की बौद्धधर्म के प्रति अभिव्यक्त अभिरुचि तो सर्वमान्य है ही। पाटलिपुत्र मे आहूत तृतीय संगति इसका प्रमाण कहा जा सकता है। बौद्ध परम्परानुसार अशोक ने ८४,००० स्तूपों का भी निर्माण कराया। प्रस्तरकला के क्षेत्र मे बौद्धधर्म का योगदान यही से प्रारम्भ होता है। अशोक के स्तम्भो मे भी धर्मचक्र आदि अनेक बौद्ध प्रतीक उत्कीर्ण हैं। इसी समय बिहारो का भी सुव्यवस्थित निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

तृतीय सगीति का महत्व बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से विशेष है। मोग्गलिपुत्त निस्स ने प्रत्यन्त जनपदो मे बौद्ध धर्म को किस प्रकार व्यापक बनाया जाय, इस दृष्टि से एक योजना बनायी जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित भिक्षुओं को यह दायित्व सोपा गया। मध्यान्तिक स्थविर को कश्मीर और गन्धार, महादेव को महिसकमण्डल, रक्षित को वनवासी, योतक धर्मरक्षित को अपरान्त, महाधर्मरक्षित को महाराष्ट्र, महारक्षित को योनक (ग्रीकराज्य), मध्यम (मज्झिम) को हिमवन्त, सोडाक तथा उत्तर को सुवर्ण भूमि तथा महेन्द्र स्थाविर को इट्ठिय उत्तिय, सम्बल और भद्दिय स्थविरो के साथ ताम्रपर्णी (श्रीलंका) द्वीप भेजा गया। इन देशो मे बौद्ध प्रचारको को सफलता भी मिली।

अशोक के समय मे ही बौद्धसंघ की एकता समाप्तप्राय हो चुकी थी। उसको विकास और विस्तार का मूल कारण कहा जा सकता है। पुष्यमित्र शुङ्ग बौद्धो का घनघोर शत्रु था। फिर भी जन साधारण मे बौद्ध धर्म की लोकप्रियता कम नही हुई। भारहुत स्तूप, कार्ले की गुफायें, सांची का स्तूप, पवनी के स्तूप आदि इसके प्रमाण हैं। इतना ही नही, उसने मिलिन्द (Menonder) जैसे ग्रीक राजाओ को भी आकर्षित किया। इसीसे सम्बद्ध प्राचीन अनेक मुद्रायें भी मिलती है। मोग्गलिपुत्त तिस्स ने तो यवन देश जाकर वहा एक ग्रीक को दीक्षित किया जिसका नाम धर्मरक्षित रखा गया। धर्मरक्षित ने अपरान्तक देश मे बौद्धधर्म का कुशलतापूर्वक बहुत प्रचार किया। ग्रीको ने भारत मे बौद्ध कला के क्षेत्र मे एक नयी शैली दी जिसका विकास पंजाब और उत्तर पश्चिमी भारत मे हुआ।

अशोक के राज्यकाल मे बौद्धधर्म लगभग १८ सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया। इनमे से बहुत से भेद तो प्रादेशिक स्तर पर रहे। द्वितीय संगीति के

फलस्वरूप महासाधिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसने उत्तरकाल मे महायान के रूप मे विकास किया। महासाधिको के अष्टनिकायो मे एक व्यवहारिक, लोकोत्तरवाद, अपरशैल और उत्तरशैल विशेष प्रभावक रहे। स्थविरवाद से सर्वास्तिवाद (हैमावत) ये दो संघ पृथक् हुए। महासाधिको की उत्पत्ति वैशाली मे हुई पर उसका दक्षिण मे, विशेष रूप से धान्यकटक पर्वत के आसपास के प्रदेश मे, अधिक हुआ। सातवाहनकाल इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्थविरवाद की अन्य शाखायें शुङ्ग काल से कुषाण काल तक अर्थात् लगभग ई. पू. २०० से ई. २००–३०० तक विकसित होती रही है। सर्वास्तिवाद ने मथुरा से नगरहर और तक्षशिला (गन्धार) से कश्मीर तक अपना प्रभाव जमाया तथा महीशासक और सम्मितीय ने दक्षिण भारत, लाट, और सिन्ध मे लोकप्रियता प्राप्त की। धर्मगुप्त श्रीलका भी गया पर वहाँ स्थविरवाद की प्रतिद्वन्दिता मे उसे पीछे हटना पड़ा। चैत्यवादी निकाय ने धान्यकटक (आन्ध्र) मे पैर जमाये। पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, सिद्धार्थक और राजगिरिक सम्प्रदाय इसी से अविर्भूत हुए हैं। महायान का विकास भी इन्ही सम्प्रदायो से हुआ है।

कनिष्ककाल भी बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। उसका साम्राज्य काबुल, गन्धार, सिन्ध, उत्तर–पश्चिम भारत, कश्मीर और मध्यदेश तक फैला हुआ था। मूलतः वह ईरानी था। बाद मे उसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। **चतुर्थ संगति** कनिष्क के धर्म–प्रेम का ही फल था। सर्वास्तिवाद की दृष्टि से इस संगीति का विशेष महत्त्व रहा है।

गुप्तकाल मे राज्याश्रय न मिलने के वावजूद बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार मे कमी नही हुई। गुप्तवशीय राजा यद्यपि भागवत धर्म के विशेष अनुयायी रहे हैं पर उनकी दृष्टि बौद्धधर्म के प्रतिकूल नही रही। कौशाम्बी, साची, बोधगया, मथुरा आदि स्थानो पर प्राप्त उत्कोर्ण लेख इसके प्रतीक हैं कि उन्हे राज्य से पर्याप्त अनुदान मिला करता था। मथुरा, सारनाथ, नालन्दा, अजन्ता आदि को कलाओं ने गुप्तकाल के गौरव को दिगदिगन्त तक फैला दिया है। नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना भी इसी समय हुई थी।

फाहियान ने गुप्तकाल मे ही भारत की यात्रा की थी। उस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य था। फाहियान मध्य-एशिया मे बौद्ध सस्कृति के प्रचार और प्रभाव को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। लोप–नोर का दक्षिणी प्रदेश और कड़ा शहर हीनयानी सम्प्रदाय के गढ थे जहाँ हजारो की संख्या मे भिक्षु रहते थे। खोतान और काशगर मे भी उसने बौद्धधर्म के विभिन्न सम्प्रदायो की स्थिति

को सन्तोषप्रद बताया। बलारतव्य पर्वत मालाओ के पास से सिन्धु नदी को पारकर फाहयान भारत आया जहाँ उसने बौद्धधर्म का अच्छा प्रभाव पाया। उद्यान, गन्धार, तक्षशिला पेशावर, नगरहार, अफगानिस्तान, पजाब, मथुरा, श्रावस्ती, पाटलिपुत्र, वाराणसी, चम्पा, ताम्रलिप्ति आदि देशो–प्रदेशो मे फाहियान घूमा जहाँ उसने हीनयान और महायान के विभिन्न सम्प्रदायो को निकट से देखा। इस बीच उसे बौद्धधर्म फलता–फूलता हुआ नजर आया। गुप्तकाल की दृष्टि से फाहयान का यात्रा विवरण बहुत उपयोगी है।

सप्तम शताब्दी मे हर्ष का साम्राज्य था। राजा हर्षवर्धन अपने जीवन के उत्तरकाल मे बौद्ध बन गये थे। इसी समय युआन–च्वाग और ईत्सिग ने भारत यात्राये की। युआन-च्वाग ने सप्तम शताब्दी के तृतीय–चतुर्थ दशक मे भारत का भ्रमण किया। नगरहार (जलालाबाद) मे उसने ६३० ई॰ मे प्रवेश किया। गन्धार, प्रवरपुर (श्रीनगर), साकल (स्यालकोट), उत्तर–मध्यभारत, कन्नोज, प्रयाग आदि प्रदेशो मे भ्रमण किया। श्रीहर्ष स भी उसकी भेंट हुई। इस समय भी बौद्धधर्म की स्थिति अच्छी थी। ईत्सिग ने सप्तम शताब्दो के सप्तम–अष्टमदशक म भारत यात्रा की। इस समय भी भारत मे हीनयान और महायान सम्प्रदायो की स्थिति अच्छी थी। नालन्दा, बलभी आदि स्थानों पर बौद्धधर्म के विशाल ज्ञानकेन्द्र थे।

हर्ष के बाद बौद्धधर्म भारत मे अधिक नही पनप सका। धीरे–धीरे उसका प्रभाव कम होता गया। बौद्धो मे प्रचलित तात्कालिक साधना क्षेत्र शिथिलाचार का गढ बन गया था। इसी मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि मे बौद्धधर्म का पतन भारत से प्रारम्भ हो गया। यद्यपि पालवश का राज्याश्रय पाकर बौद्धधर्म अपनी स्थिति पुन. मजबूत बना सकता था पर ऐसा हो नहीं सका। यद्यपि नालन्दा के अतिरिक्त विक्रमशिला, ओदन्तपुरी और सोनपुरा जैसे शिक्षाकेन्द्र बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार मे लगे थे पर लगभग १२ वी शती के बाद वे बौद्धधर्म को भारत मे अपनी पुरानी स्थिति मे नही ला सके।

लगभग १२ वी शती के बाद बौद्धधर्म प्राय. भारत मे अपनी साधना से दूर हो गया। फिर भी उसका प्रभाव बौद्धेतर सम्प्रदायो पर बना रहा। उदाहरण के तौर पर महाराष्ट्र के सन्तों को लिया जा सकता है जिन पर बौद्धधर्म की अक्षुण्य छाप है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ आदि सन्तो ने अपने अधिकाश सिद्धान्त बौद्ध सिद्धान्त की पृष्ठभूमि म रचे है, भले ही वहाँ उनके नामो मे परिवर्तन कर दिया गया हो। उडीसा आदि प्रदेशो मे भी इसी स्थिति को देखा जा सकता है।

२. विदेशों में बौद्धधम का प्रचार-प्रसार[1]

लगभग १२ वी शती के बाद बौद्धधर्म यद्यपि अपनी मातृभूमि से लुप्त प्राय हो गया, पर इसके पूर्व ही उसने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान विदेशो मे जमा लिया था। इस दिशा मे अशोक का योगदान अविस्मरणीय रहेगा। तृतीय संगीति का फल यह हुआ कि बौद्धधर्म ने भारत की सीमा का उल्लघन किया। उसने श्रीलंका, वर्मा, थाईलेन्ड, कम्बोडिया आदि दक्षिण देशो और नेपाल, तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान आदि उत्तरदेशो की जनता मे अपना अमिट स्थान बना लिया। आज भी बौद्धधर्म की ज्योति इन देशो मे फैली हुई है जो करोड़ो व्यक्तियों को आध्यात्मिक शान्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

श्रीलंका में बौद्धधर्म

श्रीलका और भारत के बीच अतीत काल से ही सास्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध रहे है। अशोक के शिलालेखो मे श्रीलका का उल्लेख ताम्रपर्णी द्वीप के नाम से मिलता है। परम्परानुसार बुद्ध-परिनिर्वाण के ही वर्ष मे लाट (गुजरात) देश से विजय सिह अपने मित्र परिवार सहित वहा पहुँचा। इसलिए उसका नाम सिंहल अधिक प्रचलित और ऐतिहासिक है। विजय सिंह ने ताम्रपर्णी द्वीप पर अधिकार किया और वहा की सस्कृति को भारतीय सस्कृति, विशेष रूप से लाटदेशीय संस्कृति से, ओतप्रोत कर दिया। बौद्धधर्म के पूर्व श्रीलका मे जैन धर्म भी प्रचलित था। महावंश से यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

विजय के पहुँचने के बाद लगभग २०० वर्ष तक श्रीलका वासी बौद्धधर्म से अपरिचित रहे। अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री सघमित्रा ने वहाँ जाकर सिंहलवासियों के मन मे बौद्धधर्म के प्रति आकर्षण पैदा किया। सघमित्रा ने बोधिवृक्ष का आरोपण अनुराधापुर मे करके यह कार्य और अधिक प्रभावक बना दिया। देवानंपिय तिस्स (२४७-२०७ ई० पू०) ने इस पुण्य कार्य मे अपना सभी प्रकार का सहयोग दिया। स्तूपो, चैत्यो और महाविहारो का निर्माण भी प्रारम्भ हो गया। महेन्द्र और सघमित्रा ने श्रीलका मे लगभग अड़तालीस वर्ष तक धर्म प्रचार किया। और वही उन्होने सासारिक शरीर छोडा। श्रीलंका के इतिहास मे श्री लका मे बोधिवृक्ष का आरोपण और बुद्धदन्त का आनयन, ये दो घटनायें बड़ी महत्त्वपूर्ण रही है।

---

१. यह भाग स्व० महापडित राहुल साकृत्यायन की 'बौद्धसस्कृति' (इलाहाबाद) पर विशेष आधारित है। लेखक तदर्थ उनका आभारी है।

सिंहल और बौद्धधर्म के इतिहास मे राजा वट्टगामणी (ई. पू. २९-१७) का समय बहुत महत्त्वपूर्ण है। द्रविणों के आक्रमणो को निष्फल करते हुए उसने बौद्धधर्म को सक्रिय बने रहने मे पर्याप्त योगदान दिया। श्रुति परम्परा से चले आये त्रिपिटक को इसी ने लेखबद्ध कराया। यह कार्य चू कि महाबिहार मे एकत्रित होकर भिक्षुसघ ने किया था इसलिए सिंहल के बौद्धधर्म को **महाबिहार निकाय** सज्ञा दे दी गई। कालान्तर मे इस निकाय मे संघभेद हुआ और वज्जीपुत्तीय आचार्य धर्मरुचि की शिक्षाओ के आधार पर **अभयगिरि निकाय** की स्थापना हुई। वैपुल्य पिटक को उसने स्वीकार किया। बाद मे इसी मे से सागलीय नामकी शाखा का जन्म हुआ। अभयगिरि और सागलीय निकाय अधिक समय तक प्रभावक नही बने रह सके। ५६८ ई. मे उन दोनो निकायो ने महाबिहार निकाय को स्वीकार कर लिया। इस समय तक भारत मे वज्रयान फैल चुका था। श्रीलंका भी उसके प्रभाव से बच नही सका। रत्नकूट आदि सूत्रो के साथ मन्त्र-तन्त्र का प्रचार उसी प्रभाव का परिणाम है। मध्यकाल मे द्रविड़ आक्रमण अधिक तेज हुए। उसके बावजूद बौद्ध धर्म और साहित्य विकसित होता ही गया। उत्तर काल मे बौद्धधर्म का उत्थान और पतन, दोनो देखे जा सकते है। सोलहवी शताब्दी से पोर्तुगीज और डच, के आक्रमण होने लगे। बौद्धधर्म के विकास पर उन आक्रमणो का बुरा प्रभाव पडा। १८ वी शताब्दी के मध्यदशकों मे श्रामणेर मिगे तुवत्त गुणानन्द ने ईसाइयो से दार्शनिक लोहा लोकर बौद्धधर्म को पुनरुज्जीवित किया। तदनन्तर महास्थविर धर्माराम, सुमंगल और अनागारिक धर्मपाल जैसे विद्वानो ने श्रीलका मे बौद्धधर्म को अधिक पुष्पित और सुव्यवस्थित कर दिया। आज श्रीलका बौद्ध देशो मे अग्रणी माना जाता है।

श्री लंका की संस्कृति, भाषा और कला को भारतीय संस्कृति, भाषा और कला से प्रभावित होना स्वाभाविक है। उसकी लिपि भी भारतीय लिपि से उद्भूत है। श्रीलका के बौद्धधर्म का प्रभाव वर्मा, कम्बोडिया, थाईलेन्ड आदि देशो पर भी पड़ा जहाँ आज भी बौद्धधर्म अपनी प्रभावक स्थिति मे है।

स्वर्णभूमि में बौद्धधर्म

मलाया वर्मा से लेकर जावा, सुमात्रा, बोर्नियो द्वीप समूह तक प्राचीन स्वर्णभूमि के अन्तर्गत आता था। महावंस (१२.४४-५५) के अनुसार तृतीय संगीति के फलस्वरूप देवानपिय अशोक ने सोण और उत्तर को ३५३ ई. पू. मे स्वर्णभूमि मे बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भेजा था। साँची मे प्राप्त अभिलेख से भी यह प्रमाणित हो जाता है।

वर्मा

दक्षिण वर्मा मे ५-६ वी शती से बौद्धधर्म के अस्तित्व के प्रमाण मिलना प्रारम्भ हो जाते है। प्यू जाति की प्राचीन राजधानी श्रीक्षेत्र के समीप मौड्-गन और ह्मावजा मे उपलब्ध स्वर्णपत्रो पर ये धम्मा हेतुप्पभवा जैसे प्रसिद्ध बुद्धवचन उत्कीर्ण मिलते है। थेरवाद परम्परा ही इस समय यहाँ प्रचलित रही होगी। तलैड्, म्रम्म आदि वर्मी जातियो मे भी बौद्धधर्म लोकप्रिय हो गया था।

वर्मा मे ग्यारहवी शताब्दी मे महायानी साधना का भी प्रचार बढ़ा। दीपंकर का १०५४ ई० मे देहावसान होने पर शिन् अर्हन् ने राजा अनुरूद्ध के सहयोग से बौद्धधर्म की तान्त्रिक शाखा का प्रसार किया। राजा अनुरूद्ध ने थातोन के राजा मनोहर (मनुहा) पर आक्रमण कर त्रिपिटक हस्तगत किया। उसे नयी वर्णमाला मे लेखबद्ध किया गया। तलैड् भिक्षुओ से वर्मी जनता ने हीनयान की दीक्षा ली। तब से यहाँ स्थविरवाद प्रचलित है। सिहल राजा (१०६५-११२० ई०) के समय अनुरुद्ध ने श्रीलका को सैन्य सहायता दी और बदले मे उससे बुद्ध की दन्तधातु ग्रहण की। इसी दन्तधातु पर स्वेज़िगान महास्तूप का निर्माण हुआ। बाद मे त्रिपिटक को भी मगाकर उसकाएक शुद्ध संस्करण तैयार किया गया। पगान मे अभी भी बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। अनिरुद्ध के पुत्र केन्ज़ित्था (१०८४-१११२ ई०) ने भी अपने पिता की भाँति बौद्धधर्म का पर्याप्त सरक्षण किया। बोध गया के मन्दिर का उद्धार, बिहार निर्माण, तथा प्रदीप-रत्नदान का श्रेय केन्ज़ित्था को ही है।

शिन् अर्हन् की मृत्यु (१११५ ई०) के बाद पथगू सघाधिपति हुए। वे राजा नरत्थू के विरोध मे सिहल चले गये। वहाँ से ११७३ ई० मे वापिस आये। उनके वाद उत्तरजीव सघराज हुए। उत्तरजीव ससघ सिहल की यात्रा पर गये। साथ मे चपटा श्रामणेर भी था। सिहल भिक्षुओ ने चपटा को सिहलनिकाय मे दीक्षित किया। चपटा भिक्षु अपने कुछ साथियों के साथ सिंहल मे ही रहे। ११८१-८२ ई० मे पगान वापिस पहुँचने पर वर्मा मे सिंहल संघ और म्रम्मसघ नाम के दो संघो की स्थापना हो गई। प्रथम महाबिहार निकाय का सदस्य था तो द्वितीय सोण और उत्तर की परम्परा का अनुयायी था। चपटा के साथ राहुल, आनन्द, सीवली और तामलिन्द भिक्षु भी थे। उनमें राहुल ने भिक्षु अवस्था छोड़कर गृहस्थावस्था को स्वीकार कर क्षिया। शेष भिक्षु सिंहल निकाय का प्रचार करते रहे। सिथु राजा के बाद हतिलो-मितेल,

क्यासवा और नरथिहपते ने राजगद्दी ग्रहण की। किन्तु उस समय तक वहाँ पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। १२८७ ई० में कुबले खान् की सेना ने पगान पर अधिकार भी कर लिया था।

म्रम्म और तैलङ् परस्पर विरोधी थे। उन दोनों को एक बर्बर घुमन्तु जाति शान् ने पराजित किया। उनमें से थीहथू ने बौद्धधर्म स्वीकार किया। आगे चलकर बौद्धधर्म का प्रचार बढ़ा। उस समय भिक्षु धम्मचेति (१४७२–७९ ई०) ने गृहस्थावस्था स्वीकारकर शिन्-सा-बू की सुपुत्री से विवाह कर राज्यशासन सूत्र सम्हाला। बौद्धधर्म का प्रभाव धम्मचेति के समय और अधिक बढ़ा। १४७२ ई० में उसने बोधगया जैसा मन्दिर बनवाने की घोषणा की। भिक्षु संघ में व्याप्त आचार-शैथिल्य को दूर करने के लिए उसने २२ भिक्षुओं को सिंहल भेजा। वहाँ से वे उपसंपदा लेकर १४७६ ई० में वापिस आये। और उन्होंने नये भिक्षुओं को उपसम्पन्न किया। म्रम्म संघ सिंहल संघ के समीप आता गया। धम्मचेति ने उसी को मान्यता दी।

धम्मचेति के समय तक वर्मा अनेक राज्यों में विभाजित हो गया था। इसी समय १५२७ ई० में थोहन्-व्या नामक राजा आवा का अधिकारी हुआ। उसने बौद्धधर्म पर घनघोर अत्याचार किये। उसके विरोध में १५४३ ई० में मिन्क्यियानोङ् ने उसकी हत्या कर अत्याचार को समाप्त किया। वपिन्नौङ् (१५५१–८१) ने तलैङ् का विद्रोह शान्तकर वर्मा को एक सूत्र में बाँधने में सफलता पाई। उसने अनेक स्तूप और बिहारों का भी निर्माण कराया। वपिन्नौङ् के बाद म्रम्म और तैलङ्गों में पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया। १७४०–४५ ई० में तलैङों ने स्मिम्म ह्ता बुद्धकेति के नेतृत्व में पेगू में अपना अधिकार जमाया। अलौङ्पया (१७५६–५७) ने बाद में इन्हें वर्मा से निकाल बाहर किया। वर्मा को एकसूत्र में बाँधने के लिए उसे बहुत कीमत चुकानी पड़ी।

धम्मचेति के प्रभाव से वर्मा में साधारणतः एक ही संघ रह गया था। उसमें भी मतभेद पैदा हो गया। मतभेद का मूल कारण था चीवर। लगभग १७०० ई० में गुणाभिलंकार भिक्षु ने एकांस चीवर पहिनने की रीति चलाई। इसके पूर्व पारुपण (प्रारोपण) प्रथा थी। जिसमें चीवर से दोनों कंधे ढके जाते थे। एकंसिक चीवर प्रथा का अन्त बोदाबुया (१७८२–१८१९ ई०) ने कराया। मूल त्रिपिटक भी पारुपण प्रथा का पोषक है। फिर भी एकंसिक प्रथा सिंहल की स्यामनिकाय में अभी भी प्रचलित है।

कीर्तिश्री राज सिंह (१७४८–७८ ई०) ने उच्चकुलीन भिक्षुओं को ही सिंहल में उपसम्पदा के योग्य बताया। फलतः १८०० ई० में कुछ भिक्षु वर्मा

गये जहाँ उन्होंने अमरपुर मे ज्ञानाभिवश से दीक्षा ली। सिंहल देश में वापिस आने पर अमरपुर-निकाय स्थापना हो गई। ये उभयासो थे। इसी प्रकार सिंहल मे एक और भी रामञ्ञनिकाय नाम का सम्प्रदाय है जोउभयाशी है। बाद मे मिन-दोन-मिन (१८५२-७७ ई०) ने संगमर्मर की ७२९ पट्टियो पर त्रिपिटक को उत्कीर्ण कराया।

१८८५ ई० मे वर्मा पर अंग्रेजो ने अधिकार किया। १९४८ ई० मे स्वतन्त्र होते ही बौद्धधर्म वर्मा का राजधर्म बन गया। यहाँ वर्मी सस्कृति का रग-रग बौद्ध संस्कृति से प्रभावित देखा जाता है। महाबोधि सभा को इसका विशेष श्रेय है।

मलयद्वीप

सोण और उत्तर का प्रभाव मलयद्वीप पर भी पडा। यहाँ के जन-जीवन मे बौद्ध सस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक है। केद्दा के समीप ४-५ वी शती का बौद्धमन्दिर प्रसिद्ध है। यहाँ एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। इसी समय यहाँ महायान बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। लगभग ८ वीं शती तक यहाँ बौद्धधर्म अच्छी स्थिति मे रहा।

सुमात्रा

गुप्तकाल मे सुमात्रा भी बौद्धधर्म का प्रधान केन्द्र बन गया था। ६८४ ई० मे जयनाग श्रीविजय का शासक था। श्रीविजय हिन्द-द्वीपसमूह मे सस्कृति और शिक्षा का आकर्षक स्थान था। यहाँ महायान का विशेष प्रचार था। कहा जाता है कि सुवर्णद्वीप के प्रकाण्ड पण्डित धर्मकीर्ति के पास आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (९८१-१०५४ ई) बारह वर्ष तक पढते रहे। ७ वी से ११ वी शती तक स्वर्णद्वीप (इण्डोनेशिया) का बहुत अधिक महत्त्व था। महायानी साधना का भी यहाँ प्रभाव रहा है।

जावा

जावा का भी भारत से सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। जावा का प्रथम राजा अजि-शका (प्रथम शताब्दी) भारतीय ही था। पाँचवी शताब्दी में गुणवर्मा ने बौद्धधर्म का यहाँ अच्छा प्रचार किया। जावा की सस्कृति पर दक्षिण भारतीय कला और सस्कृति का विशेष प्रभाव है। पल्लवो के पूर्व और सातवाहनो के बाद के धान्यकटक और श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा) मे प्राप्त शिलालेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी तृतीय शताब्दी मे सिहल, चीन,

और किरात (चिलात, मलय) तक बौद्धधर्म का प्रचार था। पल्लव लिपि और जावा–हिन्दचीन लिपियो मे साम्य दिखाई देता है। श्रीविजय का शैलेन्द्र राजवश महायानी तथा तान्त्रिक बौद्धधर्म का अनुयायी था। उस समय सातवी शताब्दी मे मगध और नालन्दा तन्त्रयान के प्रमुख केन्द्र थे। शैलेन्द्र वंशीय राजाओ ने दिग्विजयें भी की। १२६४ ई० के बाद उनका पतन होने लगा। शैलेन्द्र राजवंशो ने वास्तुकला पर विशेष ध्यान दिया। बरोबुदूर का महाचैत्य, चण्डीसरी, चण्डीसेवू, चण्डी मेन्दुत् और चण्डीपवान मन्दिर बौद्धकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू सस्कृति का प्रसार भी यहाँ कम नही रहा।

बालीद्वीप

वालीद्वीप और जावा के बीच केवल डेढ़ मील की खाड़ी है। चीनी इतिहास से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी मे यहाँ बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय था। यहाँ बौद्धधर्म चीन से नही आया। प्रत्युत भारत से पहुँचा था। उग्रसेन भारतीय राजा था जिसने नवी शताब्दी मे वस्नी पर शासन किया। ११ वी शताब्दी मे वाली पर जावा का शासन हुआ पर कादिरी राज्य का पतन होने पर वाली पुन: स्वतन्त्र हो गया। बाद मे मुसलमानो और डचो के आक्रमणो से वाली भी नही बच सका। फिर भी यहाँ शैवधर्म के साथ–साथ बौद्धधर्म पल्लवित होता रहा। यहाँ प्राय. शिव और बुद्ध को एक माना जाता है। ग्यारहवी शताब्दी के पूर्व की कोई वास्तुकला यहाँ उपलब्ध नही हुई। उत्तर कालीन मन्दिर अवश्य मिलते हैं।

बोर्नियो

बोर्नियो भी बौद्ध दृष्टि से महत्त्वपूर्ण द्वीप है । यह जावा से अठगुना बड़ा है। यहाँ के इतिहास से ज्ञात होता है कि लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी मे बोर्नियो मे ब्राह्मण संस्कृति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। पश्चिम बोर्नियो मे प्राप्त अभिलेखो से स्पष्ट है कि लगभग १० वी शताब्दी मे यहाँ बौद्धधर्म का भलीभांति प्रचार हो गया था। दक्षिण-पूर्वी बोर्नियो मर्त्तपुर जिले मे गुनुङ्-कूपाङ् के बीच उत्खनन में वोधिसत्त्व मञ्जुश्री की पाषाणमूर्ति मिली है। कुछ बुद्ध मूर्तियाँ कोम्बेङ् में भी प्राप्त हुई हैं। इनकी कला भारतीय है। बोर्नियो में प्राप्त पीतल की एक बुद्ध मूर्ति भी कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। फिलिपीन और सेलीबीज मे भी बौद्धकला के निदर्शन प्राप्त हुए हैं। इन सभी स्थानो पर मुसलमानो के आक्रमण हुए जिनसे बौद्धधर्म और कला की विशेष हानि हुई। इन सभी के बावजूद इण्डोनेशिया की

(सुमात्राद्वीप समूह) की संस्कृति पर बौद्धधर्म की अमिट छाप पडी हुई है। स्याम (थाईलेण्ड), काम्बुज (कम्बोडिया), और चम्पा (वियतनाम) भी इसी के अभिन्न अंग है।

हिन्दचीन में बौद्धधर्म

वर्मा, जावा, सुमात्रा आदि देशों से आगे चलकर बौद्धधर्म ने हिन्दचीन की यात्रा की। चीनी इतिहासकारो के अनुसार चम्पा राज्य की स्थापना १९२ ई० मे हुई थी। पर बौद्धधर्म का प्रभाव नौ वी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। इसी समय इन्द्रवर्मा द्वितीय ने लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर नामक महाबिहार का निर्माण कराया। ९०२ ई० में यही स्थविर नागपुष्प ने 'प्रमुदित लोकेश्वर बिहार' स्थापित किया। यहाँ पर उत्कीर्ण प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि चम्पा में तान्त्रिक बौद्धधर्म का प्रचार अधिक था। १३ वी शती तक बौद्धधर्म यहाँ रहा पर शैव धर्म अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय था।

चम्पा के पश्चिम मे एक प्रदेश था, जिसे चीनी इतिहासकारों ने फोनन् कहा है। यहाँ का कौडिण्य राजा सोमवशी कहा गया है। उसके बाद फान्–चे–मन् (२२५ ई०) ने अपना राज्य मलाया तक विस्तृत किया। २४०–४५ ई० में फूनान् से पाटलिपुत्र दूत भेजे गये। इसी समय उनका परिचय बौद्धधर्म से हुआ। इस समय तक फोनन् भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत हो गया था। ४३८ ई० मे भिक्षु नागसेन किसी प्रकार फोनन् पहुँचे। राजा जयवर्मा ने ४८४ ई० मे नागसेन को चीन भेजा एक आवेदनपत्र के साथ। उस पत्र मे चीन मे प्रचलित बौद्धधर्म की प्रशंसा की गई थी। फोनन् मे उपलब्ध शिलालेखो से यह स्पष्ट है कि इस समय तक वहाँ बौद्धधर्म का विस्तार हो चुका था। जयवर्मा के काल मे अवलोकिलेश्वर बुद्ध और वज्रपाणि की प्रतिमायें बन चुकी थी।

कम्बुज चम्पा के समान भारतीय नाम कम्बोज के अनुकरण पर रखा गया होगा। यहाँ मूलत: शैवधर्म प्रचलित था। फूनान् पर भववर्मा ने अपना अधिकार किया। उसके बाद महेन्द्रवर्मा, ईशानवर्मा, जयवर्मा प्रथम आदि राजाओं ने कम्बुज पर शासन किया। यहाँ सर्वप्रथम जयवर्मा प्रथम (६६५ ई०) के शिलालेखों मे ही बौद्धधर्म का उल्लेख मिलता है। उसके बाद लगभग (२ शताब्दी तक कम्बुज शैलेन्द्र राजाओं के अधिकार मे रहा) उसके बाद जयवर्मा द्वितीय (८०२ ई०) सिंहासन पर बैठा। कुछ बौद्ध मन्दिरों का उसने निर्माण कराया। जयवर्मा तृतीय (८६९–८७७ ई०) के काल मे पल्लव वास्तुशिल्प का अनुकरण दिखाई पड़ता है। यशोवर्मा के बाद सूर्यवर्मा

(१००२–४६ ई०) के राज्यकाल मे बौद्धधर्म का उत्कर्ष बढ़ने लगा। आज यहाँ स्थविरवादी बौद्धधर्म प्रचलित है ।

थाई वासियो का मूल स्थान युन्–नन् (चीन) था। इसी ओर चिन्दवीन, इरावदी, सालविन, मेकाङ्ग, प्रदेश लाल नदी के तट पर अवस्थित थे। इसी प्रदेश को उन्होने गन्धार कहा है। परम्परानुसार इस प्रदेश को अशोक ने स्थापित किया था। थाई ने प्रारम्भ से ही अपनी स्वतन्त्रता के लिए चीन से सघर्ष किया। थाई मे बहुत नाम भारतीय नामो का अनुकरण करनेवाले रखे गये। १४ वी शती तक अयोध्या उनकी राजधानी रही। इस बीच बौद्धधर्म का प्रचार–प्रसार बढ़ता ही गया। आज भी थाई में बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय है।

अफगानिस्तान और मध्यएशिया में बौद्धधर्म

अफगानिस्तान और भारत का सम्बन्ध प्रागैतिहासिककाल से रहा है। बुद्ध के समय अफगानिस्तान दारयोवहु के साम्राज्य का अंग था और गन्धार के नाम से पुकारा जाता था। वर्तमान मे वहाँ कन्धार और पेशावर (पुरुषपुर) प्रमुख नगर है। बुद्ध के जीवन काल मे ही उनका धर्म–सन्देश गन्धार तक पहुँच चुका था। परम्परानुसार अशोक ने ८४ हजार स्तूप बनवाये थे। उनमे एक तक्षशिला में था। तृतीय संगीति के फलस्वरूप मध्यान्तक को कश्मीर–गन्धार मे बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भी भेजा गया था। मौर्यवंश के बाद कश्मीर और गन्धार बौद्धधर्म के केन्द्रस्थल हो गये। गन्धार की मूर्तिकला प्रसिद्ध ही है। असंग और वसुबन्धु जैसे प्रकाण्ड बौद्ध दार्शनिक भी गन्धार से ही मिले। कपिशा (कोइदमन) भी भारतीय साहित्य मे बहुचर्चित नगरी रही है। मध्यएशिया के यातायात के लिए गन्धार (अफगानिस्तान) ही एक सरल और सीधा रास्ता था। लगभग दशवी शताब्दी तक बौद्धधर्म यहाँ रहा है। हर विदेशी को उसने बौद्धधर्म का पाठ दिया है। आज भी यहाँ बौद्धकला अपनी जीवित अवस्था मे दिखती है।

चीनी तुर्किस्तान और सोवियत तुर्किस्तान को मिलाकर मध्यएशिया कहा जाता है। पश्चिमी मध्यएशिया का प्रसिद्ध नगर बुखारा बौद्धधर्म का स्मरण दिलाता है। मंगोलियन आज भी बिहार के लिए बुखार कहा करते हैं। इस्लाम के पूर्व यहाँ बौद्ध–बिहार था। गन्धारकला की मूर्तियों मे बौद्ध मूर्तियां ही अधिक मिलती है। वक्षु नदी के दोनो ओर हिन्दुकुश और दरबन्द की पहाड़ियों के बीच बुखार देश था। वर्तमान मे उजबेक जाति के लोग दोनो ओर रहते हैं। उत्तरी भाग सोवियत मे है और दक्षिणी भाग अफगानिस्तान मे।

पश्चिमी मध्य-एशिया की जरफशा नदी का प्राचीन नाम सोग्द (सुग्ध) है। समरकन्द और बुखारा इसी के किनारे बसे हुए है। सोग्दी भाषा और संस्कृति भारतीय भाषा और संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित है। सोग्दी भाषा मे कुछ बौद्ध ग्रन्थ भी मिले हैं। मानी के धार्मिक सिद्धान्तो पर बौद्ध धर्म का प्रभाव अधिक था। २१६ ई० मे मेसोपोतामिया मे जन्मा मानी ईसाई, जथ्रुस्ती और बौद्ध, इन तीन धर्मों का समन्वित रूप जनता के समक्ष रखना चाहता था। पर ईसाइयो ने उसे शैतान का रूप मानकर समाप्त करा दिया। इसके बावजूद मध्यएशिया की संस्कृति पर बौद्धधर्म का प्रभाव अमिट रहा है।

खोतन (संस्कृति कुस्तन) का प्राचीन नगर तरिम के दक्षिण भाग मे है। ५७–७५ ई० मे खोतन मे कई बार विद्रोह हुआ। फलत: द्वितीय शती मे खोतन राज्य की स्थापना हुई। तृतीय शती मे विजय सम्भव के राज्य मे यहाँ बौद्धधर्म आया। राजगुरु आर्यविरोचन ने खोतनी भाषा के लिए एक लिपि बनाई जिसका मूलाधार ब्राह्मी लिपि था। तभी से संस्कृत नामो का प्रारम्भ हो गया। विजय सम्भव की आठवी पीढी के राजा विजयवीर्य के गुरु भारतीय बौद्ध भिक्षु थे। इसने अनेक बिहारो और स्तूपो का भी निर्माण कराया। विजयवीर्य के पुत्र भी बौद्धधर्म मे दीक्षित हुए। विजयवीर्य के पुत्र विजयधर्म और पौत्र विजयसिह ने बौद्धधर्म की अपूर्व सेवा की। खोतान पर उत्तरकाल में विदेशियो ने अनेक बार आक्रमण किया। इस कारण यहाँ के बौद्धबिहार और स्तूप नष्ट-भ्रष्ट हो गये। सप्तम शताब्दी के चतुर्थ दशक मे तुर्की राज्य खोतान से समाप्त हुआ और विजयसिह का राज्याधिकार आया। इसी समय आचार्य धर्मपाल वहाँ पहुँचे। बाद मे तो खोतान चीन का अंग हो गया। और चार चीनी छावनियो मे अन्यतम माना जाने लगा। आठवी शताब्दी तक चीन का प्रभाव खोतान पर रहा। इसके बाद भोट का अधिकार हुआ। लगभग २०० वर्षों बाद पुन· चीन से सम्पर्क हुआ पर १० शताब्दी मे मुसलिम आक्रमणों के कारण खोतान परतन्त्र हो गया और बौद्धधर्म समाप्त-प्राय हो गया। तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि खोतान मे महायानी साधना का प्रचार अधिक था। वहाँ बुद्ध की मूर्ति-पूजा बडे उत्साह के साथ की जाती थी। ह्वेन-सांग भारत से लौटते समय भी यहाँ रुका। और वहाँ के बौद्धधर्म तथा साहित्य की स्थिति से अवगत कराया।

खरोष्ठी लिपि का प्रयोग गंधार मे होता था। पश्चिमोत्तर प्रदेश के मनसहरा और शाहबाज गढ़ी मे अशोक के लेख इसी लिपि मे उत्कीर्ण मिलते हैं। ये लेख प्राकृत भाषा मे लिखे गये है। देशी और विदेशी नामो का एक साथ प्रयोग मिलता है। धम्मपद की भाषा और उन प्राकृत अभिलेखो की भाषा मे साम्य

दिखाई देता है। पूर्वी मध्य एशिया के दक्षिणी भाग मे शकभाषा का प्रचलन था। संस्कृत मे उपलब्ध बौद्ध संस्कृत साहित्य का अनुवाद इस भाषा मे हुआ है।

काशगर और खोतान पर कनिष्क का भी अधिकार रहा है। उस समय बौद्धधर्म वहाँ अवश्य था। विशेष रूप से सर्वास्तिवाद का प्रचार था। चीन से पश्चिम की ओर कूचा भी बौद्धधर्म का केन्द्र था। सम्भव है कूचा और कुशद्वीप एक ही हो। सूत्रालंकार के अनुसार कनिष्क को कुश जाति का बताया गया है। तृतीय शताब्दी मे कूचा बौद्धधर्म का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ से चीनी सेना कुमारजीव को हठात् चीन ले गयी, जहाँ कुमारजीव ने बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद चीनी भाषा मे किया। सातवी शताब्दी तक कूचा बौद्धधर्म का केन्द्र रहा है। हीनयान और महायान दोनों साधनायें समान रूप से प्रचलित रही हैं। ह्वेनसांग ने यहाँ के बौद्धधर्म की स्थिति बहुत सन्तोषप्रद बतायी है। कूची भाषा और साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। प्रतीत्यसमुत्पाद, स्मृत्युपस्थान, शक्रप्रश्न, महापरिनिर्वाण, उदानवर्ग, उदानालंकार, अवदान, करुणापुण्डरीक, आदि ग्रन्थ कूची भाषा मे उपलब्ध हुए हैं। तुखारी भाषा मे इसी प्रकार जातक आदि अनेक ग्रन्थ मिलते हैं।

कूचा के पूर्व तूर्फान एक मरुद्वीप है। यहाँ लगभग ८ वी शताब्दी तक बौद्धधर्म अपनी समृद्ध अवस्था मे रहा। यहाँ अनेक हस्तलेख भी मिलते हैं। रूसी और जर्मनी विद्वानो ने उन हस्तलेखो को पढ़ने का अथक परिश्रम किया। तूर्फान के उत्खनन मे बौद्ध मूर्तियाँ, बौद्धचित्र, चीनी-ईरानी सिक्के, बोधिसत्त्वो के मुण्ड आदि विविध प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई। स्तूपो के नीचे मानो ग्रन्थ भी मिले। कूचा के पूर्व मे तुन-ह्वाङ् है, जो चीन की सीमा के सन्निकट है। यहाँ कभी चीन का राज्य रहा तो कभी तिब्बत का। फिर भी बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार बना रहा। यहाँ उपलब्ध बौद्ध गुफाएँ चतुर्थ शताब्दी की हैं। सम्भव है, यह प्रभाव समुद्रगुप्त का रहा हो। क्योंकि चीन मे बौद्धधर्म पाचवीं शताब्दी में पहुँचा। बाद मे चीन का भी प्रभाव पड़ा। भित्ति चित्र और बौद्धमूर्तियों पर गन्धारकला का प्रभाव स्पष्टत: दिखाई देता है। सहस्रबुद्ध गुहाबिहार सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जो चित्र उपलब्ध हुए हैं उनमें कुछ बोधिसत्वों अर्हन्तों और बुद्धमूर्तियो के हैं और कुछ सांसारिक जीवन के सन्दर्भ बताते हैं। उन चित्रों मे चीनी और नेपाली कला विशेष रूप से दिखाई देती है। प्राय: सभी चित्र महायान से सम्बद्ध हैं। वे अधिकाश चित्र नवी शताब्दी के हैं। स्टाइन को नीया के ध्वंसावशेषों में खरोष्ठी लिपि और प्राकृत भाषा की शताधिक पट्टियाँ प्राप्त हुई। 'एक तावी साधु वङ्-ताऊ को यहाँ का बड़ा भारी पुस्तक भण्डार मिला जिसे पेलियो नामक फ्रेन्च विद्वान ने १९७६-७

ई० मे स्वयं देखा। उन्होंने उसकी सूची भी बनाई। हस्तलिखित ग्रन्थों और चित्रकला की दृष्टि से यह भण्डार विशेष महत्वपूर्ण है। जापानी विद्वान काउन्टर ओतानी ने भी १९०२ में कुछ मूल्यवान् सामग्री प्राप्त की।

तुर्की भाषा मे बौद्ध साहित्य मिलता है। इसका प्राचीन साहित्य उइगर-साहित्य के रूप मे उपलब्ध होता है। हूणों के अन्तिम समय मे उजबेकी, तुर्की आदि प्रदेशों मे बौद्धधर्म चला गया था। उइगुर पश्चिमोत्तर मंगोलिया के निवासी थे। उइगुर लिपि से ही मंगोल और मंचु लिपियाँ निकली। उइगुरों मे बौद्धधर्म का प्रचार ई० पू० प्रथम शताब्दी के पूर्व ही हो गया था। उइगुर साहित्य मे उपलब्ध बौद्धग्रन्थ तोखारी, शक, चीनी और तिब्बती से अनुवादित हुए हैं। यहाँ सर्वास्तिवाद और महायान बौद्धधर्म का विशेष प्रचार था। बाद मे मुसलमानों के कारण लगभग १२ वी शताब्दी मे बौद्धधर्म को बड़ा आघात लगा। पर सोवियत रूस अब उइगुर साहित्य को समृद्ध कर रहा है।

चीन में बौद्धधर्म

जनसंख्या की दृष्टि से चीन विश्व का सबसे बडा राष्ट्र है। संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से भी उसे बहुत प्राचीन कहा जाता है। शायद हिमयुग से ही उसका मानव इतिहास प्रारम्भ हो जाता है। सही इतिहास २२१ ई० पू० से प्रारम्भ होता है जब छिन् राजवश की स्थापना हुई। चीनी लिपि का प्रभाव कोरिया, अनाम, जापान, उइगुर, मगोल और मचु लिपियो पर भी पड़ा।

ई० पू० ५ वी–६ वी शताब्दी मे बुद्ध और महावीर के समान चीन में भी विचार क्रान्ति करने वाले कन्फूसी, मो-ती, और लाउज् हुए जिन्होने चीन के जन जीवन मे आदर्शवाद और रहस्यवाद की शिक्षा दी। २२१–२०७ ई० पू० में चाउवंश के बाद छिन् वंश की प्रभुसत्ता हुई। चेङ् वहाँ का प्रथम सम्राट् बना। इस काल में चीनी भाषा और साहित्य का विकास उल्लेखनीय रहा। चीनी दीवार का निर्माण भी इसी के राज्यकाल मे हुआ। हूणों के आक्रमणो से बचने के लिए यह १५०० मील लम्बी अभेद्य दीवाल बनाई गई थी। उसकी मृत्यु के बाद चीन से उसके वंश की प्रभुसत्ता समाप्त हो गई। चीन पुन: अनेकता मे फंस गया।

छिन् वंश के बाद पश्चिमी हान् (२०२ ई० पू०–९ ई०) वंश आया। पर उन्हे हूणों से कठोर संघर्ष करना पड़ा। अन्त मे ऊ–ती ने हूणों पर विजय पा ली। उसने च्याङ्-क्याङ् को भी हूणों से लोहा लेने भेजा था पर हूणों ने

उसे दस साल तक बन्दी रखा। बाद में वह चीन आया ई० १२८ मे। उसने बताया कि चीनी वस्तुएं जेजुआन तथा युन् नन् के मार्ग से भारत पहुंचती हैं। इसी मार्ग से बाद मे फा-शि-यान् ह्वेनशाङ्, ई-चिङ् वगैरह यात्री भी भारत मे आये।

पूर्वी हानवंश ने २५–२२० ई० तक शासन किया। इसी वंश के राजा मिङ्-ती ने बौद्धधर्म ग्रहण किया। ई० ९ मे पश्चिमी हानवंश लुप्तप्राय हो गया। सम्राट् ऊ-ती ने फरमाना तक अपना साम्राज्य विस्तृत किया। च्याङ्-क्याङ् के अनुसार इस सम्राट् के पास एक बुद्ध मूर्त्ति थी। चीन मे सर्वप्रथम बौद्धधर्म प्रचारक ६७ ई० मे पहुंचा।

कहा जाता है, पूर्वी हान्वंश के सम्राट् मिङ्-ती (५८–७५ ई०) ने स्वप्न मे एक स्वर्णिम महापुरुष देखा जिसे बुद्ध कहा गया। सम्राट् ने वाङ् त्सुन् के नेतृत्व मे १७ व्यक्तियों के दल को बुद्ध के धर्म की खोज मे भेजा। यह दल काश्यप मातङ् तथा शान्तिभिक्षु (धर्मरत्न) और धार्मिक ग्रन्थों के साथ राजधानी वापिस आया। काश्यप मातङ् तक्षशिला के आचार्य थे। उन्होने सर्वप्रथम चीनी भाषा मे 'द्वाचत्वारिंशत सूत्र' का अनुवाद किया शान्तिभिक्षु ने भी कुछ बौद्ध साहित्य का सृजन किया। इसके अतिरिक्त मिङ्-ती ने श्वेताश्व बिहार बनवाकर बौद्धधर्म के अस्तित्व को और भी सक्षम बना दिया। मातङ् के बाद भी अनुवाद-परम्परा अक्षुण्ण बनी रहती है। इस परम्परा मे पार्थिया लोगों ने अपना बौद्धधर्म-प्रेम प्रदर्शित किया। सोकाउ उनमे प्रमुख थे। उन्होने लगभग ९५ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कुछेक वर्ष बाद लोकक्षम् हुए जिन्होने २३ ग्रन्थो का अनुवाद किया चीनी भाषा मे। कुछ और भी अनुवादक थे। इन हानवंशीय विद्वान अनुवादकों ने ४३४ ग्रन्थों का अनुवाद किया। बौद्धधर्म की दृष्टि से हानवंश का राज्यकाल बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। इस काल मे बौद्ध साहित्य और कला का पर्याप्त विकास हुआ है।

हान्वंश के बाद चीन की एकसूत्रता नष्टप्राय हो गई। उसे शू (२२१–६४ ई०), वेई (२२०–६५ ई०) और ऊ (२२२–८० ई०) राजवशों ने विभाजित कर लिया। फिर भी बौद्धधर्म की प्रगति मे यह विभाजन व्यवधान नहीं बन सका। श्वेताश्व बिहार अभी भी धर्म प्रचार का केन्द्र बना हुआ हुआ था। वेई काल मे धर्मपाल, संघवर्मा, धर्मसत्य, पो-यङ और धर्मभद्र प्रमुख अनुवादक थे। उनके सुखावतीव्यूह आदि अनुवादित ग्रन्थ मिलते हैं। ऊवंश मे मू-चू नामक विद्वान (१७० ई०) ने बौद्ध दार्शनिक परम्परा प्रारम्भ की। कुछ उल्लेखनीय अनुवादक भी हुए जिनमे ची-चियेन् अधिक प्रसिद्ध

हुआ। ची-च्येन् (२२३–२५३ ई०) ने १२७ ग्रन्थो का अनुवादन किया। अवदानशतक, मातंगीसूत्र, ब्रह्मजालसूत्र, वत्ससूत्र उनमे प्रमुख हैं। विघ्न (२२४ ई०) और लिउ-येन् ने धम्मपद आदि का अनुवाद किया। खाङ् सेङ्-ह्मी के संयुक्तावदान आदि १४ ग्रन्थ अनुवादित हैं। कहा जाता है, इसी समय किसी बौद्ध भिक्षु ने चाय का आविष्कार किया। चीनी मिट्टी के वर्तन और चीनांशुक पहले से ही प्रसिद्ध थे।

चतुर्थ शताब्दी मे उत्तरी चीन पर हूणों का अधिकार हो गया। ये हूण मंगोलो से सम्बद्ध अबार थे। उस समय बौद्धधर्म की प्रतिद्वन्दिता मे ताउ-वाद खड़ा हुआ था। फिर भी वह बौद्धधर्म का प्रचार नही रोक सका। चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध मे बौद्धधर्म कोरिया पहुँच गया। चीनी लिपि से भी वे परिचित हो गये। लगभग १५० वर्ष बाद कोरिया से ही बौद्धधर्म जापान गया। कोरिया मे ताड-आन के शिष्य हुइ-थुवेन को सुखावती, पुण्डरीक अथवा अमिताभ सम्प्रदाय (३१४–३८५ ई०) का प्रतिष्ठापक माना जाता है। यही कुमारजीव (३४४–४१३ ई०) के शिष्य चू-ताड-सेङ् (३६७–४३४ ई०) भिक्षु ने ध्यान सम्प्रदाय (जापानी जेन) की स्थापना की। उसी समय बौद्ध सम्प्रदाय मे चिकित्सा के द्वारा जनसेवा करना भी श्रेयस्कर माना जाने लगा। भिक्षु धर्मरक्ष, जीवक, यू-चा, यू-ज्ञ-चा-खाई आदि चिकित्सक उल्लेखनीय है।

चीन मे २८४ ई० ४५० ई० के बीच बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद बहुत अधिक हुआ। पश्चिमी छिन्वंश (२१५–३१६ ई०) के राज्यकाल मे इन अनुवादको मे ३६ भाषाओ के ज्ञाता धर्मरक्ष (२८४–३१३ ई०) प्रमुख हैं। कहा जाता है, उन्होने २११ ग्रन्थों का अनुवाद किया था। प्रज्ञापारमिता, दशभूमिकसूत्र, सद्धमपुण्डरीक, ललितविस्तर जैसे ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। धर्मरक्ष ने अवलोकितेश्वर के नाम पर अवलोकित सम्प्रदाय की भी स्थापना की थी। अन-फा-किङ् तथा चू-शी: हिङ् भी कुशल अनुवादक थे। पूर्वी छिनवंश (३१७–४२० ई०) मे प्राय: सभी राजा बौद्धधर्मावलम्बी थे। इस समय धर्मरत्न ने ११० संस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद किया जिनमे अधिकाश सूत्रपिटक के ग्रन्थ सम्मिलित थे। मिलिन्द प्रश्न का भी रूपान्तरण इसी समय हुआ। कुमारबोधि, धर्मनन्दि, संघदेव और संघभूति भी प्रध न अनुवादक रहे हैं जिन्होंने सुत्तपिटक और सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक के अनुवाद प्रस्तुत किये। अनुवाद कार्य पूरा करने के लिए सम्राट् फू-की-येन ने कठोर संघर्ष के बाद भी कूचावासी भिक्षु कुमारजीव को लाने का उपक्रम किया। किन्तु याङ्-चान द्वारा बीच में ही हत्या किये जाने के कारण कुमारजीव को प्राक्तन छिनवंश (३५ –९४ ई०) के संस्थापक याङ्-चान् के पास रुकना पड़ा। यह याङ्-चान् सर्वमान्य

बौद्ध सम्राट् था। उसके युग मे बौद्धधर्म और साहित्य का बहुत प्रचार हुआ। कुमारजीव और कुमारजीव के गुरु बुद्धयश ने उसी के काल मे अनुवाद कार्य का सम्पादन किया। बुद्धयश कश्मीरी ब्राह्मण थे। हीनयान और महायान ग्रन्थो के गंभीर विद्वान थे। दीर्घागम आदि ग्रन्थो का उन्होने अनुवाद किया। पाचवी शताब्दी मे विनय ग्रन्थो का अनुवाद प्रारम्भ हुआ। बुद्धभद्र और फा-शि-यान् ने महासाधिक विनय का अनुवाद किया। पुष्यतर ने सर्वास्तिवादी विनय, कुमारजीव ने महायानी विनय, और बुद्धयश ने धर्मगुप्तीय ने विनय का अनुवाद किया।

कुमारजीव (३३२–४१३ ई०) के पिता कुमारायन भारतीय भिक्षु थे। उन्होने कूचा की राजकुमारा जीवा से विवाह कर लिया। कुमारजीव के होने पर उसकी माँ उसे उच्च शिक्षा देने के लिए कश्मीर ले आई। कुमारजीव ने लगभग बीस वर्ष की अवस्था तक अध्ययन किया और फिर माँ के साथ कूचा वापिस हो गये। कुमारजीव ने तीस वर्ष तक महायान का प्रचार किया। उनकी कीर्ति चीन तक पहुँची। बाद मे चीनी सम्राट् उन्हें चीन ले गये। कुमारजीव का संस्कृत, तुखारी, और चीनी भाषा पर असाधारण अधिकार था। उन्होंने अन्य भिक्षुओं को सहयोग देकर १०६ ग्रन्थो का अनुवाद किया। काशगर में कुमारजीव का परिचय भिक्षु सूर्यसोम से हुआ। उनके ही कारण कुमारजीव महायानी बन गये। कुमारजीव ने नागार्जुन-आर्यदेव के माध्यमिक शून्यवाद का अनुकरण-अभ्यास किया था। इसलिए प्रज्ञापारमिता से सम्बद्धा ग्रन्थों (पञ्चविंशति-साहस्रिका, दशसाहस्रिका, वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, प्रज्ञापारमिताहृदय, प्रज्ञापारमितासूत्र) का अनुवाद किया। इन माध्यमिक ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होने नागार्जुन की माध्यमिककारिका और उस पर आर्यदेव की टीका तथा आर्यदेव के शतशास्त्र का भी अनुवाद किया। हरिवर्मा का सत्यसिद्धिशास्त्र तथा कुछ अन्य ग्रन्थो—विमलकीर्ति निर्देश, सद्धर्मपुण्डरीक, सुखावतीव्यूह आदि का भी अनुवाद कुमारजीव ने किया। इस प्रकार कुमारजीव का सारा जीवन भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार मे ही व्यतीत हुआ।

उत्तरी चीन मे ४२०-५८९ ई० के बीच मे अनेक अनुवादक हुए। तोपा वंश (३८६-५३५ ई०) के राजाओं ने पाँच गुफायें बनवाईं जिनमे बुद्ध मूर्तियां उकेरी गईं। सबसे बड़ी बुद्ध मूर्ति ७० फीट ऊची है। तोपा काल में छह विद्वानों ने अनुवाद का काम किया—धर्म रुचि, रत्नमति, बोधरुचि, बुद्धशान्त, बोधिधर्म और की-क्या-ये। इनमे अधिकाश भारतीय भिक्षु थे। धर्म रुचि के तीन ग्रन्थ मिलते हैं। रत्न रुचि ने योगाचार दर्शन के महायानोत्तर तन्त्र का भी अनुवाद किया। बोधि रुचि ने ३९ ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें

विशेषचिन्ता, दशभूमिक गयाशीर्ष, लकावतार, धर्मसगीति प्रमुख हैं। बुद्धशान्त ने महायान समपरिग्रहशास्त्र आदि ६ ग्रन्थो का अनुवाद किया। बोधिधर्म ध्यान सम्प्रदाय के सस्थापक के की-वया-ये के पांच अनुवादित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमे सयुक्त-रत्नपिटक और महायान परम्पर प्रमुख हैं। महायान परम्परामे बुद्ध के बाद बने भिक्षुसघो के प्रधान आचार्यों की परम्परा इस प्रकार दी हुई है—

१. महाकाश्यप, २. आनन्द, ३. शाणवास, ४. उपगुप्त (ई० पू० २५०), ५. धृतक, ६. मैचक, ७ वसुमित्र, ८. बुद्धनंदी. ६. बुद्धमित्र, १०. पार्श्व ११. पूर्णयश, १२ अश्वघोष (प्रथम शती ई०), १३. वीर, १४. नागार्जुन (२ सदी ई०), १५ कानदेव (आर्यदेव), १६. राहुल, १७. सघनन्दी, १८. संघयक्ष, १६. कुमारलात, २०. जयंत, २१. वसुबन्धु, २२. मो-नो-ली, २३. हो-ले-हो, २४. सिंह, २५. ब-सि-या-सि-ता, २६. पू-तो-नो-मि-तो, २७ प्रज्ञातर, २८. बोधिधर्म, २६. हुई के (४८६-५९३ ई०) ३० सेङ-चम, ३१. ताउ-सिन्, ३२. हुङ्-जिन (६०५-७५), और हुई-नेङ् (६३१-७१३)। इनमें सिंह के बाद के ६ नाम चीन परम्परा के स्थविरों के हैं।

उत्तरी वेई (लोयाङ्) (३८६-५३५ ई०) के राज्यकाल मे वाराणसी निवासी गौतम प्रज्ञारुचि ने २३ ग्रन्थो का अनुवाद किया, जिनमे सद्धर्म स्मृति उपस्थान, मध्यन्तानुगम और एकश्लोकशास्त्र प्रमुख ग्रन्थ है। यह युग बौद्ध धर्म के लिए स्वर्णयुग कहा गया है। लियाङ् सम्राट ऊ (५०२-५४६ ई०) ने बौद्ध धर्म के प्रचार मे जो योगदान दिया, उसे दृष्टिपथ मे रखते हुए उसको अशोक कहना अतिरञ्जित नही होगा। ४३४ ई० मे चीनी महिलाओ को सघ में भिक्षुणी बनने का अवसर मिला। इस समय की कला भी प्रगति पर थी। उस पर तक्षशिला पेशावर और मथुरा की कला का प्रभाव दिखाई देता है। सगीत मे भी बौद्धराग समन्वित था। इसी समय आत्म बलिदान और तीर्थ यात्रायें करना भी प्रारम्भ हुआ। शी-चे-मोङ् (४०४-५३), शी-फा-शेङ्, बुद्धवर्मा, धर्मक्षेत्र आदि प्रसिद्ध आचार्य और अनुवादक भी इसी काल मे हुए। बुद्ध चरित, सुवर्णप्रभाससूत्र, आदि ग्रन्थों के उन्होंने अनुवाद किये।

दक्षिणी चीन मे ल्यू-सुङ् के राज्यकाल (४२०-६६ ई०) मे बौद्ध धर्म खूब फला-फूला। भारत की अनेक तीर्थ यात्रायें की गई। बुद्ध जीव, गुणवर्मा गुण भद्र, सघभद्र, उपशून्य, परमार्थ आदि अनेक आचार्यो ने बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद किया। दक्षिणी चीन का सम्राट् युवान् भी (५५२-५५ ई०) स्वयं विद्वान था। उसका स्वयं का बहुत बड़ा ग्रन्थालय था। पर दुर्भाग्य वशात् उसके ग्रन्थालय को उसके शत्रुओं ने भस्म कर दिया। लगभग

डेढ लाख पुस्तकें अग्नि मे होम कर दी गईं। यही कारण है कि अनेक ग्रन्थों का मात्र उल्लेख मिलता है। इसी प्रदेश मे उज्जैनवासी परमार्थ (४९८-५६९ ई०) ने अपना साहित्यिक योगदान किया। उन्होंने लगभग ७० ग्रन्थो को अनुदित किया। सप्तदशभूमिशास्त्र, और स्वर्णप्रभाससूत्र उन ग्रन्थों में अधिक लोकप्रिय हुए। परमार्थ ने भूततथता और आलयविज्ञान का भी यहां प्रचार किया, उसका आधार था महायानश्रद्धोत्पाद नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ।

पूर्वी वेई वंश के बाद ५३० ई० मे उत्तरी ची वंश की स्थापना हुई। इसके प्रथम सम्राट् वेन-हुवेन् (५५०-५८ ई०) ने तावबादियों के प्रतिपक्ष में बौद्धो का पक्ष ग्रहण किया। इसी समय भारतीय भिक्षु नरेन्द्र यश (५१८-८९ ई०) यहा आये और उन्होंने सात ग्रन्थों का अनुवाद किया। ५७७ ई० में बौद्धधर्म पर पुन: उत्पात किया गया। लगभग १०० वर्ष बाद के यू-वान् ने उत्तरी च्यू (५५७-८१ ई०) के नाम से एक राजवंश की स्थापना की। इस राज्यकाल मे ज्ञानभद्र, जिनयश, जिनगुप्त और यशोगुप्त नामक भारतीय भिक्षुओं ने बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार दिया।

सुई वंश (५८१-६१८ ई०) ने चीन को पुनः एकसूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया और बौद्धकला साहित्य को नष्टभ्रष्ट होने से बचाया। इस वंश के काल मे गौतम धर्मज्ञान, विनीतरुचि, नरेन्द्रयश, जिनगुप्त बोधिज्ञान, धर्मगुप्त, फि-चिङ्, ची-ई और पाउ-कोई विद्वानो ने अनुवाद के माध्यम से बौद्ध साहित्य और संस्कृति को आगे बढाया।

थाङ् वंश (६१८-९०७ ई०) को चीन का गुप्तकाल कहा जा सकता है। इस वंश ने तुर्कों पर विजय प्राप्त की तथा तिब्बत और भारत से सम्बन्ध स्थापित किया। यही से बौद्धधर्म पर ८४२-८४५ ई० में अत्याचार प्रारम्भ हुआ ली-शी मिन् नाइ-चुङ् के काल मे भिक्षु-भिक्षुणियों पर प्रतिबन्ध लगाये गये। नवीन विहार, मूर्तियो और ग्रन्थो का निर्माण एक अपराध माना गया। इसके बावजूद बौद्धधर्म लोकप्रिय होने से नही बचाया जा सका। श्वान्-च्वांग ६२९-६४५ ई० तथा ईत्सिग ६७१-९० ई० इन अत्याचारों को देखकर भारत की यात्रा पर आये। लौटकर उन्होंने भी बौद्धधर्म का प्रचार किया। भारतीय ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र ने इसमे और भी सहयोग दिया। इस वंश के राज्य-काल मे प्रभाकर मित्र, अतिगुप्त, यानभद्र, दिवाकर, बुद्धपाल, बोधिरुचि, अमोघवज्र, अजितसेन आदि भारतीय अनुवादको ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। श्वां-च्वाग ने योगाचार, अभिधम, प्रज्ञापारमिता और सर्वास्तिवादी अभिधर्म का अनुवाद किया। योगाचार, विज्ञानवाद की चीन मे स्थापना भी उन्होंने की। ईत्सिग ने भारत में विनय का संग्रह किया। उन्होने मूल सर्वास्तिवादी पिटक

का चीनी अनुवाद भी किया। मातृचेट के अध्यर्धशतक के भी अनुवादक के रूप मे उनका नाम है। श्वा-च्वाग और ईत्सिग के बीच (६४५-७१ ई०) लगभग ६० भिक्षुओ ने भारत की यात्रा की। शुभकर सिंह (७१६ ई०), पो० श्रीमित्र (३०७-१२ ई०), बज्रबोधि (६००-७३२ ई०), अमोघवज्र (६९८-७३२ ई०), आदि भिक्षुओ ने अनेक ग्रन्थो का अनुवाद किया। ८६८ ई० मे सर्वप्रथम मुद्रण का कार्य प्रारम्भ हुआ। वज्रच्छेदिका को सबसे पहले छापा गया। चीन का यह बहुत बड़ा योगदान था। थाङ्-वंश का पतन हो रहा था। साथ ही बौद्धधर्म के बिहार, स्तूप, मन्दिर आदि भी विनष्ट किये जा रहे थे। पर चीन के ही हाङ्-चाऊ के राजाओ ने त्रिपिटक के कुछ भाग पत्थरो पर उत्कीर्ण कराये और बिहार, स्तूप, मन्दिर आदि भी बनवाये।

सुङ्-काल (९६०–१२१९ ई०) मे बौद्धधर्म और कन्फूसी दर्शनो का समन्वित रूप उभरने लगा। इस काल मे ३१ विद्वान भारत से चीन पहुँचे और संस्कृत ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद प्रस्तुत किया। धर्मदेव (९७३–१००१ ई०) नालन्दा बिहार के स्नातक थे। इस समय तक वज्रयान का विकास हो चुका था। धर्मदेव इसलिए धारणियो और मन्त्रो के अधिपति हुए। उन्होने ११८ ग्रन्थो का अनुवाद किया। ति-यान्-सि चइ (९८० ई०) कश्मीर के भिक्षु थे। उन्होने मञ्जुश्रीमूलतन्त्र आदि १८ ग्रन्थो का अनुवाद किया। दानपाल ने छोटे-बड़े १११ ग्रन्थो का अनुवाद किया। धर्मरक्ष (१००४ ई०) बिहार के भिक्षु थे। उन्होने बोधिसत्त्वपिटक, अचिन्त्यगुह्यनिर्देश, बोधिचर्यावतार (महायानसंगीत बोधिसत्व विद्या), और प्रज्ञप्तिवाद का अनुवाद किया। वेह-चिङ और सूर्ययश ने क्रमश: माध्यमिककारिका पर स्थिरमति की टीका तथा अश्वघोष के कुछ ग्रन्थो का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त ज्ञानश्री, (१०५३ ई०) सुवर्णधारी (११५३ ई०) और मैत्रेयभद्र ने भी अनक ग्रन्थो के अनुवाद किये। मुसलिम आक्रमणो के कारण बौद्धधर्म की स्थिति भारत मे सन्तोषप्रद नही थी।

मंगोल (१२६०–१३६८ ई०) वासियो ने कठोर संघर्ष के उपरान्त अपने राज्य की स्थापना कर पाई। उन्हे खित्तन, तंगुत और जुर्जेन राज्यो से अधिक लोहा लेना पड़ा। हूणवशज मंगोलियो ने छिगीस खान आदि घुमन्तू कबीलों के सहयोग से चीन पर अधिकार किया। मंगोलो के ऊपर १३ वी शताब्दी तक बौद्धधर्म का प्रभाव नही था। तिब्बती फक्स-पा के कारण तावबादियो मे बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। बौद्धभिक्षु यु-आन्-चाङ् (१३२८–९८ ई०) ने १३५६ ई० मे मंगोल राज्य को समाप्त कर नानकिङ पर अधिकार किया और मिङ्-वंश (१३६८–१६४४ ई०) का शासन स्थापित किया। पर बौद्धधर्म

उपेक्षित-सा ही रहा। मिङ् वंश के बाद मंचू वंश (१६४४–१९११ ई०) ने चीन पर शासन किया। बाद मे मंचू चीनी बन गये। बौद्धधर्म की स्थिति इस काल मे साधारणत: अच्छी रही है।

कोरिया में बौद्धधर्म

३७२ ई० मे बौद्धधर्म चीन से कोरिया पहुँचा। वहाँ चीनी संकेत लिपि का ही प्रचार अधिक है। अत: अनुवाद की समस्या उतनी अधिक नही थी। कोरिया के जन जीवन मे बौद्धधर्म का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रारम्भ से ही यहाँ बौद्ध बिहारों और मन्दिरों का निर्माण होने लगा। पर काष्ठ का उपयोग अधिक होने के कारण उनका विनाश भी अपेक्षाकृत जल्दी हुआ। इसके बावजूद फून्वून बिहार और सुखावती मन्दिर जैसे प्राचीन बौद्ध स्थल मिल जाते हैं। कोरिया तीन राज्यों मे विभक्त हैं—सिला (६६८–९१८ ई०), कोरये (९१८–१३१२ ई०), और जोजेन (१३९२–१९१० ई०)। कोरिया में १२ वी शताब्दी के बाद बौद्धधर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया परन्तु १९१० ई० में जापान द्वारा पराजित किये जाने पर पुन: बौद्धधर्म पनपने लगा।

जापान

कोरिया और जापान का सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना है। हानवंश (२०८ ई० पू०–२२० ई०) के काल मे दोनो देश इन्ही सम्बन्धो से निकट आये थे। जापान मे एन्यू, मलय और यमातो जातियाँ प्रमुख हैं। दक्षिण कोरिया के कुदारा राज्य ने ५३८ ई० मे यमातो राजा के पास कुछ बौद्धग्रन्थ, बुद्ध मूर्तियाँ तथा एक पत्र भेजा। यमातो के निकटवर्ती सोमावंश ने उसका विरोध किया फिर भी बौद्धधर्म का प्रभाव बढ़ चला। इसके पूर्व जापान मे ५२२ ई० मे सिवातचिता नामक एक चीनी बौद्ध पूर्वी तट से जापान आ पहुँचा था। उसने भी बौद्धसंस्कृति और बौद्धकला का प्रचार किया। जापान के राजा सुशुन और उनकी पत्नी बौद्धधर्म से प्रभावित थे। सोगावश का विरोध तीव्रतर हो रहा था। शायद उसी का फल था कि सुशुन का बध कर दिया गया और उसके पुत्र शोतोकू को राज्य न देकर उसे उपराजा बना दिया गया। ५९२ ई० मे शोतोकू ने युद्धकर राज्य वापिस ले लिया। और बौद्धधर्म को राजधर्म घोषित कर दिया। शोतोकू माध्यमिक दर्शन का अध्येता था। उसने बौद्धधर्म के अध्ययन–अध्यापन के लिए एक ओर जहाँ छात्रों को कोरिया और जापान भेजा वही दूसरी ओर यह व्यवस्था आपान मे भी करा दी। फलत: बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय हो गया। ६०४ ई० मे उन्होने बौद्धधर्म से आप्लावित

संविधान भी बनाया जो आज भी एक गौरव वस्तु मानी जाती है। राजकुमार शोतोकू ने सद्धर्मपुण्डरीक, विमलकीर्तिनिर्देश, और मालादेवी सिंहनाद पर व्याख्यान भी लिखे हैं। ६२१ ई० मे शोतोकू का देहावसान हो गया। वह जापान मे सर्वाधिक लोकप्रिय राजा हुआ। देश के विकास मे उसने सर्वस्व लगा दिया। शोतोकू ने ५८७ ई० मे जापान मे हार्यो जी का मन्दिर बनवाया। यह प्राचीनतम मन्दिर काष्ठ शिल्प से समलकृत है। यही वह स्थान हैं जहाँ से जापान ने सभ्यता, कला, विज्ञान और धर्म की शिक्षा ग्रहण की।

शोतोकू के बाद सम्राट् शोमू (७२४–४६ ई०) दूसरे बौद्धधर्मावलम्बी राजा थे। उन्होने अपनी राजधानी नारा मे संगठित की। यहाँ सम्राट् ने ७५२ ई० मे विश्व की प्राचीनतम और उच्चतम पीतल की बुद्ध मूर्ति दाईबुत्सु (महाबुद्ध) को प्रतिष्ठित किया। उसके अतिरिक्त अनेक और भी बौद्धविहार और मन्दिर हैं जिनका निर्माण यथासमय बौद्ध सम्राट् कराते रहे हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, जापान को अनुवाद की समस्या का समाधान नही खोजना पड़ा। फिर भी अग्रिम अध्ययन के लिए दो-शो (६२६–७०० ई०) जैसे कुछ विद्वान चीन पहुँचे। वहाँ उन्होने ह्वेन-शांग से शिक्षा प्राप्त की। ७३६ मे भारद्वाजगोत्रीय बोधिसेन जापान गये। ८ वी शताब्दी तक जापान मे बौद्धधर्म पूरी तरह से फैल गया। फलस्वरूप जापान मे लगभग ११ सम्प्रदाय खड़े हो गये—होस्सो (३२६–७००), केगोन (७४२ ई०), रित्सु (७५४ ई०), तेन्दई (७८८ ई०), जेन् (११४०–१२१५ ई०) जोदो (११७४–६१११ ई०), शिन्-शू (११७३–१२४२ ई०), निचिरेन (१२२२–८६ ई०), और जिशू (१२३६–६२ ई०)। उनमे प्रमुख सम्प्रदायो का वर्णन इस प्रकार है—

१. केगोन सम्प्रदाय—इसकी स्थापना तू-फा-शुन ने की थी। यह सम्प्रदाय योगाचार का एक अङ्ग है। अवतंसक (केगोन) सूत्र इस सम्प्रदाय का मूलग्रन्थ है। इसका मुख्य सिद्धान्त है—एकचित्तान्तर्गतधर्मलोक, अर्थात् एक ही चित्त के परिणाम स्वरूप यह समूचा विश्व खड़ा हुआ है। इसी चित्त का नाम धर्मकाय है।

२. तेन्दई सम्प्रदाय—इस मत के संस्थापक हैं—देङ्गियो। इसका मूल ग्रन्थ है सद्धर्मपुण्डरीक। कालक्रम के अनुसार इस सम्प्रदाय ने बुद्ध की शिक्षाओ को पाँच भागो मे विभक्त किया है—अवतंसक सूत्र, आगमसूत्र, वैपुल्य सूत्र, प्रज्ञापारमितासूत्र, और सद्धर्मपुण्डरीक तथा महापरिनिर्वाणसूत्र। व्यावहारिक वर्गीकरण चार प्रकार का है—आकस्मिक, क्रमिक, गुप्त, और अनिर्वचनीय। तथा सिद्धान्तानुसारी वर्गीकरण भी चार प्रकार का है—त्रिपिटक, सामान्यशिक्षा,

विशिष्टशिक्षा और पूर्णशिक्षा। इसके सम्प्रदाय के अनुसार व्यवहार और परमार्थ सत्य परस्पर पूरक हैं। माध्यमिक सम्प्रदाय की ओर तेन्दई सम्प्रदाय का झुकाव अधिक है।

३. **शिगोन सम्प्रदाय**—यह सम्प्रदाय बौद्धधर्म के मन्त्र सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। इसके संस्थापक कू-कइ अथवा को-वो-था-इ-सी (७७४–८३५) प्रतिभा के धनी थे। उन्होने महावैरोचनसूत्र, वज्रशेखरसूत्र आदि ग्रन्थो का अध्ययन कर मन्त्र सम्प्रदाय का अनुकरण किया। ८०४ ई. मे वे अध्ययनार्थ चीन गये और ८०६ ई. मे वापिस आ गये। ८२२ ई. मे उन्होंने 'रहस्यनिधि-कुञ्चिका' नामक ग्रन्थ भी लिखा। महायान के प्रधान देवता बुद्ध वैरोचन का चित्रण जापान और तिब्बत में कलाकारो ने भरसक किया है।

४. **जेन सम्प्रदाय**—इसे ध्यान सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसके संस्थापक येइ-साइ (११४१–१२१५ ई.) थे। इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ है—**लंकावतारसूत्र**। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को महाकाश्यप के अनुयायी मानते हैं। ध्यान और आत्मसंयम को ये प्रधानता देते हैं। जापान का मध्यवर्ती पर्वत फ्यूजीयोमा इस सम्प्रदाय का तीर्थस्थल है। बोधिसत्त्व मञ्जुश्री और उनकी शक्ति अचला की पूजा इस सम्प्रदाय मे जाती है। चाय इस सम्प्रदाय का धार्मिक पेय है।

५. **जोदो सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के प्रधान तीन आचार्य हैं—कूय शोनिन (९०२–९७२ ई.) होनेन शोनिन (११३३–१२१२ ई.) और शिन-रान् (११७७–१२६२ ई.)। जोदो सम्प्रदाय मुख्यत: भक्ति पर आधारित है। उसकी दृष्टि से आत्मसमर्पण कर **अभिताभ** की प्रार्थना करने से ही उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। इस सम्प्रदाय के मूल दो ग्रन्थ हुए हैं—सुखावतीव्यूहसूत्र और अमितायुध्यानसूत्र।

६. **निचिरेन सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के संस्थापक हैं—निचिरेन-शोनिन (१२२२–१२८२ ई.)। **सद्धर्मपुण्डरीक** इसका आधार ग्रन्थ है। इसके अनुसार बुद्ध सर्वव्यापक हैं। तेन्दई सम्प्रदाय का इसे व्यावहारिक प्रयोग माना जा सकता है।

तिब्बत में बौद्धधर्म

तिब्बत मे जन्मा स्रोङ्-गचन्-स्गम्-पो (६१५–६५० ई.) सप्तम शताब्दी का विश्वविजेता माना जा सकता है। उसने आसाम से कश्मीर और चीन के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया था। फलस्वरूप चीन के राजा चित्सुङ्‌ लुन्तसान ने अपनी सुपुत्री कोङ्‌जो और नेपाल के राजा अंशुवर्मन् ने अपनी

सुपुत्री ख्रोचुन को उपहार के रूप मे विजेता राजा स्रोङ्-गचन को भेंट दी। दोनों राजकुमारियाँ बौद्ध थी। सम्राट् भी बौद्ध हो गया। इसके बाद स्रोङ्-गचन ने ल्हासा को अपनी राजधानी बनाया और ६४० ई. मे जो-खङ्ग तथा रमोछी मन्दिरो का निर्माण किया। ये बौद्ध मन्दिर आज भी अपना इतिहास कह रहे हैं। इस युग मे भोट भाषा को लिपिबद्ध करने के योग्य भी बनाया गया। स्रोङ्-गचन् ने स्वयं इसका अध्ययन किया। भाषा और लिपि को परिष्कृत करने का श्रेय थोन्मी को है। स्रोङ्ग-गचन् के प्रपौत्र ख्रि-ल्दे-ग्चुग-वर्तन (७०४–५४ ई.) ने भी भोट भाषा और साहित्य का वर्धन किया। भोट भाषा मे बौद्ध ग्रन्थो का अक्षरशः अनुवाद किया गया। भारतीय ग्रन्थ जो लुप्त हो गये हैं उनका अनुवाद विशुद्ध अवस्था मे तिब्बती भाषा मे मिलता है।

८०२ ई. मे ख्रि-सोङ्ग-ल्दे-ब्चन् (७५५–९७ ई.) राजसिंहासन पर बैठा। उसने बौद्धधर्म की स्थिति मे सुधार लाने की दृष्टि से नालन्दा पीठस्थविर के आचार्य शान्तरक्षित को निमन्त्रित किया। शान्तरक्षित ने वहाँ पहुँचकर विविध विषयों पर उपदेश दिये। राजा ने विशाल बिहार और मठ बनवाये। बाद मे शान्तरक्षित ने वहाँ ज्ञानेन्द्र, शीलेन्द्ररक्षित, वैरोचनरक्षित आदि सात तिब्बतियो को बौद्ध भिक्षु बनाया। शान्तरक्षित के बाद तिब्बत मे कुछ धार्मिक मतभेद पैदा हो गये जिसका समाधान करने के लिए आचार्य कमलशील वहाँ पहुँचे। इसी काल मे आचार्य विमलमित्र, बुद्धगुह्य, शान्तिगर्भ और विशुद्धसिह ने कुछ तिब्बती विद्वानो के सहयोग से बौद्धग्रन्थो का भोट भाषा मे अनुवाद किया।

ख्रि-सोङ्ग के बाद उसका पुत्र मु-नि-ब्चन-पो (७८०–९७ ई.) और ख्रि-लदे-ब्चन्-पो (८०४–१६ ई.) ने राज्य किया। ख्रि-ल्दे के काल मे संस्कृत ग्रन्थों का विशुद्ध अनुवाद प्रारम्भ हो गया। नागार्जुन, असंग, बसुबन्धु, चन्द्रकीर्ति विनीतदेव, शान्तरक्षित, कमलशील आदि जैसे गम्भीर दार्शनिक आचार्यों के ग्रन्थ भी इसी समय अनुदित हुए। अनुवादको मे जिनमित्र, धर्मताशील, ज्ञानसेन प्रमुख हैं। इसके बाद के राजाओ के राज्यकाल मे बौद्धधर्म और साहित्य की कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी।

११ वीं शताब्दी तक आते-आते बौद्धधर्म तिब्बत मे विकृत हो गया। यह देख आचार्य ज्ञानप्रभ ने कुछ भिक्षुओं को कश्मीर भेजा। कश्मीर से वापिस आने पर रिन्-छेद् वसङ्ग-पो ने श्रद्धाकर वर्मा, पद्मगुप्त, बुद्धश्रीशान्त बुद्धपाल आदि की सहायता से हस्तवालप्रकरण (आर्यदेव), अभिसमयालंकारालोक

(हरिभद्र), अष्टागहृदयसंहिता (नागार्जुन), चतुर्विपर्ययकथा (मातृचेट), सप्तगुणपरिवर्णनकथा (वसुबन्धु) आदि ग्रन्थों के अनुवाद किये। इसी शताब्दी (१०४२ ई.) मे विक्रमशिला के आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान तिब्बत आमन्त्रित किये गये। वहाँ उन्होने बौद्धधर्म को सुव्यवस्थित किया, बोधिपथप्रदीप, आदि अनेक ग्रन्थ लिखे और कालचक्र, मध्यमकरत्नप्रदीप आदि ग्रन्थो की टीकायें एवं अनुवाद भी किये । दीपंकर के बाद सोमनाथ (१०२७ ई.), गयाधर (१०७४ ई), स्मृति ज्ञानकीर्ति (१२०४ ई.) शान्तिप्रभ, ङोग्-लो-च-व और प-छ्व-पा (१०५५ ई.) ने बौद्ध ग्रन्थो के अनुवाद कर भोट भाषा और साहित्य को समृद्ध कर दिया। प-छब्-पा ने चतुःशतकशास्त्र (आर्यदेव) माध्यमिकावतारभाष्य (चन्द्रकीर्ति), अभिधर्मकोशटीका, आदि ग्रन्थों का सफलतापूर्वक अनुवाद किया। इसके बाद शाक्यश्रीभद्र (११२६–१२२५ ई), संघराज (१२५१–८० ई.) आदि अनेक आचार्य हुए जिन्होने साहित्य क्षेत्र मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

१३ वी शताब्दी के अन्त तक बौद्धधर्म भारत से लुप्त-सा हो गया। इसी समय तिब्बत में रिन्-छेन् गुब् (१२९०–१३६४ ई०) ने उपलब्ध ग्रन्थों का क्रमानुसार संग्रह किया। इस संग्रह को दो भागों में विभाजित किया गया। स्क-ग्युर (कन्जुर) अर्थात् बुद्धवचन और स्तन्-ऽग्युर् (तन्जुर) अर्थात् बुद्धवचन से भिन्न दर्शन, काव्य, ज्योतिष तथा अनुवाद आदि ग्रन्थ। रिन्-छेन्-गुब् (वुस्तोन्) के बाद चोङ्क-ख-प (१३५७–१४१६ ई०), सुखस्-ग्रुप् (१३८५–१४३८ ई०), वनरत्न (१३८४–१४६८ ई०), धर्मपालभद्र (१५२७ जन्म), लामा तारानाथ (१३७५ ई० जन्म) आदि विद्वानों ने बौद्धधर्म की बहुत सेवा की। परन्तु इनका समय शान्ति का समय नही था। तिब्बत अब विरोध और संघर्ष का स्थल बन चुका था।

तिब्बती समाज मे स्कर्-म-ब्रक्-सि के देहावसान (१२८२ ई०) के बाद अवतारवाद की प्रथा चल पड़ी। अब दलाई लामा (ग्यॅल्-व-रिन्-पो-छे) तथा टशी लामा (पण्-छेन्-रिन्-पो-छे) के चुनावो मे इसी अवतारवाद को अपनाया जाने लगा। ये पद पैतृक सम्पत्ति जैसी हो गई। कुछ दलाईलामा मगोल जाति के थे। इसलिए अपने धर्मप्रचार मे उन्होने मङ्गोलियो से बहुत सहायता मिली। अनेक युद्ध भी इसके लिए हुए।

इस प्रकार तिब्बत देश की संस्कृति, साहित्य और कला भारतीय संस्कृति, साहित्य और कला पर आधारित रही है। यदि भारतीय साहित्य तिब्बत मे सुरक्षित न होता तो हमारे बहुत से ग्रन्थ अनुपलब्ध बने रहते।

मंगोलिया में बौद्धधर्म

मङ्गोलिया को हूणों की जन्मभूमि के रूप मे इतिहासकार स्मरण करते हैं। मङ्गोलियो के बीच बौद्धधर्म तरिम-उपत्यका के निवासियो द्वारा ई. पू. प्रथम शताब्दी मे पहुँचा दिया गया था। इसके बाद तुर्कों, अवारो, उइगरो आदि जातियों मे भी बौद्धधर्म ने प्रवेश किया। मङ्गोल (१२६०–१३६८ ई.) वासियों ने बडे संघर्ष के बाद अपने राज्य की स्थापना कर पायी। उन्हे खित्तन (९०७–११२१), तंगुत और जुर्जेन (किन्) (१११५–१२१४ ई.) से कठोर संघर्ष करना पडा। इन तीनो राज्यो मे बौद्धधर्म की स्थिति अच्छी थी। मङ्गोल का पुराना नाम तातार था। वे हूणो के वंशज थे। उन्होने छिंगीस-खान आदि घुमन्तू कबीलो के सहयोग से चीन को अनेक बार पराजित किया। मङ्गोलो के ऊपर तेरहवी शती तक बौद्धधर्म का प्रभाव नही था। ताववादियो से उनके वाद-विवाद हुए और उनमे वे सफल सिद्ध हुए। फलत: कुछ तावबादी बौद्ध बन गये और २३७ बिहार बौद्धो को वापिस कर दिये गये। १२६० ई. मे शास्त्रार्थकर्ता फक्स-पा को कुबिले ने राजगुरु बनाया। भारत की अपेक्षा अब तिब्बत ने बौद्धधर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया। फाग्स-पा ने मङ्गोल भाषा के लिए एक लिपि तैयार की। इसी काल मे अनेक ग्रन्थो का अनुवाद किया गया, पर वे तिब्बती अनुवादो से ही अनुवादित है।

१३३८ मे चीन से मङ्गोल शासन समाप्त हो गया, पर बौद्धधर्म वहाँ का राष्ट्रधर्म बना रहा। बाद मे मङ्गोल मे भी बौद्धधर्म को राष्ट्रधर्म के रूप मे स्वीकार कर लिया गया। बौद्धभिक्षु यु-आन-चाङ्ग (१३२८–९८ ई.) ने १३५६ ई. मे मङ्गोल राज्य को समाप्त कर नानकिङ्ग पर अधिकार किया और मिङ् वंश का शासन स्थापित किया। चोङ्ग-खा-पा सुमतिकीर्ति (१३५७–१४१४ ई.) और उसके शिष्यो द्वारा स्थापित तिब्बती महाविद्यालयों मे मङ्गोलिया के छात्र अध्ययन करने आने लगे। फलत. बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार बढने लगा। तृतीय और चतुर्थ दलाईलामा मङ्गोलिया के ही थे। पंचम दलाईलामा के समय मङ्गोलियन सेना ने बौद्ध भिक्षुओं पर हुए अत्याचार को समाप्त कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि मङ्गोलिया मे बौद्धधर्म बहुत लोकप्रिय रहा है।

कनजोर और तनजोर के लगभग ३०८ ग्रन्थ थे। उनमे कनजोर के १०३ ग्रन्थों का अनुवाद १२१३ ई. मे कागान्-लेग-दन्-ऊ-तुकतू (१६०३–३४ ई) के शासन काल में हुआ। और तनजोर के २३५ ग्रन्थों का अनुवाद चियेन

कुङ्ग (१७३६–६५ ई.) ने कराया। यह अनुवाद चन्-स्क्या-रोल-पइ-दो-र्जे और ब्लो-बजड-वस्तन-पइ-त्रिमा नामक विद्वानो के सान्निध्य मे सम्पन्न हुआ। उन्होंने एक तिब्बती-मङ्गोल कोश तथा व्याकरण भी तैयार की। यह कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण था।

नेपाल में बौद्धधर्म

नेपाल बौद्धधर्म का सबसे अधिक पवित्र तीर्थ स्थल कहा जा सकता है। भगवान् बुद्ध का जन्म वहाँ के लुम्बनी कपिलवस्तु नामक ग्राम मे हुआ था। बोधिप्राप्ति के बाद भी वे एक बार लुम्बिनी वापिस गये थे, जहाँ उनका पुत्र राहुल बुद्धधर्म मे दीक्षित हुआ था। अशोक ने नेपाल की राजनीतिक स्थिति को शान्त कर लुम्बनी की यात्रा भी की थी। इस यात्रा की स्मृति के स्वरूप वहाँ एक शिलालेख भी उत्कीर्ण कराया था। इस प्रकार नेपाल भगवान् बुद्ध के प्रारम्भिक काल से ही बौद्धधर्म का स्थान बना हुआ है।

नेपाल के बौद्धधर्म के इतिहास मे राजा अंशुवर्मन (७ वी शती) का विशेष स्थान है। वह कट्टर बौद्ध शासक था। उसने तिब्बत के राजा स्रोङ्ग-बत्सन-स्गम-पो से अपनी पुत्री का विवाह सम्बन्ध किया था। शीलमञ्जु पण्डित उसी के राज्याश्रय मे थे जिन्होंने संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया कराया है। शान्तरक्षित के समय यह सम्बन्ध और भी दृढतर हुआ। मुसलमानों के आक्रमणों से बिहार-बंगाल के बौद्ध भिक्षुओं को नेपाल में ही शरण मिल सकी थी। उन भिक्षुओं के साथ अनेक ग्रन्थ भी थे, जो नेपाल और तिब्बत मे आज भी सुरक्षित हैं।

लगभग १२ वीं शती के बाद वहाँ हिन्दूधर्म का प्रभाव बढ़ने लगा। फलतः जातिभेद का विरोध वहाँ कम हो गया। आजकल वहाँ बौद्धधर्म के चार सम्प्रदाय प्रमुख रूप मे हैं—स्वाभाविक, ईश्वरिक, कार्मिक और यात्रिक। नेपाल भारत और तिब्बत के बीच एक अजस्र कड़ी रही है, जिससे दोनो देशों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध जोड़े गये हैं। आज भी नेपाल मे बौद्धधर्म अच्छी स्थिति मे है।

इस प्रकार बौद्धधर्म प्रारम्भ से ही भारतेतर देशों के लिए भी आध्यात्मिक प्रेरणा और शान्ति का सन्देशवाहक रहा है। उसने आध्यात्मिक क्रान्ति ही नहीं, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्रान्ति भी की है। इस दृष्टि से विदेशों मे बौद्धधर्म के प्रसार-प्रसार का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

बौद्ध कला

कला जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिक और सास्कृतिक साधना का जीवन्त क्षेत्र है जो प्रतीकात्मक पद्धति पर अवलम्बित है। बौद्ध कला के साधकों ने भी स्वान्त: सुखाय उसी सुरम्य प्राङ्गण को उद्योतित किया है। स्तूप, चैत्य, चक्र, गुहा आदि सभी उपकरणो में भावनाये अंकित हुई हैं। यही कला और धर्म तथा जीवन और साधना का समन्वय होता है। बौद्धाचार्यों ने इस समन्वित रूप की भलीभाति सुरक्षित रखा है।

पालि त्रिपिटक मे यत्र तत्र कला की सामग्री बिखरी पडी है। दीघ निकाय मे शिल्पियों की एक लम्बी सूची दी गई है। ब्रह्मजालसुत्त विद्याओं के प्रकरण मे वास्तु विद्या का उल्लेख है। विनयपिटक के सेनासनक्खन्धक मे बिहार के निर्माण की प्रक्रिया दो गई है। सम्भव है, यह प्रक्रिया उत्तरकालीन रही हो। मूलत: बौद्ध भिक्षुओं के लिए अरण्य, वृक्ष, पर्वत, कन्दरा, गिरिगुहा, श्मशान, वनप्रस्थ और अभ्याकाश (प्राङ्गण) मे रहने का विधान था। परन्तु बाद में भगवान् बुद्ध ने बिहार, अड्ढ योग, प्रासाद, हर्म्य तथा गुहा को निवास स्थान के लिए चुना। इसी प्रसंग मे बिहार आदि बनाने की प्रक्रिया भी दी गई है। जातक और दिव्यावदान में भी एतत्सम्बन्धी सामग्री प्रचुरमात्रा मे मिलती है।

बौद्धकला का प्रारम्भ भगवान् बुद्ध के धातु-विभाजन से हुआ लगता है। ये धातुएँ में तीन प्रकार की हैं—शारीरिक, औद्देशिक और पारिभोगिक। शारीरिक धातुयें वे हैं जिनका सीधा सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के अगोपागों से है। महापरिनिब्बान सुत्तन्त के अनुसार बुद्ध के परिनिवृंत हो जाने पर उनके दग्ध शव मे से अवशिष्ट धातुओं का विभाजन कुसीनगर के मल्ल, राजगृह के अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य अल्लकप्प के बुलि, पावा के मल्ल, रामगाम के कोलिय, और वेठदीपदक ब्राह्मण, इन आठ लोगों के बीच हो गया और उन्होंने क्रमश: कुशीनगर, राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, पावा रामग्राम और वेठद्वीप में उन धातुओ पर स्तूप बनवाये। इसी प्रकार बुद्ध की दन्त धातु का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अर्हंतो द्वारा प्रयुक्त वस्त्र, पात्र, वृक्ष आदि की भी पूजा का विधान हुआ है।

इन धातुओं को पृथ्वी के भीतर किसी बर्तन आदि मे रखकर ऊपर से मिट्टी का सुन्दर कलात्मक ढेर लगा दिया जाता था। स्मारक का यह प्राथमिक रूप रहा होगा। उसके संरक्षण के लिए वेदिका का निर्माण, सौन्दर्य वर्धन के लिए हर्मिका और छत्र का विधान शनै: शनै: विकास के रूप मे होता रहा होगा। चैत्य भी लगभग इसी अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यहां स्तूप आदि में

किसी धातु विशेष का निधान आवश्यक नही। उसके बिना भी अर्चना के प्रतीकात्मक रूप मे स्तूप बना दिया जाता था।

शैशुनाग-नन्द-युग (छठी शती ई० पू० से चोथी शती ई० पू०)—प्राङ् मौर्य काल् की कला मे पिपरहवा बौद्ध स्तूप और उसमे प्राप्त धातु गर्भ मञ्जूषा उल्लेखनीय है। पिपरहवा नेपाल की सीमा पर बस्ती जिले मे कपिलवस्तु से ११ मील दूर पर स्थित है। सम्भवत: यह प्राचीनतम स्तूप है। इसे शाक्य के सम्बन्धियों ने बनवाया था (इयं सलिल निधने बुधस भगवते सकियानं)। यह स्तूप ईंटो से निर्मित अण्डाकार का था। इसकी ऊँचाई २१½ फुट और पादमूल की चौडाई ११६' है। स्तूप के गर्भ मे प्राप्त मञ्जूषा मे बुद्ध की शरीर-धातु के अतिरिक्त शताधिक कलात्मक वस्तुयें उपलब्ध हुई है।

मौर्यकाल (३२५–१८४ ई० पू०)—३२३ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारूढ होने पर भारत की राजनीतिक स्थिति दृढतर हो गई। उसके बाद उसके पुत्र बिन्दुसार (२९८-२७२ ई० पू०) और पौत्र अशोक (२७२-२३२ ई० पू०) ने राज्य मे और भी शान्ति स्थापित की। अशोक का तो अध्यात्मिक और राजनीतिक क्षेत्रो का समन्वय अनुकरणीय रहा है। कला के क्षेत्र मे भी अशोक की यही विशेषता रही है। उसने स्तम्भों और स्तूपो का कलात्मक सृजन कराया था। बुद्ध के जन्मस्थान की यात्रा के स्मरणार्थ पाटलिपुत्र, लौरियानन्दन गढ, लौरिया अरराज, बखिरा और लुम्बिनी मे स्तम्भ बनवाये। इसी प्रकार सारनाथ और बोधगया मे भी स्तम्भो का निर्माण कराया। ये स्तम्भ एक ही पत्थर से बनाये गये हैं। उनपर लगाये गये पशु शीर्षक अधिक आकर्षक हैं। उसकी कला की यह मौलिकता है। कुछ विद्वानो ने उसकी कला पर ईरानी कला का प्रभाव बताया है। यह सही भी हो, पर उसकी मौलिकता पर आघात नही किया जा सकता।

अशोक के स्तम्भों की विशेषता है—एकात्मकता और उनपर पशुओं की आकृतियाँ। सारनाथ मे उपलब्ध वेदिका एक ही पत्थर की बनी हुई है। वह जगतसिंह स्तूप की हर्मिका का एक अंश थी। चमकदार पालिश इसकी विशेषता है। अभी तक अशोक के १४ स्तम्भ मिले हैं। उनमे सारनाथ, साँची, कौशाम्बी, लुम्बिनी और लौरिया अरराज के स्तम्भ विशेष उल्लेखनीय है। इन स्तम्भो के साधारणत: तीन भाग हैं—मूल भाग कमल के आकार का है, मध्यभाग की पट्टिका पर हंस, अश्व आदि उकेरे गये हैं और शिरोभाग मे सिंह, गज आदि की मूर्ति बनायी गई है। सारनाथ का स्तम्भ इस दृष्टि से उदाहरणीय है। इसके नीचे का भाग पद्माकार है। मध्यभाग की वर्तुल

पट्टिका के बीच धर्मचक्र और अन्तराल मे चार महाआजानेय पशु अंकित हैं तथा शीर्ष भाग मे चार सिंह पीठ सटाये खडे हुए हैं। उनके ऊपर एक धर्मचक्र भी दृष्टव्य है जिसका आध्यात्मिक महत्त्व है। यह प्रतीकात्मक है। इसे कालचक्र अथवा भवचक्र का सूचक समझा जाना चाहिए। साँची का भी सिंह स्तम्भ सारनाथ से मिलता-जुलता है। सिंह, गज आदि बुद्ध के प्रतीक है। पद्म विशुद्धि का प्रतीक है। कला की दृष्टि से अशोक के ये स्तम्भ आज भी अभूतपूर्व हैं। कहा जाता है कि अशोक ने ८४ हजार स्तूप बनवाये थे।

शुंग काल (१८४–७२ ई० पू०)—शुंग काल पुष्यमित्र के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होता है। पुष्पमित्र कट्टर बौद्ध विरोधी माना गया है पर उसके युग मे बौद्ध कला का विनाश नही हो पाया। सच तो यह है कि उसके विरोध के बावजूद बौद्धकला का उत्थान ही हुआ है। भरहुत और साची के स्तूप इस के निदर्शन हैं। पाषाण का अधिकाधिक प्रयोग, उसमे विविध नक्काशी और अलंकरण, मूर्ति शिल्प में लालित्य, केश विन्यास, दिव्य सौन्दर्य, इस युग की कला की विशेषतायें हैं। शुंग काल में स्तूप, बिहार, स्तम्भ, चैत्य, देवमन्दिर और चतु:शालवेदिका युक्त तोरण का विशेष निर्माण हुआ है।

भारहुत स्तूप—स्तूप और चैत्य प्राय: समानार्थक हैं। स्तूप की संचित मिट्टी को ईंटों से आच्छादित कर दिया जाता था और उसपर चूने से लेप कर दिया जाता था भारहुत (नागोद) स्तूप का तो थोड़ा–सा ही भाग शेष रहा है पर साची का स्तूप प्राय: वैसा का वैसा ही है। इस पर निर्मित शिलापट्ट शुंग काल की देन है। इसके बाद वेदिका और अलंकृत तोरण भी निर्मित होने लगे। तोरण द्वार चारो दिशाओं मे चार होते थे। भरहुत स्तूप का व्यास ६७ फुट ८½ इंच था। कनिंघम को फूसका थोड़ा–सा उसका भाग हाथ लग पाया। स्तूप पक्की ईंटों से बना था इसकी नीव भी मजबूत थी। इसमे बज्रलेप युक्त प्रदक्षिणा पथ भी था। तोरण द्वार मगर मच्छ भी आकृतियो से सुशोभित थे। प्रत्येक तोरण द्वार दो बड़े स्तम्भो से निर्मित था। यह ज्ञातव्य है कि भारहुत मे बुद्ध की मूर्ति उपलब्ध नही हुई। उसके स्थान पर स्तूप, धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, त्रिरत्न, उष्णीस, चूडा, चरणपादुका आदि प्रतीक अवश्य मिले हैं। भारहुत शिल्प मे अनेक जातक कथाओं का अंकन हुआ है, इस स्तूप का मूलत: निर्माण अशोक के काल मे हुआ था पर शुंग काल मे उसमे ईंट के स्थान पर पत्थर की वेदिका और तोरणों का निर्माण कर दिया गया था।

सांची स्तूप—साची स्तूप विदिशा से लगभग ५½ मील दूर स्थित है। प्रारम्भ से ही अशोक और विदिशा का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। साँची के स्तूप

को महाचैत्यगिरि कहा गया है। इसके आसपास लगभग ६१ स्तूप है–८ सोनरी मे, ५ सतधारा मे, ३ अधेर मे, ३७ भोजपुर मे और ८ साची मे। इनमे साची के सर्वधिक महत्त्व पूर्ण स्तूप हैं--सं० १–२–और ३। ये स्तूप अशोक काल मे ईंटो से बनाये गये थे पर शु ग काल मे ये शिलाच्छादित कर दिये गये। तोरण द्वार और अलंकृत वेदिका का निर्माण भी इसी काल मे हुआ। आगे चलकर वासिष्ठपुत्र सातकर्णी ने इसे आगे बढाया और गुप्त काल मे फिर इसका विशेष विकास हुआ। अशोक कालीन स्तूप के व्यास को भी दुगुना कर दिया गया अत: इसे महास्तूप कहा जाने लगा। तोरण द्वारो मे एक वैशिष्ट्य है जो विदिशा के दन्तकारो का स्मरण कराता है। स्तूप नं० ३ मे सारिपुत्त और महामौद्गल्यायन की अस्थियाँ रखी गई है। महास्तूप मे भगवान् बुद्ध की और नं० २ मे अन्य प्रमुख प्रचारकों की अस्थिया नियोजित की गई है। स्तूपो के अतिरिक्त अशोक स्तम्भ और चैत्यगृह भी मिले हुए हैं।

बोधगया मे अशोक ने भगवान् बुद्ध द्वारा महाबोधि प्राप्ति के उपलक्ष्य मे महाबोधि संघाराम बनाया। उसके समक्ष चार अर्धस्तम्भ थे और पीछे बोधिवृक्ष या पीपल का ऊँचा तना था। धर्मचक्र और त्रिरत्न के चिन्ह भी स्तम्भों पर मिलते है। सपक्ष सिह, अश्व, हस्ती, मृग आदि का अंकन बोधगया की विशेषता हैं। इस बोधगया मन्दिर का अनेक बार विकास हुआ है।

शुंग कला की कला का दर्शन भुवनेश्वर से ५ मीलदूर खण्डगिरि और उदयगिरि की सुरम्य पर्वत शृङ्खलाओं मे उत्कीर्ण हीनयानी गुफाओ मे भी होता है। अशोक ने बिहार की बराबर पर्वत श्रेणी मे गुफायें उत्कीर्ण कराने की परम्परा को स्थापित किया था जिसे उसके पौत्र दशरथ ने भी अनुकृत किया था। इसी समय रेवतक पर्वत, शूपरिक, भाजा, कार्ले, कन्हेरी जैसी गुफाओं का उत्कीर्णन भी मिलता है। यहाँ विशाल चैत्य मन्दिर और विहार भी बनाये गये थे। ये चैत्य मन्दिर आयताकार थे, चतुरावलि हर्मिका और वेदिका तथा प्रदक्षिणापथ से अलकृत थे। सामने लगे उतुंग कीर्तिस्तम्भ भी मिलते हैं। चैन्यगृहो की भित्तिया वदिकाओ से अलंकृत थी। कला की यह शैली ३ री शती ई० पु० से होकर ८ वी शती तक मगध से कलिंग तक और सौराष्ट्र से दक्षिण में महाबलीपुरम तक लोकप्रिय हुई है। यहा कुछ हीनयानी गुफायें हैं जिनका निर्माण ३ री शती ई० पू० से २ री शती ई० तक हुआ और कुछ महायानी गुफायें हैं जिनका निर्माण ५वी शती ई. से १०वी शती तक हुआ। इनमे दो रूप मिलते हैं चैत्यगृह और बिहार हीनयानी चैत्यागृह भाजा, कोण्डाने, पीतल खोरा, अजन्ता (गुहा सं० ६–१०), नासिक और कार्ले। चैत्यगृहों में मण्डप, प्रदक्षिणापथ, स्तम्भ, गर्भगृह, और स्तूप रहा करते थे।

बिहार मे एक मण्डप (आंगन), तीन या चार ओर चौकोर गर्भ शालायें (कमरे), सामने प्रवेश द्वार और उसके सामने स्तम्भों पर बना हुआ मुखमण्डप (बरामदा) रहता था। इन बिहारो मे बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। ये चैत्यगृह और बिहार पहले काष्ठ के बना करते थे पर इस काल मे पाषाण के बनने लगे कारीगरो का कौशल यहा दर्शनीय है।

भारत के पश्चिमी भाग मे बने चैत्यगृहों और बिहारो मे भाजा, अजन्ता आदि स्थल भी महत्वपूर्ण है। **भाजा** उनमे सम्भवत: प्राचीनतम रहा होगा। यहा बिहार, चैत्यगृह और स्तूप बनाये गये थे। बिहारो मे बनी प्रत्येक कोठरी मे भिक्षु को सोने के लिए पत्थर की चौकी बनी हुई है। रथिकाओ मे सुन्दर-सुन्दर मूर्तिया उकेरी गई हैं। भाजा का चैत्यगृह ५५ फुट लम्बा और २६ फुट चौड़ा है। प्रदक्षिणापथ और स्तूप वेदिका से अलकृत हैं। यहां मूर्ति तो नही मिली पर त्रिरत्न, नन्दिपद, श्रीवत्स आदि मागलिक चिन्ह् अवश्य प्राप्त होते हैं। भाजा मे १४ स्तूप भी मिले हैं।

कार्ले से १० मील दूर पर कोण्डाने का चैत्यगृह और बिहार है जो काष्ठ शिल्प का अनुकरणमात्र है। **पीतलखोरा** (औरगाबाद के समीप) के चैत्यगृह की विशेषता है—स्तूप के गर्भ मे स्फटिक की मञ्जूषायें और एक सोपान मार्ग। **अजन्ता** के चैत्यगृह और बिहार हीनयानी और महायानी, दोनो हैं। इसका निर्माण द्वितीय शती ई० पू० से सप्तम शती ई० तक होता रहा है। यहा २९ गुफायें है। इनमे अनेक प्रकार के रमणीय चित्रों का भी अंकन हुआ है। नासिक मे १७ गुफायें हैं। यहा जो चैत्यगृह है वह प्रारम्भिक गुहा के निर्माण के बाद का होगा। इस चैत्यगृह मे काष्ठ शिल्प का प्रयोग बिलकुल नही किया गया। **जुन्नार** (पूना से ४८ मील दूर), **कार्ले** (बम्बई से ७८ मील दूर) और कन्हेरी (बम्बई से १६ मील दूर) की गुफायें चैत्यगृह और स्तम्भ की शैली मे लगभग समान हैं। कला की यहा जीवन्त साधना हुई है।

पवनी (भण्डारा जिला,महाराष्ट्र) ग्राम मे (१९६९–७० ई) के उत्खनन मे शुङ्गकाल के दो विशाल स्तूपों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। ये अवशेष जगन्नाथ टेकडी और सुलेमान टेकड़ी के अधोभाग से निकाले गये हैं। इन दो स्तूपों में एक का तो आकार-व्यास साँची के प्रमुख स्तूप से भी अधिक है। ये स्तूप शुङ्ग-सातवाहन काल के हैं। मूलत: इनका निर्माण मौर्यकाल मे हुआ था तथा शुङ्ग-सातवाहन काल मे इसके रूप-विन्यास में कुछ परिवर्तन किये गये। भरहुत की भांति इसके स्तूप की वेदिका और तोरण के भाग भी बौद्धधर्म से सम्बद्ध उकेरे गये शिल्प से अलंकृत थे। इनके कुछ अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं।

कुषाणकाल—कुषाणकाल मे मथुरा कला का सर्वमान्य केन्द्र था। यहाँ के कुषाण राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ने अपने संरक्षण मे कला का उत्कर्ष किया। मथुरा के कारीगरो ने भरहुत और साँची की कला को और आगे बढ़ाया। बाह्य आकृति और भावो के उभार मे समन्वयात्मक वृत्ति उनकी विशेषता थी। प्राकृतिक चित्रणो को भी इसमे समुचित स्थान दिया गया है। बौद्धो के यहाँ दो स्तूप मिले है—एक कचहरी के पास हुविष्क का बनवाया हुआ है और दूसरा भूतेश्वर टीले की भूमि पर निर्मित है। ये स्तूप प्राय. ध्वस्त हो गये हैं फिर भी अवशेष उपलब्ध होने से उन्हे ई. पू. प्रथम शती के आसपास का माना जा सकता है। कुषाणकाल के शिल्पियो ने वेदिका के अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया है। स्तम्भो पर नये-नये दृश्य और शालभञ्जिकायें भी उकेरी गई हैं।

बुद्धमूर्ति बनाने का श्रेय कुषाणकालीन मथुरा को है। सम्भव है गन्धार का भी उसमे योगदान रहा हो। अभी तक बुद्ध की पूजा मात्र प्रतीको पर आधारित थी। इस समय तक भक्ति आन्दोलन काफी विकसित हो चुका था। प्रतीक पूजा मथुराकला मे दिखाई देती है। पर उसके साथ ही बौद्धेतर सम्प्रदायो से प्रभावित होकर बौद्धधर्म मे भी बुद्ध मूर्ति की पूजा होना प्रारम्भ हो गयी। बुद्ध और बोधिसत्व की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ मथुरा मे उपलब्ध हुई हैं। कनिष्क के काल मे मुद्राओ पर भी बुद्ध मूर्ति का अंगन होने लगा था। सारनाथ की बोधिसत्त्व की मूर्ति कनिष्क के राज्यकाल के तृतीय वर्ष मे बनी हुई है। उसका निर्माण परखम यक्ष के रूप पर आधारित है। बोधिसत्व की दूसरी मूर्ति कौशाम्बी मे प्राप्त हुई है जो कनिष्क के राज्यकाल के द्वितीयवर्ष की है। वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव ने भी अनेक मूर्तियों का निर्माण कराया था। महायानी आचार्यो की प्रेरणा कनिष्क के लिए बुद्ध मूर्ति के निर्माण मे मूल कारण रही। उत्तरकाल मे धीरे-धीरे प्रतीक परम्परा समाप्त होती गई और मात्र मूर्ति बनायी जाने लगी। ३२ महापुरुष लक्षणो से उसे अनुरञ्जित किया गया। प्रथम शती ई. की यह विशेषता रही है। कुषाणकालीन बुद्ध मूर्तियो मे कुछ खड़ी हुई हैं और कुछ बैठी हुई हैं। आजानवाहु, उष्णीस, चक्रचिन्हित हस्तपाद, नासाग्रदृष्टि, लम्बकर्ण आदि जैसी विशेषताओं से बुद्ध मूर्ति अलंकृत की जाने लगी। मस्तक के पीछे प्रभा—मण्डल भी रहा करता था। मथुरा और गन्धार मे निर्मित बुद्धमूर्तियों की सरचना मे सम्भवत: **सर्वास्तिवादी** आचार्यों का विशेष योगदान रहा होगा।

गन्धारकला—तक्षशिला और पुष्कलावती का क्षेत्र गन्धार अथवा गान्धार प्रदेश माना जाता था। इसके प्रमुख सात केन्द्र थे—तक्षशिला, पुष्कलावती,

नगरहार, स्वातघाटी या उड्डीयान, कापिशी, वामियाँ और बाह्लीक अथवा बैक्ट्रिया। इन केन्द्रों मे यूनानी शिल्प को बौद्ध आदर्शों मे प्रतिबिम्बित किया गया। इस कला की उत्पत्ति का समय ई. पू. प्रथम शती अथवा ई प्रथम शती है। तक्षशिला के समीपवर्ती सिरमुख, मोहरा मोराडू, पिप्पल, और जौलियाँ मे बौद्ध बिहार औरस्तूप मिले हैं। यहाँ अनेक बुद्ध बोधिसत्व की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार प्रतिमाशास्त्र की दृष्टि से गन्धार कला की ये विशेषतायें हैं—बुद्ध के जीवन की घटनायें, बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ, जातक कथायें, यूनानी देव-देवी और गाथाओ के दृश्य, भारतीय देवता और देवियाँ वास्तु, सम्बन्धी विदेशी विन्यास, भारतीय अलंकरण, एवं यूनानी, ईरानी, और भारतीय अभिप्राय एवं अलकरण।[1] इन विशेषताओ से समलंकृत बुद्ध की मूर्ति मे सजीवता और शाश्वतता झलकती है। यहाँ के शिल्पियों ने मथुरा और मध्यप्रदेश की कला से अनेक अभिप्राय लिये जो बौद्धधर्म की दृष्टि से अनुरूप थे।

आन्ध्र-सातवाहनयुग—सातवाहनो को पुराणों मे 'आन्ध्रभृत्य' कहा गया है। इनका साम्राज्य आन्ध्र मे लगभग २०० ई पू से २०० ई. तक रहा है। उसके बाद यहाँ इक्ष्वाकु राजाओं का आधिपत्य हुआ, जिनके सान्निध्य मे नागार्जुनीकोण्डा जैसे स्तूपो का निर्माण हुआ है। अशोक के प्रताप से आन्ध्र प्रदेश मे बौद्धधर्म ने लगभग द्वितीय शती ई. पू. मे पदार्पण किया। तबसे आन्ध्र बौद्धधर्म का केन्द्र बना रहा। विभिन्न निकाय वहाँ पुष्पित-फलित हुए हैं। उदाहरणार्थ अमरावती मे चैत्यक निकाय, नागार्जुनकोण्डा और अल्लूरु मे पूर्वशैलीय निकाय, पेड्डुवेगी और घण्टशाल मे अपरशैलीय निकाय। राजगिरी और सिद्धार्थक निकायो का भी अस्तित्व यहाँ रहा है। बौद्ध स्तूपो का निर्माण इन सभी निकायों की प्रेरणा से हुआ है।

अशोक की कला का प्रभाव यहाँ के स्तूपो आदि मे स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस दृष्टि से गुटपल्ले और संकाराम के स्तूप उदाहरणीय हैं। गुपटपल्ले का स्तूप तृतीय शती ई. पू. के मध्य मे और संकाराम का स्तूप द्वितीय शती ई. पू. मे बनाया गया है। यहाँ शैलगुहा की शैली का आधार लिया गया है। यही चैत्यगृह भी मिले हैं। बिहारो के मण्डप, भिक्षुनिवास के रूप में गर्भशालायें, मुखमण्डप मे द्वार और वातायन आदि सारी उसी शैली में बनाये गये हैं। अधिक सम्भावना यह है कि ये प्रारम्भिक काल के होंगे। काष्ठशिल्प की अनुकृति भी यहाँ मिलती है। गुण्टपल्ले का शिला निर्मित

१. भारतीय कला, पृ. ३३५.

चैत्यगृह सुदामा, जुन्नार और कौण्डीविटे के चैत्यों से समानता लिए हुए है। यहाँ दो सुन्दर स्तूप भी मिले हुए हैं जिनमे साँची का अनुकरण दिखाई देता है। संकाराम मे भी चैत्य, बिहार और स्तूप मिले है। ये सभी वृहदाकार मे ईंटो से, बने हुए हैं। इसी प्रकार गोली (गुण्टूर जिला), भट्टिप्रोलु, घण्टशाल और जगय्यपेट के महास्तूप भी आकार मे बहुत बड़े हैं। इनका निर्माण प्राय: द्वितीय शती ई. पू. से लेकर पञ्चम शती ई. (पल्लव राजकाल) तक होता रहा है। इनमे प्रदक्षिणापथ और महावेदिकायें भी बनायी गयी थी।

आन्ध्र-सातवाहन युग की कला मे अमरावती स्तूप का विशेष स्थान है। इसका नाम महाचेतिय था जिसका निर्माण चैत्यक निकाय की प्रेरणा से हुआ था। इस स्तूप का निर्माण धान्यकटक मे हुआ था। इसके शिलापट्टो पर शताधिक दानलेख उट्टंकित हैं, जिनसे वहाँ की जनता की भावनाओं का पता लगता है। स्तूपो के साथ ही प्रदक्षिणापथ, महावेदिकायें, तोरणद्वार, स्तम्भ आदि भी बनाये गये हैं जिनपर बोधिवृक्ष, धर्मचक्र जैसे प्रतीक चिन्ह उकेरे हुए मिलते हैं। यहाँ उपलब्ध मूर्तियो की संख्या भी कम नही है। स्तूपो और मूर्तियों की कला मे अमरावती की कला का इतिहास झलकता है। लगभग ५ वी शताब्दी तक यहाँ विकास होता हुआ दिखाई देता है। प्रारम्भिक काल मे बुद्ध के प्रतीक मात्र मिलते हैं। द्वितीय काल मे प्रतीक के साथ मूर्तियो और दृश्यों का भी विन्यास हुआ है। तृतीय काल मे यहाँ का वास्तु और शिल्प और अधिक विकसित हो गया था। इस समय अमरावती कला मे निखार और अधिक आ गया। चतुर्थ काल मे विविध आभूषण और अलकरण गुप्तकाल मे प्राप्त आभूषणों और अलकरणों का स्मरण कराते हैं।

नागार्जुनीकोंड (गुण्टूर जिला) का महास्तूप अमरावती से लगभग ६० मील दूर है। यहाँ अनेक बिहार, स्तूप, धातुमञ्जूषायें, और मृत्तिकापात्र मिले हैं। इनके खम्भों पर जो लेख प्राप्त हुए हैं उनसे इक्ष्वाकुवशीय राजाओ का इतिहास ज्ञात होता है। नागार्जुनीकोण्ड मे महीशासक और गोकुलक बहुश्रुतीय शाखा का प्रभाव अधिक था। यहाँ का महाचेतिय स्तूप बुद्ध पूजा के लिए निर्मित किया गया था। मूलत: यह स्तूप अल्पेशाख्य था पर उत्तरकाल मे इसे महेशाख्य के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया। यहाँ का मूर्ति शिल्प भी समृद्ध है। नागार्जुनीकोण्डा की कला मे सूक्ष्म भावों को उकेरने और मुद्राओं के विभिन्न विन्यास बनाने की विशेषतायें निहित हैं।

गुप्तकाल—गुप्तकाल भारतीयकला, विशेषत: बौद्धकला, की दृष्टि से स्वर्णयुग कहा जाता है। मथुरा, और सारनाथ गुप्तकालीन कला के प्रसिद्ध केन्द्र रहे हैं। इस युग की कास्य मूर्तियो के समान ही सौष्ठव है। गुप्तकाल की मूर्तियों

मे प्रभाचक्र, सावर्त केश, कुड्मलाकार नयन और शान्त मुखाकृति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इन मूर्तियो मे चीवर का अकन दो तरह से हुआ है। कुछ मूर्तियो मे चीवर का विधान प्रान्तनिर्देश से होता था और कुछ मे महीन रेखाओ के माध्यम से उसे उकेरा जाता था। सारनाथ और मथुरा की मूर्तियाँ इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं। अजन्ता की कला भी गुप्तकला की विशेषतायें संजोये हुए है। यहाँ भी बुद्ध और बोधिसत्त्व के जीवन चित्रो का आलेखन हुआ है। एलोरा का भी इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। ये स्थान गुप्तकालीन चित्रकला की दृष्टि से उदाहरणीय हैं।

गुप्तकाल के बाद बौद्धधर्म की स्थिति भारत मे बहुत डाँवाडोल हो गयी थी। जन साधारण पर उसका प्रभाव समाप्त हो चुका था। इस स्थिति मे साहित्य और कला के क्षेत्र मे बौद्धधर्म का विशिष्ट योगदान पीछे पड गया। इसका तात्पर्य यह नही कि बौद्ध कला अपने क्षेत्र से बिलकुल बाहर हो गई। तथ्य तो यह है कि उसने अपना पग भारत को छोड़कर विदेशो की संस्कृति को आत्मसात करने के क्षेत्र मे आगे बढा दिया। सम्भव है, इसी प्रभाव ने बौद्धकला को भारत मे भी किसी तरह जीवित रखा। गुप्त काल की कासे की बनी बुद्ध मूर्तियाँ पाषाण की मूर्तियो से कम कला पूर्ण नही थी। बिहार (सुलतान गंज) मे प्राप्त बुद्ध मूर्ति (पाचवी शती) ऐसी ही हैं। आठवी ई. तक धातु मूर्तियों का निर्माण अच्छी तरह होने लगा था। पालवंश (९–१२ वी शती तक) की धातु मूर्तियाँ आध्यात्मिक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्व पूर्ण हैं। ये मूर्तियाँ नालन्दा और कुर्किहारा से उपलब्ध हुई हैं। बौद्ध कास्य मूर्तियाँ दक्षिण मे विशेष रूप से तंजोर जिले मे, प्राप्त हुईं। उनका समय लगभग ९ वी शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक माना जा सकता है।

बौद्ध कला भारतीय कला का अंग न होकर विश्वकला का अग बन गई थी। लका, वर्मा, थाइलेन्ड, नेपाल, तिब्बत, चीन, आदि देशो मे बौद्ध कला का पर्याप्त विकास हुआ है। अशोक का सम्बन्ध विदेशी राजाओ से रहा ही है। उसके स्तम्भो पर पारसी प्रभाव कदाचित् रहा भी, फिर भी भारतीय कला ने भी अन्य कला को प्रभावित किया ही है। यही कारण है कि मथुरा के क्षत्रपो के समय मे और कुषाण काल मे देशी-विदेशी कलाओं का संमिश्रण होने लगा था। गन्धार कला का जन्म इसी संमिश्रण से हुआ है। अफगानिस्तान (वेगराम) में प्राप्त मूर्तियाँ भी इसी तरह हैं। ग्रीक-रोमन का प्रभाव गन्धार कला पर अवश्य पड़ा है। जिसका प्रमाण बुद्ध की आदमकद मानवीय प्राचीन मूर्तियाँ हैं। अपोलो ग्रीक देवता के शारीरिक सौन्दर्य ने बुद्ध के शारीरिक सौन्दर्य को आकर्षित किया है। बामियान (अफगानिस्तान) की दो बुद्ध मूर्तियों गन्धार कला की दृष्टि से

महत्वपूर्ज हैं। अफगानिस्तान (फोन्दु किस्तान) मे ही उत्तर कालीन गन्धार कला की बुद्ध और बोधिसत्वो की मूर्तियाँ मिलती हैं।

नेपाल और तिब्बत की बौद्धकला पर पालवंशी बौद्धकला का प्रभाव है। वहां ध्यानी, मानुषी, भैषज्य, मैत्रेय, आदि बुद्ध और बोधिसत्वो के साथ ही तारा, लोकपाल, मारीचि आदि देवी देवताओ का अंकन हुआ है। नेपाल मे मूर्तियों के अतिरिक्त शम्भूनाथ और बोधिनाथ के स्तूप विशेष आकर्षक रहे हैं। चीनी-तुर्किस्तान मे भी बौद्ध कला का अच्छा प्रभाव रहा है।

जावा की बौद्धकला में आठवी से १०० सवी शती तक पाल और चोल वंश का प्रभाव रहा है। चण्डी मेन्दुत मंदिर बुद्ध बोधिसत्वो से परिवृत है। बोरोबुदूर का स्तूप भी अत्यन्त आकर्षक है। सिंगसारी (जावा) मे प्राप्त १२-१३ वी शती की प्रज्ञापारमिता की मूर्ति तो विश्व प्रसिद्ध है।

श्रीलंका मे बौद्धकला की दृष्टि से अनुराधपुर, पोलोन्नरुआ, और सिरिगिरिय विशेष महत्वपूर्ण हैं। अनुराधपुर की ध्यानावस्थित मूर्ति तो बहुत प्राचीन है। वैसे ११-१२ वीं शती की कला अधिक मिलती है। स्तूप और दगोबा भी अनेक हैं। वर्मा की कला मे दसवी शती का पैगन का गक्ये नदौन स्तूप उदाहरणीय हैं। यहां सारनाथ और नागार्जुनीकोण्डा का अधिक प्रभाव दिखता है।

बौद्धकला का विकास उन स्थानो पर अधिक रहा है जिनका विशेष सम्बन्ध बौद्धधर्म से रहा है। ऐसे स्थानों मे मुख्य स्थान उत्तरी भारत मे लुम्बिनी, सारनाथ, बोधगया, कुशी नगर (परिनिर्वाण भूमि), श्रावस्ती (सहेतमहेत), संकाश्व (संकिसा, फर्रुखाबाद), राजगृह, वैशाली, साची, तक्षशिला, कौशाम्बी और नालन्दा हैं, पश्चिमी भारत मे गिरनार, धाक (जूनागढ), सिद्धसर (जूनागढ़), तलाजा (भावनगर), सान्हा (भावनगर), वलभी (भावनगर), काम्पिल्य (गुजरात, नवसारी), भज, कोण्डाणे, पितल खोरा, अजन्ता, वेदसा, नासिक, जुन्नर, कार्ले, कान्हेरी, गोआ, और कर्नाटक हैं, दक्षिण भारत मे पवनी, (भण्डारा, महाराष्ट्र), अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा (गुन्टूर), भट्टिप्रोलु, जगय्यपेटा, गुसिवाड़ा, घण्टिशाल (कृष्णा जिला), नागपट्टन (मद्रास), श्री मूलवासम्, और काञ्ची। इन सभी स्थानो का सम्बन्ध बौद्धसंस्कृति के साथ घनिष्ठतम रहा है। इसलिए यहा पर बौद्ध कला का विकास हुआ है।

इस प्रकार बौद्धकला ने अपनी मातृभूमि से बाहर जाकर विशेष विकास किया है। विदेशी कला से वह प्रभावित तो हुई ही है पर उसका भी विदेशी कला पर प्रभाव कम नही रहा। इस दृष्टि से भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र मे बौद्धकला का अत्यन्त गौरव पूर्ण स्थान है।

●

परिवर्त ११

बौद्ध संस्कृति का योगदान और उसके पतन के कारण

१. बौद्ध संस्कृति का योगदान

बौद्ध संस्कृति के उक्त विवेचन से आदर्शवत् स्पष्ट है कि वह अपने उत्पत्ति काल से ही जनसाधारण की आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का विविध आयास करती रही है जिसमे उसे सफलता भी उपलब्ध हुई है। इस दृष्टि से उसका विभिन्न क्षेत्रों मे प्रदत्त योगदान दृष्टव्य है। हम यहाँ उसका सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध—बुद्ध से बहुत पूर्व भारत में वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार था। छठी शती मे तो उसकी चरम परिणति मानी जा सकती है। उस समय वैदिक यज्ञ और तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड इतनी अधिक मात्रा मे प्रचलित हो गये थे कि किसी का अन्य क्षेत्रों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं था। एक वर्ग विशेष इसी कर्मकाण्ड की कष्टदायी शृङ्खलाओं में समाज को भीषण रूप से जकड़ता जा रहा था। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था मे याज्ञिक कर्म उतना अधिक जटिल नही था पर सोमयाग के विकसित रूप ने बाद मे उसे कठोर और रहस्यवादी बना दिया। यहाँ तक कि मानवता का बचा खुचा रूप भी पशुमेध और नरमेध जैसे निर्दयी यज्ञो की खूनी बलिवेदी पर चढ़ा दिया गया।

महाकरुणाशील भ० बुद्ध ने इस सामाजिक और आध्यात्मिक भ्रष्टाचार को निकट से देखा। वास्तविक स्थिति से परिचित हो जाने पर उन्होने इस दानवता का घनघोर विरोध किया। विरोध करने का ढंग भी उनका अनोखा था। उन्होंने प्रचलित सारी धार्मिक परिभाषाओं को मोड़ दिया।[1] यज्ञ, दान और धर्म तथा

---

१. सुत्तनिपात, आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं।

ब्राह्मण जैसे शब्दों का अर्थ बदला जाने लगा। उदाहरणत: संयमित जीवन ही सबसे बडा यज्ञ है और सत्य मे अन्तर्दर्शन को उपलब्ध करना सबसे बडा पुण्य है। राग, द्वेष, और मोह से विमुक्त पुरुष ही सही दान का पात्र है।[1] इस दृष्टि से वैदिक क्रियाकाण्ड निरर्थक् है। उससे आत्मशान्ति की प्राप्ति संभव नही। कर्मकाण्डिको ने उसकी मूल भावना को स्वार्थ की आग मे भस्म कर दिया। अतएव उससे दूर रहना ही श्रेयस्कर है। महावीर से भी पूर्व पार्श्वनाथ आदि जैन तीर्थङ्करो ने इस बात को बुद्ध से भी पहले प्रचारित किया था। छठी शती ई० पूर्व तक आते आते कुछ कारणोवश वह विरोध दब-सा गया। बुद्ध और महावीर ने पुन. अपने ढंग से उस वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया।

२ जातिवाद का विरोध—वैदिक संस्कृति का मूल आधार जातिवाद है। उसकी व्यवस्था मे ब्राह्मण सम्प्रदाय को ही सारी आध्यात्मिक उपासना और मोक्षप्राप्ति की रजिस्ट्री कर दी गई है। समाज को जिन चार वर्गों (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मे विभाजित किया गया, उस विभाजनमे ब्रह्मा का सही एकमात्र उत्तराधिकारी ब्राह्मण ही हैं। शेष वर्ग उसका अनुचर माना गया है। मनुस्मृति ने तो इसी सिद्धान्त के आधार पर समाज के उपेक्षित तथा कथित शूद्र वर्ग को और भी कठोर धक्का दे दिया। यही कारण था कि डा० अम्बेडकर ने मनुस्मृति को जलाकर अपना विरोध व्यक्त किया था।

महावीर आदि जैन तीर्थङ्करो के समान बुद्ध ने भी इस कठोर जातिवाद का तीव्रतम विरोध किया और अपने धर्म के प्राङ्गण को सभी वर्गों के लिए उन्मुक्त आकाश सा खोल दिया। मानवता की इस भूख को उन्होने अपने चिन्तन से परितुष्ट किया। फलत: उनकी दृष्टि मे किसी वर्ग विशेष मे मात्र उत्पत्ति ही उसकी श्रेष्ठता का आधार नहीं है बल्कि उसकी श्रेष्ठता का आधार उसके विचार और कर्म हैं। इसलिए उन्होंने कहा है—कम्मदायादो भव। तदनुसार सत्कर्म करने वाला तथाकथित शूद्र वर्ग भी वन्दनीय है और दुष्कर्म करने वाला ब्राह्मण वर्ग त्याज्य और निकृष्ट है। ये विचार उस समय बड़े क्रान्तिकारी थे। समाज को उनकी आवश्यकता थी। बौद्धधर्म को लोकप्रिय होने का एक यह भी कारण है।

३ मध्यम मार्ग—बुद्ध काल मे एक ओर जहां यज्ञवाद का प्रचार था वही दूसरी ओर भौतिकवाद भी कम नही था। अत्तकिलमथानुयोग और कामसुख-

---

१. दीघनिकाय, कूटदन्तसुत्त।

ल्लिकानुयोग इसके निदर्शन हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से ये दोनों सिद्धान्त अधूरे थे। भ० बुद्ध ने उक्त चेतना को समझा और कहा कि ये दोनो अतिया निरर्थक हैं। हमे बीच के मार्ग को अपनाना चाहिए। शरीर को न अधिक दु:ख पहुँचाना और न अधिक विषय भोगो मे रमण करना इस प्रकार का मध्यम-मार्ग अधिक अनुकूल है। आचार के क्षेत्र मे जन्मे इस मध्यम मार्ग ने कालान्तर मे विचार क्षेत्र मे भी अपना प्रभाव दिखाया।

४ **ईश्वरवाद का विरोध**—वैदिक संस्कृति के अनुसार जगत् का कर्ता, धर्ता और हर्ता कोई ईश्वर विशेष है। सुख दु:ख देने का कार्य भी उसी के कन्धों पर है। उसकी इच्छा विशेष हमारी सद्गति और असद्गति के कारण हैं। जगत् का वह नियन्ता है। जैन-तीर्थङ्करो के पदचिन्हो पर बुद्ध ने भी इस मत का विरोध किया। उन्होनें कहा कि इस प्रकार का ईश्वर अकल्पित और अन्धवेणी के समान है। ईश्वर जैसा व्यक्तित्व कोई नही है तीर्थङ्कर, बुद्ध और महापुरुष जो भी हैं, वे हमारी उच्चकोटि के ही विविध रूप है। बुद्ध ने ईश्वर के स्थान पर कर्म को स्थान दिया और आत्मशक्ति जाग्रत करने का बीडा उठाया। वैदिक ईश्वर मे पक्षपात और नैष्कर्मण्य देखा जाता है। अत यह ईश्वरवाद व्यर्थ है। बुद्ध ने यह स्थान कर्म और प्रतीत्यसमुत्पाद को दिया। यह हम पहले लिख चुके हैं। इस दृष्टि से बुद्ध शासन मे प्रसाद, कृपा, पूजा और अर्चना का मूलत कोई स्थान विशेष नही है। उनका स्थान सम्यक्प्रयत्न और सम्यक्-ज्ञान ने ले लिया।

५ **अनात्मवाद**—आत्मा ओर ईश्वर ये दो ऐसे विषय हैं जिनके सन्दभ मे प्रारम्भ से ही वाद-विवाद होता आ रहा है। बुद्ध ने इसीलिए कुछ ऐसे प्रश्नो का उत्तर न देना ही श्रेयस्कर समझा। यह ठीक भी था, किसी सीमा तक। अन्यथा बुद्ध शाश्वतवाद अथवा उच्छेदवाद की ओर झुक गये होते। ऐसे प्रश्नो को उन्होने अव्याकृत कोटि मे रख दिया। आत्मवाद भी लगभग ऐसा ही प्रश्न था। उन्होनें उसे मोड़कर पदार्थ मे अनात्म भाव जाग्रत करने का उपदेश दिया। थोड़े समय बाद ही वही सिद्धान्त प्रकारान्तर से अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद की संज्ञा से व्यवहृत होने लगा। राग, द्वेष, मोह दूर करने का यह उत्तम साधन सिद्ध हुआ।

६ **साहित्य सृजन**—बौद्धो ने प्रारम्भ से ही साहित्य सृजन की ओर ध्यान रखा है। पालि और संस्कृत मे बौद्ध साहित्य किसी अन्य साहित्य से कम नही है। बुद्धघोष, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, नागार्जुन,

आर्यदेव, और शान्तरक्षित जैसे धुरन्धर विद्वान बौद्ध जगत् में ही हुए हैं। इन विद्वानों के दर्शन और चिन्तन ने अन्य दर्शनो को काफी प्रभावित किया है। प्रमाण आदि के क्षेत्र मे बौद्ध आचार्यों का विशेष योगदान रहा है।

७ जनभाषा का उपयोग—बुद्ध और महावीर ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने समय में जनभाषा का उपयोग किया था। बुद्ध ने बिहार और उसके आसपास प्रचलित मागधी, जिसे बाद मे पालि कहा जाने लगा, बोली मे अपना उपदेश दिया। कालान्तर मे इसी का प्रयोग अशोक ने अपने शिलालेखों मे किया। बौद्ध धर्म का जैसे-जैसे प्रचार होता गया, पालि की लोकप्रियता उतनी ही बढ़ती गई। दूसरी ओर संस्कृत एक वर्ग विशेष की भाषा थी। उसका रूप जन साधारण तक नही आ पाया था। इस दृष्टि से आधुनिक भाषा विज्ञान का क्षेत्र संस्कृत की अपेक्षा पालि-प्राकृत में अधिक है।

८ बौद्ध कला—इतिहास की तरह कला का क्षेत्र भी बौद्ध धर्मसे अपरिचित नही था। कला के प्रसंग मे जैसा पहले लिखा जा चुका है, स्तूप, दागोबा, मूर्त्तिशिल्प, चित्रकला, सभी क्षेत्रो मे बौद्धकला का एक विशिष्ट योगदान रहा है। यूनान और रोम के प्रभाव से एक नयी शैली का जन्म हुआ, जिसे गान्धार कला कहा गया है। उत्तरकालीन कलाएं इस कला से अधिक प्रभावित रही हैं।

२ ह्रास के कारण

बौद्ध संस्कृति ने भारतीय संस्कृति के प्राङ्गण को अपने कर्मठ योगदान से हरा भरा किया है। उसका यह कार्य लगभग १० वी शताब्दी तक चलता रहा। बाद मे भारत भूमि से उसका ह्रास और पतन होने लगा। उस ह्रास और पतन के अनेक कारण इतिहास मे खोजे जा सकते हैं। उनमे प्रमुख इस प्रकार है—

१ ब्राह्मण विरोध – बौद्ध धर्म का आविर्भाव ही बहुत कुछ वैदिक संस्कृति के विरोध की पृष्ठभूमि में हुआ था। जिसका प्रतिकार कालान्तर मे पुष्यमित्र ने बौद्ध श्रमणों और मन्दिरो का विनाश करके किया। हर्ष के (१०८९-११९१ ई०) समय भी बौद्ध धर्म की अपूरणीय क्षति हुई है। उस समय बड़े-बड़े बौद्ध मन्दिर नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये और उनकी सम्पत्ति लूट ली गई। कुमारिल और शंकराचार्य जैसे मनीषियों ने दार्शनिक क्षेत्र मे बौद्धधर्म-दर्शन का खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया। माध्यमिक और योगाचार के मायावाद सिद्धान्त को शंकराचार्य ने अपनाकर न्याय-वैशेषिक जैसे वस्तुवादी दर्शनों के विरोध मे उसका

उपयोग किया, जिसके कारण वे 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहे जाने लगे। पर इसका फल यह अवश्य हुआ कि बौद्ध दर्शन की लोकप्रियता कम होने लगी। शास्त्रार्थ आदि भी इसके ह्रास मे कारण बने।

२ देशद्रोह—सप्तम अष्टम शताब्दी में बौद्धधर्म की स्थिति सिन्ध मे अच्छी थी। यहाँ बौद्ध श्रमणों की संख्या भी अच्छी थी। परन्तु अरबों के आक्रमणों के समय ये बौद्ध श्रमण कायर और देशद्रोही सिद्ध हुए। इसी प्रकार सेन वंश के समय भी म्लेच्छो ने कुछ बौद्ध भिक्षुओ की सहायता से ही मगध पर विजय श्री प्राप्त की थी तथा विहारो को नष्ट-भ्रष्ट किया था। फलतः बौद्धाचार्य यहा से तिब्बत, नेपाल आदि देशो मे भाग गये और मगध और बंगाल मे बौद्ध धर्म समाप्तप्राय हो गया। इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण इतिहास मे मिलते है, जहा बौद्ध श्रमणों ने विदेशी आक्रमणकारियों को सहायता देकर अपने देशद्रोह का परिचय दिया था।

३ भ्रष्टाचार—बौद्ध धर्म के ह्रास का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण है बौद्ध भिक्षुओ का पतित आचार। तान्त्रिक साधना के आ जाने से इस शिथिलाचार को बढ़ने का और भी प्रबल सम्बल मिला। ह्वान्-च्वांग ने भी इस भ्रष्टाचार का उल्लेख किया है। जो उसने सिन्धवासी बौद्ध भिक्षुओ मे देखा था। कश्मीर के बौद्ध बिहार भी इस भ्रष्टाचार मे अग्रणी थे। कल्हण ने सपत्नीक बौद्ध भिक्षुओ का उल्लेख किया है और क्षेमेन्द्र ने अनेक स्थल पर इसी प्रकार उन पर व्यंगात्मक प्रहार किये है। राष्ट्रपालपरिपृच्छा, और सूत्रकृताग टीका मे भी इसी प्रकार अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ बौद्ध श्रमणों की विषयासक्ति पर कटाक्ष किये गये हैं। आचारहीनता के कारण ज्ञान का क्षेत्र भी शून्य हो गया। पतन मे यह भी एक बड़ा कारण था।

४ मुस्लिम आक्रमण—बौद्ध धर्म के ह्रास मे मुस्लिम आक्रमण भी प्रधान कारणों मे अन्यतम है। अरबों ने यद्यपि समय समय पर बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णुता का भी प्रदर्शन किया है, परन्तु वह स्थायी नही रहा। सिन्ध में चच का भाई 'चन्दर' सम्भवत बौद्ध श्रमण था। उसके पुत्र की ७०२ ई० मे मुहम्मद बिन कासिम ने हत्याकर राज्य हथया लिया। बौद्धधर्म पर भी इसका असर होना स्वाभाविक था। लगभग ११ वी शती मे अल्बेरूनी को उत्तर-पश्चिम भारत मे बौद्धधर्म लुप्तप्राय स्थिति मे मिला। कश्मीर मे भी बौद्धधर्म के विनाश मे मुस्लिम सम्प्रदाय ही प्रधान कारण रहा है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण बौद्धधर्म के पतन मे गिनाये जाते हैं। जैसे-गृहस्थों का विशेष स्थान न होना, राजकीय उपेक्षा, ब्राह्मण और जैन धर्म की लोकप्रियता, बौद्ध सस्कृति के तत्वों का वैदिक संस्कृति द्वारा आत्मसात किया जाना आदि। ये सभी कारण समवेत रूप मे एकत्रित होकर बौद्ध धर्म के पतन मे कारण हुए हैं।

आधुनिक स्थिति

यह प्रसन्नता की बात है कि इस बीसवी शताब्दी के षष्ठ दशक में बौद्धधर्म भारत मे पुन: अपनी जीवन्त स्थिति मे आने का प्रयत्न कर रहा है। स्व० बाबा सा० डॉ० अम्बेडकर १९५६ ई० मे नागपुर (दीक्षाभूमि) मे लाखों व्यक्तियों के साथ बौद्ध धर्म मे दीक्षित हुए थे। इसमे अधिकाश जनता तथाकथित शूद्र वर्ग की थी। । डॉ० अम्बेडकर की दूरदर्शिता, प्रकाण्ड पाण्डित्य, राष्ट्रप्रेम, और समाज सेवा उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व मे भरी हुई थी। यही कारण है कि आज भी उनके अनुयायी उन्हे ईश्वर जैसा मानकर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। भारत मे बौद्ध धर्मावलम्बियो की संख्या मे सर्वाधिक संख्या इन्ही की है।

श्री लंका, वर्मा, थाइलेन्ड, कोरिया, जापान, मगोलिया, चीन, तिब्बत, नेपाल, रूस आदि देशों में भी बौद्ध धर्म काफी लोकप्रिय है। इस दृष्टि से उसे राजनीतिक परिवेश भी मिल गया है। भारत सरकार भी बौद्ध धर्म की ओर विशेषत: राजनीतिक सम्बन्धों की दृष्टि से विशेष ध्यान दिये हुए है। अत: सम्भव है, बौद्धधर्म अपनी मातृभूमि मे पुन: अपना प्राचीन महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर ले और विश्वशान्ति को प्रस्थापित करने मे अपना महत्वपूर्ण योग दान दे।



शब्द-सूची